दिल्ली सल्तनत

THE DELHI SULTANATE

लक्ष्मीनारायण अग्रवाल : आगरा–३

By the Same Author :

1. आधुनिक भारतीय संस्कृति	...	Rs. 5·50
2 इंगलैण्ड का इतिहास	...	Rs. 10·00
3. इतिहास और राजनीति-शास्त्र के निबन्ध	...	Rs. 5·00
4. मुगल-साम्राज्य का इतिहास	...	Rs. 11·00
5. आधुनिक भारत (द्वितीय संस्करण)	...	Rs. 11·00
6. प्राचीन भारत (प्रेस मे)		

प्रथम संस्करण : 1973

●

मूल्य : दस रुपये

लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, पुस्तक प्रकाशक व विक्रेता, हॉस्पिटल रोड, आगरा–3 द्वारा प्रकाशित तथा हरी कम्पोजिंग हाउस द्वारा कम्पोज एवं हरीहर प्रेस, आगरा द्वारा मुद्रित

दो शब्द

प्रस्तुत पुस्तक का मूल उद्देश्य बी ए , बी ए (ऑनर्स) और आधार के रूप में एम ए. के विद्यार्थियो के लिए एक उपयोगी पाठ्य-पुस्तक प्रदान करना है। एक अन्य कारण व्यक्तिगत है। इतिहास का विद्यार्थी होने के नाते मैंने अनुभव किया कि भारतीय मध्य-युग के इतिहास मे मुगल-काल का इतिहास मुगल शासको के व्यक्तित्व और चरित्र तथा मुगल-काल की प्रगति और समृद्धि साधारणतया दिल्ली सल्तनत-काल के इतिहास तथा सुल्तानो के चरित्र और व्यक्तित्व की तुलना में अधिक आकर्षक एवं प्रभावपूर्ण प्रतीत होती है। भ्रमवश ऐसा भी आभास हो जाता है कि बाबर द्वारा इब्राहीम लोदी की पराजय ने एक युग को समाप्त कर दिया और सुल्तानो की तुलना मे अधिक यशस्वी बादशाहो का युग आरम्भ हो गया। परन्तु ऐसा नही है। वास्तविकता मे जो ऐतिहासिक क्रम दिल्ली सल्तनत-काल में आरम्भ हुआ वह मुगल-काल मे विकसित हुआ। इसी प्रकार, निस्सन्देह, मुगल-काल स्थिरता, यश, ऐश्वर्य और योग्य शासकों का काल रहा परन्तु इससे दिल्ली सल्तनत-काल तथा उस काल की विशेषताओ और उसके सुल्तानो का महत्व कम नही हो जाता। यह समझकर मुझे दिल्ली सल्तनत-काल की विशेषताओ तथा सुल्तानो के व्यक्तित्व और चरित्र को विस्तृत रूप से अध्ययन करने का चाव हुआ जिसका परिणाम यह पुस्तक है।

दिल्ली सल्तनत का काल कई दृष्टिकोणो से अत्यधिक आकर्षक है। यह हिन्दू और मुसलमानो के राजनीतिक संघर्ष का काल है। महमूद गजनवी के समय से आरम्भ होकर बहमनी राज्य के खण्डो से बने हुए मुसलमान राज्यों के विजयनगर राज्य से तथा इब्राहीम लोदी से राणा सग्रामसिंह से हुए सघर्ष के समय तक यह युग हिन्दू और मुसलमानों मे भारत की राजसत्ता के लिए हुए कट्टर सघर्ष का काल है। सघर्ष स्वय ही आकर्षक होता है। फिर यह संघर्ष तो अत्यन्त रुचिकर एवं महत्वपूर्ण था। इस संघर्ष मे धार्मिक कट्टरता और उत्साह (चाहे इसे छिपाने का कितना भी प्रयत्न क्यो न किया जाय) आवश्यक रूप से सम्मिलित था। इसी से सम्बंधित एक अन्य प्रश्न यह भी था—क्या हिन्दू समाज, धर्म, सभ्यता और उनके राजनीतिक नेता (शासक-वर्ग) अपने अस्तित्व की सुरक्षा करने मे समर्थ रह गये थे अथवा अपने दुर्गुणों के कारण इस अधिकार को खो चुके थे? मुसलमानों की सफलता ने इस प्रश्न का ठीक उत्तर दिया। इस कारण जय-पराजय का यह इतिहास बहुत आकर्षक है। इसके अतिरिक्त, इस काल के भारतीय इतिहास को भारत की सीमाओं के उत्तर-पश्चिम मे होने वाली राजनीतिक उथल-पुथल ने गम्भीरता से प्रभावित किया। अरब, तुर्क, मंगोल और मुगलों का भारत पर आक्रमण किसी न किसी प्रकार इस ... [illegible]

अथवा सास्कृतिक उथल-पुथल का परिणाम था जो हमें यह सबक देता है कि प्रत्येक राज्य, जाति अथवा सभ्यता को अपने पडौस के राज्यो में होने वाली राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा सास्कृतिक हलचलो के प्रति सदैव जागरूक रहना चाहिए। दिल्ली सुल्तानो मे से कई सुल्तानो का चरित्र और व्यक्तित्व भी अध्ययन करने के रोचक विषय हैं और सम्भवतया उनके बारे मे जितना अधिक पढा जायेगा, वे उतने ही अधिक आकर्षक लगेंगे। दिल्ली सल्तनत के इतिहास को जानने की सामग्री हमें अधिकाशतया समकालीन मुसलमान विद्वानो और इतिहासकारो की रचनाओ से उपलब्ध होती है। परन्तु जब इस युग के हिन्दू समकालीन स्रोतों का अध्ययन भी अधिक विस्तृत रूप मे किया जायेगा तब इस काल का इतिहास और भी अधिक रोचक हो जायेगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

मै किसी नवीन खोज का दावा नही कर सकता। विभिन्न सम्मानित इतिहास-कारो के ज्ञान, खोजो, लेखो और पुस्तको से मैंने लाभ प्राप्त किया है। परन्तु मैंने यह प्रयत्न अवश्य किया है कि इतिहास का जो भी नूतनतम ज्ञान उपलब्ध है, वह इस पुस्तक में सम्मिलित हो जाय। मैं उन सभी इतिहासकारो के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ जिनकी पुस्तको और लेखो का उपयोग मैंने इस पुस्तक की रचना के लिए किया है।

मैं अपने प्रकाशक श्री प्रकाशनारायण अग्रवाल के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ। अपने मित्र श्री महेन्द्र जैन का भी मैं अनुग्रहीत हूँ जो मेरी पुस्तको के प्रकाशन में हृदय से रुचि लेते रहे है। साथ ही अपने मित्र श्री डी. सी शर्मा के प्रति भी अपना आभार प्रकट करता हूँ जो मेरी हस्तलिपि को पढकर समय-समय पर मुझे लाभदायक सलाह देते रहे है।

पुस्तक मे त्रुटियां सम्भव हो सकती है। जो मेरे साथी और गुरुजन मेरी कमियो के विषय मे मुझे सूचित करने की कृपा करेंगे, उनका मैं आभारी हूँगा।

—एल. पी. शर्मा

विषय-सूची

अध्याय पृष्ठ

प्रथम खण्ड
भारत में मुस्लिम राज्य की स्थापना

द्वितीय खण्ड
दिल्ली सल्तनत के विभिन्न राजवंश

(अ) दिल्ली के ममलूक सुल्तान अथवा तथाकथित गुलाम-वंश

प्रथम खण्ड

भारत में मुस्लिम राज्य की स्थापना

अध्याय

1. भारत पर अरबों का आक्रमण
2. 11वीं और 12वीं सदी के तुर्की आक्रमण और मुस्लिम राज्य की स्थापना

पश्चिमी और मध्य एशिया
मंगोलिया
तुर्किस्तान
ताशकन्द
समरकन्द
यारकन्द
खीवा
बुखारा
गजनी
काबुल
कंधार
ईरान
उच्च
दिल्ली
भारत
चीन
मदीना
मक्का
अरब
अरब सागर
बंगाल की खाड़ी
हिन्द महासागर

1
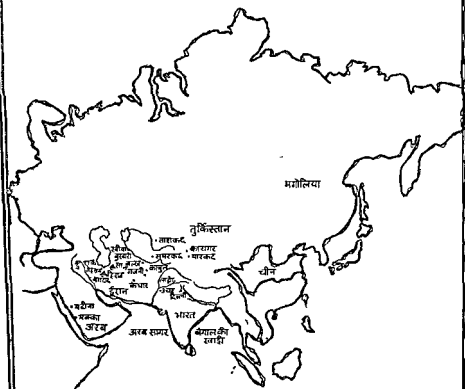
भारत पर अरबों का आक्रमण

[1]

इस्लाम धर्म का उत्थान

विश्व-इतिहास मे इस्लाम धर्म का उत्थान एक महत्वपूर्ण घटना है। अरब के रेगिस्तान में इसकी उत्पत्ति हुई तथा अरबों, ईरानियों और तुर्कों ने इसके प्रसार में मुख्य भाग लिया। पैगम्बर मुहम्मद (570-632 ई०) ने प्रचार और तलवार के आधार पर इसका विस्तार किया जिससे आरम्भ से ही इसका स्वरूप एक सैनिक-धर्म की भाँति हो गया। 100 वर्ष से भी कम समय मे इसका और इसके मानने वालो के साम्राज्य का विस्तार पश्चिम मे एटलाण्टिक समुद्र से पूर्व मे सिन्ध नदी तक और उत्तर में कैस्पियन सागर से दक्षिण मे नील नदी की घाटी तक हो गया जिसमे स्पेन, पुर्तगाल, फ्रान्स का दक्षिण का भाग, उत्तरी अफ्रीका, सम्पूर्ण मिस्र, अरब, सीरिया, मेसोपोटामिया, आर्मीनिया, पर्शिया, सम्पूर्ण मध्य-एशिया, अफगानिस्तान, बलूचिस्तान, सिन्ध आदि सम्मिलित थे। तलवार की शक्ति पर आधारित इस्लाम की शक्ति का इतने थोडे समय मे प्रसार और उसकी विजय इतिहास की महत्वपूर्ण घटना थी। विभिन्न छोटी-छोटी शक्तियाँ और धार्मिक सम्प्रदाय ही नही बल्कि वडी-बडी शक्तियाँ और प्राचीन धर्म भी इस्लाम की बढती हुई शक्ति के आगे झुकते चले गये। यूरोप के ईसाई राज्यो ने इस्लाम की शक्ति को रोकने के लिए विभिन्न प्रयत्न किये और यदि 716 ई० मे कुस्तुनतुनिया के निकट थियोडोसस तृतीय ने तथा 732 ई० में टूअर्स के युद्ध मे चार्ल्स (Charles the Hammer) ने इस्लाम की सेनाओं को परास्त करने मे सफलता न पायी होती तो सम्भवतया सम्पूर्ण यूरोप इस्लामी सत्ता और धर्म को स्वीकार करने के लिए वाध्य हो जाता। इसके पश्चात भी यूरोप इसके भय से मुक्त न हो सका। ओटोमान-तुर्कों ने एक बार फिर इस्लाम की शक्ति को यूरोप में फैलाया। रोमन-साम्राज्य, कुस्तुनतुनिया, बाल्कान प्रदेश और सम्पूर्ण पूर्वी यूरोप इस्लाम की शक्ति के आगे झुक गया और ईसाई-राज्यो के संयुक्त प्रयत्न तथा विभिन्न धर्म-युद्ध (Crusades) भी इस्लाम के तूफान के सम्मुख असफल रहे। इसी इस्लाम की बढती हुई शक्ति का मुकाबला भारत को भी करना पड़ा। प्राय: तीन सौ वर्ष तक भारत ने अपनी उत्तर-

पश्चिम की सीमाओं पर इसे रोककर रखा, परन्तु अन्त में वह परास्त हो गया और इस्लाम ने भारत में प्रवेश किया।

570 ई० में इस्लाम धर्म के संस्थापक हज़रत मुहम्मद का जन्म मक्का (अरब) में हुआ। बचपन में ही उनके माता-पिता की मृत्यु हो गयी। इस कारण उनका लालन-पालन उनके चाचा अबू तालिब ने किया। मुहम्मद आरम्भ से ही अल्लाह के

पैगम्बर मुहम्मद

भक्त थे। चालीस वर्ष की आयु में उन्हें यह आत्मज्ञान हुआ कि वह अल्लाह के पैगम्बर हैं और उन्होंने अपने को नबी (पैगम्बर) और रसूल (ईश्वर का दूत) घोषित कर दिया। उस समय अधिकांश अरब-निवासी मूर्ति-पूजक थे। वह अल्लाह को मानते थे परन्तु अल्लाह की पूजा नहीं करते थे, बल्कि प्रायः 300 अन्य देवी-देवताओं की पूजा करते थे जिनकी मूर्तियाँ अथवा चिह्न काबा में रखे गये थे। उनमें से अल्लाह की बेटियों के रूप में लाट, मानत और उजा की पूजा प्रमुख थी और केवल हावल की एक मूर्ति पूर्ण थी। उस समय तक अरबों का न तो कोई धार्मिक ग्रन्थ था और न कोई धार्मिक दर्शन। उनका मुख्य तीर्थ-स्थान मक्का का काबा था जो एक ऐसा घेराबन्द स्थान था जिसकी छत न थी और जिसमें अरबों के देवी-देवताओं की मूर्तियाँ अथवा उनके प्रतीक रखे गये थे। उसकी स्थापना अब्राहम और इसमाइल ने की थी। बाद में भी उसमें कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं किया गया। हज की धार्मिक क्रियाएँ भी काबा में नहीं की जातीं, बल्कि उसके इर्द-गिर्द की उस भूमि में की जाती है जिसे हातिम पुकारते है। अरब उस समय विभिन्न फिरकों में भी बँटा हुआ था जिनमें आपस में युद्ध होते रहते थे। हज़रत मुहम्मद ने मूर्ति-पूजा का विरोध किया, विभिन्न देवी-देवताओं को मानने से इन्कार किया और एक अल्लाह में विश्वास करने का प्रचार किया। मक्का के निवासी उनके विचारों से असन्तुष्ट हो गये। उस समय यासरिब, जो बाद में मदीना (पैगम्बर का शहर) कहलाया, औस तथा खजराज नाम के दो अरब-फिरकों के झगडे का केन्द्र-स्थान बना हुआ था। उन दोनों फिरकों ने पैगम्बर मुहम्मद को मदीना आने का निमन्त्रण दिया जिससे वह उन दोनों के झगडों का न्यायपूर्ण निर्णय कर सके। उस समय तक मुहम्मद को विभिन्न अरब-फिरकों की आर्थिक स्थिति और उनके पारस्परिक झगडों का बहुत अच्छा ज्ञान हो गया था और वह अरब में प्रचलित यहूदी तथा ईसाई धार्मिक विचारों के बारे में भी बहुत अच्छी जानकारी रखते थे। 622 ई० में वह मक्का को छोडकर मदीना चले गये। वहाँ उनके धार्मिक विचारों का स्वागत हुआ। मुहम्मद किसी भी अरब-फिरके के नेता होने का दावा नहीं कर सकते थे। इस कारण, उनके पास कोई राजनीतिक शक्ति न थी। परन्तु उन्होंने जिस मुसलमान-सम्प्रदाय (मिल्लत) की स्थापना की, वह धीरे-धीरे सभी फिरकों से श्रेष्ठ और शक्तिशाली बन गया। मुहम्मद ने ही कुरान (इस्लाम का धार्मिक ग्रन्थ) की रचना की। धीरे-धीरे सम्पूर्ण अरब को उन्होंने धार्मिक और राजनीतिक एकता के सूत्र में बाँध दिया। उसके लिए उन्होंने युद्ध भी किये। स्वयं मुहम्मद ने कोई स्थायी सेना नहीं रखी थी। उनके कोई स्थायी शरीर-रक्षक न थे, न कोई खजाना था और

न कोई स्थायी दफ्तर। उनके सभी कार्य स्वयंसेवकों द्वारा अथवा विभिन्न अवसरों पर उनके द्वारा नियुक्त किये गये उनके प्रतिनिधियों के द्वारा किये जाते थे। मुहम्मद अपने समर्थकों की सलाह को सुनते थे और उनको अपनी आलोचना तक करने का अधिकार देते थे। परन्तु प्रत्येक विषय मे अन्तिम निर्णय उन्ही का होता था। इस प्रकार इस्लाम का प्रचार करने के साथ-साथ मुहम्मद ने परिस्थितियोंवश एक राजनीतिक व्यवस्था और एक राज्य की स्थापना भी की थी और वह स्वय उसके प्रधान बन गये थे, यद्यपि वह सर्वदा पैगम्बर ही कहलाये और उन्होने कभी भी किसी अन्य पद अथवा स्थिति को स्वीकार नही किया। 632 ई० में उनकी मृत्यु हो गयी।

पैगम्बर मुहम्मद ने अपना कोई उत्तराधिकारी नियुक्त नही किया था। इस कारण मदीना मे हुई एक जन-साधारण-सभा में अबू-बक्र को उनका उत्तराधिकारी चुना गया। पैगम्बर मुहम्मद के उत्तराधिकारी खलीफा (Khalifa or Caliph) कहलाये। इस कारण अबू-बक्र पहला खलीफा हुआ। वह सुन्नी था और उसका वंश उमय्यद कहलाया। इस कारण पहले के खलीफा उमय्यद-खलीफा कहलाये। 633 ई० से 750 ई० तक के समय मे उमय्यद-वश के 18 खलीफा हुए[1] जिनमे से प्रथम चार खलीफा पवित्र-खलीफा माने गये और बाद के 14 खलीफा धार्मिक प्रधान के साथ-साथ शासक भी माने गये, यद्यपि पहले खलीफा अबू-बक्र के समय में ही पैगम्बर मुहम्मद की मृत्यु के पश्चात् होने वाले विभिन्न विद्रोहों को दबाने की आवश्यकता के कारण खलीफा एक धर्म का ही नही बल्कि एक राज्य का प्रधान और मदीना उस राज्य की राजधानी बन गया था।

उमय्यद-खलीफा

उसकी मृत्यु बीमारी से हुई और उसने उमर को अपना उत्तराधिकारी बनाया। दूसरा खलीफा उमर हुआ जो एक आदर्श खलीफा माना गया और जिसके समय मे महान् विजय की गयी। सीरिया, मिस्र, ईरान आदि को उसके समय मे विजय किया गया। उमर ने अमीरुल-मुमीनिन (Commander of the Faithful) की उपाधि ग्रहण की। उसके समय मे इस्लाम के अतिरिक्त अन्य सभी धर्मों के मानने वालो को अरब से बाहर बसाया गया और अरब को पूर्णतया अरबों और

---

1 (1) अबू-बक्र (633-634 ई०), (2) उमर प्रथम (633-634 ई०), (3) उस्मान (644-656 ई०), (4) अली (656-661 ई०), (5) मुअव्विया (661-680 ई०), (6) याजिद (680-683 ई०), (7) मुअव्विया द्वितीय (683-684 ई०), (8) मारवान (684-685 ई०), (9) अब्दुल मलिक (685-705 ई०), (10) वालिद प्रथम (705-715 ई०), (11) सुलेमान (715-717 ई०), (12) उमर द्वितीय (717-720 ई०), (13) याजिद द्वितीय (720-724 ई०), (14) हिशाम (724-743 ई०), (15) वालिद द्वितीय (743-744 ई०), (16) याजिद तृतीय (744 ई०), (17) इब्राहीम (744 ई०), और (18) मारवान द्वितीय (744-750 ई०)।

—*A Comprehensive History of India*, Vol. V, Edited by Mohd Habib and Khaliq Ahmad Nizami (Published under the auspices of The Indian History Congress).

इस्लाम का प्रदेश बना दिया गया। नवम्बर 644 ई० मे प्रार्थना करते हुए उमर को एक ईरानी गुलाम ने हत्या कर दी। परन्तु मरने से पहले वह पैगम्बर के छ. साथियों में से एक को अपना उत्तराधिकारी चुने जाने की सलाह दे गया। उनमें से उसमान को नवीन खलीफा चुना गया। उसमान योग्य खलीफा साबित नही हुआ। 17 जून, 656 ई० को जबकि वह कुरान पढ रहा था, उसका कत्ल कर दिया गया। चौथा खलीफा अली चुना गया जिसका सम्पूर्ण जीवन युद्धों मे व्यतीत हुआ। अली ने मदीना के स्थान पर कूफा को अपनी राजधानी बनाया। 25 जनवरी, 661 ई० को अली को कत्ल कर दिया गया। उसके पश्चात् उसके सबसे बड़े लडके हसन को खलीफा चुना गया परन्तु उसने मुअव्विया के पक्ष मे अपना पद छोड दिया। इस कारण, पाँचवा खलीफा मुअव्विया हुआ। मुअव्विया ने खलीफा के पद को पैतृक रूप दिया और अपने लड़के याजिद को अपना उत्तराधिकारी चुना। उसके समय से खलीफा का पद धार्मिक होने के साथ-साथ पूर्णतया राजनीतिक भी बन गया क्योंकि उसके पश्चात् अधिकांश खलीफा या तो वंशानुगत आधार पर खलीफा बने अथवा चुने गये। याजिद करीब $3\frac{1}{2}$ वर्ष तक खलीफा रहा। उसका लडका खलीफा मुअव्विया द्वितीय केवल 2 या 3 महीने खलीफा रहा। आठवे खलीफा मारवान का शासनकाल भी थोडे समय का रहा। परन्तु नवे खलीफा अब्दुल मलिक ने अपने 20 वर्ष के शासनकाल में सम्पूर्ण मुस्लिम-साम्राज्य को अपनी अधीनता मे लाने मे सफलता पायी। उसके पुत्र खलीफा वालिद प्रथम का शासन उससे भी अधिक यशस्वी सिद्ध हुआ। अभी तक के खलीफाओ में खलीफा उमर प्रथम का समय सबसे अधिक यश और विस्तार का रहा था। खलीफा वालिद का समय उससे भी अधिक श्रेष्ठ रहा। उसके समय मे इस्लाम की शक्ति सबसे अधिक विस्तृत और संगठित हो गयी। प्रो० मुहम्मद हबीब ने लिखा है कि "कुछ भागो जैसे कि स्पेन के खो जाने और कुछ भागो जैसे कि इण्डोनेशिया के पा लेने को छोडकर आज भी मुस्लिम अनुयायियों की सीमाएँ वही हैं जहाँ कि मुस्लिम-खिलाफत की सीमाओं को 715 ई० मे वालिद-बिन-अब्दुल-मलिक ने छोडा था।"[1] खलीफा वालिद के समय मे ईरान (पर्शिया) की विजय के पश्चात् इस्लाम की सीमाएँ चीन तक, सम्पूर्ण उत्तरी अफ्रीका मे, दक्षिण स्पेन तक और भारत में सिन्ध मे फैल गयी। उसके पश्चात् के खलीफाओ ने अपने साम्राज्य की सुरक्षा करने मे सफलता पायी यद्यपि उनमे से कोई भी बहुत यशस्वी नही हुआ। सभी खलीफाओ का यह विश्वास रहा था कि बिना किसी जाति, देश, भाषा अथवा संस्कृति के अन्तर के सभी मुसलमानों का केवल एक ही राज्य होना चाहिए। जब तक उनकी शक्ति रही, वह अपने इस उद्देश्य मे सफल रहे। परन्तु उमय्यद-खलीफाओ का शासन अरब-कुलीनो का शासन था। इससे ईरानी असन्तुष्ट थे, वे अरब असन्तुष्ट थे जिनसे उमय्यदो ने राजनीतिक सत्ता छीन ली थी तथा पगम्बर मुहम्मद अथवा हशीम-वंश के वे व्यक्ति भी असन्तुष्ट थे जो खलीफा के

---

1 "Ignoring some losses, like Spain, and some gains, like Indonesia, the boundaries of the Muslim populations today are where Walid bin Abdul Malik left the frontiers of the Muslim caliphate in A. D. 715."

—Prof. Mohammad Habib.

अतिरिक्त विज्ञान, ज्योतिष, चिकित्सा-शास्त्र आदि का भी प्रमुख स्थान था। नालन्दा, वल्लभी, काशी और दक्षिण के भी अनेक स्थान शिक्षा के केन्द्र-स्थान थे। देश में हिन्दू और बौद्ध धर्म की प्रधानता थी।

आर्थिक दृष्टि से भारत सम्पन्न था। यद्यपि अमीरों और गरीबों की स्थिति में बहुत अन्तर था परन्तु तब भी जन-साधारण खुशहाल था। कृषि, व्यापार और उद्योग की दृष्टि से भारत सम्पन्न था।

इस प्रकार, अरबों के सिन्ध पर आक्रमण के अवसर पर भारत राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक दृष्टि से दुर्बल नहीं माना जा सकता था। परन्तु भारत में विभिन्न राज्यों की पारस्परिक शत्रुता, सैनिक क्षमता को बढ़ाने के प्रति उदासीनता और जन-साधारण में देश-भक्ति का अभाव ऐसी दुर्बलताएँ थीं जो उस समय में प्रकट होने लगी थीं और जिन्होंने उसके भविष्य के इतिहास को गम्भीरता से प्रभावित किया।

भारतीयों का अरबों से सम्पर्क उनके द्वारा सिन्ध पर आक्रमण किये जाने के समय से ही आरम्भ नहीं हुआ। उससे पहले अरब-निवासी भारत के दक्षिण-पश्चिमी तट के प्रदेशों में व्यापार करने के लिए आया करते थे। इस्लाम को स्वीकार करने के पश्चात् भी अरब-निवासी भारत से व्यापार करते रहे परन्तु खलीफाओं की धर्म और साम्राज्य-विजय की लालसा ने अरब और भारत के सम्बन्ध व्यापारिक मात्र न रहने दिये। अरबों ने अपनी विजय-लालसा के कारण खलीफा उमर के समय में 636 ई० में बम्बई के निकट थाना नामक स्थान पर आक्रमण किया। परन्तु वह आक्रमण विफल रहा। उसके पश्चात् अरब जल और थल दोनों मार्गों से भारत पर आक्रमण करते रहे परन्तु बाद के आक्रमणों का मुख्य उद्देश्य सिन्ध के सीमावर्ती क्षेत्रों को जीतने तक सीमित रहा। मकरान (आधुनिक बलूचिस्तान) को जीतने के अरबों के कई प्रयत्न असफल हुए परन्तु अन्त में 8वीं सदी के आरम्भ में अरबों ने मकरान को जीतने में सफलता पायी। मकरान की विजय ने अरबों के लिए सिन्ध-विजय का मार्ग प्रशस्त किया।

आक्रमण के कारण

अरबों के सिन्ध पर आक्रमण करने के मुख्य उद्देश्य धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक थे। तलवार की शक्ति के आधार पर इस्लाम का प्रचार करना सभी खलीफाओं की नीति का उद्देश्य रहा था। सिन्ध पर आक्रमण भी इसी उद्देश्य से किया गया। भारत में साम्राज्य और धर्म-विस्तार की लालसा खलीफाओं की विस्तृत योजना का एक भाग थी। इसके अतिरिक्त, भारत से व्यापार करने वाले अरब भारत की आर्थिक सम्पन्नता से अवगत थे। इस कारण धन की लालसा भी उनके आक्रमण का एक लक्ष्य रहा था, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। सिन्ध के समुद्री डाकुओं द्वारा कुछ अरब-जहाजों को लूटा जाना तो सिन्ध पर आक्रमण करने का एक बहाना मात्र स्वीकार किया जा सकता है। इस घटना के बारे में विभिन्न लेखकों ने भिन्न-भिन्न मत प्रकट किये हैं। सर वूल्जे हेग ने लिखा है कि लंका के राजा ने खलीफा के पूर्वी प्रान्तों के सूबेदार

ज्जाज के पास उन अनाथ कन्याओ को भेजा था जिनके पिताओ की मृत्यु लका मे
ो गयी थी, परन्तु मार्ग मे सिन्ध के समुद्र-तट के निकट समुद्री लुटेरो ने उन जहाजो
ो लूट लिया जिनमे वे कन्याएँ सफर कर रही थी। एक अन्य लेखक के अनुसार
मुद्री लुटेरो ने उन दासियो और उपहार की वस्तुओ को लूटा था जो खलीफा के
लेए ले जाये जा रहे थे। एक अन्य लेखक के अनुसार लका के राजा ने इस्लाम धर्म
को स्वीकार कर लिया था (यद्यपि यह तथ्य ऐतिहासिक दृष्टि से पूर्णतया गलत है)
और उसके द्वारा खलीफा को भेजे गये उपहारो को लुटेरो ने लूट लिया। यह घटना
जेस प्रकार भी हुई हो परन्तु यह माना जा सकता है कि यह घटना अरबों के सिन्ध
पर आक्रमण करने का एक बहाना मात्र थी। नि सन्देह, इस घटना से ईराक का
सूबेदार हज्जाज बहुत असन्तुष्ट हुआ और उसने सिन्ध के राजा दाहिर से हर्जाना
माँगा। दाहिर ने समुद्री लुटेरो के कार्य का उत्तरदायित्व अपने ऊपर न लेकर हर्जाना
देने से इन्कार कर दिया। हज्जाज इससे बहुत क्रोधित हुआ और उसने खलीफा वाहिद
से सिन्ध पर आक्रमण करने की आज्ञा प्राप्त कर ली।

हज्जाज ने एक सेना उबैदुल्ला के नेतृत्व मे सिन्ध पर आक्रमण करने के लिए भेजी परन्तु उबैदुल्ला की हार हुई और वह मारा गया। बुदैल के नेतृत्व मे भेजी गयी एक अन्य सेना का भी यही हाल हुआ। तब 711 ई० मे हज्जाज ने एक शक्तिशाली सेना 17 वर्षीय मुहम्मद बिन कासिम के नेतृत्व मे सिन्ध पर आक्रमण करने के लिए भेजी। 6000 सीरियन घुडसवार, इतने ही ऊँट और 3000 सामान ढोने वाले ऊँटो की सेना को लेकर मकरान के मार्ग से अरबो ने सिन्ध पर आक्रमण किया। इतनी श्रेष्ठ सेना और इतना श्रेष्ठ सेनापति इससे पहले सिन्ध पर आक्रमण के लिए नही भेजा गया था। एक अन्य सेना और पत्थर फेकने वाला तोपखाना देबल के बन्दरगाह पर पहुँचकर मुहम्मद बिन कासिम के साथ हो गया। देबल की सुरक्षा और सहायता के लिए दाहिर ने कोई सेना न भेजी जबकि उसकी राजधानी आरोर उससे केवल 150 मील दूर थी। 4000 राजपूतो ने देबल के किले की रक्षा मृत्युपर्यन्त की परन्तु अरब विजयी हुए। 17 वर्ष से ऊपर की आयु के सभी पुरुष इस्लाम स्वीकार न करने के कारण कत्ल कर दिये गये और उनके बच्चो तथा स्त्रियो को गुलाम बना लिया गया। तीन दिन तक नगर मे कत्लेआम और लूटमार होती रही। 75 सुन्दरतम स्त्रियाँ तथा लूट के माल का चौथा हिस्सा हज्जाज के पास भेज दिया गया और बाकी सभी को सेना ने आपस मे बाँट लिया।

मुहम्मद बिन कासिम का आक्रमण और विजय

देबल से मुहम्मद निरुन के किले की ओर बढा। दाहिर ने अपने लड़के जयसिंह को निरुन को वहाँ के एक पुजारी के आधिपत्य मे छोडकर ब्राह्मणाबाद आने का आदेश दिया। निरुन ने बिना युद्ध के आत्मसमर्पण कर दिया। यहाँ से मुहम्मद सेहवान की ओर बढा जहाँ दाहिर का चचेरा भाई बाझरा शासन करता था। एक सप्ताह के घेरे के पश्चात् बाझरा निकल भागा और सेहवान के नागरिको ने आत्मसमर्पण कर दिया। उसके पश्चात् मुहम्मद ने सीसम के जाटों को परास्त किया। बाझरा यहाँ मारा गया

और जाटो ने अरबो का साथ देना स्वीकार कर लिया। यहाँ से मुहम्मद निरुन की ओर वापिस लौटा और कई माह तक वह सिन्ध नदी की मुख्य धारा मेहरान को पार करने के लिए रुका रहा। यहाँ उसकी सेना मे बीमारी फैल गयी। इस कारण हज्जाज के द्वारा भेजी गयी दवाइयो और सैनिक-सहायता के पहुँच जाने के पश्चात् उसने नदी को पार किया।

दाहिर ने अभी तक मुहम्मद के कार्य मे कोई बाधा नही डाली थी और उसने एक बडे युद्ध पर ही अपने और सिन्ध के भाग्य को छोड़ दिया था। जब मुहम्मद इतनी सफलता पा चुका था तब वह ब्राह्मणाबाद के किले से निकलकर रावर की ओर बढा। वहाँ कई दिनो तक अरबों और हिन्दुओं की सेनाएँ एक दूसरे के सामने पडी रहीं। अन्त मे 20 जून, 712 ई० को युद्ध हुआ। दाहिर की सेना मे सम्भवतया 50,000 सैनिक और अनेक हाथी थे। दाहिर ने बडी बहादुरी से मुकाबला किया। आग के भय से हाथी के भागने पर भी वह हाथी को दुबारा युद्ध-स्थल मे लाया और उसके पश्चात् उसने घोडे पर सवार होकर युद्ध किया, परन्तु अन्त मे वह मारा गया। हिन्दू-सेना का कुछ हिस्सा भागकर आरोर चला गया और कुछ हिस्सा जयसिंह के साथ भागकर ब्राह्मणाबाद चला गया। रावर के किले की रक्षा दाहिर की पत्नी ने की। परन्तु अन्त मे रानीबाई और उसकी सहयोगी स्त्रियो ने किले को दुश्मन के हाथ मे जाते देखकर जौहर कर लिया जिसमे हजारो स्त्रियों ने आग में जलकर अपने सतीत्व की रक्षा की। जयसिंह के नेतृत्व मे ब्राह्मणाबाद के सैनिकों ने भी वीरता से अरबो के आक्रमण का मुकाबला किया परन्तु अन्त मे उनकी भी हार हुई। जयसिंह वहाँ से भागकर चित्तूर चला गया और किले पर अरबो का अधिकार हो गया। वहाँ पर मुहम्मद को दाहिर की सम्पूर्ण सम्पत्ति, उसकी एक अन्य पत्नी लाडी और उसकी दो कुमारी पुत्रियाँ सूर्यदेवी और परमालदेवी प्राप्त हुईं। रानी लाडी से मुहम्मद ने स्वय विवाह कर लिया और सूर्यदेवी तथा परमालदेवी को खलीफा की सेवा के लिए भेज दिया। इसके पश्चात् मुहम्मद ने सिन्ध की राजधानी आरोर (आलोर) पर भी अधिकार कर लिया जिसकी रक्षा दाहिर का एक अन्य पुत्र कर रहा था। इस प्रकार अरबो की सिन्ध की विजय पूर्ण हो गयी।

713 ई० के आरम्भ मे मुहम्मद बिन कासिम मुल्तान की ओर बढा। मार्ग मे उसे कई कठिन युद्ध करने पडे परन्तु अन्त मे वह सफलता से मुल्तान पहुँच गया। एक देशद्रोही ने अरबो को उस जल-धारा को बता दिया जिससे किले मे पानी जाता था। अरबो ने उस पानी को रोक दिया और मुल्तान के किले ने आत्मसमर्पण कर दिया। अरबो को यहाँ इतना सोना प्राप्त हुआ कि उन्होने मुल्तान का नाम 'सोने का नगर' रख दिया। मुल्तान की फतह भारत मे अरबो की आखिरी फतह थी।

सिन्ध का विजेता मुहम्मद बिन कासिम अधिक समय जीवित न रह सका। उस योग्य और साहसी सेनापति का दुर्भाग्यपूर्ण अन्त हुआ। 'चचनामा' मे और उसका अनुसरण करते हुए मीर मासूम ने भी लिखा है कि दाहिर की पुत्रियाँ सूर्यदेवी और परमालदेवी ने खलीफा के पास पहुँचकर यह शिकायत की कि मुहम्मद बिन कासिम ने

तीन दिन तक उनको अपने हरम (जनानखाने) में रखकर और उनके सतीत्व को भंग करके उन्हें खलीफा की सेवा में भेजा है। खलीफा, जो उनकी सुन्दरता पर मुग्ध हो गया था, बहुत क्रोधित हुआ और उसने आदेश दिये कि मुहम्मद को बैल की कच्ची खाल में बन्द करके उसके पास भेजा जाये। मुहम्मद ने इस आदेश का पालन किया और स्वयं को बैल की खाल में बन्द कर लिया जिससे उसका जीवन समाप्त हो गया। जब उसकी लाश खलीफा के सामने ले जायी गयी तो राजकुमारियों ने खलीफा के सामने यह स्वीकार कर लिया कि मुहम्मद का कोई दोष न था और उन्होंने अपने पिता की मृत्यु का बदला लेने के लिए उस पर यह आरोप लगाया था। खलीफा ने उन दोनों राजकुमारियों को घोड़े की पूँछ से बँधवाकर घोड़ों को उस समय तक दौड़ाया जब तक कि उन दोनों की मृत्यु नहीं हो गयी। इस प्रकार, एक कथन के अनुसार मुहम्मद बिन कासिम की मृत्यु के लिए दाहिर की पुत्रियाँ जिम्मेदार थीं। परन्तु आधुनिक इतिहासकार इस कहानी को सत्य नहीं मानते। मुहम्मद बिन कासिम की मृत्यु का वास्तविक कारण राजनीतिक था। 715 ई० में खलीफा वालिद के पश्चात् उसका भाई सुलेमान खलीफा बना। वह हज्जाज से असन्तुष्ट था। परन्तु उस समय तक हज्जाज की मृत्यु हो चुकी थी। इस कारण हज्जाज के सम्बन्धी और समर्थक उसके असन्तोष का शिकार बने। मुहम्मद हज्जाज का चचेरा भाई और दामाद था। इस कारण याजिद को सिन्ध का नवीन सूबेदार बनाया गया और मुहम्मद को कैद करके मैसोपोटामिया भेज दिया गया जहाँ उसके शत्रुओं ने उसे अनेक शारीरिक यातनाएँ देकर समाप्त कर दिया।

सफलता के कारण

विभिन्न कारणों से मुहम्मद बिन कासिम को सिन्ध और मुलतान में सफलता मिली। सिन्ध जनसंख्या, आर्थिक सम्पन्नता और सैनिक दृष्टि से भारत का एक शक्तिशाली राज्य न था। उसकी **जनसंख्या कम ही न थी बल्कि ऊँच-नीच की भावना से आपस में विभाजित थी।** मुख्यतया जाटों और मेदों जैसी लड़ाकू जातियों के प्रति ब्राह्मण शासक-वर्ग के व्यवहार ने तीव्र असन्तोष उत्पन्न करके समाज की एकता को नष्ट कर दिया था। **सिन्ध की भूमि सम्पन्नता प्रदान करने के अनुकूल न थी।** नि:सन्देह, सिन्ध-प्रदेश निर्धन न था और विदेशी व्यापार से वह लाभ प्राप्त करने की स्थिति में था परन्तु उसकी कृषि, व्यापार और उद्योग ऐसी स्थिति में न थे जो उसे एक सम्पन्न प्रदेश बनाते। **आर्थिक सम्पन्नता के अभाव में सिन्ध सैनिक दृष्टि से कभी भी शक्तिशाली न बन सका।** दाहिर का राज्यवंश और स्वयं **दाहिर न तो सुदृढ़ शासन स्थापित कर सका था और न वह लोकप्रिय बन सका था।** उसके प्रान्तीय सूबेदार प्रायः अर्ध-स्वतन्त्र थे और उसकी प्रजा उसके प्रति वफादार न थी। इस कारण वह अरबों के विरुद्ध सगठित शक्ति का प्रयोग न कर सका। बौद्ध-मतावलम्बियों और व्यापारियों ने भी उसके साथ असहयोग किया। सिन्ध भारत के एक कोने में स्थित था। इस **कारण भारत के अन्य शासक सिन्ध के प्रति उदासीन रहे। अरबों का सैन्य-बल दाहिर के सैन्य-बल से अधिक श्रेष्ठ था।** अरबों की सेना की शक्ति, उनके घोड़े

तथा हथियार सिन्ध के सैनिको से अधिक श्रेष्ठ थे। **अरबों में धार्मिक जोश था जबकि सिन्ध के हिन्दुओं को प्रेरणा देने वाली ऐसी कोई भावना न थी। हिन्दू अपनी धार्मिक उदारता के कारण धर्म के आधार पर राष्ट्रीयता का निर्माण नहीं कर सके।** वह यह भी न समझ सके कि अरबो का आक्रमण उनके धर्म, सम्मान, समाज और सस्कृति पर होने वाले एक गम्भीर आक्रमण की पहली कडी है जिसका परिणाम भविष्य मे बहुत बुरा होगा। इस कारण अरबों से उनके संघर्ष का दृष्टिकोण एक सीमित राजनीति रहा और वे धर्म अथवा देश-प्रेम के आधार पर पूर्ण उत्साह से उस आक्रमण के विरुद्ध सघर्ष करने के लिए तत्पर न हुए। **दाहिर की सैनिक-भूलें भी सिन्ध की पराजय का कारण बनीं।** अरबो द्वारा मकरान को जीतने के पश्चात् दाहिर को सचेत हो जाना चाहिए था। जो शक्ति निरन्तर उसके राज्य की सीमाओ पर आक्रमण कर रही थी और उसके प्रवेश-द्वार को जीतने मे सफल हो गयी थी, उसका मुकाबला करने के लिए उसे जवर्दस्त तैयारी करनी चाहिए थी। परन्तु उसने ऐसा नही किया बल्कि जब मुहम्मद विन कासिम देवल, निरुन, सीसम आदि सिन्ध के निचले भागो को जीत रहा था तब उसने कुछ न किया। रावर के युद्ध से पहले जबकि मुहम्मद की सेना मे बीमारी फैली हुई थी और वह सैनिक-सहायता की प्रतीक्षा कर रहा था, तब भी दाहिर ने उस पर आक्रमण न किया। दाहिर की भूल यही नही थी कि उसने एक ही युद्ध के निर्णय पर अपना और सिन्ध का भाग्य छोड़ दिया था बल्कि यह भी थी कि वह अपने ही प्रदेश मे आक्रमणकारी की शक्ति को विभिन्न स्थानो पर विखेर न सका और उसकी दुर्बल परिस्थितियो मे उस पर आक्रमण न कर सका। दाहिर वहादुर और साहसी था परन्तु एक सनिक की भाँति अपने जीवन को युद्ध मे झोक देना उसकी भूल थी। नेतृत्व, दूरदर्शिता और उचित अवसर के प्रयोग की दृष्टि से दाहिर असफल रहा और सिन्ध की पराजय का कारण वना। **देश-प्रेम के अभाव में विभिन्न अवसरों पर विभिन्न हिन्दुओं ने अपने राजा और देश के साथ गद्दारी की।** देवल मे एक देशद्रोही ने भारतीयो के मनोवल को कम करने का तरीका अरवो को वताया, निरुन को उसके पुजारी ने बिना युद्ध किए अरबो को दे दिया, सीसम के युद्ध के पश्चात् जाट अरवो के साथ मिल गये और मुल्तान के किले को पानी देने वाली जल-धारा का पता एक देशद्रोही ने अरबो को दे दिया। **मुहम्मद बिन कासिम का उत्साह, सैनिक-नेतृत्व और उसकी योग्यता भी अरबों की सफलता का कारण थी।** यह कहना भूल है कि भारतीय सैनिक वहादुर न थे और उन्होने अरवो से युद्ध करने मे कायरता दिखाई थी। अरवो की सफलता उनके जोश, शक्ति, योग्य नेतृत्व और एक निश्चित लक्ष्य के प्रति आस्था का परिणाम थी जबकि भारतीयों मे इन गुणो का अभाव था।

मुहम्मद बिन कासिम के पश्चात्

खलीफा सुलेमान ने मुहम्मद को हटाकर याजिद को सिन्ध का सूबेदार वनाया। परन्तु सिन्ध मे पहुँचने के 18 दिन पश्चात् याजिद की मृत्यु हो गयी। उसके स्थान पर हबीब सूबेदार बनाया गया। हबीब ने शान्ति और समझौते की नीति का पालन

किया जिसके कारण दाहिर के लड़के जयसिंह ने ब्राह्मणावाद को अपने स्वामित्व में कर लिया। हबीब ने अन्य हिन्दू-सूबेदारों को भी अपने-अपने स्थानों को पुनः हस्तगत कर लेने दिया। परन्तु 717 ई० में खलीफा उमर द्वितीय के समय में इस उदारता की नीति को छोड़ दिया गया और हिन्दुओं को इस्लाम स्वीकार करने के लिए वाध्य किया गया। स्वयं जयसिंह ने इस्लाम धर्म को स्वीकार कर लिया। खलीफा हिशाम के समय में इस नीति को और आगे बढ़ाया गया और सूबेदार जूनियाद ने सभी स्थानों पर प्रत्यक्ष अरब-शासन को स्थापित किया यहाँ तक कि जयसिंह भी अपने देश को छोड़ने के लिए वाध्य हुआ। जूनियाद और उसके उत्तराधिकारी सूबेदारों ने सिन्ध के बाहर भी आक्रमण किये परन्तु उन्हें अधिक सफलता न मिली। 750 ई० में उमय्यद-खलीफा को अब्बासी-खलीफा ने हटा दिया और उसने मूसा को सूबेदार बनाकर सिन्ध भेजा जिसने उमय्यद-खलीफा के सूबेदार मन्सूर से युद्ध करके सिन्ध को उससे छीन लिया। अरबों के इस पारस्परिक संघर्ष से सिन्ध में उनकी शक्ति दुर्बल हुई होगी, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। सूबेदार बशहर ने तो बाद में खलीफा के आधिपत्य से भी मुक्त होने का प्रयत्न किया यद्यपि वह सफल न हो सका। परन्तु जैसे-जैसे खलीफाओं की शक्ति और सम्मान कम होते गये वैसे-वैसे सिन्ध पर उनका आधिपत्य ढीला होता गया और अरबों की शक्ति सिन्ध में दुर्बल पड़ती गयी। 871 ई० तक सिन्ध में खलीफाओं की सत्ता प्रायः समाप्त हो गयी। अन्त में, सिन्ध में अरबों के दो स्वतन्त्र राज्य हो गये। इनमें से एक सिन्ध के ऊपरी भाग में मुल्तान को सम्मिलित करते हुए आरोर तक फैला हुआ था और दूसरा निचले सिन्ध में मसूरा को सम्मिलित करते हुए समुद्र-तट तक फैला हुआ था। महमूद गजनवी के आक्रमणों के समय सिन्ध की राजनीतिक स्थिति यही थी। इससे स्पष्ट है कि अरब सिन्ध पर तो अपने अधिकार को सुरक्षित रख सके परन्तु भारत के अन्य प्रदेशों में प्रवेश पाने में वे असफल रहे।

अरबों की शासन-व्यवस्था

सिन्ध में अरबों का शासन एक फौजी जागीर की भाँति रहा। अरबों में शासन की रचनात्मक बुद्धि का अभाव था और वे शासन में किसी ठोस व्यवस्था का निर्माण न कर सके। सिन्ध को विभिन्न भागों में बाँट-कर सैनिक अधिकारी नियुक्त किये गये थे जो शक्ति के आधार पर शासन करते थे, न्याय करते थे और कर वसूल करते थे। परन्तु अरबों की संख्या बहुत कम थी। इस कारण उन्होंने भारतीय शासन-अधिकारियों से सहायता ली और स्थानीय शासन में हस्तक्षेप नहीं किया। हिन्दुओं से जजिया, किसानों से लगान, जो पैदावार का $\frac{2}{5}$ से $\frac{1}{4}$ तक था, बगीचा-कर तथा मछली, शराब, मोती आदि पर व्यापारिक कर लिये जाते थे। साधारणतया अरबों का शासन एक विजेता-जाति के शासन की भाँति रहा। अरब उच्च सैनिक और शासन-अधिकारी रहे तथा उनकी भारतीय प्रजा उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करने का साधन बनी।

केवल एक दृष्टि से अरबों का शासन महत्वपूर्ण रहा। इस्लाम के अनुसार अन्य सभी धर्मों के व्यक्ति दो श्रेणियों में बाँटे गये थे। एक वे जो ईश्वरीय ज्ञान के हिस्सेदार माने जाते थे जैसे यहूदी और ईसाई। इनको जिम्मी पुकारा गया था और

वे जजिया (धार्मिक कर) देकर इस्लामी-राज्य मे रहते हुए अपने धर्म का पालन कर सकते थे। दूसरे व्यक्ति वे थे जो मूर्तिपूजक थे और काफिर कहलाते थे। ऐसे व्यक्तियो को इस्लामी-राज्य मे रहने का अधिकार न था। उन्हे मृत्यु अथवा इस्लाम में से एक को चुनना पडता था। इस कारण जो हिन्दू मूर्तिपूजक थे, वे इस्लामी-राज्य मे रहने के अधिकारी न थे। मुहम्मद बिन कासिम ने देवल की विजय के पश्चात् हिन्दुओ से इसी आधार पर व्यवहार किया। परन्तु बाद में बहुसख्यक हिन्दुओ को कत्ल करने में अपने को असमर्थ पाकर उसे अपने विचारों मे परिवर्तन करना पड़ा। प्रायः सभी हिन्दू मूर्तिपूजक थे और उन सभी को मुसलमान बनाना अथवा उनको कत्ल करना सम्भव न था। इस कारण मुहम्मद बिन कासिम ने हिन्दुओं को भी काफिर के स्थान पर जिम्मी मान लिया और इसकी स्वीकृति हज्जाज से ले ली। इस आधार पर हिन्दुओं को जजिया देकर इस्लामी-राज्य में रहने और अपने धर्म का पालन करने की स्वीकृति मिल गयी। बाद के तुर्क-आक्रमणकारियों को इससे सुविधा हो गयी और उन्होंने भी हिन्दुओं को जिम्मी स्वीकार कर लिया। इसी कारण, सर विलियम म्योर ने कहा है कि "सिन्ध-विजय ने इस्लामी नीतियो मे एक नवीन युग का आरम्भ किया।"[1] अरबो की धार्मिक नीति के बारे मे एक बात यह भी कही जा सकती है कि वह बाद मे आने वाले तुर्क-आक्रमणकारियो की तुलना मे अवश्य ही सहिष्णु थी। यह अन्य बात है कि उनकी इस सीमित सहिष्णुता का आधार उनकी धार्मिक उदारता न थी बल्कि अपनी सीमित शक्ति के कारण परिस्थितियों से समझौता करने की वजह से थी। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि अरबो का धार्मिक जोश प्राय. एक सदी से इस्लाम को मानते रहने के कारण कुछ स्थिरता प्राप्त कर गया था, जबकि तुर्क इस्लाम धर्म के नवीन अनुयायी थे और भारत पर आक्रमण करने के अवसर पर उनका धार्मिक जोश नूतनता के उत्साह से ओत-प्रोत था।

भारत में अरबों को सफलता के कारण

भारत मे अरबो के सिन्ध और मुल्तान से आगे बढने के प्रयत्न असफल रहे। कच्छ पर अरबो का आक्रमण विफल रहा। लाट पुलकेशिन द्वितीय द्वारा एक अरब-सेना परास्त की गयी और गुर्जर नागभट्ट ने भी अरबो की एक सेना को परास्त किया, ऐसे प्रमाण प्राप्त होते हैं। सर वूल्जे हेग के मतानुसार राजपूताना और अवन्ती के राजवशो ने अरबो को पूर्व की ओर बढने से रोक दिया था। राष्ट्रकूट-वश से अरबो के सम्बन्ध मित्रता के रहे। इससे स्पष्ट है कि अरबो का भारत का राज्य सिन्ध और मुल्तान तक ही सीमित रहा और वहाँ पर भी उनकी स्थिति बहुत अधिक दृढ न हो सकी। अरब भारत में अपना स्थायी राज्य स्थापित न कर सके। अरबो की इस असफलता के विभिन्न कारण थे। इतिहासकार एलफिस्टन ने इसके निम्नलिखित तीन कारण बताये :

1. अरबो का सुमेर-राजपूतों द्वारा बाहर निकाला जाना;
2. हिन्दुओं की अपने धर्म और उसके अनुकूल आचरण में पूर्ण आस्था और

---

1 "The conquest of Sindh began a new age in the policy of Islam."
—Sir William Muir.

3. हिन्दू राजाओ की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा जिसके कारण राज्य-वशो मे,

बताये :

4. पूर्व और उत्तर मे शक्तिशाली राजपूत-राज्यो का होना;
5. खलीफाओ का भारत-विजय के लिए पर्याप्त सेना का न भेजना,[1]
6. अरबो द्वारा सिन्ध की विजय को भी पूर्ण और सगठित न करना; और
7. खलीफाओ का सिन्ध के निर्धन होने के कारण उसमे आवश्यक रुचि न लेना।

इनके अतिरिक्त अरबो की असफलता के कारणों पर कुछ अन्य इतिहासकारो ने भी प्रकाश डाला है। उनके अनुसार—

8. 750 ई० मे अब्बासी-खलीफा ने उमय्यद-खलीफा को नष्ट कर दिया जिससे खलीफा की शक्ति और प्रतिष्ठा मे कमी हुई और सिन्ध के अरब-अधिकारियो मे झगड़े हुए। इससे उनकी शक्ति दुर्बल हुई।
9. खलीफा हारुन-अल-रशीद के समय से अरबो मे विलासिता आ गयी थी। एच. जी. वैल्स ने अपनी पुस्तक *'The Khalifa's Lost Heritage'* मे लिखा है कि "इस्लाम अपने मौलिक और जीवनप्रद तत्वो से अलग हो गया" और "कुरान की धार्मिक कट्टरता तथा सादगी का स्थान चिन्तनयुक्त दर्शन तथा उच्चकोटि के रहन-सहन ने ले लिया।" बढती हुई सम्पत्ति और विलासिता ने न केवल खलीफाओ के नैतिक पतन मे योग दिया बल्कि सम्पूर्ण अरब जाति को भोग-विलासी बना दिया जिससे उनका जोश, सैनिक-प्रतिभा आदि नष्ट हो गये। बाद के खलीफा न शक्तिशाली रहे और न सम्मानित। वह अपने अधीन सेवको के हाथो मे खिलौना बन गये। उनकी शक्ति का स्रोत भी अरब जाति न रही बल्कि उसका स्थान पहले तुर्कों ने और बाद मे अन्य जातियो ने ले लिया। ऐसे खलीफा और ऐसी अरब जाति भारत जैसे दूरस्थ, विशाल और शक्तिशाली प्रदेश मे राज्य स्थापित करने में सफल नही हो सकती थी।
10. खलीफा की दुर्बलता से लाभ उठाकर 871 ई० में सिन्ध प्रायः स्वतन्त्र हो गया, अरबों की एकता नष्ट हो गयी और सिन्ध मुल्तान एवं मंसूरा के दो अरबी-राज्यों मे विभाजित हो गया। ऐसी स्थिति मे उनकी सफलता का प्रश्न न था।
11. एक तरफ खलीफाओं की दुर्बलता और दूसरी तरफ नस्लवाद तथा राष्ट्रीयता की भावना के प्रादुर्भाव के कारण इस्लाम की एकता छिन्न-भिन्न हो गयी जिससे भारत मे उसकी आक्रमणकारी शक्ति समाप्त हो गयी।
12. सिन्ध का भारत के एक कोने मे होना तथा आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न न होना भी अरबो की असफलता के लिए जिम्मेदार था। सिन्ध को आधार

बनाकर भारत की विजय करना किसी भी विदेशी शक्ति के लिए सम्भव नही था।

13. सिन्ध के निकट शक्तिशाली राजपूत-राज्यो का होना, हिन्दुओं की धार्मिक कट्टरता, पुरोहित-वर्ग का उन पर प्रभाव तथा आक्रमणकारी विदेशी शत्रु का शौर्य और शक्ति से मुकाबला करने की उनकी क्षमता भी, नि.सन्देह, अरबो की सफलता के मार्ग में ऐसी बाधाएँ थो जिन्हें अरब दूर न कर सके।

उपर्युक्त कारणो से भारत में अरबों की असफलता अस्वाभाविक न थी, बल्कि आश्चर्य तो इस बात का है कि अरब 300 वर्ष तक सिन्ध में अपना राज्य स्थापित रख सके। कन्नौज का प्रतिहार-राज्य और उत्तर-पश्चिम तथा पश्चिमी पजाब का हिन्दूशाही-राज्य अरबों की तुलना मे बहुत शक्तिशाली थे और वे सरलता से अरबो को सिन्ध से बाहर निकाल सकते थे। यह भी कहना भूल होगी कि हिन्दुओं मे अपने धर्म और देवताओं की मूर्तियो की रक्षा करने का जोश न था। परन्तु तब भी हिन्दुओ ने अरबों को देश से निकाल कर अपनी सीमाओं की सुरक्षा की व्यवस्था नही की, यह आश्चर्य की बात है। सम्भवतया इसका मुख्य कारण हिन्दुओ की विदेशी राजनीति और भारत की सीमाओ पर होने वाली उथल-पुथल से अनभिज्ञता एवं उदासीनता थी जिसके हिन्दुओं को भयंकर परिणाम भुगतने पड़े।

राजपूताना के इतिहास के सुविख्यात लेखक टॉड ने अरबो के आक्रमण के प्रभाव को बहुत बढा-चढाकर बताया। उन्होने यहाँ तक लिखा कि "अरबों के आक्रमण से समस्त उत्तर भारत दहल गया था।" परन्तु उनके विचारों को कोई भी इतिहासकार स्वीकार करने के लिए तत्पर नही है।

अरब-आक्रमण का प्रभाव

राजनीतिक क्षेत्र में अरबों के आक्रमण का प्रभाव बहुत सीमित और साधारण था। सर वूल्जे हेग ने लिखा है कि "भारत के इतिहास में वह एक साधारण दुर्घटना थी और उसने इस विशाल प्रदेश के सीमावर्ती क्षेत्र के एक छोटे प्रदेश मात्र को प्रभावित किया।"[1] लेनपूल ने लिखा है कि "यह इस्लाम के इतिहास की एक गौण तथा महत्वहीन घटना थी।"[2] अरबों की सिन्ध की विजय से भारत का कोई महत्वपूर्ण भाग मुसलमानो के हाथ में नही गया, अरबो ने भारत की राजनीतिक और सैनिक शक्ति को नही तोड़ा क्योकि भारत के किसी भी शक्तिशाली राज्य से उनका युद्ध नही हुआ तथा सिन्ध की विजय ने मुसलमानो के लिए भारत-विजय का मार्ग नही खोला। इस प्रकार भारत की राजनीति पर अरब-आक्रमण का कोई विशेष और स्थायी प्रभाव नही पडा। अरबो ने पहली बार भारत में इस्लामी राज्य की स्थापना की, एक बड़ी सख्या मे भारत के एक प्रदेश मे हिन्दुओ को जबर्दस्ती मुसलमान बनाया और अरब तथा इस्लामी ससार से भारत

---

1 "It was a mere episode in the history of India and affected only a small portion of the fringe of that vast country." —Sir Wolseley Haig.

2 "It was simply an episode in the history of Islam." —Lane-Poole.

का निकट का परिचय कराया, इसमें सन्देह नही। परन्तु अरब-आक्रमण का प्रभाव यही तक सीमित रहा। इस कारण उसका कोई गम्भीर राजनीतिक प्रभाव भारत पर नही पड़ा।

सांस्कृतिक दृष्टि से अरबों ने भारतीयों को प्रभावित नहीं किया, बल्कि इसके विपरीत अरब भारतीय संस्कृति और सभ्यता से प्रभावित हुए। भारत की कला, ज्योतिष, चिकित्सा-शास्त्र, साहित्य आदि से अरब प्रभावित हुए और उन्होने उनका सदुपयोग किया। उन्होने अपनी मस्जिदो और इमारतो के बनवाने मे हिन्दुओ से सहयोग लिया। सर जॉन मार्शल ने लिखा है कि "अरबो मे निर्माणात्मक प्रतिभा बिलकुल नही थी। यदि वे अपने पूजागृहो को उतना ही आकर्षक बनाना चाहते थे जितना कि उनके प्रतिद्वन्द्वी धर्मों के अनुयायियो के थे तो उनके लिए विजित देशों के शिल्पियों और कलाकारो से काम लेना अनिवार्य था।" उसी प्रकार हैवेल ने लिखा है कि "जिस समय इस्लाम सीखने योग्य यौवनावस्था मे था उस समय उसे यूनान ने नही बल्कि भारत ने सिखाया, उसके दर्शन और आध्यात्मिक धार्मिक आदर्शों का निर्माण किया तथा उसके साहित्य और कला-स्थापत्य की विशिष्ट शैलियो को प्रेरणा दी।" स्थापत्य-कला के अतिरिक्त हिन्दू और बौद्ध दर्शन ने अरबो की विचारधारा को गम्भीरता से प्रभावित किया। खलीफा अल-मन्सूर के समय में सस्कृत के 'ब्रह्म-सिद्धान्त' और 'खण्ड-खाद्यक' नामक ग्रन्थों का अरबी भाषा मे अनुवाद किया गया। तप और संन्यास की विचारधारा को अरबो ने भारत से प्राप्त किया। तबरी ने लिखा है कि खलीफा हारुन-अल-रशीद की बीमारी को एक भारतीय वैद्य ने ठीक किया था। इससे स्पष्ट है कि अरबो ने भारतीय चिकित्सा-शास्त्र के ज्ञान से लाभ उठाया था। अरबो ने अकों का ज्ञान भी भारतीयो से प्राप्त किया। इस प्रकार, यद्यपि अरब सिन्ध मे विजेता की दृष्टि से आये परन्तु तब भी सभ्यता की दृष्टि से वह भारत को कुछ भी न दे सके बल्कि उन्होंने ही भारत से बहुत कुछ प्राप्त किया। यही नही, बल्कि डॉ. आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव का तो यहाँ तक कहना है कि "अरबो ने भारतीय ज्ञान को यूरोप में पहुँचाया, विशेषकर दर्शन, ज्योतिष और अकों को। आठवी और नवी शताब्दी मे यूरोप में जो ज्ञान की ज्योति फैली उसका मुख्य कारण अरबों का भारत से सम्पर्क था।" इस प्रकार यह कहना उचित है कि **यद्यपि अरबों के भारत पर आक्रमण का राजनीतिक प्रभाव नगण्य था परन्तु संस्कृति और सभ्यता की दृष्टि से वह अरबों के लिए ही नहीं बल्कि संसार के अन्य देशों के लिए भी लाभदायक साबित हुआ।**

[3]

अरबों और तुर्कों का हिन्दू अफगानिस्तान पर आक्रमण और विजय

उस समय भारत की उत्तर-पश्चिम सीमा पर स्थित अफगानिस्तान मे हिन्दू-राज्य थे। इस कारण, जिस प्रकार सिन्ध को अरबों की बढ़ती हुई शक्ति का मुकाबला करना पड़ा उसी प्रकार अफगानिस्तान के हिन्दू-राज्यो को भी अरबों से युद्ध करने पड़े। उस समय अफगानिस्तान में दो हिन्दू-राज्य थे। उनमे से एक काबुल और

दूसरा जावुल अथवा जावुलिस्तान का राज्य कहलाता था। 643 ई० में अरबों ने ईरान को जीत लिया जिसके कारण उनकी सीमाएँ अफगानिस्तान के इन हिन्दू-राज्यो से टकराने लगी। उसके पश्चात् प्राय. 200 वर्षों तक अरब इन हिन्दू-राज्यो पर आक्रमण करते रहे, परन्तु उन्हे केवल आशिक सफलता प्राप्त हो सकी। सबसे पहले अरबों ने सीस्तान को जीता, परन्तु उसके पश्चात् प्राय: 50 वर्षों तक उनकी प्रगति रुकी रही। उसके पश्चात् इराक के सूवेदार हज्जाज के समय में जिस प्रकार सिन्ध को जीतने का प्रयत्न किया गया, उसी प्रकार कावुल और जावुल के राज्यो को भी जीतने का प्रयत्न किया गया। परन्तु हज्जाज के समय मे इन राज्यो को न जीता जा सका। 750 ई० मे जब अब्बासी-खलीफा हुए तब भी इन राज्यों को जीतने का प्रयत्न चलता रहा, मुख्यतया खलीफा अल-मन्सूर के समय मे। परन्तु अरबों के ये सभी प्रयत्न इन हिन्दू-राज्यों की शक्ति को दुर्बल तो कर सके, परन्तु उन्हे समाप्त न कर सके, यहाँ तक कि सम्पूर्ण सीस्तान पर भी अरबो का आधिपत्य स्थायी न रह सका। इससे यह स्पष्ट होता है कि अफगानिस्तान के इन हिन्दू-राज्यो ने निरन्तर 200 वर्षों तक इस्लाम की उस बढती हुई शक्ति को भारत के द्वार पर रोक रखा जिसने स्पेन से लेकर ईरान तक अपने राज्य का विस्तार कर लिया था। यद्यपि अरबो से इन राज्यो के संघर्ष का 200 वर्ष का इतिहास भारतीय इतिहास मे अभी तक अपना उचित स्थान प्राप्त नही कर सका है, परन्तु जो कुछ भी उसके बारे मे ज्ञात है उससे अनुमान किया जा सकता है कि उस समय के उन हिन्दू-राज्यो की दृढता और शक्ति कितनी रही होगी जिससे उन्होने अरबों को भारत मे सीधे प्रवेश करने का मार्ग नही दिया।

870 ई० तक यहाँ के शासक हिन्दू रहे परन्तु उसके पश्चात् वे नवोदित तुर्क-शक्ति के आगे झुक गये। तुर्क याकूब-इब्न-लायथ ने अपने जीवन का आरम्भ एक लुटेरे के रूप मे किया, परन्तु उसने ईरान और उसके आस-पास के प्रदेश मे एक दृढ राज्य स्थापित करने मे सफलता पायी। वही याकूब इन राज्यों को भी समाप्त करने के लिए उत्तरदायी हुआ। उसने युद्ध-कौशल और छल-कपट से इन दोनो राज्यो को अफगानिस्तान से उखाड़ फेका और 870 ई० मे अफगानिस्तान मे इस्लामी सत्ता को स्थापित कर दिया। इस प्रकार प्राय: 225 वर्ष के निरन्तर संघर्ष के पश्चात् हिन्दू भारत के प्रवेश-द्वार अफगानिस्तान को छोड़ने के लिए बाध्य हुए। भारत मे प्रवेश करने वाले बाद के तुर्क-आक्रमणकारियों को इससे सुविधा हुई।

2

11वीं और 12वीं सदी के तुर्की आक्रमण और मुस्लिम राज्य की स्थापना

इस्लाम के अनुयायियो मे से सबसे पहले भारत में प्रवेश करने वाले अरब थे। अरबो ने सिन्ध पर अधिकार करने मे सफलता पायी, परन्तु वे भारत में एक स्थायी राज्य स्थापित करने में असफल रहे। इस्लाम के प्रथम अनुयायी अरबो का धार्मिक उत्साह और शक्ति 200 वर्षा से कम समय में निष्प्राण हो गयी और खलीफाओ की विलासिता तथा दुर्बलताओं ने इस्लाम के नेतृत्व को अरबों के हाथो से खो दिया। पहले ईरानियों ने उस नेतृत्व को अपने हाथों मे लिया और उन्होने इस्लाम की सत्ता को प्रतिष्ठित बनाया। उनके पश्चात् इस्लाम का नेतृत्व तुर्कों के हाथों मे गया जिन्होने उसका विस्तार किया। भारत में भी इस्लामी राज्य को स्थापित करने का श्रेय तुर्कों को प्राप्त हुआ। तुर्क अरब और ईरानी दोनो से भिन्न थे। उनमे न तो अरबो जैसी समझदारी थी और न ईरानियो जैसी सुसभ्यता। उनकी बुद्धि और व्यवहार का मुख्य आधार उनकी तलवार की शक्ति थी। वे अत्यन्त भौतिकवादी और पूर्ण व्यावहारिक व्यक्ति थे। मंगोलों से उनके दूर के सम्बन्ध थे और उन्ही की भांति वे समय-समय पर सभी मानवीय भावनाओं को एक तरफ करके अत्यधिक क्रूर हो जाते थे। वे इस्लाम के नवीन अनुयायी थे। इस कारण वे अरबों और ईरानियो की तुलना में अधिक धर्मान्ध थे। उनके हाथो में इस्लाम एक गौरवपूर्ण आक्रमणकारी हथियार के समान था जिसका उन्होंने सफलता से प्रयोग किया। तुर्कों की नस्ल की श्रेष्ठता के विश्वास ने उस हथियार को और अधिक पैना बना दिया। इस प्रकार नस्ल की श्रेष्ठता के विचार, इस्लाम के प्रसार के उत्साह और तलवार की शक्ति को लेकर तुर्कों ने सम्मान और राज्य को प्राप्त करने का प्रयत्न किया और उसमे सफलता पायी। यही नही बल्कि बाद मे तुर्कों ने संसार की प्रगतिशील जातियो मे भी स्थान प्राप्त किया। तुर्क मंगोलों की भांति बर्बर न रहे। एक सदी से भी कम समय मे वे क्रूर और खानाबदोश घुडसवारो से बदलकर एक ऐसी सुसगठित और सुसभ्य जाति के व्यक्ति बन गये जिसने इस्लामी सभ्यता के श्रेष्ठ गुणो की रक्षा करने मे उस समय मे भी सफलता पायी जबकि मगोल सम्पूर्ण एशिया मे उन्हे नष्ट करने मे लगे हुए थे। 8वी सदी मे तुर्कों ने मध्य-एशिया से हटना आरम्भ किया और एक के बाद एक

सल्जूक, गुज्ज, खिताई, इल्यारी, कर्लूग आदि विभिन्न तुर्क-जातियाँ इस्लामी प्रदेशों मे प्रवेश करती चली गयी जहाँ उन्होंने अपने-अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित किये। नवीन आने वाली जातियों का दबाव और उनकी स्वयं की महत्वाकांक्षाएँ निरन्तर उन्हें आगे बढने के लिए मजबूर करती रही और धीरे-धीरे ईरान, इराक, अफगानिस्तान तथा अन्त में भारत में भी उन्होंने प्रवेश किया और अपने राज्य को स्थापित किया। 10वीं सदी से तुर्क काबुल के हिन्दूशाही-राज्य के सम्पर्क में आये और गजनवी-वंश की स्थापना के 50 वर्ष पश्चात् उन्होंने भारत में प्रवेश पा लिया। भारत-भूमि में अन्दर तक प्रवेश पाने का प्रथम श्रेय गजनवी-वंश के सुल्तान महमूद को गया यद्यपि भारत मे राज्य स्थापित करने का श्रेय शंसबनी-वंश के मुहम्मद गोरी को प्राप्त हुआ।

[1]
महमूद गजनवी

यमीनी-वंश जिसे अधिकांशतया गजनवी-वंश के नाम से पुकारा गया है, ईरान के शासकों की एक शाखा थी। अरब-आक्रमणों के अवसर पर इस वंश के व्यक्ति तुर्किस्तान भाग गये जहाँ वे तुर्कों के साथ इतने घुल-मिल गये कि उनके वंशज तुर्क ही कहलाये। अलप्तगीन ने इस वंश का एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया और 963 ई० में अमीर आबू बक्र लाविक से जाबुलिस्तान तथा उसकी राजधानी गजनी को छीन लिया। उस समय से गजनी उस वंश के राज्य की राजधानी बन गया। उस समय भारत के उत्तर-पश्चिम में हिन्दूशाही-राज्य था जिसका विस्तार हिन्दूकुश पर्वत-माला तक था और जिसने एक बार फिर काबुल को तुर्कों से छीन लिया था। इस कारण गजनी और हिन्दूशाही-राज्य की सीमाएँ एक-दूसरे से टकराने लगी। अलप्तगीन के समय से इन राज्यों में छुटपुट युद्ध आरम्भ हो गये। अलप्तगीन की मृत्यु 963 ई० में हुई। उसके लड़के इस-हक ने केवल तीन वर्ष शासन किया। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके सेनापति **बलक्तगीन** ने गद्दी पर अधिकार कर लिया। 972 ई० में बलक्तगीन की मृत्यु के पश्चात् अलप्तगीन के एक गुलाम **पीराई** ने गद्दी पर अधिकार कर लिया। पीराई अयोग्य था। उसके समय में हिन्दूशाही-राजा जयपाल ने अपने पुत्र के नेतृत्व में एक सेना गजनी पर आक्रमण करने के लिए भेजी क्योंकि वह अपनी सीमा पर एक शक्तिशाली इस्लामी राज्य की स्थापना होने देना नहीं चाहता था। हिन्दुओं की उस सेना पर अचानक आक्रमण करके सुबुक्तगीन ने उसे परास्त कर दिया। इससे उसके सम्मान में वृद्धि हुई। अन्त में 977 ई० में पीराई को हटाकर सुबुक्तगीन ने गद्दी पर अपना अधिकार कर लिया।

सुबुक्तगीन अलप्तगीन का गुलाम रहा था परन्तु बाद में वह उसका दामाद भी बना। वह साहसी और योग्य था। धीरे-धीरे उसने बस्त, दवार, कुसदार, बामियान, तुर्किस्तान और गोर को जीत लिया। उसने हिन्दूशाही-राज्य की सीमाओं पर आक्रमण करने आरम्भ किये और निकट के कई किलों

और नगरो को जीत लिया। इतिहासकार उतवी ने सुबुक्तगीन के इन आक्रमणो को जिहाद (धर्म की रक्षा के लिए युद्ध) बताया है परन्तु इसमे कोई सन्देह नहीं कि इन पड़ोसी राज्यो के संघर्ष का कारण राजनीतिक भी रहा होगा। इस कारण **सुबुक्तगीन के समय से गजनी और हिन्दूशाही-राज्य का वह लम्बा संघर्ष आरम्भ हुआ जो सुल्तान महमूद के समय तक चलता रहा और जिसका अन्तिम परिणाम हिन्दूशाही-राज्य का नष्ट होना हुआ।** 986-87 ई० में हिन्दूशाही-राजा जयपाल ने गजनी पर आक्रमण किया। गजनी और लमगान के निकट दोनों सेनाओं का मुकाबला हुआ। कई दिन तक युद्ध चलता रहा। बाद मे दुर्भाग्य से एक भीषण तूफान के कारण जयपाल की सेना छिन्न-भिन्न हो गयी और जयपाल को सन्धि करके वापिस लौटना पडा। परन्तु लाहौर पहुँचकर उसने सन्धि की शर्तों को मानने से इन्कार कर दिया। इस कारण सुबुक्तगीन ने उसकी सीमाओ पर आक्रमण किया और लमगान तक अपना अधिकार कर लिया। जयपाल ने सुबुक्तगीन को परास्त करने के लिए एक बड़ी सेना एकत्रित की जिसकी संख्या प्राय: एक लाख हो गयी। फरिश्ता ने लिखा है कि दिल्ली, अजमेर, कालिंजर तथा आस-पास के अनेक राजाओं ने अपनी सैनिक टुकड़ियाँ जयपाल की सहायता के लिए भेजी। लमगान के निकट सुबुक्तगीन और जयपाल की सेनाओं का मुकाबला हुआ। सुबुक्तगीन के योग्य नेतृत्व के कारण जयपाल की पराजय हुई और उसके पश्चात् सुबुक्तगीन ने लमगान और पेशावर के बीच की सभी भूमि पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार तुर्कों ने सुबुक्तगीन के समय में ही हिन्दूशाही-राज्य की शक्ति और सीमाओ को कम करने मे सफलता पायी। जयपाल की निरन्तर पराजय हुई। परन्तु **इस संघर्ष से दो बातें स्पष्ट होती हैं। प्रथम, जयपाल असावधान शासक न था। वह अपनी सीमा पर उठ खड़े होने वाले तूफान से परिचित हो गया था और उसे समाप्त करने के लिए उसने आक्रमणकारी नीति को अपनाया था जिसका अभाव हमें बाद के हिन्दू राजाओं में दिखाई देता है। दूसरे, फरिश्ता के कथन से यह भी स्पष्ट होता है कि भारत के हिन्दू राजा इस्लाम के बढ़ते हुए खतरे से सर्वथा उदासीन न थे जैसा कि साधारणतया उन पर आरोप लगाया जाता है। हिन्दू राजाओं ने जयपाल की सहायता के लिए अफगानिस्तान के दूरस्थ, ठण्डे और पहाड़ी भाग में भी अपने सैनिकों को भेजा था।** 997 ई० में सुबुक्तगीन की मृत्यु हो गयी। मरने से पहले उसने अपने छोटे पुत्र इस्माइल को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। उसके बड़े पुत्र महमूद ने इसे मानने से इन्कार कर दिया। सात माह के पश्चात् इस्माइल को परास्त करके महमूद ने 998 ई० में अपने पिता के राज्य पर अधिकार कर लिया। यही वह महमूद गजनवी था जिसने भारत पर निरन्तर आक्रमण किये और मुसलमानों को धन-दौलत के लिए मार्ग खोल दिया।

1 नवम्बर, 971 ई० को महमूद गजनवी का जन्म हुआ था। उसने [illegible] शिक्षा प्राप्त की थी और उसने अपने पिता के समय में अनेक युद्धों में [illegible] था। 998 ई० मे 27 वर्ष की आयु में वह अपने पिता के राज्य का [illegible] इतिहासकारो ने मुस्लिम इतिहास में महमूद को [illegible]

उसके सिक्को पर सिर्फ 'अमीर महमूद' अकिन किया गया था। परन्तु महमूद अपनी विजयो के कारण सुल्तान के पद के योग्य था। आरम्भ में महमूद ने अपनी शक्ति को हिरात, बल्ख तथा बस्त मे दृढ किया और खुरासान को विजय किया। बगदाद के खलीफा अल-कादिर बिल्लाह ने 999 ई० में इन प्रदेशो पर उसके अधिकार को स्वीकार कर लिया और उसे 'यमीन-उद-दौला' तथा 'आमीन-उल-मिल्लाह' की उपाधियाँ दी। यह कहा जाता है कि इसी अवसर पर उसने भारत पर प्रत्येक वर्ष आक्रमण करने की शपथ ली।

महमूद गजनवी के आक्रमण के कारण

इतिहासकारो ने महमूद के भारत-आक्रमणो के बारे मे भिन्न-भिन्न मत प्रकट किये है। उनसे पता लगता है कि महमूद के भारत पर आक्रमण करने के निम्नलिखित उद्देश्य थे

1 महमूद भारत मे **इस्लाम धर्म की प्रतिष्ठा को स्थापित करना** चाहता था। परन्तु प्रो० हबीब ने महमूद को पूर्णतया सासारिक व्यक्ति बताया है। उनका कहना है कि "वह धर्मान्ध न था। वह मुस्लिम उलेमा-वर्ग की आज्ञाओ को मानने को तैयार न था और उसके बर्बरतापूर्ण कार्यों ने इस्लाम का प्रचार नही किया बल्कि इस्लाम को ससार की दृष्टि मे गिराया।" इतिहासकार जाफर ने लिखा है कि "महमूद का उद्देश्य भारत मे इस्लाम का प्रचार नही बल्कि धन लूटना था। उसने हिन्दू-मन्दिरो पर इसलिए आक्रमण किये क्योकि वहाँ धन सचित था।" प्रो० नाजिम ने लिखा है कि "यदि उसने हिन्दू राजाओ को तग किया तो उसने ईरान और ट्रान्स-आक्सनिया के मुस्लिम शासकों को भी नही छोड़ा। जो लूटमार उसने गंगा के मैदान में की वैसी ही उसने ओक्सस नदी के किनारे पर भी की।" इसी प्रकार मि० हैवेल का कथन है कि "वह बगदाद को भी वैसी ही निर्दयता से लूट लेता जैसी निर्दयता से उसने सोमनाथ को लूटा था यदि उसे वहाँ से उतना धन मिलने की आशा होती।" इस प्रकार इन विभिन्न इतिहासकारो का यह मत है कि महमूद के भारत-आक्रमण का उद्देश्य धार्मिक न होकर धन था। परन्तु महमूद के दरबारी इतिहासकार उतबी ने उसके आक्रमणो को जिहाद माना था जिनका मूल उद्देश्य इस्लाम का प्रसार और बुत-परश्ती (मूर्ति-पूजा) को समाप्त करना था। तुर्कों के नवीन धार्मिक जोश और उस समय की परिस्थितियो को देखते हुए इसे अस्वाभाविक भी नही माना जा सकता। महमूद ने भारत में मन्दिरो को लूटा ही नही बल्कि मूर्तियो और मन्दिरो को बरबाद भी किया था। इस कारण यह माना जाता है कि महमूद का एकमात्र उद्देश्य धर्म का प्रचार और इस्लाम की प्रतिष्ठा को स्थापित करना था।

2. महमूद का उद्देश्य **भारत की सम्पत्ति को लूटना** था, इससे कोई भी इतिहासकार इन्कार नही करता। महमूद धन का लालची था और उसे गजनी के ऐश्वर्य तथा राज्य-विस्तार के लिए धन की आवश्यकता थी। उसके प्रारम्भिक आक्रमणो की सफलता और धन की लूट-मार ने उसे और अधिक लालची बना दिया। प्रत्येक अवसर पर जो धन-राशि उसे भारत से प्राप्त हुई उसने उसे भारत की सम्पन्नता

महमूद गज़नी के आक्रमण के
समय भारत
हिन्दुशाही
काबुल
काश्मीर
सतुलज न.
सिन्धु न.
दिल्ली
मथुरा
कन्नौज
प्रतिहार
चौहान
अजमेर
पाल
चालुक्य
चन्देल
भिलसा
सोनार गाँव
सोमनाथ
परमार
महानदी
चिट गाँव
गोदावरी नं.
अरब सागर
चालुक्य
कृष्णा नं.
बंगाल की खाड़ी
चोल
----राज्य की सीमा
कावेरी न.
पाण्डय

से परिचित करा दिया और प्रत्येक आक्रमण को उसने अधिक से अधिक धन प्राप्त करने का साधन बना लिया।

3. **पड़ोस के हिन्दू-राज्य को नष्ट करना** महमूद का राजनीतिक उद्देश्य था। गजनी और हिन्दूशाही-राज्य के झगड़े अलप्तगीन के समय से चल रहे थे और तीन बार हिन्दूशाही-राज्य गजनी के राज्य पर आक्रमण कर चुका था। अपने इस शत्रु को समाप्त करना महमूद के लिए आवश्यक था। इस कारण महमूद ने स्वयं आक्रमण-कारी नीति को अपनाया। हिन्दूशाही-राज्य को समाप्त करने के पश्चात् उसका साहस बढ गया और उसने भारत मे दूर-दूर तक आक्रमण किये।

4. **यश की लालसा** भी महमूद के आक्रमणो का कारण थी। महमूद महत्वा-काक्षी था और सभी महान् शासको की भाँति वह भी राज्य-विस्तार और यश का भूखा था। उसने पश्चिम की ओर अपने राज्य का विस्तार किया था। पूरब की ओर हिन्दूशाही-राज्य को समाप्त करना और निरन्तर युद्धों मे विजय प्राप्त करके यश प्राप्त करना भी उसका उद्देश्य था।

महमूद के आक्रमणों के समय भारत की स्थिति

राजनीतिक दृष्टि से भारत विभिन्न राज्यो में बँटा हुआ था। इनमें से कुछ राज्य शक्तिशाली भी थे परन्तु उनकी पारस्परिक प्रतिस्पर्धा उनकी मुख्य दुर्बलता थी जिसके कारण वे विदेशी शत्रु के मुकावले मिलकर कार्य न कर सके। मुल्तान और सिन्ध मे दो मुसलमानी राज्य थे। **ब्राह्मण-हिन्दूशाही-राज्य** चिनाव नदी से हिन्दूकुश पर्वत-माला तक फैला हुआ था। जयपाल उसका साहसी, बहादुर और दूरदर्शी शासक था। पड़ोस के गजनी राज्य को समाप्त करने के लिए उसने आक्रमणकारी नीति का पालन किया था यद्यपि वह उसमे सफल नहीं हुआ। महमूद के आक्रमणों का पहला और मजबूत मुकावला इसी राज्यवश ने किया। इस समय **कश्मीर** मे भी ब्राह्मण-वंश का राज्य था और उसकी रानी दिद्दा थी। हिन्दूशाही-राज्य से उसके पारिवारिक सम्बन्ध थे। **कन्नौज** मे प्रतिहार-वंश का राज्य था। वत्सराज और नागभट्ट के समय मे यह राज्य काफी शक्तिशाली था परन्तु दक्षिण के राष्ट्रकूट-शासको तथा उत्तर के पडोसी राज्यों से इसका निरन्तर संघर्ष रहा जिससे 11वी सदी के आरम्भ तक यह राज्य दुर्बल हो गया। उसके सामन्त बुन्देलखण्ड के चन्देल, मालवा के परमार और गुजरात के चालुक्य उसके आधिपत्य से मुक्त हो गये। इस वंश का अन्तिम राजा राज्यपाल था जिसके समय में इस राज्य पर महमूद का आक्रमण हुआ। बंगाल मे पाल-वश का राज्य था। इस वश का महमूद का सम-कालीन शासक महीपाल प्रथम था। उस समय उसकी शक्ति बहुत दुर्बल थी। उसका राज्य छोटा हो गया था और राजेन्द्र चोल के आक्रमण ने बंगाल को क्षत-विक्षत स्थिति मे छोड दिया था। दूर होने के कारण वह महमूद के आक्रमण से बच गया। **गुजरात, मालवा और बुन्देलखण्ड** मे भी स्वतन्त्र राज्य थे। **दक्षिण भारत मे परवर्ती चालुक्य और चोल-वश** के शक्तिशाली राज्य थे। इनमें से प्रत्येक राज्यवश शक्तिशाली था परन्तु ये आपस मे संघर्ष कर रहे थे और उत्तर भारत की राजनीति मे विशेष

रुचि नहीं रखते थे। जिस समय महमूद उत्तर भारत को अपने पैरों तले रोंद रहा था उस समय भी ये अपने संघर्षों में लगे रहे। भारत के यह सभी राज्य प्रायः राजपूत-वंशों के राज्य थे। राजपूतों को प्राणों का मोह न था और न उनमें साहस और शौर्य की कमी थी परन्तु उनमें दूरदर्शिता और परिस्थितियों को समझने तथा उनके अनुकूल उठ खडे होने का सर्वथा अभाव रहा जिसके कारण वे सभी वार-वार महमूद से पिटते रहे और अपने धर्म और देश की रक्षा करने मे असमर्थ रहे।

सामाजिक दृष्टि से भारत दुर्वल था। जाति-उपजातियों का विभाजन, स्त्रियों की गिरती हुई स्थिति और अनैतिक आचार-विचार इस बात के प्रमाण थे। ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णों के अतिरिक्त समाज का एक वहुत वड़ा भाग ऐसा था जिसे 'अन्यज' पुकारते थे। इन्हें समाज के किसी भी वर्ण मे स्थान प्राप्त न था। चमार, जुलाहे, मछली पकडने वाले, टोकरी बुनने वाले, शिकारी आदि इस वर्ग में सम्मिलित थे। इनसे भी निम्न स्तर हादी, डोम, चाण्डाल, वधाटू आदि वर्गों का था जो सफाई और स्वच्छता के कार्यो मे लगे हुए थे परन्तु जिन्हें नगरों और गाँवो से बाहर रहना पडता था। वैश्यों तथा शूद्रो को वेद और धार्मिक शास्त्रो को पढने का अधिकार न था। यदि इनमे से कोई ऐसा करता था तो अल-वरूनी के कथन के अनुसार उसकी जवान काट ली जाती थी। समाज से पृथक वर्गो की स्थिति का अनुमान तो इसी से लगाया जा सकता है कि उनकी स्थिति तो वैश्यो और शूद्रों से भी निम्न थी। जाति-प्रथा के कारण भारत का समाज ऊँच-नीच की भावना से ही विपाक्त नही वना हुआ था वल्कि ऐसे विभिन्न वर्गों मे भी बँटा हुआ था जिनमे एक-दूसरे के प्रति घृणा की ही भावना पनप सकती थी। जाति-बन्धन इस समय तक कठोर भी हो गये थे। जाति-परिवर्तन और अन्तर्जातीय खान-पान तथा विवाह-सम्बन्ध सम्भव नही थे। स्त्रियों की स्थिति निरन्तर गिरती जा रही थी और उनका स्थान पुरुष की भोग्यामात्र बनता जा रहा था। उच्च वर्गों मे वहु-विवाह, बाल-विवाह और सती-प्रथा प्रचलित हो चली थी और विधवाओ के विवाह सम्भव न थे।

धार्मिक दृष्टि से भी गिरावट स्पष्ट थी। हिन्दू और बौद्ध दोनों ही धर्मों मे अनाचार फैलता जा रहा था। धर्म की मूल भावना लुप्त होती जा रही थी और उसका स्थान कर्मकाण्ड ने ले लिया था। वाममार्गी सम्प्रदाय लोकप्रिय होते जा रहे थे, मुख्यतया वगाल और कश्मीर में। सुरापान, मास का प्रयोग और व्यभिचार इन वाममार्गी अनुयायियों की धार्मिक क्रियाओ में सम्मिलित थे। इनका प्रभाव समाज के अन्य वर्गों पर भी आ रहा था। बौद्ध-विहार, मठ और हिन्दू-मन्दिर अनाचार और भोग-विलास के अड्डे वन गये थे। मन्दिरो मे देवदासियो (अविवाहित लड़कियाँ जो देवता की पूजा के लिए रखी जाती थी) की प्रथा भ्रष्टाचार का एक मुख्य कारण वन गयी थी। ऐसी ही स्थिति बौद्ध-विहारो और मठो की थी। शिक्षा-संस्थाएँ भी इस भ्रष्टाचार से मुक्त न रही थी। विक्रमशिला के महान् विद्यालय में एक विद्यार्थी के पास शराब की वोतल पायी गयी जिसके वारे मे उसने वताया कि वह उसे एक भिक्षुणी ने दी थी। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण वात यह हुई कि उस

विद्यार्थी ने अनाचार या दण्ड पाने के योग्य कोई कार्य किया था अथवा नहीं, इस प्रश्न को लेकर विद्यालय के अधिकारियों में मतभेद हो गया था। धार्मिक और शिक्षा-संस्थाओं में अनैतिकता का प्रवेश समाज की अनैतिकता का कारण और परिणाम दोनों ही था। सम्भवतया जन-साधारण इस अनैतिकता से दूर था, परन्तु शासक और शिक्षित पर अनैतिकता का प्रभाव देश की दुर्बलता के लिए काफी था। धर्म जो सत्कर्म, त्याग, देश-प्रेम और मनोबल की वृद्धि में सहायक हो सकता था, उस समय में अनाचार, भोग-विलास और आलस्य का कारण बना हुआ था।

समाज और धर्म की यह स्थिति भारत की सांस्कृतिक विलासिता का भी कारण थी। कला और साहित्य दोनों ही उस समय की दशा के अनुकूल बन गये थे। स्थापत्य-कला, मूर्ति-कला, चित्रकला आदि सभी में हमें लालित्य और भोग-विलास की प्रवृत्ति का आभास होता है। साहित्य में 'कुटिनी-मतम' और 'समय-मत्रक' (वेश्या की आत्मकथा) उस समय के साहित्य की प्रतीक मात्र थी। खजुराहो, पुरी आदि के मन्दिर और मूर्तियाँ उस समय की कला की रुचि का प्रतीक थी।

सैनिक दृष्टि से भारत ने अपने शस्त्रों और युद्ध-शैली में सुधार करने का कोई प्रयत्न नहीं किया था। भारतीय अब भी हाथियों पर निर्भर करते थे, तलवार, कटार और भाला उनके मुख्य हथियार थे तथा उनकी युद्ध-शैली रक्षात्मक अधिक और आक्रमणकारी कम थी। उत्तर-पश्चिम सीमा पर भारतीयों ने न तो किले बनवाये थे और न किसी अन्य रक्षा-पंक्ति का निर्माण किया था जबकि उस दिशा से आक्रमण का भय स्पष्ट था। इस कारण सैनिक दृष्टि से भारत दुर्बल हो गया था।

इस प्रकार **राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, नैतिक और सैनिक दृष्टि से भारत दुर्बल** था। उसकी इस दुर्बलता का एक मुख्य कारण यह था कि भारत ने विदेशों से कुछ सीखने का प्रयत्न नहीं किया। भारतीयों ने विदेशों के मुख्यतया अपने सीमावर्ती देशों के सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और सैनिक परिवर्तनों की ओर ध्यान नहीं दिया। इस कारण उनमें अज्ञानता और दम्भ दोनों भावनाओं की उत्पत्ति हुई और वे अपनी उन्नति के प्रति असावधान हो गये। इस सम्बन्ध में महमूद गजनवी के साथ भारत में आने वाले विद्वान अल-बरूनी का विवरण भी हमारी आँखें खोलने वाला है। अल-बरूनी ने हिन्दू-दर्शन, धर्म और संस्कृत भाषा का अध्ययन किया था। वह यहाँ के दर्शन और अन्य बहुत-सी बातों से प्रभावित भी हुआ था। परन्तु उसने लिखा था कि "हिन्दुओं का यह विचार है कि हमारा जैसा देश, राष्ट्र, धर्म, राजा और विज्ञान संसार में कहीं नहीं है।"[1] उसने लिखा था कि "हिन्दू यह नहीं चाहते कि जो वस्तु एक बार अपवित्र हो जाये, उसे शुद्ध करके पुनः अपना बना लिया जाय।"[2] इस प्रकार अल-बरूनी ने हिन्दुओं को संकीर्ण विचारों का बताया यद्यपि

1 "The Hindus believed that there is no country like theirs, no nation like theirs, no king like theirs, no religion like theirs, no science like theirs." —Al Beruni.

2 "The Hindus did not desire that a thing which has once been polluted should be purified and thus recovered."—Al Beruni.

उसने यह भी लिखा कि हिन्दुओ के पूर्वज इतने सकीर्ण विचारो के न थे। इस प्रकार भारतीयो ने अपनी प्रगति के मार्ग को स्वय ही वन्द कर लिया था।

परन्तु भारत आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न था। विस्तृत उपजाऊ भू-प्रदेश और खनिज पदार्थ उसकी सम्पन्नता के लिए उत्तरदायी थे। विदेशी व्यापार भी अच्छा था परन्तु आर्थिक सम्पन्नता के साथ-साथ भारत मे आर्थिक असमानता भी थी। देश की सम्पत्ति कुछ विशेष वर्गों के हाथो में सचित हो गयी थी। राज्य-परिवार और व्यापारी-वर्ग के अतिरिक्त मन्दिर भी धन के खजाने थे। विदेशी आक्रमणकारी के लिए कुछ विशेष स्थानों पर सचित यह धन लालच का कारण था और भारत की दुर्वलता उसके लिए एक प्रेरणा। भारत की सम्पत्ति एक दुर्वल व्यक्ति के हाथो की सम्पत्ति के समान थी जिसको हथियाने के लिए कोई भी शक्तिशाली व्यक्ति उत्साहित हो सकता था। महमूद गजनवी ने ऐसा ही किया।

भारत की उपर्युक्त परिस्थितियो मे महमूद ने भारत पर आक्रमण किये। **ये आक्रमण 11वीं सदी से आरम्भ हुए।** सर हेनरी इलियट ने वताया है कि महमूद ने भारत पर 17 आक्रमण किये। यद्यपि सभी आक्रमणो के वारे में सर्वस्वीकृत प्रमाण प्राप्त नही होते तव भी **सभी इतिहासकार यह अवश्य मानते हैं कि महमूद ने भारत पर कम से कम 12 आक्रमण अवश्य किये थे।** महमूद के आक्रमण 1000 ई० मे आरम्भ हुए और पहले उसने सीमा के कुछ किलों को जीता। उसने दूसरा आक्रमण 1001 ई० मे किया। इस वार **हिन्दूशाही-राजा** जयपाल ने पेशावर के निकट उसका मुकाबला किया। युद्ध मे महमूद की विजय हुई और जयपाल, उसके पुत्र, नाती तथा अन्य अनेक सम्वन्धी वन्दी वना लिये गये। महमूद जयपाल की राजधानी वैहन्द के निकट तक गया और वहुत लूट-मार की। राजा जयपाल के गले की हीरो की जो माला उसने छीनी उसी की कीमत प्राय: दो लाख दिरहम थी। जयपाल और उसके सम्वन्धियों को महमूद ने 25 हाथी और 2,50,000 दीनार लेकर मुक्त कर दिया। इस प्रकार वहुत अधिक धन लेकर महमूद भारत से वापिस गया। जयपाल ने अपनी निरन्तर पराजय से इतना अधिक अपमानित अनुभव किया कि उसने स्वय को चिता मे जला दिया। उसके पश्चात् उसका पुत्र आनन्दपाल गद्दी पर वैठा।

महमूद के आक्रमण

1004 ई० में महमूद ने **मुल्तान** पर आक्रमण करने का निश्चय किया। मुल्तान के शिया-सम्प्रदायी करमाथीयों के शासक अब्दुल फतह दाऊद से भी महमूद उतनी ही घृणा करता था जितनी कि हिन्दुओ से। मार्ग मे जयपाल के पुत्र आनन्दपाल ने भेरा के निकट उसका मुकावला किया परन्तु उसकी पराजय हुई और महमूद ने 1006 ई० मे मुल्तान को जीत लिया। दाऊद ने महमूद को 20,000 दिरहम प्रति वर्ष देने का वायदा किया। अपनी उत्तर-पश्चिमी सीमाओं पर तुर्की आक्रमणकारियों की सूचना पाकर महमूद दाऊद को मुल्तान और वाकी जीते हुए भारतीय क्षेत्रो को नौगाशाह (यह जयपाल का नाती सुखपाल था जिसे महमूद ने इस्लाम स्वीकार करने के लिए वाध्य किया था) को देखभाल के लिए देकर वापिस चला गया। परन्तु उसके

जाने के बाद नौशाशाह् और दाऊद ने विद्रोह कर दिया। 1008 ई० मे महमूद लौटकर आया और उसने नौशाशाह और दाऊद को कैद करके मुल्तान को अपने राज्य मे मिला लिया।

मुल्तान के महमूद के हाथो मे चले जाने से हिन्दूशाही-राजा आनन्दपाल को अपने राज्य पर दो तरफ से आक्रमण का भय हो गया। इस कारण उसने एक विशाल सेना एकत्रित की और पडोसी राज्यों से भी जो सहायता मिल सकी उसे प्राप्त किया। उसके पश्चात् वह अपनी सेना को लेकर पेशावर की ओर बढा। वैहन्द के निकट 1009 ई० मे महमूद ने उसका मुकाबला किया। युद्ध मे आनन्दपाल की हार हुई। उसका हाथी भाग खडा हुआ और उसके साथ-साथ उसकी सेना भी भाग खडी हुई। महमूद ने नगरकोट तक आक्रमण किया और उसे जीत लिया। आनन्दपाल की यह पराजय उसके राज्य और भारत के लिए दुर्भाग्यपूर्ण थी। हिन्दूशाही-राज्य और उसकी शक्ति काफी सीमित हो गयी और वह महमूद से आक्रमणकारी युद्ध करने की स्थिति मे न रहा। आनन्दपाल ने नन्दन को अपनी राजधानी बनाकर अपनी शक्ति को दृढ़ करने का प्रयत्न किया, परन्तु वह अधिक सफल न हो सका। सिन्ध से नगरकोट तक का सम्पूर्ण भारत महमूद की अधीनता में चला गया और सिन्ध तथा पश्चिमी पजाब मे मुसलमानों के पैर जम गये। आनन्दपाल ने महमूद से एक सन्धि भी की। उसके पश्चात् उसका पुत्र त्रिलोचनपाल गद्दी पर बैठा। उसके समय मे महमूद ने नन्दन को भी अपने अधिकार मे कर लिया। त्रिलोचनपाल ने भागकर कश्मीर के राजा से सहायता ली, परन्तु महमूद ने उन दोनों की सयुक्त सेना को परास्त कर दिया। कश्मीर की सीमाओं पर महमूद ने लूटमार अवश्य की, परन्तु उसने कश्मीर मे प्रवेश नही किया। त्रिलोचनपाल ने शिवालिक की पहाडियों में अपनी स्थिति को दृढ किया और बुन्देलखण्ड के शासक विद्याधर से मित्रता की। परन्तु 1019 ई० मे एक बार फिर महमूद ने उसे परास्त किया। 1021-22 ई० मे किसी व्यक्ति ने त्रिलोचनपाल की हत्या कर दी और जिस समय उसका पुत्र भीमपाल राजा बना उस समय उसका राज्य एक राजा का राज्य नही बल्कि एक सामन्त की जागीर-मात्र थी। 1026 ई० मे उसकी मृत्यु हो गयी। अन्ततोगत्वा हिन्दूशाही-राज्य समाप्त हो गया और सम्पूर्ण पजाब पर महमूद का अधिकार हो गया। इस प्रकार **ब्राह्मणवंशीय हिन्दूशाही-राज्य एक लम्बे और कठोर संघर्ष के बाद समाप्त हुआ। उस समय में वही एक ऐसा हिन्दू-राज्य था जिसके शासको ने दूरदर्शिता का परिचय दिया और अपनी तथा भारत की सुरक्षा के लिए आक्रमणकारी नीति को अपनाया, हिन्दुओं का संयुक्त मोर्चा बनाया और मुल्तान के मुसलमानों को भी नवीन विदेशी आक्रमणकारी के विरुद्ध अपने साथ रखने में सफलता पायी। उसके पतन से हिन्दुओं की विदेशियों के विरुद्ध संयुक्त होकर मुकाबला करने की योजना नष्ट हो गयी। उत्तर-पश्चिम के प्रवेश-द्वार पर मुसलमानों का अधिकार हो गया और महमूद को भारत में प्रवेश करने तथा अपनी धन-पिपासा को संतुष्ट करने का अवसर मिल गया।**

हिन्दूशाही-राज्य को दुर्बल करने से महमूद को भारत में आगे बढ़ने का

अवसर मिल गया था। जो धन उसे पंजाब की लूटमार मे प्राप्त हुआ था उसने उसकी धन-लिप्सा को काफी बढ़ा दिया था। नगरकोट की लूट मे ही उसने जो धन, वस्त्र और बहुमूल्य वस्तुएँ प्राप्त की थी वह उसकी आशा से कही अधिक थी। इसके अतिरिक्त महमूद को जयपाल जैसा शत्रु भी अन्य स्थानो पर प्राप्त नही हुआ। इस कारण बारम्बार भारत पर आक्रमण करने की उसकी योजना सफल हो सकी। ऐसा प्रतीत होता है कि पेशावर के युद्ध के पश्चात् सम्पूर्ण उत्तर भारत अपग हो गया था। महमूद एक के बाद एक नगर और मन्दिर को लूटता और नष्ट करता गया, भय से भारतीय अपने धन, धर्म, मन्दिरों और नगरो को मुसलमानों को समर्पण करते चले गये और जिसने थोडा बहुत विरोध किया भी वह सफल न हुआ। महमूद वर्षो तक भयंकर तूफान की भाँति उत्तर भारत को रोदता रहा और हिन्दू-राज्य तिनको की भांति उसके सामने बिखर गये। प्रत्येक देवता की मूर्ति का भजन, प्रत्येक स्थान की लूट-मार, लाखो स्त्रियो का अपमान और लाखो पुरुषो का कत्ल या उनका इस्लाम मे परिवर्तन भी हिन्दू-भारत को महमूद का मुकाबला करने का आत्मबल और शक्ति प्रदान न कर सका।

1009 ई० मे ही आनन्दपाल की पराजय के पश्चात् महमूद ने अलवर राज्य मे स्थित नारायनपुर नामक स्थान को जीता और लूटा। 1014 ई० मे उसने थानेश्वर को लूटा। मार्ग मे डेरा के शासक राजा राम ने उससे युद्ध किया परन्तु उसकी हार हुई। सभी मन्दिरो और मूर्तियो को तोड़कर और नगर को लूटकर महमूद वापिस चला गया। वह प्रसिद्ध चक्र-स्वामी की मूर्ति को अपने साथ ले गया जिसे उसने गजनी के सार्वजनिक चौक मे फिकवा दिया। विश्वास किया जाता है कि दिल्ली के राजा ने पड़ोसी हिन्दू-राजाओ से सहायता लेकर महमूद को रोकने का प्रयत्न किया था परन्तु वह असफल हुआ था और थानेश्वर की रक्षा के लिए कोई हिन्दू-सेना नही पहुँची थी। 1018 ई० मे महमूद कन्नौज राज्य पर आक्रमण करने के लिए आया। शाही-वश का शासक त्रिलोचनपाल पूर्वी पजाब से भाग खडा हुआ और मार्ग के सभी छोटे-छोटे राज्य उसे आत्मसमर्पण करते चले गये। मथुरा के निकट महाबन मे यदु-वश के शासक कुलचन्द ने उसका मुकाबला किया परन्तु परास्त हुआ। आगे बढकर महमूद ने मथुरा पर आक्रमण किया जो दिल्ली के राज्य मे था। मथुरा की रक्षा का कोई प्रबन्ध नही किया गया था और महमूद ने वहाँ इच्छानुसार लूट-मार की। मथुरा हिन्दुओ का महान् तीर्थ-स्थान था और वहाँ हजारो मन्दिर थे। उतबी ने लिखा है कि "महमूद ने एक ऐसा नगर देखा जो योजना तथा निर्माण-कला की दृष्टि से आश्चर्यजनक था...... उसके चारो ओर पत्थर के बने हुए एक हजार दुर्ग थे जिनका प्रयोग मन्दिरो की भाँति किया जाता था। उसके मध्य मे एक सबसे ऊँचा मन्दिर था जिसके सौन्दर्य और सजावट का वर्णन करने मे न किसी लेखक की लेखनी समर्थ है और न किसी चित्रकार की तूलिका।" उतबी के कथन के अनुसार मन्दिरो मे सोने और चाँदी की हीरो-जवाहरातो से जडी हुई हजारो मूर्तियाँ थी। उनमे से कुछ सोने की मूर्तियाँ पाँच-पाँच हाथ ऊँची थी, जिनमे से एक मे 50,000 दीनार के मूल्य की लाल मणियाँ

जड़ी हुई थी और एक अन्य मूर्ति में एक ऐसा नीलम जड़ा हुआ था जिसका मूल्य 400 मिस्काल था। विभिन्न मूर्तियों के नीचे अतुल धन-राशि गड़ी हुई थी जिसे महमूद ने प्राप्त किया। महमूद ने मथुरा का कोना-कोना लूट लिया, मन्दिरों को तोड़ दिया, भूमि को खोद-खोद कर धन निकाला, सभी मूर्तियां को तोड़कर धन की तरह से अपने साथ ले गया, नगर को वरबाद कर दिया और अनेक स्त्री-पुरुषों को कत्ल कर दिया या गुलाम बना लिया। मथुरा के निकट के उतने ही भव्य स्थान **वृन्दावन** का भी यही हाल हुआ और महमूद को लूट में अपार धन मिला। यहाँ से महमूद **कन्नौज** गया जहाँ गुर्जर-प्रतिहार-वंश के अन्तिम शासक राज्यपाल का शासन था। राज्यपाल बिना युद्ध के भाग गया और कन्नौज को महमूद ने लूट लिया। उसके पश्चात् महमूद ने कानपुर के निकट मन्झावान नामक स्थान पर आक्रमण किया जो ब्राह्मणों के किले के नाम से विख्यात था। 25 दिन तक महमूद किले को न जीत सका परन्तु उसके पश्चात् किले के स्त्री और बच्चे जल मरे और पुरुष युद्ध में मारे गये। उसके बाद असी के शासक चन्द्रपाल और सिरसावा (सहारनपुर के निकट) के शासक चाँदराय ने उसका मुकाबला नहीं किया। मार्ग में अन्य स्थानों पर भी महमूद का कोई मुकाबला नहीं हुआ और विभिन्न स्थानों की लूट-मार करता हुआ महमूद गजनी वापिस पहुँच गया।

महमूद के वापिस जाने के पश्चात् बुन्देलखण्ड के शासक विद्याधर (गण्ड) ने कुछ हिन्दू-राजाओं का एक मित्र-संघ बनाया जिसका मुख्य उद्देश्य कन्नौज के शासक राज्यपाल को सजा देना था। उनकी दृष्टि में राज्यपाल ने मथुरा और वृन्दावन जैसे तीर्थ-स्थानों को लूटने वाले महमूद से बिना युद्ध किये हुए भागकर एक बड़ा अपराध किया था। इन राजाओं ने राज्यपाल पर आक्रमण करके उसे मार दिया। महमूद ने विद्याधर को दण्ड देने का फैसला किया और 1019 ई० में वह फिर भारत आया। हिन्दूशाही-राजा त्रिलोचनपाल ने इस बार यमुना नदी के निकट उसका मुकाबला किया। त्रिलोचनपाल साहसी था और इस अवसर पर वह चन्देलों का साथ दे रहा था। परन्तु महमूद ने उसे परास्त कर दिया और वह भाग खड़ा हुआ। वहाँ से महमूद वरी की ओर आगे बढ़ा जिसे प्रतिहारों ने कन्नौज की लूट के पश्चात् अपनी राजधानी बना लिया था। राज्यपाल का पुत्र त्रिलोचनपाल (प्रतिहार-वंशीय) वहाँ का शासक था। वह भय के कारण भाग खड़ा हुआ और महमूद ने बरी को धूल में मिला दिया। उसके पश्चात् महमूद अपने मुख्य शत्रु विद्याधर को परास्त करने के लिए बुन्देलखण्ड की सीमा पर पहुँच गया (1020-21 ई०)। विद्याधर एक बड़ी सेना के साथ उसका मुकाबला करने के लिए वहाँ तैयार था। विद्याधर की विशाल सेना को देखकर महमूद को घबराहट हो गयी परन्तु शाम के एक झुटपुट युद्ध में हिन्दुओं की सेना के एक भाग की हार हुई। सम्भवतया किसी अन्य कारण से अथवा इस झुटपुट के युद्ध की हार से विद्याधर साहस खो बैठा और रात को चुपके से भाग निकला। प्रात.काल शत्रु की सेना को सामने न पाकर महमूद को बड़ा आश्चर्य हुआ। विद्याधर का हिम्मत हार जाना उसके राज्य के लिए विनाशकारी साबित हुआ। महमूद ने उसके सम्पूर्ण राज्य में लूट-मार की और बहुत-सी सम्पत्ति लेकर वापिस लौट गया। परन्तु अभी

विद्याधर की शक्ति तोडी नही गयी थी। 1021-22 ई० में महमूद पुनः वापिस आया। मार्ग मे ग्वालियर के राजा कीर्तिराज को सन्धि के लिए वाध्य करता हुआ महमूद कालिंजर के किले के सम्मुख पहुँच गया। किले का घेरा बहुत समय पड़ा रहा परन्तु उसे जीता न जा सका। विद्याधर ने सन्धि की बातचीत की और महमूद ने उसे स्वीकार कर लिया। महमूद ने विद्याधर को 15 किले भी इनाम के रूप में दिये। उसके पश्चात् महमूद वापिस चला गया।

1024 ई० मे महमूद एक विशाल सेना लेकर सोमनाथ के आक्रमण के लिए चला। काठियावाड़ (गुजरात) मे समुद्र-तट पर बना हुआ शिव का यह मन्दिर उत्तर भारत मे सबसे सम्मानित मन्दिर था। लाखो व्यक्तियों की प्रतिदिन की भेंट के अतिरिक्त 10,000 गाँवो की स्थायी आय इसे प्राप्त होती थी। यह एक परकोटे से घिरा हुआ था। आकार और सौन्दर्य की दृष्टि से मन्दिर अद्वितीय था और वहाँ अत्यधिक धन संचित था। हजारों प्रकार के हीरे-जवाहरातो से शिव-लिंग का छत्र बना हुआ था, स्वय शिवलिंग बीच अधर में बिना किसी सहारे के लटका हुआ था, 200 मन की सोने की जंजीर से उसका एक घण्टा बजाया जाता था, 350 स्त्री और पुरुष शिवलिंग के सम्मुख सर्वदा नाचने के लिए रखे गये थे, लिंग के भूगर्भ-स्थल मे अगाध सम्पत्ति एकत्र थी और एक हजार पुजारी देवता की पूजा मे सलग्न रहते थे। सोमनाथ का शिव-मन्दिर अद्वितीय था परन्तु उनके पुजारियो का दम्भ आश्चर्यजनक था। उनका कहना था कि महमूद ने उत्तर भारत के दैव-मन्दिरों को इस कारण नष्ट किया था कि भगवान सोमनाथ उन सभी से असन्तुष्ट थे। झूठे दम्भ मे उन्होंने यह तक कहा था कि महमूद भगवान सोमनाथ को हानि पहुँचाने की शक्ति नही रखता। पुजारियो का यह दम्भ और मन्दिर की अतुल सम्पत्ति महमूद के आक्रमण का कारण बनी। मुल्तान के मार्ग से महमूद ने काठियावाड़ मे प्रवेश किया और मार्ग की साधारण बाधाओ को हटाता हुआ वह 1025 ई० मे काठियावाड़ की राजधानी अन्हिलवाण पहुँच गया। राजा भीमदेव प्रथम भाग खडा हुआ और महमूद ने बिना किसी विरोध के राजधानी को लूटा। उसके पश्चात् महमूद सोमनाथ के मन्दिर के निकट पहुँचा। मन्दिर मे हजारो हिन्दू-भक्त एकत्र हो गये थे और वे पूर्ण विश्वास के साथ युद्ध के लिए तत्पर थे। महमूद का पहले दिन का आक्रमण सफल न हुआ परन्तु दूसरे दिन वह मन्दिर की प्राचीर को पार कर गया। युद्ध मे 50,000 से भी अधिक व्यक्ति मारे गये। महमूद ने मन्दिर को पूर्णतया नष्ट कर दिया। उसने छत मे लगे हुए चकमक पत्थर को हटा दिया जिसके कारण शिव-लिंग बीच में लटका हुआ था और वह भूमि पर गिर पड़ा। महमूद ने उसे तोड दिया। प्रत्येक प्रकार से मन्दिर को खोद-खोद कर लूटा गया। अतुल सम्पत्ति लेकर महमूद सिन्ध के रेगिस्तान से वापिस लौटा। मार्ग मे उसके भारतीय मार्ग-दर्शक ने उसे मार्ग से भटकाकर बहुत हानि पहुँचाई परन्तु अन्त मे मुल्तान होता हुआ महमूद अपने लूटे हुए खजाने के साथ सुरक्षित गजनी पहुँच गया। सोमनाथ के शिव-लिंग के टूटे हुए टुकड़ो को गजनी की जामी-मस्जिद की सीढियों मे लगवा दिया गया।

जिस समय महमूद सोमनाथ को लूटकर वापिस जा रहा था रास्ते मे सिन्ध के जाटों ने उसे तंग किया था। जाटों को दण्ड देने के लिए 1027 ई० में महमूद अन्तिम बार भारत आया। जाटों को उसने कठोरता से समाप्त किया। उनकी सम्पत्ति लूट ली गयी और उनकी स्त्रियों एवं बच्चो को दास बना लिया गया। यह महमूद का अन्तिम आक्रमण था।

इस प्रकार, महमूद ने भारत पर विभिन्न आक्रमण किये। उनकी सख्या ठीक प्रकार निश्चित नही है परन्तु उपर्युक्त महत्वपूर्ण आक्रमण ही उसकी सफलता, भारत की दुर्बलता और उसके परिणामो पर प्रकाश डालने के लिए काफी है। **महमूद ने न केवल भारत की सदियो से सचित सम्पत्ति को ही लूटने में सफलता प्राप्त की वरन् पंजाब, सिन्ध, मुल्तान और अफगानिस्तान के प्रदेशों में गजनवी-वंश के राज्य को स्थापित किया। 1030 ई० में महमूद की मृत्यु हो गयी।**

महमूद का चरित्र और मूल्यांकन

महमूद एक साहसी सैनिक और सफल सेनापति था। उसका स्थान संसार के उन सफलतम सेनापतियो मे है जिन्हे जन्मजात सेनापति पुकारा जाता है। उसमे नेतृत्व करने और अपने साधनो तथा परिस्थितियो से पूर्ण लाभ उठाने की योग्यता थी। उसमें मानवीय गुणो को परखने की बुद्धि थी और वह प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यतानुसार कार्य देता था तथा प्रत्येक से अपनी इच्छानुसार कार्य लेता था। उसकी सेना मे अरब, तुर्क और अफगान ही नही बल्कि हिन्दू सैनिक भी थे। परन्तु विभिन्न नस्लों से मिल-जुलकर बनी हुई उसकी सेना उसके नेतृत्व मे एक शक्तिशाली तथा विजयी सेना बन गयी थी। अपनी योग्यता के अनुकूल महमूद महत्वाकाक्षी भी था। वह सर्वदा सम्मान और साम्राज्य की लालसा करता रहा। अपने इन गुणो के कारण वह सफल भी हुआ। अपने पिता से उसे गजनी और खुरासान का एक छोटा-सा राज्य प्राप्त हुआ था। अपनी योग्यता से उसने उसे इराक और कैस्पियन समुद्र से लेकर गगा-तट तक फैला दिया। उसका साम्राज्य बगदाद के खलीफा से बड़ा और शक्तिशाली था। जब खलीफा ने महमूद को समरकन्द देने से इन्कार किया था तब महमूद ने उस पर आक्रमण करने की धमकी दी थी। इस प्रकार महमूद एक शक्तिशाली और विशाल साम्राज्य का निर्माता था। यह कहना भूल है कि महमूद ने दुर्बल भारतीय शासकों को परास्त करने मे ही सफलता पायी थी। महमूद ने अपने मध्य-एशिया और ईरान के शत्रुओ के विरुद्ध भी इसी प्रकार सफलता प्राप्त की थी। **एक साहसी सैनिक, महान् सेनापति और साम्राज्य-निर्माता की दृष्टि से महमूद का स्थान श्रेष्ठ है।**

महमूद शिक्षित और सुसभ्य था तथा वह विद्वानों एवं कलाकारों का सम्मान करता था। उसने अपने समय के महान् विद्वानो को गजनी मे एकत्र किया था। गणित, दर्शन, ज्योतिष और सस्कृत का उच्चकोटि का विद्वान अल बरूनी, इतिहासकार उतबी, दर्शनशास्त्र का विद्वान फराबी, 'तारीख-ए मुबुक्तगीन' का लेखक बैंहाकी जिसे इतिहासकार लेनपूल ने 'पूर्वीय पेप्स' की उपाधि दी, फारस का कवि उजारी, खुरासानी विद्वान तुसी, महान् शिक्षक और विद्वान उन्सुरी, विद्वान अस्जदी और

फर्रुखी तथा 'शाहनामा' का रचयिता विद्वान फिरदौसी आदि उसके दरबार मे थे। वे सभी योग्य थे और महमूद के सरक्षण ने उनको अधिक योग्य बनाने में सहायता दी थी। महमूद ने गजनी मे एक विश्वविद्यालय, एक बड़ा पुस्तकालय और एक बड़ा अजायबघर स्थापित किया था। वह कलाकारो को भी सरक्षण देता था। उसने देश-विदेश के कलाकारो को बुलाकर गजनी मे भव्य इमारतों का निर्माण कराया। अनेक महलो, मस्जिदों, मकबरो आदि से उसने गजनी को सुशोभित किया। गजनी की विख्यात जामा-मस्जिद का निर्माण भी उसी ने कराया था। उसके समय मे गजनी इस्लामी ससार की शोभा, वैभव और योग्यता का एक महान् केन्द्र-स्थान बन गया था।

महमूद एक न्यायप्रिय शासक था। अपने भतीजे के द्वारा एक अन्य व्यक्ति की पत्नी से सम्बन्ध रखने के कारण उसने स्वय अपने भतीजे को कत्ल किया। एक अन्य अवसर पर उसने शहजादा मसूद को एक व्यापारी का कर्जा न चुकाने के कारण काजी की अदालत मे जाने और व्यापारी का कर्जा चुकाने के लिए बाध्य किया। ऐसी ही अनेक कहानियाँ महमूद की न्यायप्रियता के बारे मे प्रचलित हैं। **महमूद ने अपने सूबेदारों को अपने नियन्त्रण में रखने, अपने राज्य मे शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने, व्यापार और कृषि की सुरक्षा करने तथा अपनी प्रजा के जीवन और सम्मान की सुरक्षा करने में सफलता पायी थी।**

महमूद धार्मिक दृष्टि से कट्टर था। वह सुन्नी था और हिन्दुओं के प्रति ही नही शियाओ के प्रति भी अनुदार था तथा उनको दण्ड देने के लिए तत्पर रहता था। बाद के समय के अथवा आधुनिक इतिहासकार जैसे प्रो० मुहम्मद हबीब चाहे किसी प्रकार भी उसकी धार्मिक कट्टरता को ढकने का प्रयत्न करें, परन्तु यह मानना पड़ता है कि विधर्मियो के प्रति उसका व्यवहार कठोरता का और हिन्दुओ के प्रति नृशंसता का था। महमूद के विषय मे तत्कालीन विचारधारा को मानना अधिक उपयुक्त है। हिन्दुओ के प्रति उसके व्यवहार की आलोचना अल बरूनी ने की थी। तत्कालीन समय मे मुसलमान उसे इस्लाम धर्म का महान् प्रचारक मानते थे। उसे गाजी (विधर्मियो को कत्ल करने वाला) और मूर्तिभजक तथा बुतशिकन पुकारा गया था। खलीफा ने सोमनाथ के आक्रमण की सफलता पर उसे और उसके पुत्रो को सम्मान-पत्र और वस्त्र भेजे थे तथा तत्कालीन मुस्लिम ससार ने उसे विधर्मियो को नष्ट करके दूरस्थ देशो मे इस्लाम की प्रतिष्ठा और शक्ति को स्थापित करने वाला माना था। इस कारण तत्कालीन विचारधारा के आधार पर महमूद को धर्मान्ध माना जा सकता है। तर्क के आधार पर भी महमूद का हिन्दुओ और हिन्दू-मन्दिरो के प्रति नृशस व्यवहार केवल धन की लालसा के आधार पर ही हो, यह स्वीकार नही किया जा सकता है।

महमूद धन का लालची था यद्यपि उसके साथ-साथ वह मुक्त-हृदय से धन व्यय भी करता था। भारत पर उसके आक्रमणो का प्रमुख उद्देश्य धन की लालसा था। अपनी मृत्यु के अवसर पर वह यह सोचकर बहुत दुखी हुआ था कि उसे अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति को छोड़कर जाना पडेगा। प्रख्यात विद्वान फिरदौसी को उसने प्रत्येक

छन्द की रचना के लिए एक सोने की दीनार देने का वायदा किया था, परन्तु जब उसने 1000 छन्द के 'शाहनामा' को उसके सामने प्रस्तुत किया तो उसने सोने के स्थान पर चाँदी की दीनारें देने की इच्छा प्रकट की जिन्हें लेने से फिरदौसी ने इन्कार कर दिया। यद्यपि इसका मुख्य कारण महमूद के कृपापात्र अयाज का फिरदौसी के विरुद्ध षड्यन्त्र करना था और महमूद ने बाद में फिरदौसी के पास स्वर्ण की दीनारे भेज दी (*यद्यपि उस समय तक फिरदौसी की मृत्यु हो चुकी थी*), *परन्तु तब भी उपर्युक्त घटनाएँ महमूद की लालची प्रकृति का आभास अवश्य देती है।* प्रो॰ ब्राउन ने लिखा है कि "*वह किसी भी उपाय से धन-प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहता था। इसके अतिरिक्त उसके चरित्र में कुछ भी निन्दनीय न था।*"

परन्तु महमूद की सबसे बड़ी दुर्बलता एक कुशल शासन-प्रबन्धक न होना था। इस कारण महमूद अपने राज्य को स्थायित्व प्रदान न कर सका। उसका विशाल साम्राज्य उसके दुर्बल उत्तराधिकारियों के हाथों में जाते ही नष्ट होने लगा। महमूद उस साम्राज्य का निर्माता था और उसका व्यक्तित्व ही उसे सुरक्षित रख सका। यह स्पष्ट करता है कि महमूद अपने शासन को स्थायी सिद्धान्तों पर स्थापित न कर सका था। लेनपूल ने लिखा है कि "महमूद महान् सैनिक था और उसमें अपार *साहस तथा अथक शारीरिक एवं मानसिक शक्ति थी, परन्तु वह रचनात्मक और दूरदर्शी राजनीतिज्ञ न था। हमें ऐसे किन्ही नियमो, संस्थाओं अथवा शासन-प्रणालियों का पता नहीं है जिनकी नींव उसने डाली हो।*" एलफिन्सटन ने भी जिन्होंने महमूद के अन्य गुणो की प्रशंसा की है, लिखा है कि "उसके भारतीय कार्य भी जिनके लिए उसने अपनी अन्य योजनाएँ त्याग दी थी, किसी प्रकार के संगठन अथवा व्यवस्था की भावना का परिचय नही देते।"

इसके बावजूद भी **महमूद मुस्लिम इतिहास का एक महान् शासक था।** मुस्लिम इतिहास में सुल्तान कहलाने योग्य वह प्रथम शासक था। मध्य-एशिया के महान् शासको मे उसका स्थान है और प्रो॰ हबीब के शब्दो मे "*अपने समकालीन व्यक्तियों मे वह चरित्र-बल से नही बल्कि योग्यता के कारण ही इतना उच्च पद प्राप्त कर सका था।*"[1] *उसकी विजयें, उसके साम्राज्य की शान्ति और समृद्धि,* उसकी सास्कृतिक प्रगति और उसके प्रयत्नो के द्वारा इस्लाम की प्रतिष्ठा का विस्तार उसे महान् शासको में स्थान प्रदान करते है। महमूद के समय मे गजनी इस्लामी संसार की शक्ति, वैभव, शिक्षा, विद्वत्ता, सौन्दर्य और ललित-कलाओं की प्रगति का केन्द्र-स्थान बन गया था और यह सभी कुछ अकेले महमूद की अद्वितीय सफलताओं के कारण था।

परन्तु भारतीय इतिहास में महमूद का स्थान एक धर्मान्ध और बर्बर विदेशी लुटेरे के समान है। महमूद गजनी का सुल्तान था, भारत का नहीं। पंजाब, सिन्ध *और मुल्तान जो उसके राज्य में सम्मिलित किये गये थे, उसकी पूर्वी सीमाओं की सुरक्षा*

---

1 "*Mahmud's pre-eminence among his contemporaries was due to his ability and not to his character.*" —*Prof. A. B. M. Habibull*

और भारत पर निरन्तर आक्रमण करने का आधार-मात्र थे। इस कारण महमूद ने इन प्रदेशों के शासन की ओर कोई ध्यान नही दिया। भारत पर अपने निरन्तर आक्रमणों मे महमूद ने प्रत्येक स्थान और प्रत्येक व्यक्ति से धन लूटा, प्रत्येक मन्दिर को नष्ट किया, प्रत्येक मूर्ति को खण्डित किया, लाखो व्यक्तियों को इस्लाम स्वीकार करने के लिए बाध्य किया अथवा उन्हे कत्ल कर दिया, लाखों को गुलाम बनाया, लाखों स्त्रियों के सतीत्व को नष्ट करने का कारण बना, हजारों सुन्दरतम स्त्रियो को गजनी ले गया, श्रेष्ठतम कलाकृतियो को नष्ट किया और हजारो नगरो तथा गाँवो को जलाकर राख कर दिया। महमूद ने हिन्दुओं के धन, सम्मान, वैभव, संस्कृति आदि सभी को लूटा। एक भयकर तूफान की भाँति महमूद जहाँ भी गया वहाँ विनाश करता हुआ चला गया। जो कुछ वह अपने साथ ले जा सकता था, वह ले गया और जिसको वह नष्ट कर सकता था, उसको उसने नष्ट कर दिया। इस कारण भारत के निवासियो के लिए महमूद एक धर्मान्ध और बर्बर विदेशी लुटेरे के अतिरिक्त हो भी क्या सकता था ?

भारत पर महमूद के आक्रमण एक भीषण झझावात के समान थे और कभी-कभी यह कहा जाता है कि उसने भारत मे विनाश तो किया परन्तु कोई स्थायी प्रभाव नही छोड़ा। भारतीय थोड़े समय के पश्चात् उन दुर्घटनाओं को भूल गये और उन्होने फिर अपने नगरो, मन्दिरो और वैभव का निर्माण कर लिया। निस्सन्देह, भारतीयों ने महमूद के आक्रमणों को भुला दिया जिसका दुष्परिणाम भी उन्हे भुगतना पड़ा। परन्तु यह कहना भूल है कि महमूद के आक्रमणों का भारत पर कोई प्रभाव नही पडा। महमूद ने पजाब, सिन्ध और मुल्तान को अपने राज्य मे सम्मिलित करके अन्य मुस्लिम आक्रमणकारियो के लिए भारत का मार्ग खोल दिया। मुहम्मद गोरी ने गजनी के भारतीय क्षेत्रों को अपने अधिकार मे करने के आशय से ही भारत पर आक्रमण आरम्भ किये। महमूद ने भारत की सम्पत्ति को लूटकर और उसकी सैनिक शक्ति को नष्ट करके भारत को आर्थिक और सैनिक दृष्टि से दुर्बल बना दिया। निरन्तर पराजय के कारण हिन्दुओ के मुसलमानो के विरुद्ध युद्ध करने के मनोबल मे भी कमी आ गयी। महमूद ने किसी भी हिन्दू राजा से हार नही खायी। इससे हिन्दुओ मे मुस्लिम आक्रमणकारियो की शक्ति के प्रति भय उत्पन्न हुआ जिसका प्रभाव काफी समय तक रहा। इन सभी ने भारत की भविष्य की राजनीति को प्रभावित किया। मुस्लिम आक्रमणकारियो की दृष्टि से महमूद की सबसे बड़ी देन हिन्दूशाही-राज्य का विनाश था, जिसके कारण मुसलमानो के लिए भारत-विजय सरल हो गयी। डॉ डी. सी. गागुली ने लिखा है कि "पजाब और अफगानिस्तान के गजनी राज्य मे सम्मिलित किये जाने के कारण इस्लाम द्वारा भारत की विजय सरल हो गयी। अब प्रश्न होने अथवा न होने का नही था, बल्कि सिर्फ यह था कि कब वह शक्तिशाली बाढ सम्पूर्ण भारत को धराशायी कर देगी।"[1]

---

1 "The inclusion of the Punjab and Afghanistan in the kingdom of Ghazni made the Islamic conquest of India a comparatively easy process. It was no longer a question of whether, but when, that mighty flood would overwhelm the country as a whole." —Dr. D. C. Ganguly.

महमूद के उत्तराधिकारी

महमूद की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्रो—मसूद और महमूद—मे गद्दी के लिए युद्ध हुआ। इसमें मसूद की विजय हुई। 1030 ई० से 1040 ई० तक मसूद ने शासन किया। मसूद यद्यपि योग्य शासक था और वह भारत मे अपने राज्य की ओर भी ध्यान दे सका परन्तु अन्त मे सल्जूक-तुर्कों ने उसे परास्त कर दिया। उसके सरदारों ने विद्रोह करके उसे उसके अर्ध भाई महमूद को सौंप दिया जिसने उसका वध करा दिया। परन्तु वहुत शीघ्र ही मसूद के पुत्र मादूद ने महमूद और उसके पुत्र को गद्दी से हटाकर उनका वध कर दिया और स्वय सुल्तान वन गया। उसके समय से गजनी की शक्ति क्षीण होने लगी। आन्तरिक सघर्ष और एक के वाद एक अयोग्य शासक गजनी-वश की दुर्बलता का कारण वने। इसके अतिरिक्त मध्य-एशिया में दो नवीन शक्तियों का प्रादुर्भाव हुआ—ख्वारिज्म-वंश और गोर-वंश। सल्जूक-तुर्कों ने गजनी-वंश की शक्ति को तोड़ दिया। उसका लाभ ख्वारिज्म-वंश ने पश्चिम मे और गोर-वश ने पूर्व में उठाया। अन्त मे, गोर-वश ने महमूद के दुर्बल उत्तराधिकारियों से गजनी को छीन लिया और उसे वरबाद कर दिया। गजनी-वश के शासक को पंजाव में शरण लेनी पड़ी। इस वंश का अन्तिम शासक मलिक खुसरव हुआ जिससे मुहम्मद गोरी ने पजाब को भी छीन लिया। गजनी-वश के शासक न केवल मध्य-एशिया मे ही असफल रहे बल्कि वह भारत में भी अपनी शक्ति को दृढ़ न रख सके। उनकी दुर्बलताओं का लाभ उठाकर राजपूत-राज्यों ने कुछ प्रदेशों को मुसलमानो से छीनने मे सफलता पायी और उनके अन्तिम शासक मलिक खुसरव की मृत्यु मुहम्मद गोरी की कैद मे 1192 ई० मे हुई।

[2]

शिहाबुद्दीन उर्फ मुईजुद्दीन मुहम्मद गोरी

महमूद गजनवी ने भारत को आर्थिक और सैनिक दृष्टि से दुर्बल वनाया तथा उसकी उत्तर-पश्चिम सीमा पर मुस्लिम शासन को स्थापित किया। परन्तु उसने भारत मे मुस्लिम राज्य की स्थापना नही की। इस कार्य की पूर्ति गोर-वंश के शासक मुहम्मद गोरी ने की। गोर का पहाडी क्षेत्र गजनी और हिरात के बीच मे स्थित था। कुछ इतिहासकारो ने गोर-वश को अफगान बताया है परन्तु अब इसे स्वीकार नही किया जाता। यह तुर्कों का शंसनबी-वंश था जो पूर्वी ईरान से आकर गोर प्रदेश मे वस गया था। महमूद गजनवी की मृत्यु के पश्चात् मध्य-एशिया की बदलती हुई परिस्थितियों ने गोर-वश के उत्थान मे सहयोग दिया। 11वी सदी मे सल्जूक-तुर्कों का प्रभाव मध्य-एशिया मे बढ़ा। महमूद गजनवी की मृत्यु के पश्चात् उन्होने आक्सस नदी को पार करके गजनवी-वंश से मर्व और निशापुर को छीन लिया। मध्य-एशिया के छोटे-छोटे राज्य उसके सामने विखरते चले गये और उन्होंने वहुत शीघ्र ही सम्पूर्ण खुरासान और उत्तरी ईरान पर अधिकार कर लिया। 1054 ई० मे उन्होने बगदाद पर आक्रमण किया और मरणासन्न खिलाफत को पुनर्जीवित किया। सल्जूक-तुर्कों ने अफगानिस्तान से लेकर मेडीटरेनियन समुद्र तक एक शक्तिशाली इस्लामी सत्ता को स्थापित करने मे सफलता पायी जिसके कारण इस्लाम पहले वाईजन्टाइन-साम्राज्य और वाद मे ईसाई

धर्म-युद्धों के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने में समर्थ हो सका। मध्य-एशिया के इतिहास मे यह उनका महत्वपूर्ण योगदान था। परन्तु उन्होंने गजनवी-वश के पतन में भी महत्वपूर्ण भाग लिया। गोर-वश महमूद गजनवी की अधीनता में था परन्तु जब सल्जूक-तुर्कों ने गजनवी-वश की शक्ति को नष्ट कर दिया तो उन्होंने अपनी शक्ति का विस्तार करना आरम्भ किया।

उसी अवसर पर जबकि गोर-वंश अपने उत्थान का प्रयत्न कर रहा था, गजनवी-वश के अधीन एक अन्य वंश ने भी अपनी शक्ति के विस्तार का प्रयत्न किया। वह वंश ख्वारिज्म-वश था। ख्वारिज्म (आधुनिक खीवा) पश्चिम मे कैस्पियन समुद्र और पूर्व मे बुखारा तथा आक्सस नदी के बीच में स्थित था। यह पहले गजनी के अधीन था परन्तु बाद मे सल्जूक-तुर्कों के अधीन हो गया। 11वी सदी के अन्तिम भाग में सल्जूक सुल्तान मलिक शाह ने अपने सेवक अनुश्तगीन को ख्वारिज्म का सूबेदार बनाया। इसी अनुश्तगीन अथवा उसके लड़के अत्सिज ने उस ख्वारिज्म-वश की नींव डाली जिसने प्राय· एक सदी तक मध्य-एशिया के इतिहास मे महत्वपूर्ण भाग लिया।

इस प्रकार सल्जूक-तुर्कों ने गजनी-साम्राज्य को खण्डित करके गोरी-वश और ख्वारिज्म-वश को पनपने का अवसर दिया। परन्तु 12वी सदी मे सल्जूक-तुर्कों की शक्ति पर करा-खिताई तुर्कों ने गम्भीर आक्रमण किया। पूर्व की ओर से मगोलो और चीन के राज्य के दबाव के कारण खिताई-तुर्कों ने पश्चिम की ओर बढ़ना आरम्भ किया और उनके नेता गुरखाँ उर्फ 'सभी का शासक' (Universal Lord) ने 1141 ई० मे सुल्तान सन्जर को बुरी तरह परास्त करके सल्जूक-तुर्कों की शक्ति को महान् क्षति पहुँचायी। इससे ख्वारिज्म-वश को सल्जूक-तुर्कों के भू-प्रदेशों पर और गोर-वश को गजनवी-वश के भू-प्रदेशो परअधिकार करने का अवसर मिला। इससे ईरान के सल्जूक-तुर्क-राज्य के स्थान पर ख्वारिज्म-राज्य की और गजनी के गजनवी-राज्य के स्थान पर गोर-राज्य की स्थापना हुई। गोर-वंश ने गजनी को जीतने के पश्चात् भारत में मुस्लिम राज्य की नींव डाली और खिताई-तुर्कों के चीन वापिस चले जाने के पश्चात् ख्वारिज्म-वश ने अन्त मे खुरासान और गजनी को भी गोर-वश से छीनकर (अलाउद्दीन ख्वारिज्म शाह के समय में: 1199-1220 ई०) ईरान से लेकर अफगानिस्तान तक फैले हुए एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना की।

मध्य-एशिया की इन परिस्थितियो मे गोर-वश का उत्थान हुआ। दस हजार फीट से भी अधिक ऊँचाई पर स्थित यह गोर-प्रदेश मुख्यतया कृषि-प्रधान था परन्तु यहाँ के निवासियों की ख्याति अच्छे घोड़े पालने और अच्छे शस्त्र तैयार करने के कारण थी। इस प्रकार मध्य-युग के युद्धों की दो प्रमुख आवश्यकताएँ—घोडा और इस्पात (लोहा)—गोर मे उपलब्ध ही न थीं बल्कि वह उनके लिए दूर-दूर तक प्रसिद्ध था। इस्लाम को स्वीकार करने से पहले यहाँ के निवासी बौद्ध थे। उमय्यद और अब्बासी खलीफाओं के समय से गोर को फतह करने के प्रयत्न किये गये थे परन्तु गोर की भौगोलिक परिस्थितियाँ उसे पूर्णत. नष्ट हो जाने से बचाती रही। महमूद गजनवी पहला सुल्तान था जिसने गोर को पूर्णतया फतह किया और उसे इस्लाम धर्म मे परि-

मुहम्मद गोरी के आक्रमण के कारण

गजनी का शासक बनने के पश्चात् मुहम्मद गोरी ने भारत-विजय की योजना बनायी। भारत पर उसके आक्रमणों के निम्नलिखित उद्देश्य थे :

1 मुहम्मद गोरी महत्वाकाक्षी था। भारत मे अपना साम्राज्य स्थापित करना उसका प्रमुख लक्ष्य था। उस युग के सभी शासक शक्ति और सम्मान की लालसा से राज्य-विस्तार करना चाहते थे। वही उनको श्रेष्ठता और महानता प्रदान करता था। गोरी का भी एकमात्र लक्ष्य वही था।

2. गजनवी और गोर-वंश मे वशानुगत शत्रुता चली आ रही थी। उस समय तक पजाब मे गजनवी-वश का राज्य था। पजाब के उस राज्य को अपनी अधीनता मे लेना उसका एक अन्य लक्ष्य था। गजनी को जीतकर गोरी पजाब पर अपना स्वाभाविक अधिकार मानता था। पजाब को जीतने से उसके वश का एक शत्रु नष्ट होता था और पूर्व की ओर से उसके राज्य की सुरक्षा सम्भव होती थी। इस प्रकार पजाब को जीतकर गजनवी-वंश को नष्ट करने से गोरी को व्यक्तिगत मानसिक सन्तोष और राजनीतिक लाभ था।

3 पश्चिम की ओर गोर-वश के राज्य के विस्तार को ख्वारिज्म-शासको ने रोक दिया था। इसके अतिरिक्त उस तरफ राज्य-विस्तार का मुख्य उत्तरदायित्व उसके बड़े भाई गियासुद्दीन का था। इस कारण यदि मुहम्मद गोरी को अपनी राज्य-विस्तार की अभिलाषा की पूर्ति करनी थी तो वह पूर्व की ओर भारत मे ही सम्भव हो सकती थी।

4. गोरी की धर्म-विस्तार और धन की लालसा भी रही होगी। उस युग की परिस्थितियो मे यह स्वाभाविक था। परन्तु यह कारण मुहम्मद गोरी के भारत-आक्रमण के लिए मुख्य नही थे।

गोरी के आक्रमणो के समय भारत की स्थिति

1027 ई० मे महमूद गजनवी ने भारत पर अन्तिम आक्रमण किया था और मुहम्मद गोरी ने अपना प्रथम आक्रमण 1175 ई० मे किया। इस प्रकार इन दो महत्वपूर्ण आक्रमणकारियों के समय में प्राय· 148 वर्ष का अन्तर हो गया था। परन्तु तब भी भारतीयो ने महमूद के आक्रमणो से कुछ भी सीखने का प्रयत्न नही किया था। इस कारण विभिन्न राज्य-वशो मे परिवर्तन हो जाने के अतिरिक्त भारत मे अन्य कोई विशेष परिवर्तन नही हुआ था। राजनीतिक दृष्टि से भारत अब भी विभक्त था। निस्सन्देह कुछ राजपूत-वश बहुत सम्मानित और शक्तिशाली थे परन्तु उनमे राज्य-विस्तार की प्रतिस्पर्धा और वशानुगत झगड़ों के कारण युद्ध होते रहते थे जिसके कारण न तो वे अपनी शक्ति का सदुपयोग अपने और अपने राज्य के हित के लिए कर सके और न वे एक होकर विदेशी शत्रु का मुकाबला कर सके। उस समय भारत की उत्तर-पश्चिम सीमा पर **सिन्ध, मुल्तान और पंजाब के मुसलमानो राज्य थे।** सिन्ध मे सुम्रा जाति के शिया शासक राज्य करते थे, मुल्तान मे करमाथी जाति के शिया शासक थे और पजाब मे गजनवी-वश के शासकों

का राज्य था। सिन्ध और मुल्तान के राज्य छोटे थे और पंजाब का गजनवी-राज्य दुर्बल था। गिज-तुर्कों से पराजित होकर गजनवी-वंश का अन्तिम शासक खुशरवशाह गजनी को छोडकर भारत भाग आया था और उसने लाहौर को अपनी राजधानी बना लिया था। गजनवी-वंश के शासकों मे अब सम्मान और शक्ति नही रह गयी थी। वे पडोस के राजपूत-राज्यो पर छुटपुट आक्रमण करते रहते थे परन्तु राज्य-विस्तार मे असमर्थ थे बल्कि इसके विपरीत चौहान-राजपूतो ने कुछ स्थानो को उनसे छीनने मे सफलता पायी थी। **भारत के अन्य सभी भागों में राजपूत शासक थे। गुजरात और काठियावाड़ में चालुक्य-वंश** का राज्य था जिनकी राजधानी अन्हिलवाड़ (पाटन) थी। जयसिंह सिद्धराज (1102-1143 ई०) के समय मे गुजरात का राज्य शक्तिशाली बन गया था और उसने मालवा तथा चित्तौड के शासकों को पराजित किया था। बाद मे अजमेर के चौहानो से संघर्ष करने के कारण उनकी शक्ति और गौरव कम हो गया। उस अवसर पर वहाँ का शासक मूलराज द्वितीय था। **दिल्ली और अजमेर का शासक चौहानवंशी पृथ्वीराज तृतीय उर्फ 'रायपिथौरा' था।** उत्तर भारत के राजपूत-शासको मे वह सर्वाधिक साहसी और महत्वाकाक्षी था। उसके पिता पृथ्वीराज द्वितीय ने अपने राज्य को काफी शक्तिशाली बनाया था। 'रायपिथौरा' ने उसमे और अधिक वृद्धि करने का प्रयत्न किया। परन्तु अपनी महत्वाकाक्षाओ के कारण उसे अपने पडोसी राजपूत-राजाओ से संघर्ष करना पडा और प्रायः सभी से उसकी शत्रुता हो गयी। गुजरात के चालुक्य-वंश को उसने पराजित और अपमानित किया, बुन्देलखण्ड के चन्देल शासक परमर्दिदेव (राजा परमालदेव) को परास्त करके उसने उससे महोबा छीन लिया और कन्नौज के गहडवार शासक जयचन्द की पुत्री संयोक्ता से बलपूर्वक विवाह करके उसने उससे घोर शत्रुता मोल ले ली। पृथ्वीराज तृतीय अपने युग का एक महान् साहसी योद्धा और सफल सेनानायक था, परन्तु उसमे दूरदर्शिता और राजनीतिज्ञता का अभाव था। इस कारण अपने मुसलमान शत्रु के विरुद्ध वह अपने किसी भी पडोसी राज्य से सहायता प्राप्त नही कर सका। **कन्नौज के गहड़वार-वंश** का राज्य उत्तर भारत में सबसे अधिक विस्तृत था। गोविन्दचन्द्र और विजयचन्द्र के समय मे उसकी शक्ति में बहुत वृद्धि हुई थी। गोरी के आक्रमण के अवसर पर वहाँ का शासक जयचन्द था। **बुन्देलखण्ड में चन्देल-वंश और कलचुरी में चेदि-वंश** का राज्य था। **बंगाल में पाल और सेन-वंश** के राज्य थे। शक्तिशाली पाल-शासको का पतन हो चुका था और उस समय उनके अधिकार मे सिर्फ उत्तरी बंगाल का कुछ भाग था। उनके राज्य के अधिकाश भाग पर सेन-वंश ने अधिकार कर लिया था जिसमे बिहार और बंगाल का अधिकाश प्रदेश सम्मिलित था। उस समय दक्षिण भारत उत्तर भारत की राजनीति से सर्वथा उदासीन था।

सामाजिक दृष्टि से भारत की स्थिति मे केवल एक नवीनता थी। भारत के अन्दर के भागो मे भी मुसलमान शान्तिपूर्ण तरीके से प्रवेश कर गये थे और विभिन्न स्थानों पर बस गये थे। मुसलमानो की यह छोटी-छोटी बस्तियाँ भारत मे छोटे-छोटे जलस्रोतो के समान थी जो भारत की राजनीति में प्रत्यक्ष रूप से तो महत्वपूर्ण न थी,

किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से अवश्य प्रभावपूर्ण थी। अब भारत के कुछ स्थानो से मुसलमान आक्रमणकारी को निस्सन्देह सहानुभूति और आवश्यक सूचना प्राप्त हो सकती थी जो किसी न किसी प्रकार मे उसके लिए उपयोगी थी। इसके अतिरिक्त भारत की सामाजिक स्थिति प्राय वही थी जो महमूद गजनवी के आक्रमणो के समय मे थी। **धार्मिक, नैतिक, शिक्षात्मक और सैनिक दृष्टि से** भारत की स्थिति में इन 148 वर्षो मे कोई परिवर्तन नही आया था। हिन्दुओं ने अपनी शक्ति और उन्नति के मूल स्रोतो को सुखा डाला था और महमूद गजनवी के आक्रमण भी उनमें चेतनता लाने मे असमर्थ रहे थे।

1175 ई० मे गोरी ने सबसे पहले मुल्तान पर आक्रमण किया। उस समय तक खैबर और बोलन के दर्रे न तो सुरक्षित समझे जाते थे और न उनसे व्यापारिक अथवा सैनिक-अभियान का लाभ उठाया जाता था। सबसे प्रचलित मार्ग गोमल के दर्रे से होकर डेरा इस्माइल खाँ होते हुए उत्तर सिन्ध मे पहुँचने का था। गोरी से पहले के आक्रमण इसी मार्ग से हुए थे। गोरी ने भी इसी मार्ग को चुना और मुल्तान पर आक्रमण किया। उसने उसे सरलता से जीत लिया। उसके पश्चात् उसने **उच्च और निचले सिन्ध को भी जीत लिया।** 1178 ई० में गोरी ने **गुजरात** पर आक्रमण किया परन्तु मूलराज द्वितीय ने अपनी योग्य और साहसी विधवा माँ नायिकादेवी के नेतृत्व में आबू पहाड के निकट गोरी का मुकाबला किया और उसे परास्त कर दिया। **यह भारत में गोरी की पहली बड़ी हार थी।** इसके पश्चात् गोरी ने अपने आक्रमण का मार्ग बदल दिया। अब उसने पजाब की तरफ से बढना आरम्भ किया। **पंजाब** मे गजनवी-वश के निकम्मे शासक मलिक खुसरव ने उसका विरोध किया, परन्तु परास्त हो गया। 1179 ई० मे गोरी ने पेशावर को जीत लिया। दो वर्ष बाद उसने लाहौर पर आक्रमण किया और खुसरव ने बहुत बहुमूल्य भेट तथा अपने एक पुत्र को बन्धक के रूप मे देकर अपनी रक्षा की। 1185 ई० में गोरी ने स्यालकोट को जीता और वापिस चला गया। खुसरव ने पहाड़ी खोक्खर जाति की सहायता लेकर स्यालकोट जीतने का प्रयत्न किया परन्तु असफल हुआ। 1186 ई० मे गोरी ने फिर लाहौर पर आक्रमण किया। उसने छल से खुसरव को मिलने के लिए बुलाया और विश्वासघात करके उसे कैद कर लिया। उसके पश्चात् सम्पूर्ण पजाब पर गोरी का अधिकार हो गया और गजनी का राजवश समाप्त हो गया। 1192 ई० मे गजनवी-वश के अन्तिम शासक खुसरव को कत्ल कर दिया गया।

मुहम्मद गोरी के आक्रमण और भारत-विजय

पजाब को जीतने के पश्चात् मुहम्मद गोरी के राज्य की सीमाएँ **दिल्ली और अजमेर** के शासक पृथ्वीराज तृतीय के राज्य की सीमाओ से मिलने लगी। 1198 ई० मे गोरी ने सीमा के किले भटिण्डा पर आक्रमण करके उसे जीत लिया। गोरी जब वापिस जाने की तैयारी कर रहा था तब उसे पृथ्वीराज (रायपिथौरा) के आगे बढने का समाचार मिला। गोरी उसका मुकाबला करने के लिए आगे बढा। पृथ्वीराज एक बडी सेना को लेकर भटिण्डा को जीतने के लिए आगे बढ रहा था। 1191 ई० में **भटिण्डा के निकट तराइन का प्रथम युद्ध हुआ। इस युद्ध में गोरी की हार हुई**

'हम्मीर-महाकाव्य' के अनुसार पृथ्वीराज ने मुहम्मद गोरी को कैद कर लिया परन्तु उदारतापूर्वक उसे छोड दिया। परन्तु यह कथन माननीय नही है। गोरी ने पृथ्वीराज के भाई गोविन्दराय को तलवार से घायल किया था और गोविन्दराय ने गोरी को भाले से घायल कर दिया था। अपनी सेना के छिन्न-भिन्न हो जाने और इस गम्भीर घाव के कारण गोरी वापिस मुड़ गया और जबकि वह दुर्बलता के कारण अपने घोड़े से गिरने वाला था तब एक नवयुवक खलजी सैनिक ने उसे सहारा दिया और उसी के घोडे पर बैंठकर उसे युद्ध-क्षेत्र से बाहर एक सुरक्षित स्थान पर ले गया। मुहम्मद गोरी की भारत मे यह दूसरी गम्भीर पराजय थी। इसके पश्चात् पृथ्वीराज ने भटिण्डा के किले पर आक्रमण किया परन्तु मलिक जियाउद्दीन ने उसकी इतनी अच्छी प्रकार रक्षा की कि पृथ्वीराज उसे 13 माह के पश्चात् जीत सका। मुहम्मद गोरी तराइन के प्रथम युद्ध की पराजय को न भुला सका। वह अपने को अपमानित अनुभव करता था और पृथ्वीराज को परास्त किये बिना वह भारत मे आगे बढ़ भी नही सकता था। एक वर्ष तक गोरी ने युद्ध की तैयारियाँ की और एक लाख बीस हजार की चुनी हुई घुड़सवार-सेना को लेकर गजनी से चला। लाहौर पहुँचकर उसने पृथ्वीराज के पास सन्देश भेजा कि वह इस्लाम और उसके आधिपत्य को स्वीकार कर ले। पृथ्वीराज ने उसे भारत से वापिस चले जाने के लिए कहा। गोरी ने भटिण्डा को जीतकर तराइन के मैदान मे प्रवेश किया। पृथ्वीराज भी अपनी सेना लेकर वहाँ पहुँच गया। बहुत-से हिन्दू राजा और अधीनस्थ सामन्त पृथ्वीराज की सहायता के लिए आये थे। फरिश्ता ने लिखा है कि उसकी सेना मे पांच लाख घुडसवार और तीन हजार हाथी थे। पृथ्वीराज की सेना की यह सख्या तो बहुत बढ़ा-चढा कर बतायी गयी है परन्तु इसमे सन्देह नही कि वह एक बडी सेना को लेकर युद्ध के लिए गया था। **1192 ई० में तराइन का द्वितीय युद्ध हुआ जिसमें गोरी की सजगता और श्रेष्ठ युद्ध-प्रणाली के कारण मुसलमानों की जीत हुई।** गोविन्दराय इस युद्ध में मारा गया। पृथ्वीराज ने हताश होकर घोड़े पर बैठकर भागने का प्रयत्न किया परन्तु वह सरस्वती के निकट पकड़ा गया और कैद कर लिया गया। पृथ्वीराज की मृत्यु के बारे मे विभिन्न मत प्रकट किये गये हैं परन्तु उनमें से हसन निजामी का मत ही स्वीकार किया जाता है कि पृथ्वीराज गोरी के साथ अजमेर गया था और उसने गोरी की अधीनता स्वीकार कर ली थी। परन्तु जब उसने विद्रोह करने का षड्यन्त्र किया तो उसे मृत्यु-दण्ड दे दिया गया। तराइन का दूसरा युद्ध भारतीय इतिहास मे महत्वपूर्ण था। स्मिथ ने लिखा है कि "1192 ई० के तराइन के युद्ध को निर्णयात्मक कहा जा सकता है क्योंकि इससे भारत मे मुस्लिम आक्रमण की अन्तिम विजय सुनिश्चित हो गयी।" डी. सी. गागुली ने लिखा है कि "तराइन के द्वितीय युद्ध में पृथ्वीराज की पराजय ने न केवल चौहानों की साम्राज्य-वादी शक्ति को ही नष्ट किया बल्कि वह सम्पूर्ण भारत के विनाश का कारण बनी।"[1]

---

1. "The defeat of Prithviraja in the second battle of Tarain not only destroyed the imperial power of the Chahamanas, but also brought disaster on the whole of Hindustan." —Dr. D. C. Ganguly.

इस पराजय ने राजाओं और प्रजा के मनोबल को तोड़ दिया और सम्पूर्ण भारत में भय की भावना व्याप्त हो गयी। उससे मुहम्मद गोरी की भारत-विजय सरल हो गयी। गोरी ने हाँसी, कुहराम आदि सैनिक महत्व के स्थानों को जीत लिया। चौहानों की राजधानी अजमेर को भी जीत लिया गया और पृथ्वीराज को मृत्यु-दण्ड देने के पश्चात् उसके एक पुत्र को अजमेर का शासन सौंप दिया गया। उसके पश्चात् दिल्ली को भी जीत लिया गया। अपने विजित प्रदेशों को कुतुबुद्दीन ऐबक की देख-रेख में सौंपकर गोरी भारत से वापिस चला गया। दिल्ली को भी गोविन्दराय के पुत्र की अधीनता में दे दिया गया और ऐबक ने उसके निकट इन्द्रप्रस्थ को अपना केन्द्र-स्थान बनाया। गोरी ने भी विजित प्रदेशों में हिन्दू-मन्दिरों को नष्ट किया और उनके स्थान पर मस्जिदें खड़ी कीं परन्तु गोरी ने एक दूरदर्शिता की बात की थी। उसने आरम्भ में अपने विजित प्रदेशों में हिन्दू राजाओं को ही शासक नियुक्त किया था जिससे वह हिन्दुओं की भावनाओं को सन्तुष्ट करके मुस्लिम विजय को संगठित कर सका। इस नीति के अनुसार उसने आरम्भ में अजमेर में पृथ्वीराज के पुत्र और दिल्ली में गोविन्दराय के पुत्र को अपनी अधीनता में शासक नियुक्त किया था। बाद में विद्रोहों के कारण ऐबक ने इन्हें अपनी प्रत्यक्ष अधीनता में ले लिया और चौहान-वंश का राज्य सर्वदा के लिए नष्ट हो गया।

गोरी के वापिस चले जाने के पश्चात् पृथ्वीराज के भाई हरिराज ने अजमेर को अपने अधिकार में लेने का प्रयत्न किया। परन्तु ऐबक ने उसके प्रयत्न को विफल कर दिया। उसके पश्चात् ऐबक ने बुलन्दशहर, मेरठ और दिल्ली को अपनी प्रत्यक्ष अधीनता में ले लिया। 1193 ई० से दिल्ली भारत में गोरी के राज्य की राजधानी बन गयी। अजमेर में हरिराज ने एक बार फिर विद्रोह किया और पृथ्वीराज के पुत्र को अजमेर से बाहर निकाल कर रणथम्भौर को घेर लिया। ऐसे प्रमाण प्राप्त हुए हैं कि पृथ्वीराज के पश्चात् हरिराज ने चौहानों का नेतृत्व किया था और पृथ्वीराज के पुत्र (जो अभी अल्पायु था) के स्थान पर वह स्वयं चौहानों का राजा बना था। परन्तु ऐबक ने अजमेर के विद्रोह को दबा दिया और फिर रणथम्भौर को जीता। उसके पश्चात् उसने कोल (अलीगढ़) को विजय किया।

1194 ई० में मुहम्मद गोरी कन्नौज के शासक जयचन्द पर आक्रमण करने के लिए भारत आया। उत्तर भारत में कन्नौज का राज्य बहुत शक्तिशाली माना जाता था। उसके राजा जयचन्द की पृथ्वीराज से शत्रुता थी। इस कारण उसने गोरी के विरुद्ध पृथ्वीराज को कोई सहायता नहीं दी थी। इस अवसर पर उसे भी गोरी से अकेले युद्ध करना पड़ा। कन्नौज और इटावा के बीच चन्दवार नामक स्थान पर गोरी से उसका युद्ध हुआ। जयचन्द युद्ध में मारा गया और राजपूतों की पराजय हुई। गोरी ने आगे बढ़कर बनारस को लूटा और जयचन्द के राज्य के प्राय सभी प्रमुख स्थानों पर अधिकार कर लिया। गोरी इस समय कन्नौज पर अधिकार न कर सका। उसे बाद में मुस्लिम राज्य में सम्मिलित किया गया। परन्तु तब भी गोरी को इस विजय से काफी बड़ा भू-क्षेत्र प्राप्त हुआ। अब उत्तर भारत में उसका मुकाबला करने के लिए

अन्य कोई शक्तिशाली राजा बाकी न रहा और मुसलमानो के लिए बिहार तथा बगाल की विजय का मार्ग खुल गया।

जयचन्द को पराजित करने के पश्चात् मुहम्मद गोरी भारत से वापिस चला गया और विजित प्रदेशों को संगठित करने का उत्तरदायित्व ऐबक पर छोड़ गया। गोरी के चले जाने के पश्चात् विभिन्न स्थानो पर विद्रोह हुए क्योंकि राजपूत अभी *तुर्कों की अधीनता को स्वीकार करने के लिए तत्पर न थे। वे सभी विद्रोह दबा दिये* गये। **कोल (अलीगढ़) के निकट हुए विद्रोह** को स्वय ऐबक ने दबाया। **अजमेर में तीसरी बार विद्रोह** हुआ। हरिराज ने अजमेर से पृथ्वीराज के पुत्र को बाहर निकाल दिया और एक बार फिर चौहानो की स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्न किया। परन्तु ऐबक के विरुद्ध उसे सफलता न मिली और उसने स्वय को आग मे जलाकर आत्महत्या कर ली। ऐबक ने 1194 ई० मे अजमेर को जीत लिया। इस बार अजमेर को एक तुर्की अमीर के आधिपत्य में दे दिया गया और पृथ्वीराज के पुत्र को रणथम्भौर का किला दिया गया। **अब (1194 ई०) अजमेर पर मुसलमानों का प्रत्यक्ष आधिपत्य हो गया।** इस अवसर पर ऐबक ने हिन्दू और जैन-मन्दिरो को नष्ट करके उनके सामान से दिल्ली मे 'कुवात-उल-इस्लाम' नामक मस्जिद बनवायी। बाद मे 1196 ई० मे अजमेर के संस्कृत-विश्वविद्यालय के स्थान पर 'ढाई दिन का झोंपडा' नामक एक अन्य विख्यात मस्जिद को बनवाना आरम्भ किया गया जो 1200 ई० मे पूर्ण हुई।

1195-96 ई० मे गोरी पुन. भारत आया। इस बार उसने **बयाना को जीता और ग्वालियर पर आक्रमण किया।** ग्वालियर का किला बहुत मजबूत था। इस कारण जब राजा सुलक्षणपाल ने गोरी के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया तो गोरी ने उससे *सन्धि कर ली और वापिस चला गया। परन्तु जाने से पहले वह बयाना के सूबेदार* तुगरिल को ग्वालियर को जीतने के आदेश दे गया। बाद में 1½ **वर्ष के युद्ध के पश्चात् तुगरिल ने उसे जीता।**

इस बार वापिस जाकर मुहम्मद गोरी को कई वर्ष तक भारत आने का अवसर न मिल सका और बाकी भू-प्रदेशो को जीतने और वहाँ हुए विद्रोहो को दबाने का *उत्तरदायित्व उसके तुर्की अमीरो पर पडा।* **राजस्थान में एक बार फिर विद्रोह हुआ** और मेद तथा चौहान-राजपूतो ने गुजरात के चालुक्यो की सहायता लेकर तुर्कों को राजस्थान से निकालने का प्रयत्न किया। ऐबक उसे दबाने के लिए गया परन्तु राजपूतों की शक्ति इतनी अधिक हो गयी थी कि उसे बाध्य होकर अजमेर के किले में शरण लेनी पडी। परन्तु गजनी से सहायता पहुँच जाने पर उसने राजपूतों पर आक्रमण किया और विद्रोह को दबा दिया। **राजस्थान के विद्रोह को समाप्त करके ऐबक ने गुजरात पर आक्रमण किया।** आबू पहाड़ के निकट चालुक्य-राजपूतो ने उसका मुकाबला किया। ऐबक के सैन्य-सचालन के कारण उसकी जीत हुई। उसने आगे बढकर **गुजरात की राजधानी अन्हिलवाड़ को लूटा (1197 ई०)** जिसे भीमदेव द्वितीय छोड़ गया था। फरिश्ता ने लिखा है कि ऐबक ने गुजरात मे एक सूबेदार नियुक्त किया था। *परन्तु ऐबक गुजरात को अपने प्रत्यक्ष शासन में न ले सका था, यह प्रमाणित हो*

चुका है। 1240 ई० तक वह चालुक्य-वंश के अधिकार मे था। इस कारण स्पष्ट है कि इस बार ऐबक अन्हिलवाड़ को लूटकर ही वापिस चला गया था। राजस्थान के विद्रोह को समाप्त करने और चालुक्य-राजा भीमदेव द्वितीय को परास्त करने के अतिरिक्त ऐबक ने **बदायूं को जीता। बनारस तथा चन्दवार भी जो उसके हाथों से निकल गये थे, पुनः जीते गये और कन्नौज को भी फतह किया गया।**

ऐबक की एक महत्वपूर्ण विजय बुन्देलखण्ड की थी। मध्य-भारत में केवल यही एक ऐसा राजपूत-राज्य था जो अभी तक पूर्ण स्वतन्त्र था। चन्देल-राजा परमर्दिदेव साहसी था और उसका कालिंजर का किला बहुत दृढ़ था। 1202-1203 ई० मे ऐबक ने उस पर आक्रमण किया। युद्ध के बीच मे परमर्दीदेव की मृत्यु हो गयी। उसके मन्त्री अजयदेव ने युद्ध को जारी रखा परन्तु अन्त मे उसे किला छोड़ना पड़ा। कालिंजर को जीतने के पश्चात् ऐबक ने महोबा, खजुराहो आदि पर भी अधिकार कर लिया।

बिहार और बंगाल की विजय के बारे मे गोरी अथवा ऐबक ने सोचा भी न था। कन्नौज तक फैले हुए विजित प्रदेशो को सगठित करने तक ही उनका लक्ष्य रहा था। परन्तु जिस समय ऐबक मध्य-भारत में तुर्की-शासन को सगठित कर रहा था, उसी समय गोरी के एक साधारण सरदार इख्तियारुद्दीन मुहम्मद बिन बख्तियार खलजी ने पूर्व की ओर तुर्की-राज्य को फैलाया। इख्यितयारुद्दीन खलजी एक साहसी, बहादुर और महत्वाकाक्षी व्यक्ति था। अपने चेहरे की कुरूपता के कारण वह गजनी और दिल्ली मे नौकरी तक प्राप्त नही कर सका था परन्तु बाद मे अपनी योग्यता के कारण वह एक विजेता साबित हुआ। आरम्भ मे उसे बदायूं मे एक सैनिक के रूप में नौकरी मिली। बाद मे उसने अवध के सरदार हिसामुद्दीन-अबुल-बक के यहाँ नौकरी प्राप्त की। अपनी योग्यता के कारण उसे कुछ गाँवों की जागीर मिली और उसी को उसने अपनी उन्नति का साधन बना लिया। खलजी सैनिको की एक छोटी-सी सेना तैयार करके उसने उन समीपवर्ती क्षेत्रो पर आक्रमण करने आरम्भ किये जो बगाल के राजा के अधीन बिहार मे थे। बिहार मे बार-बार आक्रमण करने पर भी उसके मार्ग मे किसी ने बाधा नही डाली। यह बात आश्चर्यजनक रही कि बगाल के राजा ने अपनी सीमाओं की सुरक्षा का कोई प्रबन्ध नही किया। सम्भवतया यहाँ का बहुत कुछ भाग कन्नौज-राज्य के भी अधीन रहा था और उसकी पराजय के पश्चात् इन क्षेत्रों की देखभाल करने वाला कोई न था। प्रत्येक बार की सफलता ने इख्तियारुद्दीन की लालसा, सम्पत्ति और शक्ति मे वृद्धि की और वह धीरे-धीरे आक्रमण के क्षेत्र को बढाता गया। 1202-1203 ई० मे उसने उदन्दपुर पर आक्रमण किया और वहाँ के बौद्ध-बिहार को लूटा तथा भिक्षुओ को कत्ल कर दिया। उसके पश्चात् उसने नालन्दा और विक्रमशिला के विद्या-केन्द्रो पर भी अधिकार कर लिया। इस प्रकार धीरे-धीरे उसने **सम्पूर्ण बिहार को जीत लिया** और आश्चर्य यह है कि उसे एक भी स्थान पर किसी गम्भीर विरोध का सामना नहीं करना पडा।

बगाल के शासक लक्ष्मण सेन की अकर्मण्यता इख्तियारुद्दीन को स्पष्ट हो गयी थी। इस कारण उसने 1204-1205 ई० मे बगाल पर आक्रमण किया। वह इतनी

तीव्र गति से आगे बढ़ा कि उसकी मुख्य सेना पीछे रह गयी और जब उसने राजधानी नदिया मे प्रवेश किया तब उसके साथ केवल 18 घुड़सवार थे। सम्भवतया राजधानी के सैनिकों और नागरिकों ने उनको घोड़ों के व्यापारी समझा और वे बिना किसी रुकावट के महल के फाटक तक पहुँच गये। वहाँ पहुँचकर उन्होंने अचानक महल पर आक्रमण कर दिया। राजा लक्ष्मण सेन दोपहर का भोजन करने बैठा था। वह इतना भयभीत हुआ कि नंगे पैर पीछे के दरवाजे से भाग निकला। इसी बीच तुर्की-सेना नगर मे प्रवेश कर गयी। राजा की अनुपस्थिति में नगर ने आत्म-समर्पण कर दिया और तुर्कों ने नदिया को बुरी तरह लूटा। लक्ष्मण सेन पूर्वी बंगाल भाग गया और वहीं कुछ समय शासन करता रहा। इख्तियारुद्दीन ने भी सम्पूर्ण बंगाल को जीतने का प्रयत्न नहीं किया। दक्षिण-पश्चिम बंगाल के अधिकांश भाग पर तुर्कों का अधिकार हो गया और इख्तियारुद्दीन ने लखनौती को उसकी राजधानी बनाया। अपनी बंगाल-विजय से प्रोत्साहित होकर इख्तियारुद्दीन ने तिब्बत को जीतने की योजना बनायी। परन्तु वह उसके असम्मान और मृत्यु का कारण बनी। अपनी सेना को लेकर ब्रह्मपुत्र नदी के किनारे-किनारे वह तिब्बत तक पहुँच गया। वहाँ उसे मुकाबले की कठिनाई का पता लगा और वह वापिस लौटा। मार्ग मे उसे रसद की कठिनाई हुई और पहाड़ी जाति तथा कामरूप (आसाम) की सेना ने उस पर आक्रमण किये। अपनी सम्पूर्ण सेना को नष्ट कराकर केवल 100 सैनिकों के साथ वह देवकोट वापिस पहुँच सका। इस दुर्भाग्य ने उसकी सम्पूर्ण शक्ति को नष्ट कर दिया और जबकि वह बीमार पड़ा हुआ था, उसके एक सरदार अलीमर्दन खलजी ने उसका कत्ल कर दिया (1206 ई०)। इस प्रकार बहादुर इख्तियारुद्दीन का अन्त हुआ, परन्तु अपनी मृत्यु से पहले उसने बिहार और बंगाल के अधिकांश भाग को तुर्की-अधीनता में कर दिया था जिसकी आशा ऐबक और गोरी भी नहीं करते थे।

जिस समय गोरी के सरदार भारत में उसके राज्य का विस्तार कर रहे थे उस समय वह स्वयं ख्वारिज्म के शासक से मृत्यु और जीवन का संघर्ष कर रहा था। गोरी-वंश का संघर्ष पश्चिम के उस ख्वारिज्म-वंश से चलता रहता था जिसने ईरान में एक शक्तिशाली राज्य स्थापित कर लिया था। 1202 ई० में गोरी के बड़े भाई गियासुद्दीन की मृत्यु हो गयी और उसके स्थान पर स्वयं गोरी सम्पूर्ण गोर-वंश के राज्य का स्वामी बना। उसने भी ख्वारिज्म के शासकों से युद्ध जारी रखा। 1205 ई० में मुहम्मद गोरी की अन्धखुद के युद्ध में भयंकर रूप से पराजय हुई। बड़ी कठिनाई से वह अपनी जान बचाकर अपनी राजधानी (अब वह गोर थी) पहुँच सका। इस पराजय ने मुहम्मद गोरी के सम्मान को बहुत ठेस लगी और भारत में भी उसका प्रभाव आया। यह अफवाह फैल गयी कि गोरी युद्ध में मारा गया। भारत में विभिन्न स्थानों पर विद्रोह हो गये। पंजाब में खोक्खर-जाति ने मुल्तान के सूबेदार को हरा दिया और लाहौर को जीतने का प्रयत्न किया। इस कारण 1205 ई० में गोरी एक बार फिर भारत आया। झेलम और चिनाब नदी के बीच उसका खोक्खरों से मुकाबला हुआ। यह युद्ध बड़ा भयंकर हुआ और ऐबक के ठीक समय पर अपनी सेना को लेकर पहुँच जाने

के कारण ही गोरी की विजय हो सकी। खोक्खरों को निर्दयता से कत्ल किया गया। उसके पश्चात् गोरी लाहौर पहुँचा और वहाँ व्यवस्था स्थापित्त करके गजनी वापिस चल दिया। मार्ग में सिन्ध नदी के तट पर दमयक नामक स्थान पर शाम की नमाज पढ़ते हुए मुहम्मद गोरी पर कुछ व्यक्तियों ने अचानक आक्रमण करके उसे 15 मार्च, 1206 को कत्ल कर दिया। कुछ इतिहासकारों के अनुसार कत्ल करने वाले खोक्खर थे और कुछ अन्य के अनुसार ये इस्माइल-सम्प्रदाय के शिया थे। सम्भवतया इस कत्ल मे इन दोनों वर्गों का हाथ था।

मुहम्मद गोरी के शव को गजनी ले जाकर दफना दिया गया। गोरी के कोई पुत्र न था। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका भतीजा महमूद उसका उत्तराधिकारी हुआ लेकिन वास्तविकता मे देखा जाय तो किरमान का सूबेदार ताजुद्दीन यिल्दिज और भारत का सूबेदार कुतुबुद्दीन ऐबक ही उसके उत्तराधिकारी थे। महमूद बहुत अधिक समय तक जीवित न रहा और उसकी मृत्यु के पश्चात् शक्तिशाली ख्वारिज्म-शासक ने गोरी के मध्य-एशिया के राज्य के अधिकाश भाग पर अधिकार कर लिया। 1215 ई० तक गजनी पर ताजुद्दीन यिल्दिज ने अपना अधिकार रखा परन्तु जब उस वर्ष उसे भी वहाँ से निकाल दिया गया तो गोरी का सम्पूर्ण मध्य-एशिया का राज्य ख्वारिज्मशाह के अधीन हो गया। परन्तु भारत मे कुतुबुद्दीन ऐबक ने उसके राज्य की सुरक्षा करने मे सफलता पायी और यहाँ तथाकथित गुलाम-वश के राज्य को स्थापित किया।

मुहम्मद गोरी का चरित्र और मूल्यांकन

मुहम्मद गोरी के चरित्र और कार्यों का मूल्याकन करते हुए स्वतः ही उसकी तुलना महमूद गजनवी से कर ली जाती है जिससे कभी-कभी उसके दुर्बल पक्ष पर अधिक बल पड जाता है। परन्तु तब भी मुहम्मद गोरी का इतिहास मे स्थान विवाद-रहित है। निस्सन्देह मुहम्मद गोरी महमूद गजनवी के समान योग्य सेनापति न था। महमूद जन्मजात सेनापति था। भारत मे उसके सभी आक्रमण सफल हुए थे और मध्य-एशिया मे उसने एक शक्तिशाली और ऐश्वर्यशाली राज्य की स्थापना की थी। उसकी शक्ति और ऐश्वर्य बगदाद के खलीफा से भी बढ गया था। उसकी सैनिक-सफलताओ की समानता मुहम्मद गोरी की सफलताएँ नही कर सकती। गोरी ने *अन्हिलवाड के शासक मूलराज द्वितीय से हार खायी, उसने तराइन के प्रथम युद्ध मे* पृथ्वीराज तृतीय से हार खायी और उसे ख्वारिज्म के शासक ने अन्धखुद के युद्ध मे बुरी तरह पराजित किया। परन्तु इनमें से कोई भी पराजय मुहम्मद गोरी के साहस को न तोड़ सकी और न उसे उसके लक्ष्य से भ्रष्ट कर सकी। गोरी ने अपने अनुभवों से सबक लिया, अपनी प्रत्येक पराजय से अपनी दुर्बलताओं को परखा, उनको दूर किया और अन्त मे सफलता प्राप्त की। **स्थायी परिणाम की दृष्टि से गोरी महमूद गजनवी की तुलना में अधिक श्रेष्ठ सिद्ध हुआ।** लेनपूल ने लिखा है कि "महमूद की तुलना मे मुहम्मद का नाम कम विख्यात हुआ तथापि भारत मे उसकी विजयें महमूद की विजयों से कहीं अधिक विस्तृत तथा स्थायी थी।" प्रो० के. ए. निजामी ने लिखा है

मुहम्मद गोरी की मृत्यु के अवसर पर
भारत 1206 A D
काश्मीर
काबुल
अफगानिस्तान
पेशावर
रावलपिंडी
लाहौर
मुल्तान
सिंधु नं०
दिल्ली
नैपाल
चौहान
जैसलमेर
अजमेर
कन्नौज
आबू
चित्तौर
ग्वालियर
बनारस
पटना
पाल
इलाहबाद
सेन
कलकत्ता
परमार
चालुक्य
मालवा
चन्देल
कलचुरी
गोदावरी नं०
काकतिया
अरब सागर
बंगाल की खाड़ी
कृष्णा नं०
होयसल
----राज्य की सीमा
------ ऐबक द्वारा विजित अथवा अर्ध विजित प्रदेश
पाण्डय

कि "अन्धखुद, तराइन और अन्हिलवाड़ के तीन युद्धों मे पराजित इस मुख्य पात्र को जैसा कि प्रो० हबीब उसे पुकारते है, मध्य-युग के महानतम साम्राज्यों में से एक को स्थापित करने का श्रेय है और इस दृष्टि से वह निस्सन्देह महमूद गजनवी से श्रेष्ठ है।"[1] **मुहम्मद गोरी में परिस्थितियों को समझने और उनके अनुसार कार्य करने की क्षमता थी।** उसने भारत की खोखली राजनीति को समझ लिया था। इस कारण उसका उद्देश्य भारत में राज्य स्थापित करने का था। निरन्तर सफलता प्राप्त करने के पश्चात् भी महमूद गजनवी ने अपना उद्देश्य भारत मे धन लूटने और इस्लाम की प्रतिष्ठा को स्थापित करने से अधिक नही बनाया जबकि गोरी ने असफलताओ के बावजूद भी अपना उद्देश्य विस्तृत रखा। गोरी के आक्रमणो मे भी मन्दिरो को नष्ट किया गया और हिन्दुओं को इस्लाम मे परिवर्तित किया गया परन्तु गोरी के मूल उद्देश्य ये न थे। भारत मे एक राज्य की स्थापना करना उसका प्रमुख उद्देश्य रहा। इस कारण उसका उद्देश्य महमूद की तुलना मे अधिक श्रेष्ठ रहा। भारत मे उसने राजनीतिक दूरदर्शिता का भी परिचय दिया। उसका एक उद्देश्य यह रहा कि हिन्दू राजा मिलकर कोई संगठन न बना पायें। इस कारण उसने उनसे सहयोग प्राप्त करने का प्रयत्न किया। अजमेर में पृथ्वीराज के पुत्र और दिल्ली मे गोविन्दराय के पुत्र को शासन सौंपने मे उसका यही अभिप्राय था। मुख्य स्थानो पर अधिकार करने और विभिन्न स्थानो पर सैनिक-चौकियों को स्थापित करने के अतिरिक्त उसने अधीनस्थ हिन्दू राजाओं के शासन और स्थिति में परिवर्तन नही किया। **मुहम्मद गोरी मानव-चरित्र का अच्छा पारखी था। योग्य व्यक्तियों को तलाश करना और उनसे कार्य लेना उसे आता था।** प्रो० हबीबुल्ला ने लिखा है कि "*यद्यपि वह एक राज्यवंश की स्थापना मे असफल हुआ परन्तु उसने कुछ ऐसे योग्य व्यक्तियो को शिक्षित किया जो उसके आदर्शों के प्रति उससे भी अधिक* वफादार और उसके साम्राज्य की सुरक्षा करने मे उससे भी अधिक योग्य सिद्ध हुए।"[2] ऐबक, यिल्दिज और कुबाचा जैसे व्यक्ति उसकी सफलताओ के लिए उत्तरदायी थे और गोरी ने ही उनको शिक्षित किया था। **मुहम्मद गोरी के लक्ष्य और चरित्र की दृढ़ता भी उसकी सफलता के लिए उत्तरदायी थी।** भारत मे एक नही बल्कि दो गम्भीर पराजय भी उसे उसके लक्ष्य से नही डिगा सकी। उसी प्रकार, पश्चिम की ओर से शक्तिशाली ख्वारिज्मशाह से अपनी प्रगति के मार्ग को रुका पाकर भी उसका उत्साह भंग नही हुआ और न उसने पूर्व की ओर अपनी प्रगति के उद्देश्य मे कोई कमी की। **मुहम्मद गोरी अपनी सम्पूर्ण योजना को एक सूत्र में बाँधता था, आवश्यकता के अनुसार उसमें परिवर्तन करता था, अपनी दुर्बलताओं को दूर करता था और राजनीति में अनावश्यक खतरे मोल नहीं लेता था। बल्कि, इसके विपरीत, वह बहुत सावधानी,**

1 "This 'hero of three stupendous defeats—Andkhud, Tarain and Anhilwara,' as Professor Habib calls him, has to his credit the establishment of one of the greatest empires of the middle ages, and in this he definitely rises above Mahmud of Ghazni." —Prof. K. A. Nizami

2 "*If he failed to found a dynasty, he yet trained up a band of men who were to prove more loyal to his ideals and better fitted to maintain his empire.*" —Prof. A. B. M. Habibullah

तत्परता और निश्चित योजना से कार्य करता था। अन्हिलवाड़ में पराजित होकर उसने अपने आक्रमण के मार्ग को बदल दिया। तराइन के प्रथम युद्ध में पराजित होकर वह द्वितीय युद्ध की जबर्दस्त तैयारी करके भारत आया और उसने अपने युद्ध के तरीके मे भी परिवर्तन कर दिया। **सेनानायक की दृष्टि से उसकी दृष्टि अपने समस्त सैनिक-अभियानों पर रहती थी।** भारत मे जब वह गोक्खरों के विद्रोह को दबा रहा था तब उसकी दृष्टि अपने मध्य-एशिया के अभियान पर भी थी और आक्सस नदी पर बन रहे किले की ओर उसका ध्यान था। इसी कारण गोरी जन्मजात सेनापति न होते हुए भी एक सफल विजेता हो सका। निस्सन्देह, **मुहम्मद गोरी भारत में मुस्लिम राज्य की नींव डालने वाला था** और यह उसकी एक बड़ी सफलता थी।

गोरी को शासन की ओर ध्यान देने का अवसर नही मिला और न उसने दिल्ली को अपनी राजधानी बनाया। वह गजनी और गोर का ही शासक रहा। भारत के राज्य को सगठित करने का उत्तरदायित्व उसके गुलाम और सूबेदार कुतुबुद्दीन ऐबक पर पड़ा। गोरी सस्कृति की प्रगति की ओर से भी उदासीन न था। उसने विद्वानों को सरक्षण दिया। फखरुद्दीन राजी तथा नजामी उरूजी उसके दरबार मे रहते थे। उसने और उसके भाई गियासुद्दीन ने गोर को सस्कृति और विद्वत्ता का केन्द्र बनाने का प्रयत्न किया था।

परन्तु मुहम्मद गोरी की मुख्य सफलता उसकी उत्तर भारत की विजय थी जिसे उसके गुलाम ऐबक ने भारत के मुस्लिम राज्य मे परिवर्तित कर दिया और जिसके कारण भारत के इतिहास मे एक नवीन अध्याय सम्मिलित हुआ।

[3]

11वीं और 12वीं सदी में मुसलमानों के विरुद्ध हिन्दू-राज्यों की हार के कारण

भारत ने इस्लाम की बढती हुई शक्ति का मुकाबला प्राय. 300 वर्षों तक अपनी उत्तर-पश्चिम की सीमा पर किया। अरबो का भारत पर आक्रमण सिन्ध और मुल्तान तक सीमित रहा और तुर्कों द्वारा काबुल, जाबुल, अफगानिस्तान तथा पजाब की विजय इस्लाम के लिए सरल सिद्ध नही हुई थी। यह एक गौरव की बात थी कि जिस इस्लाम ने एशिया, अफ्रीका और यूरोप के अधिकाश भाग और उसमे निवास करने वाली विभिन्न नस्लों तथा उनकी सभ्यताओ को जीतकर अपना अंग बना लिया, उसका मुकाबला हिन्दू एक लम्बे समय तक कर सके थे। परन्तु साथ ही साथ उत्तर-पश्चिम भारत की प्राचीर के टूट जाने के पश्चात् जिस प्रकार हिन्दू राज्यो की पराजय हुई, यह भी इतिहास की एक आश्चर्यजनक घटना है। 11वी और 12वी सदी में हिन्दू-राज्य जिस प्रकार महमूद गजनवी और मुहम्मद गोरी से पराजित हुए, वह अस्वाभाविक था। निस्सन्देह हिन्दुओ ने उसके पश्चात् भी निरन्तर सघर्ष किया और अन्त तक अपनी सस्कृति और सभ्यता की रक्षा करने मे सफलता पायी, जैसा कि इस्लाम के अधीन किसी अन्य प्रदेश मे सम्भव नही हुआ, परन्तु तब भी तुर्की आक्रमणों के आगे हिन्दू-राज्यो का इस प्रकार झुक जाना आश्चर्यजनक था। हिन्दू राजाओं में से

अनेक के राज्य गजनवी और गोरी के राज्यो की तुलना मे कम न थे, हिन्दू राजाओ के सैनिकों की संख्या तुर्की आक्रमणकारियों की सेना की सख्या से कम न थी, उनकी शक्ति भी कम न थी, जैसा कि गोरी की अन्हिलवाड़ तथा तराइन के युद्धों की पराजय से स्पष्ट होता है। शौर्य एवं साहस की दृष्टि से भी भारतीय दुर्बल न थे परन्तु तब भी अन्त मे *विजय तुर्कों की ही हुई, यह सभी इतिहासकारो की जिज्ञासा का कारण रहा है।* **वह कौन-से कारण थे जो तुर्कों के विरुद्ध हिन्दू राजाओं की हार के कारण बने? विभिन्न इतिहासकारों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से इसका उत्तर दिया है और यदि वे एकमत भी हो गये हैं तो किसी ने किसी एक कारण पर अधिक बल दिया है तो किसी ने किसी दूसरे कारण पर।**

इन कारणो को जानने मे कठिनाई भी है। तत्कालीन विद्वान हसन निजामी, मिनहाजुस सिराज और फक्र-ए-मुदब्बिर ने इन कारणो पर कोई प्रकाश नही डाला और मध्य-युग के किसी भी इतिहासकार ने इन कारणो को खोजने की गम्भीर चेष्टा नही की। *इस कारण आधुनिक इतिहासकारो ने हिन्दू राजाओ की पराजय के जो* विभिन्न कारण बताये हैं वह अपनी-अपनी सहज बुद्धि, अध्ययन और तर्क के आधार पर बताये है। इस कारण उनमें मतभेद होना स्वाभाविक है। **अंग्रेज इतिहासकारों** ने तुर्कों की एकता, उनका बहादुर होना, उनका ठण्डे देश का निवासी होना, उनका मास खाना, उनमें धार्मिक जोश का होना आदि तुर्कों की सफलता के कारण बताये है। **एलफिन्सटन** ने लिखा है कि गोरी की सेना मे आक्सस और सिन्ध नदी के बीच के प्रदेशों के लड़ाकू सैनिक थे और उन्हें *सल्जूक-तुर्कों तथा तातारों से लड़ने* का अभ्यास था। इस कारण हमें उनके विरुद्ध ऐसे व्यक्तियों (भारतीयो) से कोई *आशा नही करनी चाहिए जो शान्तिप्रिय थे, छोटे राज्यो में बँटे हुए थे और जो बिना* किसी लाभ या विजय की लालसा के युद्ध करते थे। इसी प्रकार के विचार लेनपूल ने प्रकट किये और **विंसेण्ट स्मिथ** ने भी लिखा कि "आक्रमणकारी अच्छे योद्धा थे *क्योंकि वे उत्तर के शीत-प्रधान देश से आये थे, मांसाहारी थे तथा युद्ध-कला मे दक्ष* थे।" परन्तु यह विचार आधुनिक समय मे स्वीकार नही किया जाता है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि भारतीय सैनिक साहस और बहादुरी में किसी भी देश के सैनिकों से कम नही रहे। राजपूत-शौर्य और साहस की कहानियाँ तो ससार में प्रसिद्ध है। ठण्डा देश अथवा मास खाना व्यक्ति को शूरवीर बनाता है, यह वैज्ञानिक आधार पर गलत सिद्ध हो चुका है और शरीर के आकार या नस्ल के आधार पर कोई व्यक्ति साहसी और कर्मठ सैनिक होता है, यह तर्क भी अनुभव और विज्ञान के आधार पर स्वीकार नही किया जाता।

सर जदुनाथ सरकार ने *समानता और सामाजिक एकता, भाग्यवादिता और* अल्लाह मे विश्वास तथा मुसलमान सैनिकों का शराब न पीना तुर्कों की सफलता के मुख्य कारण बताये। **प्रो० के. ए. निजामी** ने हिन्दुओ की सामाजिक व्यवस्था और जाति-भेद के अन्तरों को जिनके कारण हिन्दुओं की सम्पूर्ण सैनिक-व्यवस्था दुर्बल हो गयी थी, इसका मुख्य कारण बताया। **श्री रोमेशचन्द्र दत्त** ने उस समय की गिरी हुई

राजनीतिक और सामाजिक स्थिति को इसका मुख्य कारण बताया। **सरदार के. एम. पाणिक्कर** ने विदेशों से भारत का सम्पर्क न होना और समाज, धर्म, साहित्य, कला आदि की दृष्टि से भारत की पतनोन्मुख सभ्यता को इसके लिए उत्तरदायी बताया। **डॉ० आर. सी. मजूमदार** ने आन्तरिक दुर्बलताओं को इसके लिए दोषी ठहराते हुए जाति-व्यवस्था, ब्राह्मणवाद का उत्थान और स्त्रियों की हीन स्थिति पर बल दिया। **डॉ० के. एस. लाल** ने राजनीतिक एकता के अभाव से उत्पन्न सामाजिक उच्छृंखलता और विभाजन को स्पष्ट करते हुए गुप्तचर विभाग की कमी और रणनीति की दुर्बलता पर बल दिया है। **डॉ० ए. एल. श्रीवास्तव** ने राजनीतिक एकता का अभाव, सामाजिक विभेद, ब्राह्मणवाद का उत्थान, नैतिक पतन और भारतीयों की तुलना में तुर्कों का रणनीति, सैनिक-संगठन, साधन आदि की दृष्टि से श्रेष्ठ होना इसका कारण बताये हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि **विभिन्न विद्वानों ने राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, नैतिक, सैनिक और आर्थिक आदि सभी कारणों पर प्रकाश डाला है। इस आधार पर तुर्कों के विरुद्ध भारतीयों की पराजय के निम्नलिखित कारण माने जाते हैं :**

1. भारत की **राजनीतिक दुर्बलता** उसकी पराजय का कारण थी। राजनीतिक दुर्बलता का कुप्रभाव सामाजिक, नैतिक और सैनिक स्थिति पर भी पड़ा था। **राजनीतिक एकता का अभाव और सम्पूर्ण अथवा उत्तर भारत में भी एक शक्तिशाली और विस्तृत साम्राज्य का न होना इस दुर्बलता का एक कारण था, परन्तु यह उसका मुख्य कारण नहीं था।** सम्राट अशोक के पश्चात् भारत में कभी भी राजनीतिक एकता न हो सकी थी। शक्तिशाली गुप्त-सम्राट और सम्राट हर्ष भी उस दृष्टि से भारत को राजनीतिक एकता प्रदान नहीं कर सके थे। प्राचीन और मध्य-युग की उन परिस्थितियों में भारत जैसे विशाल महाद्वीप को एक राज्य में सगठित करने के प्रयत्न सफल भी नहीं हो सकते थे बल्कि इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब कभी भी इस बात का प्रयत्न किया गया, वह असफल हुआ। इस प्रकार सम्पूर्ण भारत की राजनीतिक एकता न तो साधारणतया सम्भव थी और न आवश्यक। निस्सन्देह भारत उस समय विभिन्न राज्यों में बँटा हुआ था परन्तु उनमें से अनेक राज्य शक्ति, समृद्धि, विस्तार और सैनिक-बल में गजनवी और गोरी के राज्यों से कम नहीं थे। इस कारण **राजनीतिक दुर्बलता का मुख्य कारण एक राज्य का अभाव नहीं बल्कि भारतीय राज्यों की निरन्तर पारस्परिक प्रतिस्पर्धा और शत्रुता थी।** धर्म द्वारा दिग्विजय स्वीकृत थी और राजपूत-शौर्य और अभिमान युद्धों के अनुकूल था। इस कारण ये विभिन्न राजपूत-राज्य आपस में निरन्तर युद्ध करते रहते थे। इनमें से बहुतों का संघर्ष वंशानुगत था और बहुत-से केवल यश की भावना से युद्ध करते थे। इन निरन्तर संघर्षों के कारण वे विदेशी शत्रु के सम्मुख अपने राज्य, धर्म और संस्कृति की रक्षा के लिए इकट्ठे न हो सके और न विदेशी आक्रमण की सफलता के प्रभाव को ठीक प्रकार समझ सके। इसके अतिरिक्त निरन्तर युद्धों में लगे रहने के कारण वह अपने सैनिक-बल को भी क्षति पहुँचाते रहते थे।

कुछ इतिहासकारों का यह कहना है कि भारत की नौकरशाही (Bureaucracy)

के नैतिक पतन ने इस पराजय में भाग लिया था। परन्तु यह माननीय नहीं है। भारतीय नौकरशाही अन्य समय की भांति न तो पूर्णतया दोष-रहित थी और न पूर्णतया दोषपूर्ण ही। नौकरशाही से उत्पन्न शासन-कुव्यवस्था इस पराजय का कारण नही हो सकती थी और न नौकरशाही पर देश-द्रोह का अपराध लगाया जा सकता है। यदि मुसलमानों के साथ किसी ने सहयोग किया था तो वह भारतीय नौकरशाही न थी बल्कि मुख्यतया बौद्ध-मतावलम्बी और निम्न जातियाँ थीं जो हिन्दू समाज की कट्टरता और सामाजिक असमानता से असन्तुष्ट थीं।

भारतीय राज्यों की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा के अतिरिक्त उनकी राजनीतिक दुर्बलता का मुख्य कारण राजपूतों की जागीरदारी प्रथा (Feudalism) थी जिसने भारत को आर. सी. दत्त के शब्दों में "राजनीतिक पतन की अन्तिम श्रेणी पर पहुँचा दिया था।"[1] प्रत्येक जागीरदार अपने कुल और जागीर का स्वामी था और वह उसकी रक्षा तथा उसके सम्मान में वृद्धि करना अपना प्रमुख कर्तव्य समझता था। इससे न केवल राजपूतों की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा को प्रोत्साहन मिलता था बल्कि ऐसे जागीरदारों की सेनाओं से मिलाकर बनी हुई एक राजपूत राजा की सेना विभिन्न अलग-अलग टुकडों को जोडकर बनायी गयी ऐसी सेना होती थी जिसमे एकता, एक नेतृत्व और सैन्य-संचालन का अभाव होता था। ऐसी सेना मे मूल आधार पर दोष था, इसे अस्वीकार नही किया जा सकता। जागीरदारी-व्यवस्था राज्य की आर्थिक, प्रशासनिक और सैनिक एकता के विरुद्ध थी। निस्सन्देह विभिन्न छोटे-छोटे जागीरदारों और हिन्दू राजाओं ने मुसलमानों का विभिन्न स्थानों पर कठोर मुकाबला किया परन्तु उनकी शक्ति इकट्ठी होकर कभी भी शत्रु के विरुद्ध प्रयोग मे न लायी जा सकी। जयपाल और पृथ्वीराज को जो सहयोग आक्रमणकारियों के विरुद्ध प्राप्त हुआ था वह संगठित शक्तिशाली राजाओं का सहयोग न था बल्कि विभिन्न छोटे-छोटे राजाओं, रायों और जागीरदारों का सहयोग था जिसके कारण वे आशातीत सफलता न पा सके।

2. सामाजिक दुर्बलता भारतीयो की पराजय का एक अन्य कारण थी। जाति-व्यवस्था, छुआ-छूत, ऊँच-नीच की भावना और स्त्रियों की हीन स्थिति इस दुर्बलता के मुख्य कारण थे। हर्ष के साम्राज्य के पतन के पश्चात् राजनीतिक एकता के अभाव में भारतीय समाज पतन की ओर अग्रसर हो गया था और 11वीं तथा 12वीं सदी तक बहुत दुर्बल स्थिति में पहुँच गया था। मुसलमानी आक्रमणों से पहले उसकी दुर्बलता प्रकट नहीं हुई थी परन्तु उनके आक्रमणों के आरम्भ होते ही उसकी दुर्बलता नग्न हो गयी। ब्राह्मणवाद के पुनरुत्थान ने जाति-व्यवस्था, छुआ-छूत और ऊँच-नीच की भावना को प्रोत्साहन दिया। राजपूतों ने भी इसमें सहयोग दिया क्योंकि वे ब्राह्मणों के समर्थन के कारण क्षत्री-वंशीय स्वीकार किये गये थे। ऐसी स्थिति में धर्म और शासन दोनों ने सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के स्थान पर उनका समर्थन किया। जाति-व्यवस्था की जटिलता ने ब्राह्मणों की श्रेष्ठता का दावा किया तथा वैश्य और शूद्र ही नहीं अपितु

---

1 "India was then in the last stage of her political decline." —R. C. Dutt.

क्षत्रियों को भी उनके स्थान से अपदस्थ करने का प्रयत्न किया। अन्तर्जातीय-विवाह, खान-पान और जाति-परिवर्तन बहुत जटिल हो गये। समाज एक-दूसरे से पूर्णतया पृथक् विभिन्न वर्गों में बँट गया। निम्न जातियों की स्थिति बहुत गिर गयी और विभिन्न पददलित जातियों को नगरों से बाहर रहने के लिए बाध्य किया गया। हिन्दू समाज अपनी उस उदारता को भूल गया जिसके कारण उसने विभिन्न विदेशियों को अपने समाज मे सम्मिलित करके उससे लाभ उठाया था। अब विदेशियों से तो क्या विभिन्न जातियो में भी पारस्परिक सहयोग सम्भव न था। छुआ-छूत इतनी अधिक बढ गयी कि जो व्यक्ति एक बार जाति और धर्म से अलग हो गया अथवा किसी मजबूरी के कारण विधर्मियो के सम्पर्क मे आ गया उसके लिए अपने समाज और धर्म में पुनःस्थान प्राप्त करना असम्भव हो गया। स्त्रियों की स्थिति भी गिर गयी। अल्पायु-विवाह होने लगे, स्त्री-शिक्षा कम हो गयी, लड़की का जन्म दुखद माना जाने लगा, उच्च जातियो मे विधवा-विवाह असम्भव हो गये और सम्भवतया झूठे दम्भ, जबर्दस्ती लादी गयी नैतिकता, पुनर्विवाह का न होना आदि के कारण सती-प्रथा आरम्भ हुई। **ऐसा गतिहीन और विभाजित समाज राजनीतिक और सैनिक शक्ति के संचित करने योग्य न था। हिन्दुओं का बहुसंख्यक वर्ग देश की राजनीति और भाग्य के प्रति उदासीन हो गया था।** डॉ० आर. सी. मजूमदार ने लिखा है कि "विदेशियो के विरुद्ध जनता का कोई विद्रोह नहीं है और न उनकी प्रगति को रोकने के लिए सम्मिलित प्रयत्न किये जाते है। जबकि आक्रमणकारी उनकी लाशो के ऊपर से गुजर रहा होता है उस समय भारतीय एक अपंग शरीर की भाँति असहाय होकर उसे देखते रहते है।"[1] डॉ० के. ए. निजामी ने लिखा है कि जाति-व्यवस्था ने राजपूत-राज्यों की सैनिक शक्ति को दुर्बल किया क्योकि युद्ध करना एक विशेष वर्ग का कर्तव्य समझा गया। उन्होने लिखा है कि "भारतीयो की पराजय का मुख्य कारण उनकी सामाजिक व्यवस्था और अन्यायपूर्ण जाति-भेद थे जिन्होने उनके सम्पूर्ण सैनिक-सगठन को अरक्षित और दुर्बल बना दिया। जाति-भेद और बन्धनों ने सामाजिक और राजनीतिक एकता की भावना को पूर्ण नष्ट कर दिया।"[2] डॉ० के. एस. लाल ने लिखा है कि **जाति-भेदों पर आधारित समाज में से शत्रुओं को गुप्त देशद्रोहियों का मिलना बहुत सरल था।** यह एक ऐसा कारण था जिससे 15 वर्षों मे ही उत्तर भारत के सभी महत्वपूर्ण नगर विजेताओं के हाथो मे चले गये। युद्ध मे मुसलमानो को कठिन सघर्ष करना पड़ता था परन्तु उसके पश्चात् सभी कुछ सरल हो जाता था क्योकि नगरों और गाँवो मे उनका विरोध करने वाला कोई न था। उन्होने लिखा है कि यदि एक बार एक नगर

1 "No public upheaval greets the foreigners, nor are any organised efforts made to stop their progress. Like a paralysed body, the Indian people helplessly look on, while the conqueror marches on their corpse."

2 [illegible]

—Prof. K. A. Nizami

मुसलमानों के हाथों में चला जाता था तो हिन्दुओं का उसे जीतना कठिन हो जाता था क्योंकि जाति-विभेद से पीड़ित हिन्दू-समाज के अधिकांश व्यक्ति हिन्दू-शासन की अपेक्षा जाति-विभेद से मुक्त मुस्लिम शासन को अन्य अनेक कठिनाइयों के होते हुए भी पसन्द करते थे। इसके अतिरिक्त जिन हिन्दुओं को मुसलमान पकड़ लेते थे, उनका हिन्दू-समाज मे सम्मिलित होना असम्भव था। इस कारण जो भी स्त्री, पुरुष और बच्चे एक बार मुसलमानों के हाथो में पड़ जाते थे उनके पास मुसलमान बने रहने के अतिरिक्त कोई अन्य मार्ग न था।

3. धर्म में गिरावट भी इसका एक कारण था। हिन्दू धर्म ने ससार के सम्मुख एक व्यक्ति का आदर्श, नैतिक और सामाजिक जीवन प्रस्तुत किया है। वास्तव में हिन्दुओं के अनुसार धर्म की परिभाषा कर्तव्य है जो एक व्यक्ति को समाज और मानवता के लिए उपयोगी व्यक्ति बनाता है। इसी कारण हिन्दू धर्म एक धार्मिक ग्रन्थ, एक दर्शन, एक ईश्वर, एक संगठन, एक प्रार्थना-स्थान अथवा एक देवता की मूर्ति-पूजा पर आधारित नहीं है जो प्रत्येक धर्म (Religion) की साधारण आवश्यकताएँ हैं। इसी कारण हिन्दू धर्म अत्यधिक उदारता पर आधारित है। हिन्दू धर्म की यह उदारता उसकी दुर्बलता और समय के अनुसार उसकी गिरावट का कारण भी बनी। संस्कृत भाषा के अध्ययन की कठिनाई और ब्राह्मणों के धार्मिक एकाधिपत्य ने जन-साधारण को धर्म से पृथक कर दिया और उसकी उदारता ने उसे विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों में विभाजित कर दिया। इससे धर्म की एकता नष्ट हो गयी, सत्य धर्म से जन-साधारण पृथक हो गया, कर्मकाण्ड और मूर्ति-पूजा ही धर्म में प्रमुख बन गये, वाम-मार्ग और तान्त्रिकवाद पनप गये और धर्म में विशृंखलता आ गयी। धार्मिक एकता के अभाव में सामाजिक एकता भी सम्भव न हुई और भारत में 'भारत संकट में है' अथवा 'भारत का धर्म या समाज अथवा संस्कृति संकट में है', यह भावना विदेशी आक्रमणकारी की विध्वंसकारी नीति के विरोध में भी उत्पन्न न हो सकी और भारतीय प्रत्येक प्रकार से विभाजित रहे। कर्मकाण्ड, तन्त्रविद्या और मूर्ति-पूजा ने हिन्दुओं को धर्म की मुख्य भावना से विमुख कर दिया जिससे उनमें मानव-जीवन और मानव-कर्तव्य के प्रति आस्था न रही और वे मानव-प्रगति में पिछड़ गये।

4. समाज और धर्म की इस स्थिति ने भारतीयों को विदेशों की प्रगति से अनभिज्ञ रखा। ऐसा नहीं था कि भारत का विदेशों से सम्पर्क न था परन्तु भारतीय विदेशों से कुछ भी सीखने को तैयार न थे। अल बरूनी का यह लिखना कि 'भारतीय अपने धर्म और संस्कृति को ही श्रेष्ठ समझते हैं' यह साबित करता है कि भारतीय कितने दम्भी और उसके परिणामस्वरूप कितने एकाकी हो गये थे। इसी कारण भारतीय विदेशी राजनीति के प्रति उदासीन रहे, विदेशी सैन्य-कौशल और शस्त्र-विद्या से अपरिचित रहे, इस्लाम की मूल भावना और उसके प्रभाव से अनभिज्ञ रहे, उत्तर-पश्चिम की सीमाओं की सुरक्षा की ओर से असावधान रहे और अपने जीवन, कौशल, योग्यता और प्रतिभा को कुण्ठित और सीमित करते चले गये।

5. भारत की नैतिकता, कला, साहित्य और सम्पूर्ण संस्कृति को भी इन

परिस्थितियों ने प्रभावित किया । सरदार के एम. पाणिक्कर ने इस स्थिति पर काफी प्रकाश डाला है और सास्कृतिक गिरावट को भारतीयों की पराजय का एक मुख्य कारण बताया है । डॉ० ए एल. श्रीवास्तव ने भी नैतिक गिरावट को इसका एक कारण बताया है । वाम-मार्ग का विस्तार, मन्दिरो में देवदासी-प्रथा, मठों और विहारो में अनाचार आदि इस गिरती हुई नैतिकता के प्रमाण थे । कला के क्षेत्र मे कोणार्क, खजुराहो यहाँ तक कि पुरी, चित्तौड, उदयपुर आदि के मन्दिरो मे बनी हुई विभिन्न मूर्तियाँ इस बात का प्रमाण है कि धर्म और समाज की गिरती हुई नैतिकता ने कला को भी प्रभावित किया था । तान्त्रिक-साहित्य, काव्य मे गिरावट और अश्लील पुस्तकों की रचना साहित्य की गिरावट के सबूत थे । इस कारण अनेक इतिहासकार इस युग को सास्कृतिक गिरावट का युग मानते है और उसे भारत की पराजय का एक कारण स्वीकार करते है ।

6. *आर्थिक दृष्टि से भारत सम्पन्न था । कृषि वैज्ञानिक ढंग से होती थी* और सिचाई की व्यवस्था थी । विभिन्न खाद्यान्नों के उत्पादन के अतिरिक्त मगध चावल के लिए, कश्मीर अगूर और केसर के लिए, कनारा-तट चन्दन के लिए और मलाबार-तट गर्म मसालों के लिए प्रसिद्ध था । पाण्ड्य राज्य मोतियो के लिए, गुजरात सूती और चमडे के वस्त्रो के लिए और वारगल सूती वस्त्रों के लिए प्रसिद्ध था । मलावार और गुजरात के बन्दरगाह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए प्रसिद्ध थे और भारत का व्यापार चीन, जावा, सुमात्रा, अरब आदि पूर्व, दक्षिण-पूर्व और पश्चिम के दूरस्थ प्रदेशो से हुआ करता था । इस सभी से भारत में धन सचित होता था । राजाओ, राज-दरबारो और मन्दिरों का वैभव इसका प्रमाण थे । कुछ इतिहासकारों ने आर्थिक असमानता पर बल देते हुए उसे भारतीयो की दुर्बलता का कारण बताया है । परन्तु उससे अधिक **भारतीयों की दुर्बलता का कारण इस आर्थिक सम्पन्नता का सदुपयोग न करना था । उन्होने इसका उपयोग सैनिक-शक्ति को बढ़ाने के लिए नहीं किया जिससे इसकी सुरक्षा हो पाती बल्कि उन्होने इसे राज्य-परिवारो और मन्दिरों में संग्रह कर दिया जिसके कारण ये स्थान विदेशी आक्रमणकारियों की धन-लोलुपता का कारण बने ।**

इस प्रकार राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, नैतिक और सास्कृतिक दुर्बलता और आर्थिक सम्पन्नता का ठीक प्रयोग न करना भारतीयों की पराजय के कारण थे । इस कारण डॉ० आर. सी. मजूमदार का यह कथन काफी ठीक है कि "अपने शत्रु की तुलना मे श्रेष्ठ और विस्तृत साधनों से सम्पन्न होते हुए भी एक इतने प्राचीन और विस्तृत देश का इतनी शीघ्रता और पूर्णता से धराशायी हो जाने का मुख्य कारण उसकी आन्तरिक गिरावट का परिणाम ही हो सकता है, न कि केवल विदेशी आक्रमण जो उसके परिणाम तो थे कारण नही ।"[1]

---

1 [illegible]
were its effect rather than the cause." —Dr. R. C. Mazumdar

परन्तु डॉ० यू. एन. घोषाल इन सभी कारणों उपर्युक्त विस्तृत रूप से प्रकाश डालते हुए लिखते हैं कि राजनीतिक एकता के अभाव और जन-साधारण की देश के भाग्य के प्रति उदासीनता को बढ़ा-चढ़ा कर बताया गया है। राजपूतों का कठोर संघर्ष करना और उनके पतन के बाद भी भारतीयों का निरन्तर मुसलमानों से संघर्ष करते रहना ऐसे प्रमाण है जो इन कारणों के महत्व को कम कर देते हैं।[1] इसी प्रकार गिरती हुई धर्म, समाज, संस्कृति और नैतिकता की स्थिति को भी बहुत बढ़ा-चढ़ाकर बताया गया है। वास्तव में, तान्त्रिकवाद ने दुर्बलता के स्थान पर जन-साधारण की धार्मिक भावना को सन्तुष्ट करके उनमें विदेशी शत्रु से मुकाबला करने की शक्ति का निर्माण किया। देवदासियों की प्रथा भी नवीन न थी बल्कि यह हमें प्राचीन समय से प्राप्त होती है। इसी प्रकार जटिल सामाजिक व्यवस्था ने हमारी संस्कृति की रक्षा में महत्वपूर्ण भाग लिया, इसमें कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार कला और साहित्य की दृष्टि से इस समय में प्रगति न हुई हो, यह स्वीकार नहीं किया जा सकता। कला और मुख्यतया स्थापत्य-कला की दृष्टि से तो यह युग महान् प्रगति का था। एक नहीं बल्कि राजपूत-युग के बने हुए अनेक मन्दिर, महल और किले सम्पूर्ण उत्तर और दक्षिण भारत में बिखरे हुए थे। उड़ीसा का मुक्तेश्वर का मन्दिर, भुवनेश्वर का लिंगराज का मन्दिर, कोणार्क का सूर्य-मन्दिर, खजुराहो के विभिन्न मन्दिर, गुजरात का सोमनाथ का मन्दिर, तंजौर का राजराजा का मन्दिर, होयसलेश्वर का मन्दिर आदि तो कुछ उदाहरण मात्र थे अन्यथा उत्तर भारत के विभिन्न राजपूत-शासकों और दक्षिण के पल्लव, चोल और चालुक्य शासकों के संरक्षण में बने हुए महल, मन्दिर, किले और मूर्तियां भारतीय कला की श्रेष्ठतम उपलब्धियां मानी गयी हैं। वाम-मार्ग से प्रभावित कामसूत्र पर आधारित खजुराहो अथवा कुछ अन्य स्थानों पर बनी हुई मूर्तियां इस युग की कला को निम्न कोटि का साबित करने के लिए काफी नहीं हैं। इसके विपरीत, उस समय में स्थापत्य-कला, मूर्ति-कला और चित्रकला की विभिन्न शैलियां भारत में प्रगति पर थीं। साहित्य में काव्य-शैली की गिरावट और कुछ शृंगार-ग्रन्थों की रचना-मात्र से साहित्यिक गिरावट को पूर्ण मान लिया जाय, ऐसी बात भी नहीं है। *कल्हण की 'राजतरंगिणी' और जयदेव का 'गीत-गोविन्द' इसी समय में लिखे गये* थे। हलायुध, हेमचन्द्र, रामानुज, गणेश, श्रीधर, यादवप्रकाश, विजननेश्वर, देवननभट्ट आदि विभिन्न विद्वान इसी समय में हुए जिन्होंने दर्शन, न्याय, कानून आदि पर विभिन्न ग्रन्थों की रचना की। इसी प्रकार अनैतिकता का समाज में प्रवेश न कोई नवीनता थी और न एक सम्पन्न समाज की कोई मुख्य विशेषता। इस कारण भारतीय सभ्यता और संस्कृति की गिरावट न तो पूर्ण थी और न उसे मूल रूप से भारतीयों की पराजय का कारण स्वीकार किया जा सकता है। यह कहना एक अतिशयोक्ति है कि प्रायः 500 वर्षों तक संसार से पृथक् रहने के कारण भारतीय सभ्यता गतिहीन होकर पतन की पराकाष्ठा पर पहुंच चुकी थी और वही भारतीयों की पराजय का कारण बनी। इस प्रकार, डॉ० यू. एन. घोषाल राजनीतिक और सांस्कृतिक दुर्बलता को स्वीकार करते हुए भी उसे भारतीयों की पराजय के कारणों में प्रमुख स्थान नहीं देते।

डॉ० यू. एन. घोषाल के उपर्युक्त विचार अत्यन्त तर्कपूर्ण हैं। इस कारण **यह माना जा सकता है कि सामन्तवाद और पारस्परिक प्रतिस्पर्धा पर आधारित भारत की राजनीतिक स्थिति किसी शक्तिशाली आक्रमणकारी का मुकाबला करने की स्थिति में न थी यद्यपि वही हिन्दुओं की हार का एकमात्र कारण नहीं थी।** इसी प्रकार भारत की सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक स्थिति किसी शक्तिशाली आक्रमणकारी के विरोध मे एकता, उत्साह और उस राष्ट्रीय बल को प्रदान करने में तो असमर्थ थी जो भारतीयों की अन्य दुर्बलताओं को ढक देती क्योंकि यह सत्य है कि एक समाज, राज्य अथवा राष्ट्र की आत्मा और उसकी शक्ति का मूल आधार उसकी सभ्यता और जीवन की मूल मान्यताएँ होती हैं परन्तु वह स्थिति असहायता की भी न थी। इस कारण **यह कहना भी ठीक है कि भारतीय सभ्यता में दुर्बलताएँ तो थीं परन्तु वह पूर्णतया शक्तिहीन भी न थी। भारतीय सभ्यता की दुर्बलता इस बात से स्पष्ट होती है कि वह आक्रमणकारियों की सफलता में बाधा न डाल सकी और उसकी शक्ति इस तथ्य से प्रकट होती है कि पराजित होने के पश्चात् भी वह मुसलमानों से सदियों तक संघर्ष कर सकी और अन्त तक जीवित रही।**

7. इस कारण भारतीयों की पराजय का एक अन्य मुख्य कारण था। भारत के भाग्य का निर्णय कुछ युद्धों की पराजय से हुआ। **इस कारण भारतीयों की पराजय का एक मूल कारण उनकी सैनिक-दुर्बलता थी चाहे उस सैनिक-दुर्बलता के मूलभूत कारण कुछ भी रहे हों। सभी इतिहासकार यह स्वीकार करते हैं कि तुर्क-आक्रमणकारी सैनिक-संगठन, युद्ध-नीति, शस्त्र और योग्य नेतृत्व की दृष्टि से भारतीयों की तुलना में अधिक श्रेष्ठ सिद्ध हुए।** वही उनकी सफलता का मुख्य कारण बना। महमूद गजनवी किसी भी युद्ध मे पराजित नही हुआ और मुहम्मद गोरी की अन्हिलवाड और तराइन के प्रथम युद्ध की पराजय एक अपवाद की भाँति रही। अन्त मे सफलता उसी के हाथों मे रही। भारतीयों की सैनिक-दुर्बलता के विभिन्न कारण बताये जाते है। राजपूत साहस और शौर्य मे तुर्कों से कम न थे और युद्ध मे वीरगति प्राप्त करना वे अपना गौरव मानते थे। **परन्तु उनका युद्ध करने का आदर्श और लक्ष्य तुर्कों से भिन्न था। राजपूत-राजा हिन्दू-परम्परा के अनुसार कुछ नियमों का पालन करते हुए युद्ध करते थे चाहे युद्ध में विजय हो अथवा पराजय।** धोखे से आक्रमण करना, पीने योग्य जल मे जहर मिलाना, कृषि को नष्ट करके शत्रु को रसद प्राप्त न होने देना, पीछे से अथवा अकस्मात आक्रमण करना आदि तरीकों का प्रयोग राजपूतों ने अपने मुसलमान शत्रुओं के विरुद्ध भी नही किया। इसके विपरीत, **मुसलमान-तुर्कों का लक्ष्य युद्ध मे विजय प्राप्त करना था चाहे उसके साधन कुछ भी हों।** इस कारण वे युद्ध मे विजय प्राप्त करने के लिए उपर्युक्त सभी प्रकार के साधनो का प्रयोग करते थे। इसी प्रकार जबकि मुसलमान-सैनिक युद्ध मे सावधान रहते थे, **राजपूत-सैनिक युद्ध को शौर्य प्रदर्शन का एक मंच मानते थे।** प्रो० हबीबुल्ला ने लिखा है कि "राजपूत की खतरे के प्रति उदासीनता मे प्रेम-आकर्षण का तत्व है परन्तु उसमे व्यावहारिक बुद्धिमता के

कमी है।"[1] इसी प्रकार डॉ० घोपाल ने लिखा है कि "मुख्यतया राजपूत यद्यपि वहादुरी और मृत्यु के प्रति अवहेलना की दृष्टि से अद्वितीय थे, परन्तु एक आदर्श योद्धा और सैनिक-सम्मान की ऐसी भावना से प्रेरित थे जो उन्हें युद्ध मे व्यावहारिक सफलता प्राप्त करने के लिए अक्सर अयोग्य वना देती थी।"[2] **तुर्कों की तुलना में राजपूतों का सैनिक-संगठन दुर्बल था।** राजपूतो का सैनिक-सगठन सामन्तवादी था और सैनिक अपने-अपने सामन्त की सरक्षता मे युद्ध करते थे। ऐसी सेना एक निश्चित योजना के अनुसार युद्ध करने मे असमर्थ थी *जवकि तुर्कों की सेना विभिन्न वर्गों और नस्लो के* व्यक्तियों के सम्मिलन से बनी हुई होने पर भी एक सेनापति के संरक्षण मे, एक अनुशासन मे और एक योजना के अनुसार युद्ध करती थी। **तुर्कों की तुलना में राजपूतों के युद्ध के साधन भी दुर्बल थे।** राजपूत-सेना का एक मुख्य अंग हाथी थे जो सेना के सवसे आगे रहते थे। अनेक अवसरों पर हाथी राजा को युद्ध-स्थल से लेकर भाग जाते थे जिससे राजा को भागता हुआ जानकर सेना भी भाग जाती थी। इसके अतिरिक्त तुर्कों के तीरो से घायल होकर हाथी अक्सर पीछे भागते थे और अपनी ही सेना की व्यवस्था को नष्ट कर देते थे। राजपूत-सेना में घुडसवारों की संख्या कभी अधिक न हो सकी यद्यपि भारत के राजा विदेशो से अच्छी नस्ल के घोडे मँगाने पर वहुत धन व्यय करते थे। राजपूतो का मुख्य शस्त्र तलवार थी जो निकट के युद्ध मे ही लाभदायक थी। इनकी तुलना मे **तुर्कों का मुख्य साधन घुड़सवार-सेना और उनके तीर थे।** छोटे-छोटे धनुषों का प्रयोग करते हुए तुर्की घुडसवार तीर चलाने की कला मे दक्ष थे और दूर से ही शत्रु पर आक्रमण कर सकते थे। आर. सी स्मेल ने लिखा है कि "वे घोड़ो की पीठ पर बैठे हुए और गतिशील रहते हुए धनुष का प्रयोग करते थे। यह उन्हे भारी और धीमी गति से चलने वाली राजपूत-सेनाओ के मुकावले एक अतिरिक्त लाभ प्रदान करता था।"[3] राजपूत भी धनुष-वाण का प्रयोग करते थे परन्तु एक स्थान पर खड़े होकर, जिसके कारण उनकी तीरन्दाजी तुर्कों की तुलना मे कम प्रभावशाली थी। तुर्कों की घुड़सवार-सेना उनकी श्रेष्ठता का मुख्य साधन थी। उससे उनकी सेना तीव्र गतिगामिनी थी। डॉ० के. ए. निजामी ने लिखा है कि "उस युग में गतिशीलता तुर्की सैनिक-सगठन का मूल आधार थी। वह युग 'घोड़ों का युग' था और *अद्वितीय गतिशील तथा शस्त्र-सुसज्जित घुड़सवार-सेना उस युग की एक महान् आवश्यकता* थी।"[4] डॉ० जदुनाथ सरकार ने लिखा है कि उस युग में तुर्की घुड़सवार एशिया में

---

1 "Rajput recklessness has an element of romance in it but of little practical wisdom." —Prof. A. B. M. Habibullah.

2

2 "They used the bow from the saddle and while moving. This gave them an added advantage over the heavy and slow moving Rajput armies." —R. C. Smail.

4 "Mobility was the key-note of Turkish military organisation at this time. It was the 'age of horse' and a well-equipped cavalry with tremendous mobility was the great need of the time." —Prof. K. A. Nizami.

सर्वश्रेष्ठ माने जाते थे। वह लिखते है कि "सीमा पार के इन आक्रमणकारियो के शस्त्रो और घोडो ने उनको भारतीयो पर विवादरहित सैनिक-श्रेष्ठता प्रदान की। उनकी रसद भी तेज चलने वाले ऊँटो द्वारा ले जायी जाती थी जिनको स्वय दाने-चारे की आवश्यकता न थी बल्कि जिनका खाना मार्ग मे पड़ने वाली जड़ें और पत्तियाँ थी जबकि हिन्दुओ की रसद-वाहन बजारो की बैलगाड़ियाँ बहुत धीमी गति से चलने वाली और बोझिल होती थी।"[1] डॉ० पी. सी. चक्रवर्ती ने लिखा है कि "भारतीय घुडसवारो की कुशलता और सख्या की दृष्टि से विवादरहित दुर्बलता सुबुक्तगीन द्वारा भटिण्डा के जयपाल की सीमाओं पर किये जाने वाले आक्रमणों के समय से ही मौजूद थी।"[2] **तुर्कों की तुलना में राजपूतों की युद्ध-नीति भी दुर्बल थी।** राजपूत अपनी सेना को केवल तीन भागो मे बाँटते थे—केन्द्रीय भाग, दाहिना भाग और बायाँ भाग, जबकि तुर्कों की सेना इन तीन भागो के अतिरिक्त दो अन्य उपयोगी भागो मे भी बँटी होती थी। उनमे से एक उनका अग्रगामी भाग था जो आगे बढ़कर शत्रु-सेना की शक्ति को तोलता था, उसकी रसद को रोकता था और उसकी सख्या, उद्देश्य, स्थिति आदि का पता लगाता था। दूसरा भाग उनकी सुरक्षित सेना थी जो केवल कठिनाई के अवसर पर अथवा जिस समय शत्रु थक जाता था उस समय उस पर आक्रमण करती थी और अधिकाशतया युद्ध की सफलता के लिए उत्तरदायी होती थी। तुर्कों के युद्ध करने का एक तरीका यह भी था कि वे सहसा आक्रमण करते थे, कभी-कभी पीछे हटने अथवा भागने का प्रदर्शन करते थे और फिर अचानक आक्रमण करते थे। यह तुर्कों के 'सहसा आक्रमण' (Shock tactics) के तरीके थे जो उनकी सफलता का एक कारण थे। गजनवी और गोरी ने उनको बड़े पैमाने पर प्रयोग किया। आक्रमण करना, लूट-मार करना, वापिस चले जाना और एक या दो वर्ष के बाद फिर आक्रमण करना भी ऐसी ही रण-नीति थी। **राजपूतों की रण-नीति की एक मुख्य दुर्बलता उनकी रक्षात्मक नीति थी।** हिन्दूशाही-राज्य के राजा जयपाल के अतिरिक्त किसी भी अन्य हिन्दू राजा ने तुर्कों के विरुद्ध आक्रमणकारी नीति का पालन नही किया। यहाँ तक कि उन्होंने अपनी विजय से पूर्ण लाभ उठाने का प्रयत्न भी नही किया जैसा कि गुजरात के शासक मूलराज की अन्हिलवाड और पृथ्वीराज तृतीय की तराइन के प्रथम युद्ध की विजयें साबित करती है। **राजपूतों में योग्य नेतृत्व का अभाव रहा।** निस्सन्देह पृथ्वीराज तृतीय एक योग्य सेनापति था परन्तु वह उस युग मे एकमात्र अकेला था और वह भी गोरी की तुलना मे योग्य न था। महमूद गजनवी का तो किसी यशस्वी सेनापति से मुकाबला ही नही हुआ। महमूद अपने युग का महानतम सेनापति था और गोरी ने

1

2 "The apparent weakness of Indian horseman both in number and efficiency has been present ever since the raids of Subuktagin on the dominions of Jayapal of Bhatinda." —Dr. P. C. Chakravarti.

अपने अनुभव और कर्मठता से अपनी कमी की पूर्ति कर ली परन्तु भारत ने उस समय मे किसी भी जन्मजात, दूरदर्शी अथवा अनुभवी सेनापति को उत्पन्न नही किया। मध्य-युग मे युद्धो का निर्णय बहुत बडी मात्रा में सेनापति के व्यक्तित्व और उसकी योग्यता पर निर्भर करता था और भारत इस पक्ष से दुर्बल रहा। डॉ० यू एन. घोषाल ने लिखा है कि "सत्यता यह है कि भारतीय अपनी परम्परागत युद्ध-नीति को नवीन परिस्थितियो के अनुकूल बनाने मे (जैसा कि 17वी सदी मे शिवाजी ने किया) अपने सामाजिक और भौगोलिक एकाकीपन के कारण असफल नही हुए थे बल्कि इस कारण असफल हुए थे कि उनमे पर्याप्त प्रतिभा-सम्पन्न नेताओं की कमी थी।"[1] राजपूतो में **गुप्तचर-विभाग का पूर्ण अभाव था** जिसके कारण उन्हे अपने शत्रु की सेना और उसकी गतिविधियो की सूचना ठीक प्रकार और ठीक समय से प्राप्त नही होती थी और वे समय के रहते हुए सावधान नही हो पाते थे।

8. **राजपूतों की पराजय का एक मुख्य कारण भावनात्मक भी था। राजपूतों ने युद्ध किये परन्तु मुख्यतया अपने राजा और अपने राज्य की रक्षा के लिए।** धर्म की रक्षा एक सहायक कारण रहा होगा परन्तु हिन्दू और हिन्दू के अन्तरो तथा हिन्दू और बौद्धो के अन्तरो को देखते हुए वह कभी भी प्रबल न बन सका था। सम्मान की रक्षा भी एक कारण रहा होगा परन्तु युद्ध मे वीरगति पाने और जौहर करने से उसकी रक्षा सम्भव हो जाती थी। अपनी सभ्यता, सस्कृति और समाज की रक्षा का प्रश्न मुख्य नही बना होगा क्योकि न तो मुसलमानो से भारत मे स्थायी रूप से बस जाने की आशा की गयी थी और न इस्लाम के भारत मे प्रवेश करने के परिणामो की गम्भीरता को हिन्दू समझ सके थे। इस्लाम की धार्मिक कट्टरता धार्मिक दृष्टि से उदार हिन्दुओं के लिए पूर्णतया नवीन थी और उसका प्रभाव उन्हें बाद मे ही अनुभव हुआ। **इस कारण हिन्दुओ का युद्ध का लक्ष्य सीमित रहा। इसी कारण उनकी युद्ध की प्रेरणादायक शक्ति भी सीमित रही।** इसके विपरीत, नवीन इस्लाम धर्म का जोश और उसके सम्मान को बढाने की लालसा मुसलमानो मे मुख्य थी और वह भी इस्लाम धर्म मे नवीन-परिवर्तित तुर्कों मे। इस्लाम और उसकी प्रतिष्ठा को फैलाने की भावना ने तुर्कों को युद्धो मे वह प्रेरणा प्रदान की जिसका हिन्दुओ मे अभाव था। यद्यपि, इसके विपरीत, डॉ० के. ए. निजामी ने लिखा है कि "तुर्को की सफलता का कारण मुसलमानों के धार्मिक जोश मे तलाश करना अनैतिहासिक होगा।"[2] वह मुसलमानो के धार्मिक जोश को एक गौण और शीघ्र समाप्त हो जाने वाला कारण मानते है। परन्तु सभी इतिहासकार इस मत से सहमत नही है। निस्सन्देह धन की लालसा, लूट-मार की इच्छा और राज्य-विस्तार की आकाक्षा भी तुर्कों को प्रेरणा प्रदान करने वाले थे परन्तु

---

1 "In truth it was not for their social and geographical aloofness but for their want of leaders with sufficient talents that the Indians of the eleventh and twelfth centuries failed to adopt their time-honoured system of warfare (as Sivaji the Maratha was destined to do in the seventeenth century) to the requirements of the new situation " —Dr. U. N. Ghoshal.

2 "It would be unhistorical to seek an explanation of this Turkish success in the religious zeal of the Musalmans " —Dr. K. A. Nizami.

इस्लाम धर्म उनकी एकता और प्रेरणा का एक मुख्य आधार था, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में वह तुर्कों की सफलता का भी एक मुख्य कारण था, यह मानना ठीक होगा। डॉ० ए. एल. श्रीवास्तव ने लिखा है कि "केवल शारीरिक शक्ति और सैनिक हथियार ही सेना के लिए पर्याप्त नहीं है। एक प्रेरणादायिनी विचार-धारा भी उतनी ही आवश्यक है जितनी कि सैनिक-शिक्षा और साधन।"[1] मध्य-युग शौर्य, प्रेम-प्रसंग और धर्म (Chivalry, Romance and Religion) का युग था। आधुनिक युग में इनका महत्व नहीं है परन्तु आधुनिक युग के विचारों को आधार मानकर मध्य-युग की मान्यताओं के प्रभाव को समझना कठिन है। मध्य-युग में आस्था और धर्म का बहुत महत्त्व था और उस युग के व्यक्तियों पर उसका गम्भीर प्रभाव न हो, यह नहीं माना जा सकता। मध्य-युग में धर्म का प्रभाव न अस्वाभाविक था, न तिरस्कृत और न वर्तमान युग की भाँति हानिकारक। मध्य-युग में व्यक्ति धर्म से अधिक प्रभावित थे, यह मानना उनके दोष निकालना नहीं है बल्कि इसके विपरीत धर्म के प्रभाव को गम्भीरता को कम करना तथा उस युग और उस युग के व्यक्तियों के साथ अन्याय करना है क्योंकि ऐसी स्थिति में यह मानना होगा कि उस युग के व्यक्ति अपने युग के साथ न्याय नहीं कर सके थे। यदि मुसलमानों में धार्मिक भावना थी तो ईसाइयों में भी थी और हिन्दुओं में भी। यह बात अलग है कि अपने-अपने धर्म की विचार-धारा और अपनी-अपनी परिस्थितियों के कारण किस में कम थी और किस में अधिक अथवा किसने उसका उपयोग किस प्रकार और कितनी मात्रा में किया? उस समय तुर्कों की प्रेरणा-शक्ति का आधार इस्लाम रहा था, यह मानने मे हमे कठिनाई नही होनी चाहिए। वह उनकी भारत मे ही नही बल्कि अन्य स्थानो पर भी सफलता का कारण बनी थी, यह स्पष्ट है। डॉ० यू. एन. घोषाल ने लिखा है कि "जैसा कि सत्य ही बताया गया है, तुर्कों की सैनिक-श्रेष्ठता का एक अन्य और अधिक शक्तिशाली कारण उनका अदम्य उत्साह था और यह ध्यान रखना चाहिए कि उस भावना का आधार जितना भारतीय मन्दिरों और महलो मे सचित किये गये अतुल सम्पत्ति के खजानों को लूटने की आशा थी उतना ही अपने नवीन स्वीकृत धर्म के प्रति जोश भी था। 300 वर्ष से भी अधिक समय के कठोर संघर्ष के पश्चात् भारत के अधिकाश भाग को जीत लेने मे तुर्कों की सफलता का यह एक सबसे बडा कारण था, यह बात 11वी सदी के सल्जूक-तुर्कों और 15वी सदी के ओटोमान-तुर्कों के समान उदाहरण से सिद्ध हो जाती है जिन्होंने उस बाइजन्टाइन-साम्राज्य को बरबाद करने और अन्त में समाप्त करने मे सफलता पायी जो भारत मे पायी जाने वाली राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था की विशेष दुर्बलताओं से मुक्त था।"[2]

---

1 "Mere physical strength and military weapons do not constitute the total equipment of an army. An inspiring ideology is as essential as military training and equipment" —Dr. A. L. Srivastava.

2

इस प्रकार विभिन्न कारणो से 11वी और 12वी सदी मे मुसलमानो के विरुद्ध भारतीय राजाओ की पराजय हुई। भारत की आन्तरिक दुर्बलताओ ने इस पराजय की पृष्ठभूमि तैयार की और मुसलमानो की सैनिक-शक्ति और धार्मिक उत्साह ने उन्हे विजयी बनाया जिसके कारण भारतीय इतिहास मे एक नवीन अध्याय और भारतीय राजनीति मे एक नवीन तत्व सम्मिलित हुआ।

[4]
तुर्कों की सफलता के परिणाम

तुर्कों की सफलता का मुख्य परिणाम भारत में मुसलमानी राज्य की स्थापना था। मुहम्मद गोरी की मृत्यु के पश्चात् उसके गुलाम और सूबेदार कुतुबुद्दीन ऐबक ने भारत में मुसलमानी राज्य की स्थापना की। गोर अथवा गजनी पर उसका आधिपत्य असम्भव था। इस कारण भारत मे एक पृथक स्वतन्त्र मुसलमानी राज्य की स्थापना उसके लिए एकमात्र मार्ग था। गजनवी और गोरी के समय का इतिहास वास्तव में मध्य-एशिया के इतिहास का एक अश है परन्तु ऐबक के समय का इतिहास भारत का इतिहास है।

मुसलमानी राज्य की स्थापना के फलस्वरूप भारत मे पुन· एक केन्द्रीय शासन की नीव पडी, मुसलमानो की शक्ति के गढ़ भारत के शहरो के द्वार सभी जाति के व्यक्तियों के लिए खोल दिये गये, सैनिक-सगठन और युद्ध-नीति मे परिवर्तन हुआ, फारसी भाषा को मुसलमानी राज्य की राज्य-भाषा स्वीकार किया गया और सघर्ष तथा समझौता दोनों ही तरीकों के द्वारा हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे के निकट सम्पर्क में आने आरम्भ हुए। इन सभी का प्रभाव भविष्य की भारत की राजनीति और सभ्यता पर पडा। इस विजय ने इन सभी के लिए मार्ग प्रशस्त किया।

[illegible] in spite of its immunity from the characteristic weakresses of the Indian political and social system."
—Dr. U. N. Ghoshal.

द्वितीय खण्ड

दिल्ली सल्तनत के विभिन्न राजवंश

(अ) दिल्ली के ममलूक सुल्तान अथवा तथाकथित गुलाम-वंश
(ब) खलजी-वंश
(स) तुगलक-वंश
(द) सैयद-वंश
(इ) लोदी-वंश

अध्याय

3

कुतुबुद्दीन ऐबक और आरामशाह

1206 ई० से 1290 ई० के मध्य-काल में हुए दिल्ली सल्तनत के सुल्तान गुलाम-वश के सुल्तानों के नाम से विख्यात हुए यद्यपि वे न तो एक वश के थे और न सुल्तान बनने के अवसर पर इनमें से कोई गुलाम था। ये सभी सुल्तान तुर्क थे परन्तु इनके वश पृथक-पृथक थे। कुतुबुद्दीन ऐबक ने 'कुतबी', इल्तुतमिश ने 'शम्सी' और बलबन ने 'बलबनी' राजवश की स्थापना की थी और **इस प्रकार दिल्ली में इस समय में एक ने नहीं बल्कि तीन राजवंशों ने राज्य किया था।** इसी प्रकार इन तीनों राजवशों के *संस्थापक सुल्तान बनने से पहले गुलामी से मुक्त हो चुके थे।* *इस कारण इन सुल्तानों* **को गुलाम-वंश के सुल्तान कहने के स्थान पर प्रारम्भिक तुर्क सुल्तान अथवा दिल्ली के ममलूक[1] सुल्तान कहना अधिक उपयुक्त है।**

[1]

कुतुबुद्दीन ऐबक (1206-1210 ई०)

दिल्ली का पहला मुसलमान शासक कुतुबुद्दीन ऐबक था और उसी को भारत मे तुर्की राज्य का संस्थापक भी माना जाता है। मुहम्मद गोरी ने भारतीय प्रदेशों को विजय करके उन्हें अपने राज्य का अंग अवश्य बनाया परन्तु वह गोर का सुल्तान था न कि दिल्ली का। परन्तु कुतुबुद्दीन ऐबक दिल्ली का शासक था। उसने न केवल अपने स्वामी को उसकी भारत-विजय मे महत्वपूर्ण सहायता प्रदान की बल्कि अधिकाशतया वही उन विजयो और उनके सगठन के लिए उत्तरदायी भी था। इसके अतिरिक्त **ऐबक की मुख्य सफलता भारत के तुर्की राज्य को गोर और गजनी के सुल्तानों के स्वामित्व से मुक्त करके उसे स्वतन्त्र अस्तित्व प्रदान करने का प्रयत्न करना तथा गोरी की मृत्यु के पश्चात् उत्पन्न हुई अस्थिर परिस्थितियों में उसे स्थायित्व प्रदान करना था। इसी कारण उसे भारत में तुर्की राज्य का संस्थापक माना गया है।**

कुतुबुद्दीन ऐबक तुर्क था और उसके माता-पिता तुर्किस्तान के निवासी थे। बचपन में निशापुर के काजी फखरुद्दीन अब्दुल अजीज कूफी ने उसे एक दास के रूप मे

---

1 ममलूक (वह गुलाम व्यक्ति जो स्वतन्त्र माता-पिता की सन्तान था)।

खरीदा था। तुर्कों में अपने गुलामों को योग्य बनाने की परम्परा थी। अनेक व्यक्ति अपने गुलामों को साहित्य, कला और सैनिक-शिक्षा प्रदान करते थे। अनेक गुलामों को राज्य की

प्रारम्भिक जीवन

उत्तम सेवा करने के योग्य बनाया जाता था और अनेक गुलाम सुल्तानों की सेवा करने के योग्य बनाये जाते थे जिसमें उनका अधिक से अधिक मूल्य प्राप्त हो सके। इस कारण उस समय के तुर्क-सुल्तानों के अनेक गुलाम बहुत योग्य हुआ करते थे और वे राज्य-सेवा में श्रेष्ठतम पद प्राप्त कर लेते थे। इल्तुतमिश को कुतुबुद्दीन ऐबक ने 1197 ई० में हुए अन्हिलवाण के युद्ध के पश्चात् खरीदा और वही इल्तुतमिश ऐबक का दामाद और दिल्ली का सुल्तान बना। इसी प्रकार बहाउद्दीन बलबन को इल्तुतमिश ने 1232 ई० में खरीदा और उसी बलबन ने इल्तुतमिश की एक पुत्री से विवाह किया, सुल्तान नासिरुद्दीन महमूद से अपनी पुत्री का विवाह किया और अन्त में स्वयं दिल्ली का सुल्तान बना। इसी प्रकार मुहम्मद गोरी के योग्यतम सूबेदार कुतुबुद्दीन ऐबक, ताजुद्दीन यिल्दिज और नासिरुद्दीन कुबाचा उसके गुलाम थे। निशापुर के काजी ने ऐबक को सभी प्रकार की शिक्षा अपने पुत्रों के साथ प्रदान की। काजी की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्रों ने ऐबक को बेच दिया और अन्त में मुहम्मद गोरी ने उसे खरीदा। अपनी योग्यता के कारण ऐबक अपने स्वामी की दृष्टि में उठ गया। ऐबक ने धीरे-धीरे अपनी योग्यता के कारण अमीर-ए-अखूर (अश्वशाला का अध्यक्ष) के पद को प्राप्त कर लिया जो उस समय बहुत सम्मानित पद माना जाता था। तराइन के द्वितीय युद्ध के पश्चात् 1192 ई० में गोरी ने ऐबक को अपने मुख्य भारतीय प्रदेशों का सूबेदार नियुक्त किया। इस कारण मुहम्मद गोरी की मृत्यु के अवसर पर कुतुबुद्दीन ऐबक गोरी के दिल्ली, लाहौर और उनके अधीन भारतीय प्रदेशों का सूबेदार था।

गोरी का सहायक—**मुहम्मद गोरी के समय में कुतुबुद्दीन ऐबक ने कई महत्वपूर्ण कार्य किये थे।** तराइन के द्वितीय युद्ध (1292 ई०) के अवसर पर वह गोरी के साथ था। गोरी के भारत से वापिस चले जाने के पश्चात् उसने अजमेर, मेरठ आदि स्थानों के विद्रोह को दबाया और दिल्ली को अपने अधिकार में किया। 1194 ई० में जब गोरी ने कन्नौज के शासक जयचन्द से चन्दवार नामक स्थान पर युद्ध किया तब भी ऐबक उसके साथ था। उसके पश्चात् उसने अलीगढ को जीता, अजमेर के विद्रोह को दबाया, गुजरात की राजधानी अन्हिलवाण को लूटा, राजस्थान के कुछ किलों को जीता और बुन्देलखण्ड के राजा परमर्दीदेव को परास्त करके कालिंजर, महोबा और खजुराहो पर अधिकार किया। इस प्रकार ऐबक ने अपने स्वामी गोरी को न केवल भारत के विभिन्न प्रदेशों को जीतने में सहायता दी बल्कि समय-समय पर उसकी अनुपस्थिति में जीते हुए प्रदेशों को तुर्कों के आधिपत्य में रखा और राज्य-विस्तार भी किया।

शासक ऐबक—1206 ई० में मुहम्मद गोरी का वध कर दिया गया। उसके कोई पुत्र न था और क्योंकि उसकी मृत्यु अचानक हुई थी इस कारण उसे अपने साम्राज्य की एकता को कायम रखने के लिए अपने उत्तराधिकारी को नियुक्त करने अथवा कोई अन्य व्यवस्था करने का अवसर नहीं मिल सका था। मुहम्मद गोरी

की मृत्यु की सूचना पाकर लाहौर के नागरिकों ने कुतबुद्दीन ऐबक को लाहौर आकर शासन-सत्ता अपने हाथों में लेने के लिए आमन्त्रित किया। ऐबक ने लाहौर पहुँच कर शासन-सत्ता अपने हाथों में ले ली यद्यपि उसने अपना राज्याभिषेक गोरी की मृत्यु के तीन माह पश्चात् जून 1206 में कराया। सिंहासन पर बैठने के अवसर पर उसने सुल्तान की उपाधि ग्रहण नहीं की बल्कि केवल 'मलिक' और 'सिपहसालार' की पदवियों से ही सन्तुष्ट रहा जिन्हें उसने अपने स्वामी गोरी से प्राप्त किया था। इसी कारण ऐबक ने न अपने नाम से खुतबा पढ़वाया और न अपने नाम के सिक्के चलाये। बाद में गोरी के उत्तराधिकारी गियासुद्दीन ने उसे 'सुल्तान' स्वीकार किया लेकिन उस समय जबकि ऐबक अपनी शक्ति को स्वयं के प्रयत्नों से दृढ़ कर चुका था। उसी प्रकार ऐबक को नियमपूर्वक अपनी दासता से मुक्ति भी 1208 ई० में प्राप्त हुई क्योंकि गोरी ने अपनी मृत्यु के समय तक अपने किसी भी दास को दासता से मुक्त नहीं किया था। परन्तु कानूनी स्थिति कुछ भी रही हो, वास्तविकता में ऐबक ने 1206 ई० में लाहौर को अपनी राजधानी बनाकर गोरी के भारत के राज्य को अपनी अधीनता में रखने का प्रयत्न किया और उसी समय से उसने एक स्वतन्त्र सुल्तान की दृष्टि से व्यवहार करना आरम्भ कर दिया। भारत की सत्ता में वह न किसी से साझेदारी करने और न किसी के आधिपत्य को स्वीकार करने के लिए तैयार था, यह आरम्भ से ही स्पष्ट हो गया था।

कठिनाइयाँ

सिंहासन पर बैठने के अवसर पर ऐबक अनेक कठिनाइयों से घिरा हुआ था। वह अपने सभी सरदारों से वफादारी की आशा नहीं कर सकता था बल्कि उनकी ईर्ष्या और व्यक्तिगत आकांक्षाएँ उसके और नव-स्थापित तुर्की राज्य के लिए घातक सिद्ध हो सकती थी। तुर्कों ने अफगानिस्तान से लेकर बंगाल तक के उत्तरी भारत के भू-प्रदेशों को अपने पैरों से रौंद अवश्य दिया था परन्तु वे इसके निर्विवाद स्वामी बनने में अभी तक असमर्थ थे। गोरी ने राजपूतों की शक्ति को दुर्बल अवश्य कर दिया था परन्तु समाप्त नहीं कर सका था और राजपूत स्थान-स्थान पर तुर्कों का मुकाबला कर रहे थे तथा अनेक स्थानों से तुर्कों को निष्कासित कर रहे थे। चन्देल शासक ने कालिंजर को पुनः विजय करके तुर्कों के दक्षिण की ओर बढ़ने के मार्ग को रोक दिया था, गहड़वार राजा हरीशचन्द्र ने फर्रुखाबाद और बदायूँ में अपनी सत्ता स्थापित कर ली थी और प्रतिहार-राजपूतों ने ग्वालियर को पुनः जीत लिया था। बंगाल में खल्जी सरदारों के पारस्परिक झगड़ों ने वहाँ तुर्की-सत्ता को दुर्बल कर दिया था और बंगाल के खलजी सरदार ऐबक के आधिपत्य को स्वीकार करने के लिए तत्पर न थे। वास्तव में ऐबक का आधिपत्य सिन्ध, पंजाब, दिल्ली और दोआब तक सीमित था और वहाँ पर भी राजपूत उसकी सत्ता का विरोध कर रहे थे।

परन्तु इनसे भी बड़ी कठिनाइयाँ ऐबक को अपने सम्बन्धियों तथा अपने ही समान गोरी के दास और उसके राज्य के उत्तराधिकारी ताजुद्दीन यिल्दिज और नासिरुद्दीन कुबाचा की तरफ से थीं। ताजुद्दीन यिल्दिज ने गजनी में अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित

कर ली थी, उसकी पुत्री का विवाह ऐबक से हुआ था और वह ऐबक को अपने अधीन तथा गोरी के भारत के राज्य पर अपना अधिकार मानता था। नासिरुद्दीन कुबाचा उच्छ का सूबेदार था, यिल्दिज की एक पुत्री और ऐबक की एक बहिन से उसने विवाह किया था तथा वह भी दिल्ली के राज्य पर अपना अधिकार मानता था। वास्तव मे यिल्दिज और कुबाचा ऐबक के प्रतिद्वन्द्वी थे। प्रो० ए. बी. एम. हबीबुल्ला और डॉ० ए. एल. श्रीवास्तव ने यह लिखा है कि गोरी ने ऐबक को अपने भारतीय राज्य का सरक्षक नियुक्त किया था, उसे 'मलिक' की उपाधि दी थी और उसकी इच्छा थी कि ऐबक भारत मे उसका उत्तराधिकारी बने, परन्तु प्रो० के. ए. निजामी इस विचार से सहमत नही है। उनका कहना है कि गोरी ने अपनी मृत्यु के समय तक अपने गुलाम सरदारो के अधिकारो और अपने उत्तराधिकार के प्रश्न का निर्णय नही किया था जिसके कारण ऐबक, यिल्दिज और कुबाचा की स्थिति समान थी और उनमे से प्रत्येक अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार अपने-अपने अधिकारो की व्याख्या करने के लिए स्वतन्त्र था। यही नही, बल्कि उनका तो यहाँ तक कहना है कि गोरी ने भारत के विभिन्न तुर्की सरदारो को भी ऐबक की अधीनता मे नही किया था और यदि बहाबुद्दीन तुगरिल खाँ तथा मुहम्मद बख्तियार खलजी जैसे शक्तिशाली सरदारो की मृत्यु पहले ही न हो गयी होती तो वे भी ऐबक के प्रतिद्वन्द्वी सिद्ध होते। यिल्दिज और कुबाचा की भविष्य की गतिविधियों को देखते हुए डॉ० निजामी का कथन सत्य के अधिक निकट दिखायी देता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि गोरी की मृत्यु के पश्चात् ऐबक को स्वत. ही भारत का तुर्की राज्य प्राप्त नही हो गया था बल्कि उसे इसके लिए कौशल और युद्ध से प्रयत्न करना पडा था।

ऐबक की कठिनाई यिल्दिज और कुबाचा की प्रतिद्वन्द्विता तक ही सीमित न थी बल्कि ख्वारिज्म के शाह की बढती हुई शक्ति भी उसके लिए एक बड़ा खतरा था। ख्वारिज्म के शाह की नजर गजनी पर थी। यिल्दिज उसकी शक्ति का मुकाबला करने मे असमर्थ था। ऐसी स्थिति मे यदि गजनी पर ख्वारिज्मशाह का अधिकार हो जाता तो वह दिल्ली पर भी अपना दावा कर सकता था। इस कारण **ऐबक की एक मुख्य कठिनाई भारत के राज्य को मध्य-एशिया की राजनीति से पृथक करना, उसे गजनी के शासकों के कानूनी आधिपत्य से मुक्त करना तथा उसे एक पृथक स्वतन्त्र राज्य का अधिकार और अस्तित्व प्रदान करना थी।**

कार्य

ऐबक का मुख्य कार्य अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को कायम रखना था। उसने कौशल और कूटनीति से कार्य किया। उसने अपने तुर्की सरदारो को अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिए मना लिया। सम्भवतया इस कार्य को करने के कारण ही उसे सिहासन पर बैठने मे कुछ समय लगा था। अपनी स्थिति को दृढ़ करने के आशय मे ही उसने अपनी पुत्री का विवाह इल्तुतमिश से और अपनी बहिन का विवाह नासिरुद्दीन कुबाचा से किया था तथा सम्भवतया कुबाचा ने उसे दिल्ली का सुल्तान

स्वीकार कर लिया था। परन्तु यिल्दिज की तरफ से खतरा रहा। इस कारण ऐबक सर्वदा ही लाहौर में रहा। उसे दिल्ली में रहने का अवसर कभी भी न मिल सका।

सुल्तान गियासुद्दीन ने यिल्दिज को दासता से मुक्त करके गजनी का शासक स्वीकार कर लिया था। ख्वारिज्मशाह के दवाव के कारण यिल्दिज को गजनी छोडने के लिए वाध्य होना पडा। उसने पूर्व मे पजाब पर आक्रमण किया। गजनी का शासक होने के नाते वह भारत के तुर्की राज्य को अपने अधिकार मे मानता था। ऐबक ने उसका विरोध किया और उसे युद्ध में परास्त करके पजाब को छोडने के लिए वाध्य किया। परन्तु गजनी उस समय अरक्षित था और सम्भव था कि ख्वारिज्मशाह उस पर अधिकार कर लेता। गजनी के नागरिकों ने ऐबक को आने के लिए निमन्त्रण भेजा और ऐबक ने आगे बढकर गजनी पर अधिकार कर लिया। परन्तु गजनी के नागरिक उससे सन्तुष्ट न रह सके और उन्होंने यिल्दिज को आमन्त्रित किया। यिल्दिज के अचानक गजनी की सीमा पर पहुँच जाने के कारण ऐबक केवल 40 दिन पश्चात् ही गजनी को छोडने के लिए वाध्य हुआ। इस प्रकार **ऐबक का गजनी का अभियान सफल होते हुए भी स्थायी लाभ का न रहा। परन्तु यिल्दिज भी उसके भारत के राज्य पर अधिकार करने में असमर्थ रहा और ऐबक ने दिल्ली के स्वतन्त्र अस्तित्व को कायम रखने में सफलता प्राप्त की।**

बंगाल के दूरस्थ सूबे (इक्ता) ने भी ऐबक को परेशान किया। मुहम्मद वख्तियार खलजी के हत्यारे अलीमर्दनखाँ को खलजी सरदारों ने कैद कर लिया था और उन्होंने मुहम्मद शेरा को इस शर्त पर गद्दी पर बैठाया था कि वह दिल्ली की अधीनता स्वीकार नही करेगा। इस कारण आरम्भ में बंगाल एक स्वतन्त्र राज्य बन गया था। परन्तु अलीमर्दनखाँ कैद से भागकर ऐबक के पास पहुँचा। ऐबक ने उसे बंगाल का सूबेदार नियुक्त किया और उसने वायदा किया कि वह ऐबक के अधीन रहेगा तथा उसे वार्षिक कर देगा। परन्तु खलजी सरदार इस प्रवन्ध को मानने के लिए तैयार नहीं थे। **ऐबक के सरदार कैमाज रूमी के निरन्तर प्रयत्न और युद्ध के पश्चात् ही अलीमर्दनखाँ को बंगाल का सूबेदार बनाया जा सका और बंगाल दिल्ली सुल्तान की अधीनता में हो गया।**

ऐबक को राजपूतों की ओर ध्यान देने का अवसर नहीं मिला और न वह साम्राज्य-विस्तार की नीति को अपना सका बल्कि राजपूतों ने कुछ स्थानों को उससे छीन लिया और ऐबक उन्हें पुनः जीतने का प्रयत्न भी न कर सका। ऐबक को समय भी थोड़ा प्राप्त हुआ। चौगान (आधुनिक पोलो की भाँति का एक खेल) के खेल मे घोड़े से गिर जाने के कारण **1210 ई० में उसकी मृत्यु हो गयी।** उसे लाहौर मे ही दफनाया गया और उसकी कब्र पर एक साधारण स्मारक बना दिया गया।

ऐबक का मूल्यांकन

ऐबक को भारत में तुर्की राज्य का संस्थापक माना गया है। मुहम्मद गोरी की भारत-विजय में ऐबक उसका सबसे बड़ा सहायक था। गोरी की अनुपस्थिति मे उसी ने उसकी विजयों को सुरक्षित और सगठित किया तथा उसकी मृत्यु के पश्चात्

उसके भारतीय राज्य को गजनी के आधिपत्य से मुक्ति दिलाकर एक स्वतन्त्र राज्य मे परिणत करने का प्रयत्न भी उसी ने आरम्भ किया। उसने न तो यिल्दिज की अधीनता स्वीकार की और न ही उसे पजाव मे प्रवेश करने दिया। भारत के तुर्की सरदारो को अपने साथ और आधिपत्य मे लेकर उसने दिल्ली के तुर्की राज्य को एकता प्रदान की ओर दिल्ली सल्तनत को आरम्भ किया। यदि वह ऐसा न कर पाता तो सम्भव था कि भारत का तुर्की राज्य या तो गजनी राज्य के अधीन हो जाता अथवा मध्य-एशिया की राजनीति का एक भाग बनकर ख्वारिज्मशाह् की लालसा का शिकार हो जाता अथवा तुर्की सरदारो के परस्पर झगड़ो के कारण टुकड़े-टुकड़े होकर शक्तिहीन हो जाता और अन्त मे नष्ट हो जाता। ऐबक ने ऐसा कुछ नही होने दिया बल्कि उसने तुर्की राज्य को एकता प्रदान की और उसके स्वतन्त्र अस्तित्व के लिए प्रयत्न ही नही किया बल्कि उसे कायम भी रखा। इसी दृष्टि से ऐबक को भारत के तुर्की राज्य का सस्थापक माना गया है।

ऐबक मुहम्मद गोरी के गुलामों में से योग्यतम गुलाम सिद्ध हुआ। वह अपनी योग्यता के कारण धीरे-धीरे उन्नति करता हुआ सुल्तान के पद तक पहुँचा और एक ऐसे राज्य का सस्थापक बना जो भारत मे स्थायी रहा। ऐबक मे मस्तिष्क और हृदय दोनों के गुण थे। प्रो० ए बी. एम. हबीबुल्ला ने लिखा है कि "उसमे एक तुर्क का साहस और एक ईरानी की उदारता तथा सुसभ्यता मिश्रित थी।"[1] सभी तत्कालीन इतिहासकारों ने उसकी वफादारी, उदारता, साहस और न्यायप्रियता की प्रशसा की है। हसन निजामी ने लिखा है कि "कुतुबुद्दीन अपनी प्रजा को समान रूप से न्याय प्रदान करता था और अपने राज्य की शान्ति और समृद्धि के लिए प्रयत्नशील था।"[2] इतिहासकार मिनहाज ने लिखा है कि "ऐबक श्रेष्ठ भावनाओ से युक्त विशाल-हृदयी बादशाह् था। वह बहुत दानशील था।"[3] अपनी उदारता के कारण वह इतना अधिक दान करता था कि उसे 'लाखबख्श' (लाखो को देने वाला) के नाम से पुकारा गया। फरिश्ता ने लिखा है कि यदि व्यक्ति किसी की दानशीलता की प्रशसा करते थे तो उसे 'अपने युग का ऐबक' पुकारते थे। ऐबक को साहित्य से अनुराग था और स्थापत्य-कला मे उसकी रुचि थी। तत्कालीन विद्वान हसन निजामी और फक्र-ए-मुदब्बिर ने उसका सरक्षण प्राप्त किया था और उसे अपने ग्रन्थ समर्पित किये थे। उसने दिल्ली मे 'कुवात-उल-इस्लाम' और अजमेर मे 'ढाई दिन का झोपड़ा' नामक मस्जिदों का निर्माण कराया था। दिल्ली मे स्थित कुतुबमीनार का निर्माण भी उसके समय मे आरम्भ किया जा चुका था।

ऐबक में व्यावहारिक बुद्धि थी, साथ ही उसमें कूटनीतिज्ञता का भी अभाव न था।

---

1 [illegible] ...aste and genero- [illegible] ...M. Habibullah.

2 [illegible] ...exerted himself [illegible] —Hasan Nizami.

3 "Aibak was a high-spirited and open hearted monarch. He was very generous."
—Minhaj.

4

सुल्तान इल्तुतमिश : 1211-1236 ई०

वास्तव में दिल्ली का पहला सुल्तान इल्तुतमिश था। उसने सुल्तान के पद की स्वीकृति किसी गोर के शासक से नहीं बल्कि खलीफा से प्राप्त की। इस प्रकार वह कानूनी तरीके से दिल्ली का प्रथम स्वतन्त्र सुल्तान हुआ। व्यावहारिक दृष्टि से उसने दिल्ली की गद्दी के दावेदार ताजुद्दीन यिल्दिज और नासिरुद्दीन कुबाचा को समाप्त किया, भारत के तुर्की राज्य को संगठित किया, उसे मंगोल-आक्रमण से बचाया, राजपूतों की शक्ति को तोड़ने का प्रयत्न किया, सुल्तान के पद को वंशानुगत बनाया, दिल्ली को तुर्की राज्य की राजधानी के अनुरूप वैभवपूर्ण बनाया और अपने नाम के सिक्के चलाये।

इल्तुतमिश को कुतुबुद्दीन ऐबक ने खरीदा था। इस कारण वह एक गुलाम का गुलाम था। परन्तु अपनी योग्यता के कारण उसने अपने स्वामी से पहले दासता से मुक्ति प्राप्त कर ली थी। मुहम्मद गोरी ने अपने समय में ही उसे दासता से मुक्त कर दिया था। इस कारण ऐबक की भाँति सिंहासन पर बैठने के समय वह गुलाम न था बल्कि उससे बहुत पहले दासता से मुक्त हो चुका था। यह उसकी योग्यता का परिणाम था कि जबकि गोरी ने अपने सबसे अधिक विश्वासपात्र और योग्य गुलामों जैसे यिल्दिज, कुबाचा और ऐबक को भी दासता से मुक्त नहीं किया था, उसने इल्तुतमिश को दासता से मुक्त कर दिया था।

इल्तुतमिश कुतुबुद्दीन ऐबक का दामाद था न कि उसका वंशज। इल्तुतमिश शम्सी-वंश का था। इस कारण उसके गद्दी पर बैठने से दिल्ली के सिंहासन पर एक नवीन राजवंश का अधिकार स्थापित हुआ। कुछ इतिहासकारों ने यह लिखा है कि दिल्ली के सिंहासन पर इल्तुतमिश का कानूनी अधिकार न था। परन्तु अधिकांश इतिहासकार इस बात से सहमत नहीं है। उस समय में जबकि सिंहासन पर वंशानुगत अधिकार की परम्परा स्थापित नहीं हुई थी और तलवार की शक्ति शासकों का निर्णय करती थी, इल्तुतमिश का दिल्ली के सिंहासन पर अधिकार करना अवैध नहीं माना जा सकता। आरामशाह को लाहौर के सरदारों का समर्थन प्राप्त हुआ था और इल्तुतमिश को दिल्ली के सरदारों का। इल्तुतमिश आरामशाह के

उसके यह कार्य अधूरे रहे। इस कारण उसके पश्चात् इल्तुतमिश को इन कार्यों की पूर्ति के लिए प्रयत्न करने पड़े।

[2]
आरामशाह (1210-1211 ई०)

कुतुबुद्दीन की मृत्यु के पश्चात् उसके सरदारो ने उसके पुत्र (यद्यपि कुछ इतिहासकार इसके बारे मे सन्देह प्रकट करते है) आरामशाह को लाहौर मे गद्दी पर बैठा दिया। परन्तु दिल्ली के नागरिक इससे सहमत नही हुए। आरामशाह एक अयोग्य नवयुवक था जबकि उस समय की कठिन परिस्थितियो में तुर्की राज्य को एक योग्य तथा अनुभवी शासक की आवश्यकता थी। इस कारण उन्होने ऐबक के दामाद और बदायूँ के सूबेदार इल्तुतमिश को दिल्ली का सुल्तान बनने के लिए आमन्त्रित किया। इल्तुतमिश ने दिल्ली पहुँच कर सुल्तान का पद ग्रहण कर लिया। आरामशाह ने उस पर आक्रमण किया, परन्तु वह पराजित हुआ और उसे मार दिया गया। इस प्रकार आरामशाह का शासन केवल आठ माह मे समाप्त हो गया और इल्तुतमिश दिल्ली का सुल्तान बन गया।

4

सुल्तान इल्तुतमिश : 1211–1236 ई०

वास्तव में दिल्लो का पहला सुल्तान इल्तुतमिश था। उसने सुल्तान के पद की स्वीकृति किसी गोर के शासक से नहीं बल्कि खलीफा से प्राप्त की। इस प्रकार वह कानूनी तरीके से दिल्ली का प्रथम स्वतन्त्र सुल्तान हुआ। व्यावहारिक दृष्टि से उसने दिल्ली की गद्दी के दावेदार ताजुद्दीन यिल्दिज और नासिरुद्दीन कुबाचा को समाप्त किया, भारत के तुर्की राज्य को सगठित किया, उसे मंगोल-आक्रमण से बचाया, राजपूतों की शक्ति को तोड़ने का प्रयत्न किया, सुल्तान के पद को वंशानुगत बनाया, दिल्ली को तुर्की राज्य की राजधानी के अनुरूप वैभवपूर्ण बनाया और अपने नाम के सिक्के चलाये।

इल्तुतमिश को कुतुबुद्दीन ऐबक ने खरीदा था। इस कारण वह एक गुलाम का गुलाम था। परन्तु अपनी योग्यता के कारण उसने अपने स्वामी से पहले दासता से मुक्ति प्राप्त कर ली थी। मुहम्मद गोरी ने अपने समय में ही उसे दासता से मुक्त कर दिया था। इस कारण ऐबक की भाँति सिंहासन पर बैठने के समय वह गुलाम न था बल्कि उससे बहुत पहले दासता से मुक्त हो चुका था। यह उसकी योग्यता का परिणाम था कि जबकि गोरी ने अपने सबसे अधिक विश्वासपात्र और योग्य गुलामों जैसे यिल्दिज, कुबाचा और ऐबक को भी दासता से मुक्त नही किया था, उसने इल्तुतमिश को दासता से मुक्त कर दिया था।

इल्तुतमिश कुतुबुद्दीन ऐबक का दामाद था न कि उसका वंशज। इल्तुतमिश शम्सी-वंश का था। इस कारण उसके गद्दी पर बैठने से दिल्ली के सिंहासन पर एक नवीन राजवंश का अधिकार स्थापित हुआ। कुछ इतिहासकारों ने यह लिखा है कि दिल्ली के सिंहासन पर इल्तुतमिश का कानूनी अधिकार न था। परन्तु अधिकाश इतिहासकार इस बात से सहमत नही है। उस समय मे जबकि सिंहासन पर वंशानुगत अधिकार की परम्परा स्थापित नही हुई थी और तलवार की शक्ति शासकों का निर्णय करती थी, इल्तुतमिश का दिल्ली के सिंहासन पर अधिकार करना अवैध नही माना जा सकता। आरामशाह को लाहौर के सरदारों का समर्थन प्राप्त हुआ था और इल्तुतमिश को दिल्ली के सरदारों का। इल्तुतमिश आरामशाह के

उसके यह कार्य अधूरे रहे। इस कारण उसके पश्चात् इल्तुतमिश को इन कार्यों की पूर्ति के लिए प्रयत्न करने पड़े।

[2]
आरामशाह (1210-1211 ई०)

कुतुबुद्दीन की मृत्यु के पश्चात् उसके सरदारों ने उसके पुत्र (यद्यपि कुछ इतिहासकार इसके बारे में सन्देह प्रकट करते है) आरामशाह को लाहौर में गद्दी पर बैठा दिया। परन्तु दिल्ली के नागरिक इससे सहमत नही हुए। आरामशाह एक अयोग्य नवयुवक था जबकि उस समय की कठिन परिस्थितियों में तुर्की राज्य को एक योग्य तथा अनुभवी शासक की आवश्यकता थी। इस कारण उन्होंने ऐबक के दामाद और बदायूं के सूबेदार इल्तुतमिश को दिल्ली का सुल्तान बनने के लिए आमन्त्रित किया। इल्तुतमिश ने दिल्ली पहुँच कर सुल्तान का पद ग्रहण कर लिया। आरामशाह ने उस पर आक्रमण किया, परन्तु वह पराजित हुआ और उसे मार दिया गया। इस प्रकार आरामशाह का शासन केवल आठ माह मे समाप्त हो गया और इल्तुतमिश दिल्ली का सुल्तान बन गया।

4

सुल्तान इल्तुतमिश : 1211–1236 ई०

वास्तव में दिल्ली का पहला सुल्तान इल्तुतमिश था। उसने सुल्तान के पद की स्वीकृति किसी गोर के शासक से नहीं बल्कि खलीफा से प्राप्त की। इस प्रकार वह कानूनी तरीके से दिल्ली का प्रथम स्वतन्त्र सुल्तान हुआ। व्यावहारिक दृष्टि से उसने दिल्ली की गद्दी के दावेदार ताजुद्दीन यिल्दिज और नासिरुद्दीन कुबाचा को समाप्त किया, भारत के तुर्की राज्य को संगठित किया, उसे मंगोल-आक्रमण से बचाया, राजपूतों की शक्ति को तोड़ने का प्रयत्न किया, सुल्तान के पद को वंशानुगत बनाया, दिल्ली को तुर्की राज्य की राजधानी के अनुरूप वैभवपूर्ण बनाया और अपने नाम के सिक्के चलाये।

इल्तुतमिश को कुतुबुद्दीन ऐबक ने खरीदा था। इस कारण वह एक गुलाम का गुलाम था। परन्तु अपनी योग्यता के कारण उसने अपने स्वामी से पहले दासता से मुक्ति प्राप्त कर ली थी। मुहम्मद गोरी ने अपने समय में ही उसे दासता से मुक्त कर दिया था। इस कारण ऐबक की भाँति सिंहासन पर बैठने के समय वह गुलाम न था बल्कि उससे बहुत पहले दासता से मुक्त हो चुका था। यह उसकी योग्यता का परिणाम था कि जबकि गोरी ने अपने सबसे अधिक विश्वासपात्र और योग्य गुलामों जैसे यिल्दिज, कुबाचा और ऐबक को भी दासता से मुक्त नहीं किया था, उसने इल्तुतमिश को दासता से मुक्त कर दिया था।

इल्तुतमिश कुतुबुद्दीन ऐबक का दामाद था न कि उसका वंशज। इल्तुतमिश शम्सी-वंश का था। इस कारण उसके गद्दी पर बैठने से दिल्ली के सिंहासन पर एक नवीन राजवंश का अधिकार स्थापित हुआ। कुछ इतिहासकारों ने यह लिखा है कि दिल्ली के सिंहासन पर इल्तुतमिश का कानूनी अधिकार न था। परन्तु अधिकांश इतिहासकार इस बात से सहमत नहीं है। उस समय में जबकि सिंहासन पर वंशानुगत अधिकार की परम्परा स्थापित नहीं हुई थी और तलवार की शक्ति शासकों का निर्णय करती थी, इल्तुतमिश का दिल्ली के सिंहासन पर अधिकार करना अवैध नहीं माना जा सकता। आरामशाह को लाहौर के सरदारों का समर्थन प्राप्त हुआ था और इल्तुतमिश को दिल्ली के सरदारों का। इल्तुतमिश आरामशाह के

मुकाबले अधिक योग्य और अनुभवी था। उस समय की परिस्थितियों में उसका समर्थन तुर्की राज्य के हित में था। इस कारण आरामशाह को समाप्त करके इल्तुतमिश का दिल्ली के सिंहासन पर अधिकार करना न तो अवैध था और न गलत।

शम्सुद्दीन इल्तुतमिश का वंश इल्वारी-तुर्क था। उसका पिता इलामखाँ अपने कबीले का प्रधान था। इल्तुतमिश सुन्दर और बुद्धिमान था तथा उसका पिता

प्रारम्भिक जीवन

प्रेमवश उसे घर से बाहर नहीं जाने देता था। इस कारण वह अपने भाइयों की ईर्ष्या का पात्र हो गया जिन्होंने उसे धोखे से एक मेले में ले जाकर एक गुलामों के व्यापारी को बेच दिया। उसके पश्चात् इल्तुतमिश को दो बार फिर बेचा गया और अन्त में जमालुद्दीन मुहम्मद नामक एक व्यापारी उसे बेचने के लिए गजनी ले गया। वहाँ उसे सुल्तान मुहम्मद गोरी ने खरीदना चाहा परन्तु मुँहमाँगी धनराशि न मिलने के कारण जमालुद्दीन ने उसे बेचने से इन्कार कर दिया जिसके कारण गोरी ने उसे गजनी मे बेचने पर पाबन्दी लगा दी। अन्त मे कुतुबुद्दीन ऐबक की दृष्टि उस पर पड़ी और क्योंकि उसको गजनी मे खरीदना और बेचना अवैध था इस कारण उसे दिल्ली ले जाया गया जहाँ ऐबक ने उसे खरीद लिया। इल्तुतमिश ने किस प्रकार और क्या शिक्षा प्राप्त की, इसके बारे में पता नही लगता। परन्तु वह शिक्षित व्यक्ति, साहसी सैनिक और योग्य नेता था। ऐबक ने उसे आरम्भ से ही 'सर-जाँदार' (अंगरक्षकों का प्रधान) का महत्वपूर्ण पद दिया। एक के पश्चात् एक पद से उन्नति करता हुआ वह बहुत शीघ्र 'अमीरे-शिकार' के पद पर पहुँच गया। ग्वालियर के किले की विजय के पश्चात् उसे वहाँ का किलेदार बनाया गया। उसके पश्चात् उसे बरन (बुलन्दशहर) का इक्ता सौंपा गया और अन्त मे उसे दिल्ली राज्य का सबसे महत्वपूर्ण बदायूँ का इक्ता (सूबा) सौंपा गया। ऐबक ने अपनी एक पुत्री का विवाह भी उसके साथ कर दिया। 1205-1206 ई० मे खोखर जाति के विद्रोह को दबाने के अभियान में इल्तुतमिश सुल्तान मुहम्मद गोरी और ऐबक के साथ था। इल्तुतमिश ने इस युद्ध मे जिस साहस और कौशल का परिचय दिया उससे प्रसन्न होकर गोरी ने ऐबक को उसके साथ भला व्यवहार करने की सलाह दी और उसे दासता से मुक्त करने के आदेश भी दिये। ऐबक की मृत्यु के पश्चात् सिपहसालार अमीर अली इस्माइल ने दिल्ली के तुर्की सरदारों की सम्मति लेकर इल्तुतमिश को दिल्ली आने के लिए निमन्त्रण दिया। इल्तुतमिश ने दिल्ली पहुँचकर अपने को सुल्तान घोषित कर दिया और 1211 ई० मे आरामशाह को परास्त किया तथा उसका वध कर दिया।

इल्तुतमिश ने ऐबक से एक अरक्षित सिंहासन और छोटा राज्य प्राप्त किया। उसने आरामशाह को युद्ध मे परास्त करके समाप्त कर दिया था परन्तु जब तुर्की

कठिनाइयाँ

सरदार दिल्ली मे एकत्र हुए तब उनमें मे कुछ ने उसे सुल्तान मानने से इन्कार कर दिया। वे दिल्ली से बाहर चले गये और विद्रोह की तैयारी करने लगे। इल्तुतमिश ने अपनी सेना लेकर उन पर आक्रमण किया और जूद के युद्ध मे उन्हें परास्त करके उनमें से

अधिकांश का वध कर दिया। युद्ध को जीतकर और विद्रोह को दबाकर भी **जो राज्य उसे प्राप्त हुआ वह पूर्व में बनारस से लेकर पश्चिम में शिवालिक पहाड़ियों तक ही सीमित था। गजनी का शासक यिल्दिज** दिल्ली राज्य को अपनी अधीनता मे मानता था। उसने ऐबक के समय मे भी यह दावा किया था और उससे युद्ध किया था। परन्तु ऐबक उसका दामाद था जबकि इल्तुतमिश से उसका कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध न था। इसके अतिरिक्त ख्वारिज्मशाह के बढते हुए दबाव के कारण उसे पजाब की ओर बढने के लिए बाध्य होना पड रहा था। इन परिस्थितियो मे गजनी और दिल्ली के शासकों की शत्रुता का बढ़ना स्वाभाविक हो गया। **नासिरुद्दीन कुबाचा** ने कुतुबुद्दीन से झगड़ा नही किया था परन्तु वह इल्तुतमिश की कठिनाइयो से लाभ उठाकर अपने राज्य का विस्तार कर रहा था। उच्छ, सिन्ध और मुल्तान के अतिरिक्त उसने भटिण्डा, कुहराम तथा सरस्वती को अपने अधिकार मे कर लिया था। आरामशाह की मृत्यु के पश्चात् उसने लाहौर को भी जीत लिया। बंगाल और बिहार दिल्ली राज्य से पृथक् हो गये थे और **लखनौती में अलीमर्दन ने** अपने को स्वतन्त्र शासक बना लिया था। **हिन्दू राजपूत-शासक पुन**· शक्ति एकत्र कर रहे थे और विभिन्न स्थानों से तुर्कों को बाहर निकाल दिया गया था। जालौर, रणथम्भौर और ग्वालियर स्वतन्त्र हो गये थे और दोआब मे तुर्की-आधिपत्य को कायम रखना कठिन हो रहा था। ऐसी कठिन परिस्थितियो मे चगेजखाँ के नेतृत्व में **मंगोल-आक्रमण का भय** भी इल्तुतमिश के समय में उपस्थित हुआ। इसके अतिरिक्त, ऐबक का **दिल्ली का राज्य एक अस्थिर फौजी जागीर की भाँति** था जिसमें स्थायित्व का अभाव था और जिसे केवल शक्ति के आधार पर ही कायम रखा जा सकता था। इस प्रकार ये सभी परिस्थितियाँ संकट-पूर्ण थी। परन्तु इल्तुतमिश ने कौशल, साहस और शक्ति से इन सभी संकटों का मुकाबला किया तथा अन्त मे सफलता प्राप्त की।

1. **यिल्दिज की पराजय**—यिल्दिज के प्रति इल्तुतमिश का व्यवहार सफल कूटनीतिज्ञता का रहा। जब वह सिंहासन पर बैठा तो यिल्दिज ने उसे अपने अधीन मानते हुए छत्र, दण्ड आदि राजचिह्न भेजे।

कार्य

इल्तुतमिश ने उन्हें शान्ति से स्वीकार कर लिया। यिल्दिज के सैनिकों ने जब कुबाचा से लाहौर और पजाब के अधिकाश भाग को छीना तब भी इल्तुतमिश ने उसकी ओर ध्यान न दिया। वह अपनी राजधानी और उसके निकट के क्षेत्रों में अपनी स्थिति को दृढ करता रहा। इसके अतिरिक्त उसने सरस्वती, कुहराम और भटिण्डा पर भी अधिकार कर लिया जिससे उसकी पश्चिमी सीमाओं की सुरक्षा हो सके। इस प्रकार इल्तुतमिश ने यिल्दिज को उस समय तक झगड़ा करने का अवसर नही दिया जब तक उसने अपनी राजधानी मे और पूर्व की ओर बनारस तक के क्षेत्र मे अपनी स्थिति को दृढ नही कर लिया।

1215 ई० मे ख्वारिज्मशाह से पराजित होकर यिल्दिज लाहौर भाग आया और उसने थानेश्वर तक पंजाब के प्रदेश पर अधिकार कर लिया। उसने दिल्ली के सिंहासन पर अपना दावा किया। इस अवसर पर इल्तुतमिश ने उससे अन्तिम निर्णय

में अपनी स्थिति को दृढ़ कर लिया। दिल्ली राज्य की सीमाएँ पश्चिम में मकरान तक हो गयी तथा निचले सिन्ध में देवल के 'वली' (शासक) मलिक सिनानुद्दीन ने इल्तुतमिश के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया। इल्तुतमिश ने अपनी मृत्यु के अवसर तक सियालकोट और हजनेर तक अपना आधिपत्य कर लिया था परन्तु उसने उससे आगे बढ़ने का प्रयत्न नहीं किया क्योंकि उससे मंगोलो से प्रत्यक्ष झगडा होने की सम्भावना थी।

4. बंगाल-विजय—कुतुबुद्दीन ऐबक के समर्थन और सहायता से अलीमर्दनखाँ ने बगाल में अपनी सत्ता स्थापित की थी। इस कारण उसने कुतुबुद्दीन की अधीनता को स्वीकार किया था। परन्तु उसकी मृत्यु के पश्चात् उसने अपने को स्वतन्त्र शासक बना लिया। वह इतना अधिक अत्याचारी सिद्ध हुआ कि प्रायः दो वर्ष पश्चात् ही उसके सरदारो ने उसे कत्ल कर दिया और उसके स्थान पर 1211 ई० मे हुसामुद्दीन एवाज खलजी को गद्दी पर बिठाया। एवाज ने सुल्तान गियासुद्दीन की उपाधि ग्रहण की और एक स्वतन्त्र शासक बन गया। जब इल्तुतमिश अपनी पश्चिमी सीमा की सुरक्षा में व्यस्त था तब गियासुद्दीन ने बिहार को अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया और जाजनगर, तिरहुत, बंग तथा कामरूप के पडोसी-राज्यो से कर वसूल किया। जब इल्तुतमिश ने अपनी पश्चिमी सीमा की सुरक्षा कर ली तब उसने पूर्व की ओर ध्यान दिया। दक्षिणी बिहार को जीतकर वह आगे बढ़ा। गियासुद्दीन उसका मुकाबला करने के लिए आया परन्तु बाद मे उसने बिना किसी युद्ध के इल्तुतमिश की अधीनता स्वीकार कर ली और उसे युद्ध की क्षति-पूर्ति के रूप में बहुत-सा धन दिया। इल्तुतमिश मलिक जानी को बिहार का सूबेदार नियुक्त करके वापिस आ गया। परन्तु कुछ समय पश्चात् गियासुद्दीन ने मलिक जानी को बिहार से बाहर निकाल दिया और दिल्ली राज्य के आधिपत्य को मानने से इन्कार कर दिया। इल्तुतमिश ने अपने पुत्र को अवध के सूबेदार नासिरुद्दीन महमूद को अनुकूल समय की प्रतीक्षा करने के आदेश दिये। जब गियासुद्दीन अपनी पूर्वी सीमा पर युद्ध करने के लिए गया हुआ था तब नासिरुद्दीन ने उसकी राजधानी लखनौती पर आक्रमण किया। गियासुद्दीन अपनी राजधानी की सुरक्षा के लिए वापिस लौटा परन्तु युद्ध मे मारा गया और 1226 ई० में नासिरुद्दीन ने लखनौती को विजय कर लिया। इस प्रकार 1226 ई० मे बंगाल दिल्ली सल्तनत का एक इक्ता (सूबा) बन गया। परन्तु दो वर्ष पश्चात् 1229 ई० मे शहजादा नासिरुद्दीन की मृत्यु हो गयी और मलिक इख्यतियारुद्दीन बल्का खलजी ने विद्रोह करके गद्दी पर अपना अधिकार कर लिया। 1229 ई० मे इल्तुतमिश ने स्वयं जाकर उस विद्रोह को समाप्त किया, इख्तियारुद्दीन बल्का युद्ध मे मारा गया और **बंगाल एक बार फिर दिल्ली सुल्तान के अधीन हो गया।** इस बार इल्तुतमिश ने बंगाल और बिहार में पृथक्-पृथक् इक्तादारों (सूबेदारो) की नियुक्ति की। इसके पश्चात् ये इक्ता (सूबे) इल्तुतमिश की मृत्यु तक उसके अधीन रहे।

5. हिन्दू राजाओं से संघर्ष (राजस्थान, मालवा, दोआब आदि)—कुतुबुद्दीन ऐबक को हिन्दू शासकों की ओर ध्यान देने का अवसर नही मिला था। उसके समय

इल्तुतमिश का साम्राज्य
भारत 1235 A.D
हैरत
काबुल
काश्मीर
पेशावर
रावलपिंडी
कन्धार
मगोल
लाहौर
मुल्तान
दिल्ली
सिन्धु न.
उच्छ
नागौर
बदायु
कन्नौज
आगरा
जोधपुर
अजमेर
रणथम्भौर
ग्वालियर
चित्तौर
आबू
कामरूप
चन्देल
गंगा
चालुक्य
परमार
नर्मदा न.
कलचुरी
महानदी
यादव
कलिंग
अरब सागर
बंगाल की खाड़ी
गोदावरी न.
काकतिया
कृष्णा न.
होयसल
चोल
कावेरी न.
पाण्डय
---- राज्य की सीमा

में हिन्दुओं ने कुछ स्थान तुर्कों से छीन लिये थे और उसकी मृत्यु से भी उन्होने लाभ प्राप्त किया था। हिन्दू राजाओं ने आक्रमणकारी नीति को अपना लिया था और वे विभिन्न स्थानों पर तुर्की राज्य को समाप्त करने का प्रयत्न कर रहे थे। चन्देलो ने कालिंजर और अजयगढ़ को जीत लिया था, प्रतिहारो ने ग्वालियर, नरवर और झांसी पर अधिकार कर लिया था, गोविन्दराज के नेतृत्व मे चौहानो ने रणथम्भौर को तुर्कों से छीनकर जोधपुर और उसके निकट के प्रदेशों पर अपना अधिकार कर लिया था, जालोर के चौहानो ने दक्षिण-पश्चिमी राजपूताना के अधिकाश प्रदेश को जीत लिया था और कई बार तुर्कों को परास्त किया था, भट्टी-राजपूतो ने अलवर और उसके निकटस्थ प्रदेशों को स्वतन्त्र कर लिया था तथा अजमेर, बयाना और थगीर भी स्वतन्त्र हो गये थे। राजस्थान की भाँति दोआब (आधुनिक उत्तर प्रदेश) मे भी हिन्दू शासक तुर्कों के विरुद्ध विद्रोह कर रहे थे। बदायूं, कन्नौज, बनारस और कटेहर तुर्की आधिपत्य से मुक्त हो गये थे और फर्रुखाबाद तथा बरेली जैसे स्थानो पर हिन्दुओं ने अपने सुरक्षित दुर्ग बना लिये थे।

हिन्दू शासको की शक्ति को दुर्बल करना और अपने राज्य के मुख्य भाग दोआब को अपने अधीन करना इल्तुतमिश के लिए आवश्यक था। उसने हिन्दू राजाओं के प्रति दृढ़ और आक्रमणकारी नीति का पालन किया। मुख्यतया उसने तुर्की राज्य से छीने गये स्थानों को पुनः जीतने और अपने अधीन प्रदेशो मे अपनी सत्ता को दृढ करने का प्रयत्न किया। उसने 1226 ई० मे रणथम्भौर को जीत लिया। उसके पश्चात् उसने परमारों की राजधानी मन्दोर पर अधिकार किया। 1228-1229 ई० मे जालोर के शासक उदयसिंह् को आधिपत्य स्वीकार करने एव वार्षिक कर देने के लिए बाध्य किया गया। उसके पश्चात् बयाना, थगीर, अजमेर, नागौर और उनके आस-पास के प्रदेश जीते गये। 1231 ई० मे ग्वालियर का घेरा डाला गया और एक वर्ष के कठिन सघर्ष के बाद उसे विजय कर लिया गया। इल्तुतमिश ने ग्वालियर के सूबेदार मलिक नुसरानुद्दीन तयसाई को कालिंजर पर आक्रमण करने के लिए भेजा। चन्देल शासक भाग गया और मलिक तयसाई ने 1233-1234 ई० में कालिंजर और उसके आस-पास के प्रदेश को लूटने में सफलता पायी। परन्तु इल्तुतमिश के नागदा के गुहिलौतो और गुजरात के चालुक्यों पर किये गये आक्रमण विफल हुए। 1234-1235 ई० में इल्तुतमिश ने मालवा पर आक्रमण किया तथा भिलसा और उज्जैन को लूटने मे सफलता पायी। तुर्कों ने भिलसा के एक प्राचीनतम हिन्दू मन्दिर तथा उज्जैन के महाकाल के मन्दिर को लूटा और बरबाद कर दिया। परन्तु यह मालवा की विजय न थी बल्कि केवल एक लूट मात्र थी। दोआब में इल्तुतमिश ने बदायूं, कन्नौज, बनारस, कटेहर और बहराइच को पुनः जीतने मे सफलता प्राप्त की तथा अवध में भी तुर्की सत्ता को स्थापित किया। इस प्रकार इल्तुतमिश ने तुर्की सत्ता से स्वतन्त्र हो गये प्रदेशों को पुनः जीतने में सफलता प्राप्त की, हिन्दू राजाओं की आक्रमणकारी शक्ति को दुर्बल कर दिया और विजित प्रदेशों में सफलतापूर्वक अपना आधिपत्य स्थापित किया।

परन्तु इस कार्य की पूर्ति के लिए **इल्तुतमिश को कठोर संघर्ष करना पड़ा था,** यह अवध में हुए पिर्थू के विद्रोह से स्पष्ट हो जाता है जिसके बारे में इल्तुतमिश के पुत्र और अवध के सूबेदार नासिरुद्दीन ने कहा था कि 'उसने प्रायः 1,20,000 मुसलमानों का रक्त बहाया था'। उसी प्रकार **राजस्थान में भी इल्तुतमिश को सफलता पूर्ण न थी।** राजपूतों की शक्ति नष्ट कर दी गयी हो, ऐसी कोई बात न थी। नागदा के गुहिलातो और गुजरात के चालुक्यों ने उसको परास्त किया था, बूँदी के राजपूतों ने उसके एक अधिकारी के आक्रमण को विफल कर दिया था, बयाना और थानागढ़ की विजयों ने चौहानों की शक्ति के विकास को रोकने में असफलता पायी थी, मालवा में परमार-राजपूतों का शासन पहले की भाँति रहा और ग्वालियर की विजय ने चन्देल-राजपूतों के उत्साह में कोई कमी नहीं की जिनके आधिपत्य में झाँसी के निकट तक का प्रदेश रहा।

6. **खलीफा द्वारा इल्तुतमिश के सुल्तान के पद की स्वीकृति**—इल्तुतमिश ने बगदाद के खलीफा से सुल्तान के पद की स्वीकृति की प्रार्थना की। फरवरी 1229 ई० में खलीफा के प्रतिनिधि इस स्वीकृति-पत्र को लेकर दिल्ली पहुँचे। खलीफा द्वारा इल्तुतमिश को सुल्तान स्वीकार किये जाने के कारण उसका पद कानूनी बन गया और दिल्ली सल्तनत वैध रूप से एक स्वतन्त्र राज्य बन गया जिसके लिए कुतुबुद्दीन ऐबक ने प्रयत्न आरम्भ किये थे। इस स्वीकृति से इल्तुतमिश को सुल्तान के पद को वंशानुगत बनाने और दिल्ली के सिंहासन पर अपने बच्चों के अधिकार को सुरक्षित करने में सहायता मिली।

7. **इल्तुतमिश की मृत्यु**—1236 ई० में इल्तुतमिश ने बनियान के शासक और जलालुद्दीन मंगबर्नी के अधिकारी सैफुद्दीन हसन कार्लूग (सर वूल्जले हेग के अनुसार खोक्खरों) पर आक्रमण किया। सैफुद्दीन ने गजनी और सिन्ध नदी के बीच के एक बड़े प्रदेश पर अपना अधिकार कर लिया था और मंगोल भी उसे वहाँ से नहीं निकाल सके थे। परन्तु मार्ग में इल्तुतमिश बीमार हो गया जिसके कारण उसे दिल्ली वापिस आना पड़ा। अप्रैल 1236 ई० में इल्तुतमिश की मृत्यु हो गयी।

इल्तुतमिश का मूल्यांकन

इल्तुतमिश एक सुसभ्य धार्मिक व्यक्ति, साहसी सैनिक, अनुभवी सेनापति और योग्य शासक था। वह दूरदर्शी और कूटनीतिज्ञ भी था। गुलाम का गुलाम होते हुए भी जिस तीव्र गति से उसने उन्नति की और अन्त में सुल्तान के पद को प्राप्त किया, यह उसकी योग्यता का प्रमाण था। निस्सन्देह अन्य अनेक मुइजी (सुल्तान मुहम्मद गोरी के) और कुत्बी (कुतुबुद्दीन ऐबक के) सरदार भी योग्य थे जिनके बारे में स्वयं इल्तुतमिश ने यह कहा था कि जब वे उसके दरबार में खड़े होते थे तो उसकी इच्छा उनके हाथों और पैरों को चूमने की होती थी, परन्तु वह उन सभी को पीछे छोड़ गया और उन सभी ने उसे अपना सुल्तान स्वीकार किया। यह इल्तुतमिश की श्रेष्ठता का प्रमाण था।

इल्तुतमिश सुसभ्य था और उसने अपने दरबार में ईरानी राज-दरबार के

रीति-रिवाजों और व्यवहार को आरम्भ किया। **वह विद्वानों और योग्य व्यक्तियों का सम्मान करता था।** मंगोल-आक्रमणों के कारण मध्य-एशिया और इस्लामी प्रदेशों से भागकर भारत आये हुए सभी योग्य व्यक्तियों और राज-पुरुषों को उसने अपने दरबार में स्थान दिया। उसने समकालीन विद्वान मिन्हाज-उस-सिराज और मलिक-ताजुद्दीन को संरक्षण प्रदान किया था। निजामुल-मुल्क मुहम्मद जुनैदी; जो एक लम्बे समय तक उसका प्रधान-मन्त्री रहा, मलिक कुतुबुद्दीन हसन गोरी और फखरुल-

[illegible]

बने। विभिन्न योग्य व्यक्तियों के कारण 'उसका राज-दरबार सुल्तान महमूद गजनवी की भाँति ही गौरवपूर्ण बन गया था।' **इल्तुतमिश ने लाहौर के स्थान पर दिल्ली को अपनी राजधानी बनाया और उसे दिल्ली सल्तनत के सम्मान के अनुकूल सुन्दर और वैभवपूर्ण बनाया।** उसने दिल्ली में विभिन्न तालाब, मदरसे, मस्जिदें और इमारतें बनवायीं। उसने कुतुबमीनार को पूरा कराया जो प्रारम्भिक इस्लामी कला का एक श्रेष्ठ नमूना माना गया है।

इल्तुतमिश धार्मिक विचारों का व्यक्ति था। वह अपने जीवन के आरम्भ में ही धार्मिक व्यक्तियों के सम्पर्क मे आ गया था जिसका प्रभाव उसके जीवन पर अन्त तक रहा। वह रात्रि का काफी समय प्रार्थना और चिन्तन मे व्यतीत करता था। वह सूफी सन्तों जैसे शेख कुतुबुद्दीन बख्तियार काकी (जिसके बारे में डॉ० ईश्वरीप्रसाद का कहना है कि इल्तुतमिश ने उसके ही सम्मान मे कुतुबमीनार को बनवाया था), काजी हमीदुद्दीन नागौरी, शेख जलालुद्दीन तबरीजी, शेख बहाउद्दीन जकारिया, शेख नजीबुद्दीन नखशबी आदि का बहुत सम्मान करता था। **वह धार्मिक दृष्टि से कट्टर था,** यह उसके व्यक्तिगत जीवन से ही नहीं बल्कि व्यवहार से भी प्रकट होता है। उसने भिलसा और उज्जैन मे हिन्दू मन्दिरों को नष्ट किया था। उसके अन्तिम समय में दिल्ली के इस्माइली शियाओं ने उसकी धार्मिक नीति से असन्तुष्ट होकर उसे दिल्ली की मस्जिद मे कत्ल करने का प्रयत्न किया था। परन्तु, जैसाकि डॉ० के. ए. निजामी ने लिखा है, उसकी राजनीति उसके धार्मिक विचारो से पृथक रही, यह ठीक प्रतीत होता है। **वह अपने धार्मिक विचारों के कारण तत्कालीन धार्मिक नेताओं का समर्थन प्राप्त करके अपने राज्य को नैतिक समर्थन दिलाने में सफल हुआ। परन्तु वह प्रत्येक अवसर पर उलेमा-वर्ग (धार्मिक व्यक्तियों का वर्ग) से सलाह लेना आवश्यक नहीं मानता था।** यह उसके द्वारा अपनी पुत्री रजिया को अपना उत्तराधिकारी बनाने से स्पष्ट हो जाता है।

इल्तुतमिश एक साहसी सैनिक और अनुभवी सेनापति था। मुहम्मद गोरी के समय मे खोक्खरों के विद्रोह को दबाने के अवसर पर उसने जिस साहस और शौर्य का परिचय दिया था, उसके कारण गोरी ने उसे दासता से मुक्त कर दिया था। यिल्दिज और कुबाचा को समाप्त करने में स्वयं उसका योगदान था और बंगाल तथा राजस्थान के

महत्वपूर्ण युद्धो में उसने स्वय नेतृत्व ग्रहण किया था। उसकी विजयो का बहुत कुछ श्रेय उसकी स्वयं की सैनिक प्रतिभा और सेनापतित्व की योग्यता को था।

डॉ० ए. एल. श्रीवास्तव के अनुसार 'इल्तुतमिश ने शासन-संस्थाओं का निर्माण नहीं किया और वह रचनात्मक प्रतिभा-सम्पन्न राजनीतिज्ञ न था।' निस्सन्देह इल्तुतमिश की शासन-व्यवस्था के विषय मे जानने के साधन उपलब्ध नही है और सम्भवतया उसने किसी नवीन शासन-व्यवस्था को जन्म नहीं दिया। परन्तु डॉ० के. ए. निजामी के अनुसार 'इक्ता' की शासन-व्यवस्था और सुल्तान की सेना के निर्माण करने का विचार उसने दिल्ली सल्तनत को प्रदान किया। उसने मुद्रा में सुधार किया था, इसे सभी स्वीकार करते हैं। वह पहला तुर्क सुल्तान था जिसने शुद्ध अरबी सिक्के चलाये। सल्तनत-युग के दो महत्वपूर्ण सिक्के चाँदी का 'टंका' और ताँबे का 'जीतल' उसी ने चलाने आरम्भ किये थे। 'टका' पर उस शहर का नाम भी उसी ने खुदवाना आरम्भ किया था जिस शहर में वह ढाला जाता था।

इल्तुतमिश दूरदर्शी और कूटनीतिज्ञ था। भारत की उन परिस्थितियो मे एक वशानुगत राज्यतन्त्र की स्थापना करना एक प्रमुख आवश्यकता थी। उसने इसे समझ लिया था। उसने इसके लिए प्रयत्न किये और सफल भी हुआ। खलीफा से सुल्तान के पद की स्वीकृति लेना उसके इस उद्देश्य की पूर्ति का एक भाग था। अपनी कूटनीतिज्ञता का परिचय उसने चगेजखाँ और जलालुद्दीन मगबर्नी के साथ व्यवहार करते हुए दिया। चंगेजखाँ को उसने असन्तुष्ट नही किया और मगोल-आक्रमण से अपने राज्य को बचा लिया। जलालुद्दीन मगबर्नी को उसने सहायता नही दी और तब भी वह इस्लाम के समर्थकों को सन्तुष्ट रख सका। इसके अतिरिक्त, परिस्थितियो के अनुकूल होने पर यिल्दिज और कुबाचा को समाप्त करना भी उसकी दूरदर्शिता का प्रमाण था।

परन्तु इल्तुतमिश की मुख्य सफलता भारत में नव-स्थापित तुर्की राज्य को सुरक्षा प्रदान करना, उसे वैधानिक स्थिति दिलाना और उस पर अपने वंश के अधिकार को वंशानुगत अधिकार बनाना था। डॉ० आर. पी. त्रिपाठी के शब्दो मे "भारत मे मुस्लिम सप्रभुता का इतिहास उससे आरम्भ होता है।"[1] ऐबक ने अपने द्वारा आरम्भ किये गये कार्यों को अधूरा छोड दिया था। इल्तुतमिश ने उन कार्यों को पूर्ण किया। यिल्दिज और कुबाचा को समाप्त करके उसने गोर अथवा गजनी के आधिपत्य के दावे से दिल्ली सल्तनत को मुक्त कर दिया, राजस्थान के राजपूत-शासको द्वारा दिल्ली सल्तनत से छीने गये प्रदेशों को पुन. अपने अधीन करके और दोआब के विद्रोहो को दबाकर उसने दिल्ली सल्तनत की वास्तविकता को सिद्ध कर दिया, बगाल को दिल्ली सल्तनत का एक 'इक्ता' (सूबा) बनाकर उसने उसका विस्तार किया और मगोल-आक्रमण से दिल्ली सल्तनत की रक्षा करके उसने उसे एक महान् सकट से बचा लिया। डॉ० के. ए निजामी ने लिखा है कि "ऐबक ने दिल्ली सल्तनत की रूपरेखा के बारे

1 "The history of Muslim sovereignty in India begins with him"
—Dr. R. P. Tripathi

मे सिर्फ दिमागी आकृति बनायी थी, इल्तुतमिश ने उसे एक व्यक्तित्व, एक पद, एक प्रेरणा-शक्ति, एक दिशा, एक शासन-व्यवस्था और एक शासक-वर्ग प्रदान किया।"[1] इल्तुतमिश को न तो ऐबक की भाँति सुल्तान मुहम्मद गोरी का समर्थन प्राप्त हो सका था और न उसकी भाँति भारत के तुर्की सरदारों का नैतिक समर्थन ही मिला। बल्कि उसे दिल्ली सल्तनत को प्राप्त करने के लिए आरामशाह से युद्ध करना पडा था। परन्तु तब भी अपनी मृत्यु के अवसर तक उसने एक दृढ तुर्की राज्य की स्थापना कर दी थी, उसकी सीमाएँ निश्चित कर दी थी और खलीफा से सुल्तान के पद की स्वीकृति प्राप्त करके अपने और अपने बच्चों के लिए दिल्ली के सिंहासन पर कानूनी अधिकार कायम कर लिया था। अपने वंश के अधिकार को उसने इतना अधिक दृढ बना दिया था कि उसकी मृत्यु के तीस वर्ष बाद भी व्यक्ति यह विश्वास करते रहे कि दिल्ली के सिंहासन पर केवल उसी के वंश का अधिकार है। इस धारणा की पुष्टि इस बात से होती है कि जब बाद में सीदी मौला के समर्थकों ने जलालुद्दीन खलजी को सिंहासन से हटाने का षड्यन्त्र किया तो नागरिको का समर्थन प्राप्त करने हेतु उन्होने सीदी मौला का विवाह इल्तुतमिश के वशज और मृतक सुल्तान नासिरुद्दीन महमूद की एक पुत्री से करने का इरादा किया। इस प्रकार वास्तव में इल्तुतमिश ने दिल्ली सल्तनत का निर्माण किया और वह उसका पहला सुल्तान था। प्रो० के ए निजामी ने लिखा है कि "उसने गोरी द्वारा भारत मे विजित और कमजोर तरीके से जोडे गये प्रदेशों के समूह को एक सुनियोजित एव संगठित राज्य 'दिल्ली सल्तनत' में परिवर्तित कर दिया।"[2] प्रो० ए बी. एम. हबीबुल्ला ने लिखा है कि "ऐबक ने दिल्ली सल्तनत की सीमाओ और उसकी सम्प्रभुता की रूपरेखा बनायी। इल्तुतमिश, निस्सन्देह, उसका पहला सुल्तान था।"[3] डॉ० ए. एल. श्रीवास्तव ने लिखा है कि "उसने एक ऐसे सैनिक-राज्यतन्त्र की नींव डाली जो आगे चलकर खलजियों के नेतृत्व में निरंकुशता की पराकाष्ठा पर पहुँच गया।"[4] प्रो० हबीबुल्ला ने लिखा है कि "उसने एक ऐसे निरंकुश राज्यतन्त्र की नींव डाली जो बाद में खलजी शासकों के समय में एक सैनिक-साम्राज्यवाद का मुख्य साधन बना।"[5] प्रो० हबीबुल्ला ने इल्तुतमिश को महान् नहीं माना है और कुछ अन्य इतिहासकार जैसे डॉ० एस. आर. शर्मा उसे गुलाम-शासकों मे प्रथम स्थान प्रदान नहीं करते। परन्तु तब भी इल्तुतमिश एक

---

1 "Aibak had merely visualized an outline of the Sultanate; Iltutmish gave it an individuality and a status, a motive power, a direction, an administrative system and a governing class"—Dr K A Nizami

2 "He transformed a loosely patched up congeries of Ghurid acquisitions in Hindustan into a well-knit and compact state—the Sultanate of Delhi"
—Prof. K A Nizami.

3 "Aibak outlined the Delhi Sultanate and its sovereign status; Iltutmish was unquestionably its first king" —Prof A B M Habibullah

4 "He laid the foundation of a military monarchy which reached a high water-mark of despotism under the Khaljis" —Dr. A L Srivastava

5 "He laid the foundations of an absolutist monarchy that was to serve later as the instrument of a military imperialism under the Khaljis."
—Prof. A. B. M. Habibullah.

श्रेष्ठ सुल्तान था यह सभी मानते हैं। डॉ॰ ए. एल. श्रीवास्तव ने उसे गुलाम-शासकों में प्रथम स्थान दिया है और सर वूल्जले हेग ने भी लिखा है कि "इल्तुतमिश गुलाम-शासकों में सबसे महान् था।"[1] तत्कालीन इतिहासकार मिन्हाज-उस-सिराज ने भी लिखा था कि "इल्तुतमिश के समान गुणवान, दयालु और बुद्धिमान तथा धर्म-परायण व्यक्तियों के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने वाला शासक कभी भी सिंहासन पर नहीं बैठा था।"[2] इस प्रकार यह माना जाता है कि इल्तुतमिश गुलाम-शासकों में श्रेष्ठतम शासक था। नवस्थापित तुर्की राज्य की रक्षा करने, उसे दृढ़ बनाने, उसे एक राजधानी प्रदान करने और उसे एक स्वतन्त्र, सगठित तथा वशानुगत राज्य बनाने का श्रेय उसी को था। डॉ॰ ईश्वरीप्रसाद ने ठीक ही लिखा है कि "इल्तुतमिश, निस्सन्देह, गुलाम-वंश का वास्तविक सस्थापक था।"[3]

1 "Iltutmish was the greatest of all the slave kings."—Sir Wolseley Haig
2 [illegible] towards the [illegible] Siraj.
3 [illegible]

5

सुल्तान इल्तुतमिश के उत्तराधिकारी

[सुल्तान और तुर्की गुलाम-सरदारों के गुट (तुर्कान-ए-चिहालगानी) में राज्य-शक्ति के लिए संघर्ष : 1236–1265 ई०]

सुल्तान इल्तुतमिश की मृत्यु के पश्चात् दस वर्षों के अन्तर्गत ही उसके वश के चार सुल्तानों को बलि के बकरों की भाँति कत्ल किया गया। उसके बाद पाँचवें सुल्तान ने एक कठपुतले की भाँति राज्य किया और अन्त मे इल्तुतमिश के द्वारा ही खरीदे गये एक गुलाम बलबन ने उसके राजवंश को समाप्त करके दिल्ली के सिंहासन पर अपना अधिकार कर लिया। निस्सन्देह इसका मुख्य कारण उसके उत्तराधिकारियों का दुर्बल और अयोग्य होना था। सुल्ताना रजिया के अतिरिक्त इल्तुतमिश के जीवित पुत्रों अथवा पौत्रों मे से कोई भी सुल्तान बनने के योग्य न था। परन्तु इन घटनाओ का एक अन्य मुख्य कारण इल्तुतमिश के गुलाम-सरदारो की महत्वाकाक्षाएँ थीं जिनके कारण उन्होंने सुल्तानों की दुर्बलता का लाभ उठाकर दिल्ली की राज्यसत्ता पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयत्न किया।

इल्तुतमिश की संप्रभुता और शासन का मुख्य आधार विदेशी मुसलमान थे। वे विदेशी मुसलमान मुख्यतया दो वर्गों मे बँटे हुए थे—प्रथम, उसके गुलाम-सरदार (तुर्कान-ए-पाक-अस्ल) और दूसरे, ताजिक (ताजिकान-ए-गुजीदा-वस्ल) अथवा वे विदेशी मुसलमान जो तुर्क नही थे परन्तु उच्च वश के थे और अपनी योग्यता के कारण श्रेष्ठ पदों को प्राप्त कर सके थे। तुर्की गुलाम-सरदार अपने को 'ख्वाजा-तश' अर्थात् एक मालिक के गुलाम पुकारते थे और वे एक दूसरे को समान और भाई-भाई समझते थे। राज्य के शासन मे इनका बहुत प्रभुत्व था और इन सभी ने सुल्तान इल्तुतमिश की वफादारी से सेवा की थी। परन्तु इल्तुतमिश के दुर्बल उत्तराधिकारी इन गुलाम-सरदारों को अपने काबू में न रख सके बल्कि वे सरदार ही सुल्तानो को बनाने और मिटाने वाले बन गये। इल्तुतमिश की मृत्यु के पश्चात् उन्होंने अपने को 'सुल्तानी' *अर्थात् उस सुल्तान के सरदार पुकारना आरम्भ किया जिसको उन्होंने सिंहासन पर* बैठाया था। उनमे से प्रत्येक राज्य का बड़ा अधिकारी था, प्रत्येक के पास अपनी सेना अथवा अंगरक्षक थे तथा प्रत्येक के पास अपने-अपने महल तथा सुख एवं शक्ति के साधन थे। इल्तुतमिश की मृत्यु के पश्चात् धीरे-धीरे उन्होंने अपने एकमात्र प्रतिद्वन्द्वी ताजिको को भी समाप्त कर दिया और राज्य की शक्ति का एकमात्र आधार बन गये।

इल्तुतमिश के अयोग्य उत्तराधिकारियों से उन्होंने राज्य की सम्प्रभुता को छीनने का प्रयत्न किया। परन्तु क्योंकि उनमें से प्रत्येक महत्वाकांक्षी था और प्रत्येक दूसरे के साथ समानता का दावा करता था, इस कारण उनमें से कोई भी एक उस समय तक सुल्तान न बन सका जब तक कि उसने बाकी अन्य को समाप्त नहीं कर दिया। अपनी पारस्परिक ईर्ष्या के कारण वे अपने में से किसी एक को सुल्तान नहीं बना सके परन्तु उन्होंने मिलकर सुल्तान की शक्ति को अपने हाथों में लेने और अपनी इच्छा के अनुसार सुल्तानों को बनाने और हटाने का प्रयत्न अवश्य किया। इस कारण सुल्तान और उसके गुलाम-सरदारों में राज्य-शक्ति के लिए संघर्ष हुआ। इन गुलाम-सरदारों की सख्या निश्चित न थी परन्तु यह संख्या 40 के आस-पास ही रही थी। इस कारण इनका गुट 'चालीस सरदारों के गुट' (तुर्कान-ए-चिहालगानी) के नाम से विख्यात हुआ। इल्तुतमिश की मृत्यु के पश्चात् प्रायः तीस वर्ष का दिल्ली सल्तनत का इतिहास मुख्यतया सुल्तानों और 'चालीस सरदारों के गुट' के संघर्ष का इतिहास रहा। इस संघर्ष में सरदारों की विजय हुई और अन्त में इन्हीं गुलाम-सरदारों में से एक सरदार बलबन ने अपने सभी साथियों के प्रभाव को नष्ट करके सिंहासन पर बैठने में सफलता पायी और दिल्ली में अपने राजवंश की सत्ता स्थापित की।

सुल्तानो और सरदारो के गुट के इस सघर्ष के कारण सुल्तान का सम्मान और शक्ति नष्ट हो गयी, उत्तर-पश्चिम सीमा पर मंगोल-आक्रमणों को प्रोत्साहन मिला, हिन्दू-राजपूत शासको ने तुर्कों की शक्ति को तोड़ने का प्रयत्न किया, दूरस्थ सूबों ने स्वतन्त्रता प्राप्त करने के प्रयत्न किये, आन्तरिक विद्रोह हुए और शासन-व्यवस्था दुर्बल हुई। भाग्यवश अथवा सुल्तानो की दुर्बलता के कारण यह संघर्ष लम्बा नही चला बल्कि मूलतया दस वर्ष पश्चात् नासिरुद्दीन महमूद के सिंहासन पर बैठ जाने मे ही समाप्त हो गया और इसके साथ-साथ शासन मे एक योग्य सरदार बलबन का प्रभुत्व हो जाने के कारण स्थिति सँभल गयी अन्यथा भारत के तुर्की राज्य को अधिक हानि उठानी पडती।

[1]

रुकनुद्दीन फीरोजशाह (1236 ई०)

इल्तुतमिश का सबसे बड़ा पुत्र नासिरुद्दीन महमूद उसका योग्य उत्तराधिकारी सिद्ध होता परन्तु 1229 ई० मे उसकी मृत्यु हो चुकी थी। तभी से इल्तुतमिश को अपना उत्तराधिकारी चुनने की आवश्यकता अनुभव हो रही थी। उसका दूसरा पुत्र फीरोज आलसी और विलासी था तथा उसके अन्य पुत्रो की आयु कम थी। ऐसी स्थिति में इल्तुतमिश ने अपनी योग्य पुत्री रजिया को अपना उत्तराधिकारी चुना। ग्वालियर पर आक्रमण करने के अवसर पर वह रजिया को शासन की देखभाल करने के लिए राजधानी दिल्ली में छोड़ गया और जिस कुशलता से रजिया ने उस कार्य की पूर्ति की उससे वह इतना अधिक प्रभावित हुआ कि ग्वालियर से वापिस आने पर उसने उसे अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया और चांदी के 'टंका' पर उसका नाम अंकित करा दिया। उस अवसर पर उसके कुछ अमीरो ने रजिया के स्त्री होने के नाते

उसका विरोध किया परन्तु इल्तुतमिश ने उनको यह कहकर शान्त कर दिया कि "मेरी मृत्यु के पश्चात् यह पता लग जायेगा कि मेरी पुत्री के अतिरिक्त मेरे पुत्रों मे से कोई भी शासक बनने के योग्य नही है।"[1] परन्तु अपनी मृत्यु से पहले इल्तुतमिश फीरोज को लाहौर से अपने साथ ले आया था। इससे कुछ इतिहासकारों ने यह अनुमान लगाया है कि इल्तुतमिश ने अपने अन्तिम समय मे फीरोज को अपना उत्तराधिकारी बनाने का निर्णय किया था। परन्तु इस बात के निश्चित प्रमाण प्राप्त नही होते। इस कारण माननीय यही है कि इल्तुतमिश ने अपनी पुत्री रजिया को ही अपना उत्तराधिकारी बनाया था।

परन्तु इल्तुतमिश की मृत्यु के बाद उसकी इच्छा का पालन नही किया गया। फीरोज का व्यक्तित्व आकर्षक था और उसकी माँ शाह तुर्कान (जो पहले एक दासी थी) महत्वाकांक्षी तथा कुचक्री थी। उस समय इल्तुतमिश के प्रान्तीय इक्तादार (सूबेदार) उसके पश्चिमी सीमा के अभियान से उसके साथ वापिस दिल्ली आये हुए थे। शाह तुर्कान ने उनके साथ मिलकर अपने पुत्र के पक्ष को दृढ कर लिया और इल्तुतमिश की मृत्यु होने के अगले दिन ही फीरोज को सुल्तान घोषित कर दिया गया। निस्सन्देह, फीरोज को सुल्तान बनाने में मुख्य भाग प्रान्तीय इक्तादारो (सूबेदारों) का था।

परन्तु फीरोज विलासी और अयोग्य था तथा उसकी माँ क्रूर सिद्ध हुई। फीरोज भोग-विलास में फँस गया और वह अनावश्यक रूप से जनता में धन बिखेरने लगा। उसकी माँ शाह तुर्कान ने शाही परिवार की स्त्रियो और बच्चों पर अत्याचार करने आरम्भ किये और शासन की शक्ति का स्वयं उपभोग करने लगी। उसके और फीरोज के व्यवहार से अमीरों और सरदारों मे असन्तोष हो गया और जब इल्तुतमिश के एक छोटे पुत्र कुतुबुद्दीन को अन्धा करके मरवा दिया गया तो सरदारो को फीरोज और उसकी माँ पर कोई भरोसा न रहा। इसके अतिरिक्त, फीरोज की अयोग्यता और उसकी माँ के शासन मे हस्तक्षेप करने से दरबार के अनेक अमीर और कुछ प्रान्तीय इक्तादार (सूबेदार) असन्तोष अनुभव कर रहे थे तथा विभिन्न स्थानों पर विद्रोह की तैयारियाँ होने लगी थी।

ऐसी स्थिति मे बनियान के शासक सैफुद्दीन हसन कार्लूग ने उच्छ पर आक्रमण किया परन्तु उच्छ के योग्य सूबेदार सैफुद्दीन ऐबक ने उसे परास्त करके वापिस जाने के लिए बाध्य किया।

परन्तु फीरोज आन्तरिक विद्रोहो से न बच सका। उसके भाई और अवध के सूबेदार गियासुद्दीन ने विद्रोह करके बंगाल से दिल्ली आने वाले खजाने और निकट के विभिन्न नगरों को लूट लिया। प्रान्तीय इक्तादारो (सूबेदारो) में से बदायूँ के इक्तादार मलिक इजाउद्दीन मुहम्मद सालारी, मुल्तान के इक्तादार मलिक इजूउद्दीन

---

1 "After my death it will be seen that no one of them will be found more worthy of the heir-apparentship than she, my daughter." —Sultan Iltutmish.
(मिनहाज के कथन पर आधारित, प्रो० के. ए. निजामी द्वारा उद्धृत)

कबीरखाँ ऐयाज, हाँसी के इक्तादार मलिक सैफुद्दीन कूची और लाहौर के इक्तादार मलिक अलाउद्दीन जानी ने सम्मिलित होकर विद्रोह किया और फीरोज को सिंहासन से उतारने के उद्देश्य से वे अपनी सेनाओं के साथ दिल्ली की ओर बढ़े। फीरोज अपनी सेना को लेकर उनके मुकाबले के लिए आगे बढ़ा। परन्तु उसकी सेना वफादार न थी और उसका वजीर निजामुल-मुल्क जुनैदी उसका साथ छोड़कर विद्रोहियो से जा मिला। जब फीरोज अपनी सेना को लेकर कुहराम की ओर बढ़ रहा था तब मार्ग में उसकी सेना के अधिकांश सैनिकों ने विद्रोह कर दिया, गैर-तुर्की सरदारों को कत्ल कर दिया और दिल्ली वापिस चले गये। इस प्रकार सेना के प्रमुख भाग ने फीरोज का साथ छोड़ दिया जिसके कारण विद्रोहियों का मुकाबला करने की बजाय उसे राजधानी की ओर वापिस लौटना पड़ा।

दिल्ली मे रजिया ने फीरोज की अनुपस्थिति का लाभ उठाया। शुक्रवार की नमाज के समय वह लाल वस्त्र (लाल वस्त्र वह पहनता था जो न्याय की माँग करता था) पहन कर जनता के सम्मुख गयी। उसने जनता को इल्तुतमिश की इच्छा को याद कराया, क्रूर शाह तुर्कान के विरुद्ध सहायता माँगी और सम्भवतया यह वायदा भी किया कि यदि शासक बनने का अवसर मिलने पर वह अयोग्य साबित हो तो उसका सिर काट लिया जाय। दिल्ली की जनता ने उत्साहित होकर उसका साथ दिया। फीरोज को छोड़कर आये हुए सैनिक और सरदारो ने भी रजिया का समर्थन किया। ऐसी स्थिति मे फीरोज के दिल्ली में प्रवेश करने से पहले ही रजिया को सिंहासन पर बैठा दिया गया। फीरोज की माँ शाह तुर्कान को कारागार में डाल दिया गया और स्वयं फीरोज को पकड़कर कत्ल कर दिया गया। इस प्रकार फीरोज का शासन-काल सात माह में समाप्त हो गया और रजिया ने दिल्ली का सिंहासन प्राप्त कर लिया।

फीरोज के सिंहासन पर बैठने और हटाये जाने से एक बात स्पष्ट होती है। फीरोज को सुल्तान बनाने मे सरदारो—मुख्यतया प्रान्तीय इक्तादारो (सूबेदारो)—का योगदान था और उसके सिंहासन से हटाये जाने मे उसके प्रति दिल्ली के नागरिकों का असन्तोष और उसके दिल्ली के सरदारो का उसके विरुद्ध विद्रोह करना था। निस्सन्देह, प्रान्तीय इक्तादारों (सूबेदारों) का विद्रोह भी इस घटना को बढावा देने वाला था यद्यपि उन्होंने प्रत्यक्ष रूप से इसमें भाग नही लिया था। इन घटनाओ ने भविष्य के इतिहास पर प्रभाव डाला। रजिया स्त्री थी, इस कारण सरदारो ने सुल्तान बनने के मामले मे हस्तक्षेप किया था। फीरोज अयोग्य निकला, इस कारण सरदारो ने पुनः सुल्तान बनने के मामले में हस्तक्षेप किया। दोनों बार उनका हस्तक्षेप सफल साबित हुआ। इससे उनका उत्साह और आत्म-विश्वास बढा। रजिया को सुल्ताना बनाने मे प्रान्तीय सूबेदारों का भाग न था इस कारण वे असन्तुष्ट रहे जिससे रजिया की प्रारम्भिक कठिनाइयाँ आरम्भ हुई। वास्तव मे परिस्थितियाँ कुछ इस प्रकार बन रही थी जिनमें दिल्ली के सरदार ही नही बल्कि प्रान्तीय सूबेदार भी सुल्तान को बनाने के निर्णय मे अपने अधिकार की माँग शक्ति के आधार पर कर रहे थे। इल्तुतमिश के

गुलाम-सरदार सिंहासन पर उसके वंश के अधिकार को स्वीकार करते हुए भी यह निर्णय अपने हाथों में रखने का प्रयत्न कर रहे थे कि उसके वंश मे से सुल्तान कौन होगा। इस प्रश्न का जो उत्तर रजिया ने दिया उसके कारण उसका सम्पूर्ण शासन-काल अपने सरदारों और इक्तादारो (सूबेदारों) से सघर्ष करने मे व्यतीत हुआ।

[2]

सुल्ताना रजिया *(1236-1240 ई०)*

सुल्ताना रजिया अपने योग्य पिता की योग्य पुत्री थी। इससे भी अधिक वह मध्य-युग की अद्वितीय स्त्री थी। व्यक्तिगत दृष्टि से उसने भारत में पहली बार स्त्री के सम्बन्ध में इस्लाम की परम्पराओं का उल्लंघन किया और राजनीतिक दृष्टि से उसने राज्य की शक्ति को सरदारों अथवा सूबेदारों में विभाजित करने की बजाय सुल्तान के हाथों में एकत्रित करने पर बल दिया और इस प्रकार इल्तुतमिश के सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न राज्यतन्त्र के सिद्धान्त का समर्थन किया, जो उस समय की परिस्थितियों में तुर्की राज्य के हित में था। परन्तु इसी कारण रजिया को प्रारम्भ से ही अनेक कठिनाइयो का मुकाबला करना पडा और वही उसके पतन का मुख्य कारण बनी।

रजिया के सिंहासन पर बैठने के अवसर पर बदायूँ, मुल्तान, हांसी और लाहौर के इक्तादार अपनी सेनाओ को लेकर दिल्ली की ओर बढ़ रहे थे। प्रान्तीय इक्तादारों ने फीरोज को सिंहासन पर बैठाने में मुख्य भाग लिया था और उसको सिंहासन से उतारने के लिए वे विद्रोही बनकर अपनी सेनाओं के साथ दिल्ली की ओर चले थे। दिल्ली में फीरोज के स्थान पर रजिया सुल्ताना बन चुकी थी। इससे उनका एक उद्देश्य तो पूरा हो चुका था। परन्तु रजिया को सुल्ताना बनाने में उन्होंने भाग नहीं लिया था। वे अपने इस अधिकार को छोड़ने के लिए तैयार न थे कि सुल्तान के चुनाव में उनकी सम्मति भी होनी चाहिए। इस कारण वे अपनी सेनाओ को लेकर दिल्ली तक पहुँच गये। वजीर निजामुल-मुल्क जुनैदी पहले ही फीरोज का साथ छोड़-कर उनसे जा मिला था और क्योकि रजिया के चुनाव मे उसका भी कोई योगदान न था अतएव वह भी रजिया को सुल्ताना मानने के लिए तैयार न हुआ। रजिया अपने प्रान्तीय इक्तादारों को यह अधिकार देने को तैयार न थी। इस कारण उसने इन आक्रमणकारी इक्तादारों से युद्ध करने का निश्चय किया और अपनी सेना को लेकर दिल्ली से बाहर निकल आयी। छुटपुट के युद्ध से कोई लाभ नही निकला। उसके पश्चात् रजिया ने चालाकी से कार्य लिया। उसने बदायूँ के इक्तादार (सूबेदार) मलिक इजाउद्दीन मुहम्मद सालारी और मुल्तान के इक्तादार मलिक इजूउद्दीन कबीरखाँ ऐयाज को गुप्त रूप से अपनी तरफ मिला लिया और उन्होंने वजीर जुनैदी और अन्य सरदारों को कैद करने का वायदा किया। इसकी सूचना अन्य सरदारों को हो गयी अथवा रजिया ने जान-बूझकर स्वयं यह सूचना उनके पास पहुँच जाने दी। इससे विद्रोही सरदारों का मनोबल समाप्त हो गया और वे भाग खडे हुए। उनका पीछा किया गया। हांसी का सूबेदार मलिक सैफुद्दीन कूची और उसका भाई फखरुद्दीन पकडे गये और बाद मे कारागार में मार डाले गये। लाहौर का सूबेदार मलिक

अलाउद्दीन जानी भी मारा गया और उसका सिर काटकर सुल्ताना के सम्मुख प्रस्तुत किया गया। वजीर जुनैदी सिरमूर की पहाड़ियों मे भाग गया और वही उसकी मृत्यु हुई। **इन विद्रोही सरदारों का दमन रजिया की कूटनीति और शक्ति की एक बड़ी** विजय थी। इस विजय के पश्चात् ही वह वास्तविक सुल्ताना होने का दावा कर सकी।

विद्रोही इक्तादारो को परास्त करने के पश्चात् रजिया ने अपने शासन को कौशल और शक्ति से दृढ किया और सफल हुई। **उसका प्रमुख लक्ष्य शासन से तुर्की गुलाम-सरदारों के प्रभाव को समाप्त करके उन्हें सिंहासन के अधीन बनाना था। उसने अपने विश्वासपात्र सरदारों को विभिन्न पदों पर नियुक्त किया।** विभिन्न पदो और सूबो मे उसने नवीन अधिकारियों की नियुक्ति की। ख्वाजा मुहाजबुद्दीन को वजीर, मलिक सैफुद्दीन ऐवक बहतू को सेना का प्रधान और उसकी मृत्यु के पश्चात् मलिक कुतुबुद्दीन हसन गोरी को 'नायब-ए-लश्कर' और मलिक इजुउद्दीन कबीरखाँ ऐयाज को लाहौर का इक्ता (सूबा) दिया गया। दो अन्य नियुक्तियाँ भी महत्वपूर्ण थी। मलिक-ए-कबीर इख्यिारुद्दीन एतगीन को 'अमीर-ए-हाजिब' का पद दिया गया और इख्तियारुद्दीन अल्तूनिया को भटिण्डा का इक्तादार (सूबेदार) बनाया गया। यह दो अधिकारी रजिया के कृपापात्र थे और उसी की कृपा से इतने श्रेष्ठ पदो पर पहुँचे परन्तु बाद मे रजिया के पतन में इन दोनो ने मुख्य भाग लिया। **एक अबीसीनियन मलिक जमालुद्दीन याकूत को रजिया ने 'अमीर-ए-अखूर' (अश्व-शाला का प्रधान) का सम्मानित पद दिया।** जमालुद्दीन याकूत रजिया का कृपापात्र था और वह रजिया के घोडे पर बैठने के अवसर पर उसे अपने हाथों का सहारा दिया करता था। इस कारण कुछ इतिहासकारो ने रजिया पर याकूत के साथ प्रेम-सम्बन्ध होने का आरोप भी लगाया है। परन्तु अधिकाश इतिहासकार इस आरोप को झूठा मानते हैं। याकूत सर्वदा से रजिया के प्रति वफादार था और **शासन में तुर्की गुलाम-सरदारों के एकाधिपत्य को समाप्त करने के लिए रजिया ने उसे यह पद दिया था जो शक्ति से अधिक सम्मान का था।** इसी कारण तुर्की सरदार इस नियुक्ति से बहुत असन्तुष्ट हुए और जमालुद्दीन याकूत उनकी ईर्ष्या तथा घृणा का पात्र बन गया। परन्तु तब भी जिस कौशल से रजिया ने अपने सरदारो को अपने अधीन किया वह इससे स्पष्ट होता है कि बगाल और बिहार के विद्रोही सरदार तुगुलखाँ ने भी रजिया के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया। **इस प्रकार रजिया का आधिपत्य उच्छ से लेकर लखनौती तक स्वीकार कर लिया गया।** परन्तु रजिया को रणथम्भोर और ग्वालियर को जीतने मे सफलता नही मिली जो इस बात का प्रमाण था कि इल्तुतमिश की मृत्यु के पश्चात् हिन्दू शासक पुनः शक्तिशाली बन गये थे।

परन्तु रजिया केवल इससे सन्तुष्ट न थी। **सुल्तान की शक्ति और सम्मान में वृद्धि करने के लिए उसने अपने व्यवहार में परिवर्तन किया।** उसने पर्दा त्याग दिया, मर्दाने कपड़े पहनकर दरबार लगाना आरम्भ किया, शिकार और घुड़सवारी करना आरम्भ किया और वह अपनी जनता के सम्मुख खुले-मुंह जाने लगी। रजिया के व्यवहार से प्रतिक्रियावादी मुसलमान-वर्ग अवश्य असन्तुष्ट हुआ होगा परन्तु यह

उसके विरुद्ध असन्तोष का मुख्य कारण न था। रजिया का यह व्यवहार इस बात का प्रमाण था कि वह सुल्तान की दृष्टि से एक पुरुष की भाँति कार्य करना चाहती थी और उसका स्त्री होना उसके शासन की दुर्बलता नहीं बन सकता था।

1238 ई० में गजनी और बनियान के ख्वारिज्म सूबेदार मलिक हसन कार्लूग ने मंगोलों के विरुद्ध रजिया से सहायता माँगी। रजिया ने उससे सहानुभूति प्रकट करते हुए 'बरन' की आय उसे दे देने का वायदा किया परन्तु सैनिक सहायता नहीं दी। इस प्रकार इल्तुतमिश की भाँति उसने भी मंगोलों के आक्रमण से अपने राज्य को बचाया।

रजिया के शासन के तीसरे वर्ष तक यह पूर्णतया स्पष्ट हो गया कि रजिया शासन को अपने हाथों में केन्द्रित करना चाहती थी। विदेशी और तुर्की मुसलमानों को विभिन्न प्रशासकीय पदों पर नियुक्त करना उसकी उस योजना का भाग था जिसके द्वारा वह गुलाम तुर्की सरदारों की शक्ति को तोड़ने का प्रयत्न कर रही थी। इसे तुर्की सरदार सहन नहीं कर सके। उन्होंने रजिया को सिंहासन से हटाकर अपनी शक्ति को कायम रखने का प्रयत्न किया और इस कारण उसके विरुद्ध षड्यन्त्र किया। उस षड्यन्त्र में दिल्ली और सूबों के वे सरदार जो प्रभावशाली 'चालीस सरदारों के गुट' के सदस्य थे, सम्मिलित थे। 'अमीर-ए-हाजिब' इख्तियारुद्दीन एतगीन, लाहौर के सूबेदार कबीरखाँ ऐयाज और भटिण्डा के सूबेदार इख्तियारुद्दीन अल्तूनिया ने उस षड्यन्त्र का नेतृत्व किया। परन्तु दिल्ली मे रजिया पूर्ण सुरक्षित थी। दिल्ली के नागरिक उसके प्रति वफादार थे, वह पूर्ण सचेत थी जिसके कारण महल मे कोई षड्यन्त्र सफल नही हो सकता था और दिल्ली पर आक्रमण करके उसे जीतने का प्रयत्न पहले की भाँति असफल हो सकता था। इस कारण रजिया को उसकी राजधानी से दूर ले जाकर ही समाप्त किया जा सकता था। इस आशय से 1240 ई० में लाहौर के इक्तादार (सूबेदार) कबीरखाँ ने विद्रोह किया। रजिया ने तुरन्त अपनी सेना को लेकर उस पर आक्रमण किया। यह आक्रमण इतनी शीघ्रता से हुआ कि अन्य षड्यन्त्रकारी सरदार कबीरखाँ की सहायता के लिए पहुँचने का अवसर न पा सके। अकेला कबीरखाँ रजिया से युद्ध मे परास्त हो गया और भाग खड़ा हुआ। रजिया ने उसका पीछा किया। चिनाब नदी के उस पार मंगोलों का आतंक था। इस कारण रजिया द्वारा वहाँ तक पीछा किये जाने पर कबीरखाँ ने आत्म-समर्पण कर दिया। रजिया ने उससे लाहौर की सूबेदारी छीन ली परन्तु उसे मुल्तान का सूबा प्रदान कर दिया। परन्तु रजिया को राजधानी में वापिस आये हुए कठिनाई से दस दिन ही हुए थे कि उसे भटिण्डा के सूबेदार अल्तूनिया के विद्रोह का समाचार मिला। अल्तूनिया रजिया के 'अमीर-ए-हाजिब' एतगीन का घनिष्ठ मित्र था और वह बहुत सावधानी से कार्य कर रहा था। रमजान के गर्मी के दिनों की परवाह न करके रजिया तुरन्त ही विद्रोह को दबाने के लिए चल दी। जिस समय रजिया भटिण्डा के किले के सामने अपनी सेना को लेकर खड़ी हुई थी, उस समय उसके तुर्की सरदारों ने उसे धोखा दिया। उन्होंने जमालुद्दीन याकूत का वध कर दिया और

रजिया के विरुद्ध विद्रोह करके उसे पकड़ कर भटिण्डा के किले में कैद कर दिया। रजिया के कैद हो जाने की सूचना पाते ही षड्यन्त्रकारियो ने तुरन्त इल्तुतमिश के तीसरे पुत्र बहराम को सिंहासन पर बैठा दिया जिसका निर्णय वे पहले ही कर चुके थे। षड्यन्त्रकारियो के नेता एतगीन के दिल्ली पहुँचने पर उसे 'नाइब-ए-मामलिकात' का एक नवीन पद दिया गया। यद्यपि उसके व्यवहार से असन्तुष्ट होकर सुलतान बहराम ने दो माह के अन्तर्गत ही उसका वध करा दिया।

विद्रोह की सफलता के पश्चात् अल्तूनिया को उसकी इच्छानुसार पद नहीं मिला। उसके मित्र एतगीन के वध के पश्चात् उसे किसी अच्छे पद की आशा भी नही रही। **उसने रजिया से विवाह कर लिया।** ऐसा करने से रजिया ने अपने सिंहासन को प्राप्त करने की आशा की थी और अल्तूनिया को अपने सम्मान और पद मे वृद्धि की आशा थी। बहराम से असन्तुष्ट हो गये सरदार मलिक सालारी और कराकश भी उनसे जा मिले। खोक्खर, राजपूत और जाटो को सम्मिलित करके **अल्तूनिया ने एक सेना एकत्र की और रजिया के साथ दिल्ली की ओर बढ़ना आरम्भ किया। परन्तु दिल्ली की संगठित सेना के मुकाबले उनकी पराजय** हुई और उन्हे भटिण्डा की ओर वापिस लौटना पडा। उनके सैनिक उनका साथ छोड गये और मार्ग मे कैथल के निकट कुछ **हिन्दू डाकुओं ने रजिया और अल्तूनिया का 13 अक्टूबर, 1240 ई० को वध कर दिया** जबकि वे एक वृक्ष के नीचे आराम कर रहे थे।

इतिहासकार मिनहाज-उस-सिराज के अनुसार रजिया ने 3 वर्ष, 6 माह, 6 दिन राज्य किया। दिल्ली की सुल्ताना बनने वाली वह एकमात्र स्त्री थी और

रजिया का मूल्यांकन

मिनहाज-उस-सिराज के अनुसार "उसमे वे सभी प्रशसनीय गुण थे जो एक सुल्तान मे होने चाहिए।" परन्तु वही इतिहासकार उसके चरित्र के गुणों को बताते हुए अन्त मे लिखता है कि "ये सभी श्रेष्ठ गुण उसके किस काम के थे?" निस्सन्देह, मिनहाज-उस-सिराज का यह कथन यह संकेत देता है कि रजिया की एकमात्र दुर्बलता उसका स्त्री होना था। **कुछ इतिहासकारों ने रजिया की असफलता का एक मुख्य कारण रजिया का स्त्री होना भी बताया है। परन्तु आधुनिक इतिहासकार इस धारणा से सहमत नहीं हैं।** निस्सन्देह रजिया स्त्री थी परन्तु यह उसके विरोधियों द्वारा उसे नष्ट करने का एक बहाना मात्र था। सुल्ताना रजिया ने स्त्री होकर भी स्त्री होने की किसी दुर्बलता का परिचय नही दिया। वह योग्य, शिक्षित, दयालु, कर्तव्य-परायण, साहसी, कुशल सैनिक और योग्य सेनापति थी। वह कौशलयुक्त और कूटनीतिज्ञ भी थी। वह राज्य के स्थायी हितो से अवगत थी और उनकी पूर्ति के लिए उसने निरन्तर प्रयत्न किये। सुल्तान की प्रतिष्ठा और शक्ति में उसकी आस्था थी और उसने उन्हें स्थापित करने का प्रयत्न किया। इल्तुतमिश को अपनी पुत्री की योग्यता में विश्वास था और उस पुत्री ने अपने पिता के विश्वास को झूठा सिद्ध नही किया।

रजिया स्त्री थी और उसने अपने भाई के विरुद्ध होकर दिल्ली के सिंहासन को प्राप्त किया था। परन्तु उसके पिता इल्तुतमिश ने उसे अपनी उत्तराधिकारिणी

बनाया था, उसका भाई अयोग्य शासक सिद्ध हुआ था और उसके शासक भाई की माँ शाह तुर्कान उसका कभी भी वध करा सकती थी। इस कारण रजिया का अपने भाई के विरुद्ध सिंहासन को प्राप्त करने का प्रयत्न उसकी सुरक्षा और उसके उचित अधिकार की पूर्ति के अनुकूल था। जहाँ तक स्त्री होकर शासक बनने का प्रश्न है, यह भारत में इस्लाम के समर्थकों के लिए एक नवीन बात अवश्य थी परन्तु इस्लाम के इतिहास के लिए नही। मिस्र, ईरान और ख्वारिज्म के साम्राज्यो मे स्त्रियो ने शासन-सत्ता का उपभोग किया था, और कर रही थी। जहाँ तक रजिया के व्यक्तिगत गुणों का प्रश्न है, सभी इतिहासकारो ने उनकी प्रशसा की है। तत्कालीन इतिहासकार इसामी ने उस पर जमालुद्दीन याकूत से अनुचित प्रेम-सम्बन्ध का आरोप लगाया था। परन्तु अविवाहित इसामी के इस आरोप को अन्य इतिहासकार स्वीकार नही करते। वह एक ऐसा सन्देह है जिसका कोई प्रमाण प्राप्त नही होता। कौशल और कूटनीति की दृष्टि से वह श्रेष्ठ थी। विद्रोही सरदारो मे फूट डालकर उन्हें परास्त करना, मलिक हसन कार्लूग को सहायता न देकर मगोल-आक्रमण से अपने राज्य को बचाना और उच्छ से लेकर लखनौती तक अपनी सत्ता को स्वीकार करा लेना इसके प्रमाण थे। वह एक कर्मठ सैनिक और योग्य सेनापति थी तथा प्रत्येक कष्ट और उत्तरदायित्व को स्वय उठाने के लिए तैयार रहती थी। यह इस बात से स्पष्ट होता है कि उसने प्रत्येक महत्वपूर्ण युद्ध में सेना का सचालन स्वय किया था। शासक के कर्तव्यों की पूर्ति करने के लिए उसने पर्दा करना छोड़ दिया था और अपने सरदारो तथा नागरिकों पर अपना प्रभाव रखने के लिए वह खुले-मुँह दरबार में बैठती थी तथा अपनी प्रजा के सम्मुख जाती थी। इससे उसकी लोकप्रियता मे कोई कमी नही आयी थी। यह इससे स्पष्ट होता है कि दिल्ली के नागरिक अन्त तक उसके लिए वफादार रहे थे जिसके कारण विद्रोही सरदारों ने रजिया को दिल्ली से बाहर ले जाकर ही अपने षड्यन्त्र मे सफलता प्राप्त की थी। रजिया के दिल्ली में रहते हुए किसी भी षड्यन्त्र की सफलता की आशा नही की जा सकती थी। रजिया यह विश्वास करती थी कि राज्य के हित और सुल्तान की प्रतिष्ठा को कायम रखने के लिए तुर्की गुलाम-सरदारों की शक्ति को तोडना आवश्यक है, इस कारण उसने प्रान्तीय इक्तादारो (सूबेदारों) के सुल्तान के चुनाव मे भाग लेने के प्रयत्न का विरोध किया था और इसी कारण उसने गैर-तुर्की सरदारों को बड़े-बड़े पद देने आरम्भ किये थे। प्रायः तीन वर्ष तक वह अपने उद्देश्य की पूर्ति मे सफल रही। वह अपने राज्य की सीमाओं की सुरक्षा कर सकी, सफलतापूर्वक शासन कर सकी और अपने तुर्की सरदारों को अपने अधीन रख सकी। इसके अतिरिक्त उसकी मुख्य विशेषता यह थी कि उसने अपने तुर्की अमीरों की सहायता से शासन नही किया बल्कि उनको अपने अधीन बनाकर शासन किया। परन्तु अन्त में रजिया असफल हुई। वह तुर्की अमीरो की शक्ति को न तोड़ सकी बल्कि उन्होंने उसे नष्ट कर दिया।

इस कारण रजिया की असफलता का मुख्य कारण तुर्की गुलाम-सरदारों की महत्वाकांक्षाएँ थीं। इल्तुतमिश के योग्य तुर्की सरदार जो राज्य मे बड़े से बड़ा पद

प्राप्त किये हुए थे और जिन्हें इल्तुतमिश ने अपनी शक्ति का आधार बना रखा था, उसके बच्चो के प्रति वफादार न रहे। इल्तुतमिश के पश्चात् एक शक्तिशाली उत्तराधिकारी की अनुपस्थिति ने उन्हे वह अवसर प्रदान कर दिया जिसमे वह सुल्तान के भाग्य-विधाता बन सकते थे। इसी के लिए वे मिलकर प्रयत्नशील रहे। परन्तु जब रजिया ने सुल्तान की शक्ति और प्रतिष्ठा को कायम करने के लिए उनकी शक्ति को दुर्बल करने का प्रयत्न किया तो वे रजिया के विरुद्ध हो गये और उन्होंने रजिया को समाप्त करने का प्रयत्न किया। अन्त में वे सफल हुए और उन्होंने रजिया के स्थान पर अपनी इच्छानुसार बहराम को सिंहासन पर बैठाने में सफलता पायी। यही रजिया के पतन का मुख्य कारण था। परन्तु तब भी इतिहास मे रजिया का सम्मानित स्थान है। डॉ० ए. एल. श्रीवास्तव ने लिखा है कि "उससे पहले और बाद के इल्तुतमिश-वश के अन्य सभी सदस्य व्यक्तिगत और चारित्रिक दृष्टि से उससे कहीं अधिक दुर्बल थे।"[1] प्रो० के. ए. निजामी ने लिखा है कि "इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि वह इल्तुतमिश के उत्तराधिकारियो में सबसे श्रेष्ठ थी।"[2]

[3]
मुईजुद्दीन बहरामशाह (1240-1242 ई०)

रजिया को हटाकर बहरामशाह को सिहासन पर बैठाना तुर्की सरदारो की विजय का प्रतीक था। इल्तुतमिश की मृत्यु के पश्चात् शक्ति के लिए जो संघर्ष **सुल्तान और उसके तुर्की गुलाम-सरदारों के गुट में हुआ उसमें तुर्की सरदारों के गुट की विजय हुई।** तुर्की सरदारो ने रजिया के व्यवहार से एक सबक और सीखा। वे अब सुल्तान को शासन मे कोई भी अधिकार देने को तैयार न थे। इस कारण उन्होने एक नवीन पद 'नाइब' उर्फ 'नाइब-ए-मामलिकात' बनाया और शासन के सम्पूर्ण अधिकार उस अधिकारी को सौप दिये जिससे शासन की वास्तविक शक्ति सुल्तान के स्थान पर उनमे से किसी एक के पास रह सके। सर्वप्रथम रजिया के विरुद्ध षड्यन्त्र करने वालो के नेता एतगीन को यह पद दिया गया। परन्तु क्या सुल्तान इस स्थिति को स्वीकार कर लेगा ?, क्या सुल्तान वास्तविक शासन-सत्ता को तुर्की सरदारो को देकर अपनी प्रतिष्ठा और अपने विशेष अधिकारो के बारे मे भी समझौता कर लेगा ?, आदि प्रश्नो का उत्तर सुल्तान बहरामशाह के शासन-काल मे मिला। सुल्तान ने अपनी प्रतिष्ठा और विशेषाधिकारो के सम्बन्ध मे तुर्की सरदारो से समझौता नही किया जिसके कारण उसे भी सिंहासन से हटना पड़ा और तुर्की सरदार अपनी शक्ति के विस्तार मे एक कदम और आगे बढ़ गये।

बहरामशाह इस शर्त पर सिंहासन पर बैठा था कि वह शासन के सम्पूर्ण अधिकार 'नाइब' को सौप देगा। बहरामशाह को सुल्तान की शान-शौकत और वाह्य दिखावट

1 "Other members of the dynasty of Iltutmish, both before and after her, were much weaker in personality and character." —Dr. A. L. Srivastava
2 "That she was the ablest of the successors of Iltutmish can hardly be denied." —Prof. K. A. Nizami.

में भी रुचि न थी परन्तु वह आतंकवादी और निर्भय होकर रक्त बहाने वाला था। सुल्तान बनने के दो माह पश्चात् ही उसने यह साबित कर दिया कि तुर्की सरदारो ने उसे पूर्णतया असहाय समझने में भूल की थी। उसने एतगीन को 'नाइब' स्वीकार कर लिया जबकि वजीर का पद मुहाजब्रुद्दीन के पास ही रहा। बहरामशाह ने 'नाइब' को शासन के अधिकार देने से तो इन्कार नही किया परन्तु जब एतगीन ने अपने महल के सामने 'नौबत' रखना और हाथी रखना आरम्भ किया तो वह असन्तुष्ट हो गया क्योंकि ये अधिकार सुल्तान के विशेषाधिकारो में से थे। अपनी स्थिति को दृढ करने के लिए एतगीन ने बहरामशाह की एक तलाकशुदा बहिन से विवाह कर लिया। बहरामशाह उसकी इन बढती हुई लालसाओ से इतना अधिक असन्तुष्ट हो गया कि उसने दो माह में ही उसके दफ्तर मे उसका वध करा दिया। तुर्की सरदारो में से एक प्रभावशाली सरदार का वध अत्यन्त महत्वपूर्ण बात थी परन्तु सम्भवतया पारस्परिक प्रतिस्पर्धा के कारण तुर्की सरदारों ने सुल्तान के विरुद्ध कोई कदम नही उठाया बल्कि *रजिया और इल्तुतमिश के विरुद्ध हुए युद्ध में उन्होंने सुल्तान का साथ दिया।*

परन्तु एतगीन का वध करने से बहरामशाह को शासन-शक्ति प्राप्त नही हुई। निरसन्देह 'नाइब' के पद पर किसी अन्य व्यक्ति की नियुक्ति नही हुई परन्तु अब 'अमीर-ए-हाजिब' बदरुद्दीन सकर रूमी ने वह सभी अधिकार हड़प लिये जो नाइब को प्राप्त थे। इस कारण बहरामशाह अब बदरुद्दीन सकर से ईर्ष्या करने लगा। बदरुद्दीन संकर ने बहरामशाह को सिंहासन से हटाने के लिए षड्यन्त्र किया परन्तु वजीर मुहाजबुद्दीन ने बहरामशाह को इस षड्यन्त्र से अवगत करा दिया क्योंकि वह भी बदरुद्दीन सकर से ईर्ष्या करता था। बहरामशाह ने षड्यन्त्रकारियो को तुरन्त बन्दी बना लिया परन्तु अपनी दुर्बलता को समझकर वह उन्हें कठोर दण्ड न दे सका। उनमें से कई को उनके पदों से हटा दिया गया और कई को दिल्ली से बाहर भेज दिया गया। बदरुद्दीन सकर को बदायूँ भेज दिया गया, परन्तु वह चार माह में ही दिल्ली वापिस आ गया। उसे कैद कर लिया गया और बाद मे उसका और एक अन्य सरदार सैयद ताजुद्दीन अली का वध कर दिया गया।

नाइब एतगीन के वध से तुर्की सरदारो में गम्भीर असन्तोष था परन्तु बदरुद्दीन और ताजुद्दीन के वध ने उन्हे अपनी रक्षा के लिए कटिबद्ध कर दिया। तुर्की उलेमा-वर्ग भी बहरामशाह से असन्तुष्ट हो गया था क्योंकि उनमे से कई को उसने दण्ड दिये थे और उनमे से एक 'मिहिर' के काजी का उसने वध करा दिया था। वजीर मुहाजबुद्दीन ने सरदारों के इस असन्तोष का लाभ उठाना चाहा। उसने बहरामशाह को सिंहासन से हटाने का प्रयत्न किया। 1241 ई० में जब मंगोलो ने पंजाब पर आक्रमण करके लाहौर को घेर लिया, तब वजीर को अवसर मिला। वह लाहौर की रक्षा हेतु भेजी गयी सेना के साथ स्वयं गया। मार्ग में उसने तुर्की सरदारों को यह कहकर भड़का दिया कि सुल्तान ने उसे उन सभी को गुप्त रूप से मार देने के आदेश दिये हैं। उसने वह आदेश-पत्र भी उन्हे दिखा दिया जिसे उसने स्वयं धोखे से सुल्तान से प्राप्त कर लिया था। इससे तुर्की सरदारो ने विद्रोह कर

दिया, सुल्तान को सिंहासन से हटाने की शपथ ली और दिल्ली वापिस चल दिये। बहरामशाह के कुछ वफादार गुलामों और दिल्ली के नागरिकों ने विद्रोही सेना का मुकाबला किया परन्तु उनकी पराजय हुई। बहरामशाह को बन्दी बना लिया गया और मई 1242 ई० मे उसका वध कर दिया गया। तुर्क सरदार किश्लूखाँ ने दिल्ली में सबसे पहले प्रवेश किया और महल पर अधिकार करके उसने अपने आप को सुल्तान बनाने का प्रयत्न भी किया परन्तु अन्य तुर्की सरदार इसके लिए तैयार न हुए। अन्त मे, फीरोजशाह के पुत्र अलाउद्दीन मसूदशाह को उन्होंने सुल्तान बनाया।

इस प्रकार एक बार फिर सुल्तान के विरुद्ध तुर्की सरदारों की विजय हुई। **सुल्तान बहरामशाह का शाही विशेषाधिकारों को सुरक्षित रखने का प्रयत्न असफल हुआ। यह स्पष्ट हो गया कि राज्य की वास्तविक शक्ति तुर्की सरदारों के हाथों में निहित थी और सुल्तान केवल नाममात्र का सुल्तान बनकर ही रह सकता था। परन्तु इसके साथ-साथ यह भी स्पष्ट था कि तुर्की सरदारों में से कोई भी एक अभी तक इतना अधिक शक्तिशाली न बन सका था जिससे अन्य सरदार उसे सुल्तान मानने को तैयार हो जाते।** इस कारण सुल्तान का पद इल्तुतमिश के एक वशज को ही दिया गया।

[4]

अलाउद्दीन मसूदशाह (1242-1246 ई०)

अलाउद्दीन मसूदशाह सुल्तान इल्तुतमिश के पुत्र सुल्तान फीरोजशाह का पुत्र था। उसे भी इसी शर्त पर सिंहासन सौपा गया था कि वह स्वय राज्य की शक्ति का प्रयोग नही करेगा बल्कि अपने नाइब के द्वारा करेगा। इस कारण 'नाइब' का पद पुन: स्थापित किया गया और उसे मलिक कुतुबुद्दीन हसन को दिया गया जो गोर से भागकर आया हुआ एक शरणार्थी था। परन्तु क्योंकि वह तुर्की सरदारो के दल का नही था, अतएव 'नाइब' के पद का वास्तविकता में कोई महत्व नही रहा। अन्य पदो पर तुर्की सरदारों के गुट के सदस्यो का बहुमत रहा यद्यपि कुछ नवीन सरदारों को भी इन पदों के वितरण मे सम्मिलित किया गया जो यह संकेत करता था कि तुर्की सरदारो के गुट की एकता पारस्परिक ईर्ष्या के कारण दुर्बल हो रही थी। शासन की वास्तविक सत्ता वजीर मुहाजबुद्दीन ने हथिया ली जो वास्तव मे एक 'ताजिक' (गैर-तुर्क) था। वजीर ने अपनी शक्ति मे वृद्धि करने के लिए तुर्की सरदारो को उनके पदो से हटाने का प्रयत्न किया परन्तु वह सफल न हुआ। तुर्की सरदारो ने वजीर को अपना पद छोड़ने के लिए बाध्य किया और उसके स्थान पर नजमुद्दीन अबू बक्र को वजीर बनाया। इस अवसर पर विभिन्न पदो को सरदारो में पुन: वितरित किया गया और इसमें 'अमीर-ए-हाजिब' का महत्वपूर्ण पद बलबन को प्राप्त हुआ।

बलबन 'चालीस तुर्की सरदारो के दल' में एक निम्न स्थान रखता था परन्तु अपनी योग्यता के कारण उसने यह पद प्राप्त किया था। 'अमीर-ए-हाजिब' का पद प्राप्त करके बलबन ने धीरे-धीरे तुर्की सरदारो का नेतृत्व प्राप्त कर लिया। उसने शासन-सत्ता अपने हाथो में रखी और तुर्की सरदारो का ध्यान राजपूतों और मंगोलो की ओर लगा दिया। इस कारण मसूदशाह का शासन तुलनात्मक दृष्टि से

अधिक शान्तिपूर्ण रहा तथा सुल्तान और सरदारों अथवा सरदारों-सरदारों के परस्पर झगड़े नही हुए।

परन्तु तब भी मसूदशाह के समय मे बगाल और बिहार के सूबेदार तुगानखाँ ने दिल्ली के आधिपत्य को मानने से इन्कार कर दिया और उसने अपने प्रतिद्वन्द्वी सरदार तथा अवध के सूबेदार तमरखाँ से निरन्तर झगड़ा किया। वास्तव मे, बगाल और बिहार दिल्ली के प्रभाव से मुक्त हो चुके थे, केवल तुगान और तमर की शत्रुता के कारण ही वे नाममात्र के लिए दिल्ली की अधीनता में थे। इसी प्रकार उच्छ और मुल्तान के सूबेदारो ने भी दिल्ली की अधीनता को मानने मे इन्कार किया और केवल मगोल-आक्रमणों का भय ही उन्हें नाममात्र के लिए दिल्ली की अधीनता को मानने के लिए बाध्य कर सका।

इस प्रकार मसूदशाह का शासन शान्तिमय होते हुए भी प्रभावपूर्ण न था। वास्तविकता मे **यह समय बलबन की शक्ति के निर्माण का था। सुल्तान मसूदशाह के हाथों में कोई शक्ति बाकी नहीं रह गयी थी** और बलबन धीरे-धीरे उस शक्ति को अपने हाथों में एकत्र कर रहा था तथा तुर्की सरदारो मे भी अपने प्रभुत्व को स्थापित कर रहा था। इस कारण जब बलबन के नासिरुद्दीन और उसकी माँ के साथ मिलकर मसूदशाह को सिंहासन से हटाने का षड्यन्त्र किया तो वह केवल महल तक सीमित रहा। जून 1246 ई० में मसूदशाह को सिंहासन से हटा दिया गया और उसके स्थान पर नासिरुद्दीन को सुल्तान बनाया गया। यह कार्य शान्तिपूर्ण ढंग से हो गया जो इस बात का प्रमाण था कि सुल्तान अपनी सत्ता को पूर्णतया खो चुके थे। मसूदशाह की मृत्यु कारागार में हुई।

[5]
नासिरुद्दीन महमूद (1246-1265 ई०)

नासिरुद्दीन महमूद 10 जून, 1246 ई० को सिंहासन पर बैठा। **उसके सुल्तान बनने के समय से राज्य-शक्ति के लिए जो संघर्ष सुल्तानों और उसके तुर्की सरदारो में चल रहा था, वह समाप्त हो गया। सुल्तान ने स्वयं कभी शासन नहीं किया।** वह शक्ति का अनुयायी रहा। तुर्की सरदार शक्तिशाली थे और बलबन उनका नेता था। उसने राज्य की शक्ति उन्हे और उनके नेता को सौप दी। यह कहा जाता है कि सुल्तान नासिरुद्दीन महत्वाकांक्षाओं से रहित और धर्म-परायण था। वह कुरान की नकल करता था, उनको बेचकर अपनी आय करता था और धार्मिक कार्यों में लगा रहता था। उसकी सादगी और सच्चरित्रता के बारे मे अनेक किवदन्तियाँ भी प्रचलित हुई। यह कहा जाता है कि उसकी पत्नी स्वयं भोजन बनाती थी। एक बार उँगलियो के जल जाने के कारण उसने अपने पति और सुल्तान से एक नौकरानी रखने के लिए कहा परन्तु सुल्तान ने इससे इन्कार कर दिया क्योंकि वह राज्य के धन को अपनी सुख-सुविधाओं पर खर्च करना नही चाहता था। परन्तु इन किवदन्तियों मे अतिशयोक्ति है। सुल्तान की पत्नी तुर्की सरदारों के प्रधान और राज्य के नाइब बलबन की पुत्री थी। यह कैसे सम्भव था कि उसकी सेवा में दासियाँ न हों? सर वूल्जले हेग

ने लिखा है कि 'एक अन्य अवसर पर सुल्तान ने इतिहासकार मिन्हाजुद्दीन की बहिन को 40 दास भेट-स्वरूप दिये थे।' इस कारण इतना स्वीकार करना पर्याप्त है कि सुल्तान दयालु और सहृदय प्रवृत्ति का व्यक्ति था। उसे हस्तलिपि का शौक था जिसके कारण वह कुरान की नकल करता था और सुल्तान के पद के बाह्य ऐश्वर्य के लिए लालायित होने के स्थान पर वह सादगी से सन्तुष्ट था। यह भी स्पष्ट है कि परिस्थितियां ने उसे इस बात के लिए बाध्य किया था, अन्यथा एक पूर्ण सरल प्रवृत्ति के व्यक्ति को राज्य-शासन की इच्छा ही नही होनी चाहिए थी। ऐसी स्थिति मे नासिरुद्दीन अपनी मां और बलबन के साथ मिलकर मसूदशाह को सिंहासन से उतारने का प्रयत्न न करता। वास्तविकता यह थी कि नासिरुद्दीन महत्वाकाक्षी न था और उसमे परिस्थितियों से समझौता करने की समझदारी थी। वह यह समझ सका कि उससे पहले के चार सुल्तानो का क्या परिणाम हुआ था। उनमे से प्रत्येक को सिंहासन छोड़ना पडा था और प्रत्येक का वध हुआ था क्योकि उन्होंने तुर्की सरदारो की शक्ति का विरोध करने का साहस किया था। 16 वर्ष की अवस्था के नासिरुद्दीन को ठीक मार्ग पर रखने के लिए यह भय काफी था। इसके अतिरिक्त वह उन तुर्की सरदारों के नेता की कृपा से ही सुल्तान बन सका था और वह ठीक प्रकार समझ गया था कि उनकी कृपा से ही वह शासक रह सकता था अन्यथा इल्तुतमिश-वंश के सभी व्यक्ति अभी मरे नही थे। जिस प्रकार उसने सिंहासन प्राप्त किया था, उसी प्रकार कोई अन्य भी सिंहासन प्राप्त कर सकता था। इतिहासकार इसामी ने नासिरुद्दीन की धार्मिक प्रवृत्ति की बहुत प्रशंसा की है परन्तु वह यह भी लिखता है कि "वह बिना उनकी (तुर्की सरदारों की) पूर्व आज्ञा के अपनी कोई राय व्यक्त नही करता था। वह बिना उनके आदेश के अपने हाथ-पैर तक नही हिलाता था। वह बिना उनकी जानकारी के न पानी पीता था और न सोता था।"[1] इसी कारण डॉ० के. ए. निजामी ने लिखा है कि "आत्मसमर्पण पूर्ण था।"[2] नासिरुद्दीन के शासन-काल मे कुछ थोड़े समय को छोड़कर शासन-सत्ता पूर्णतया उसके नाइब बलबन के हाथों में रही। आरम्भ मे बलबन 'अमीर-ए-हाजिब' था और अबू बक्र वजीर। परन्तु वास्तव मे शासन-सत्ता का उपभोग बलबन ही करता था। अगस्त 1249 ई० मे उसने अपनी पुत्री का विवाह सुल्तान नासिरुद्दीन से कर दिया। उस अवसर पर उसे 'नाइब-ए-मामलिकात' का पद देकर कानूनी रूप से शासन के सम्पूर्ण अधिकार सौंप दिये गये और उसे 'उलूगखाँ' की पदवी से भी विभूषित किया गया। बलबन के सभी सम्बन्धियों को राज्य मे सम्मानित पद दिये गये जिससे वह शासन-व्यवस्था पर पूर्ण नियन्त्रण रख सके।

बलबन को प्रायः एक वर्ष अपने पद से पृथक रहना पडा और उस समय में एक

---

1 "He expressed no opinion without their prior permission; he did not move his hands or feet except at their order He would neither drink water nor go to sleep except with their knowledge" —Isami

2 "The surrender was absolute." —Dr. K. A. Nizami

भारतीय मुसलमान रायहान ने शासन-संचालन किया। 1249 ई० में बलबन की पुत्री का विवाह सुल्तान से होने, उसके नाइब बनने और उसके सम्बन्धियो को बड़े-बड़े पद प्राप्त होने से दरबार के कुछ सरदार उससे ईर्ष्या करने लगे थे। इस कारण बलबन के विरुद्ध कुछ सरदारो का एक पृथक दल बन गया। उसमे कुछ तुर्की सरदार थे, सुल्तान नासिरुद्दीन की माँ उनके साथ थी और बाकी अन्य भारतीय मुसलमान थे जिनकी सख्या अब काफी हो गयी थी। सम्भवतया सुल्तान नासिरुद्दीन भी उनके साथ हो गया था। इस दल का नेतृत्व रायहान ने किया। उन सभी सरदारो के कहने मे 1253 ई० में सुल्तान ने बलबन को उसके पद से हटा दिया और उसे अपने सूबे हाँसी मे जाने की आज्ञा दी। बाद मे उसे नागौर भेज दिया गया। बलबन ने दोनो ही अवसरो पर सुल्तान की आज्ञा का पालन किया। राज्य के अन्य सरदारों के पदों में भी परिवर्तन किया गया। रायहान स्वय 'वकीलदार' बना और सम्पूर्ण शासन पर उसका अधिकार हो गया। बलबन के भाई और सम्बन्धियों को भी उनके पदों से हटा दिया गया और उनके स्थान पर नवीन अधिकारियों की नियुक्ति की गयी। मलिक मुहम्मद निजाम जुनैदी को वजीर, मिन्हाज को हटाकर शमसुद्दीन को मुख्य काजी और भटिण्डा तथा मुल्तान की सूबेदारी शेरखाँ के स्थान पर अर्सलाखाँ को दी गयी।

रायहान 'वकीलदार' (1253 ई०)

परन्तु रायहान बहुत अधिक समय तक अपनी स्थिति को दृढ न रख सका। तुर्की सरदार एक भारतीय मुसलमान की सत्ता को सहन न कर सके और उनमे से जो रायहान के साथ हो गये थे, वे पुन. बलबन के पक्ष मे हो गये। प्रान्तीय इक्तादारों (सूबेदारों) ने बलबन को सहायता का आश्वासन दिया। 1254 ई० में बलबन और उसके समर्थको ने अपनी सेनाएँ भटिण्डा मे एकत्र कर ली और उसके पश्चात् दिल्ली की ओर बढ़ना आरम्भ कर दिया। सुल्तान रायहान को साथ लेकर दिल्ली से बाहर निकला। दोनों विरोधी दलों की सेनाएँ समाना पहुँच गयी जहाँ युद्ध करने की बजाय समझौते की बातचीत आरम्भ हुई। रायहान ने सुल्तान को युद्ध करने की सलाह दी परन्तु सभी तुर्की सरदार बलबन के पक्ष मे हो गये थे। इस कारण सुल्तान जो शक्ति के साथ रहना पसन्द करता था, युद्ध के लिए तैयार न हुआ। अन्त में विद्रोही सरदारो की सलाह मानकर सुल्तान ने रायहान को उसके पद से हटा दिया और बलबन को पुन: 'नाइब' का पद दे दिया। रायहान को पहले बदायूँ और उसके पश्चात् बहराइच भेजा गया। बाद मे वह वही पर मारा गया। इस प्रकार भारतीय मुसलमानो द्वारा शासन-सत्ता को प्राप्त करने का प्रथम प्रयत्न असफल हुआ। रायहान के पतन का मुख्य कारण तुर्की सरदारों की ईर्ष्या थी जो भारतीय मुसलमानों से उतनी ही घृणा करते थे जितनी कि हिन्दुओं से जिसके कारण वे उसके अधीनत्व बर्दाश्त नही कर सके।

रायहान के पतन के पश्चात् बलबन ने नासिरुद्दीन के अन्तिम समय

बाद सत्ता का उपभोग किया। सभी महत्वपूर्ण पदों पर पुन: उसके समर्थकों की नियुक्ति की गयी, अधिकाश सरदारों ने उसकी सत्ता को स्वीकार कर लिया और यदि कभी किसी ने विरोध करने का साहस भी किया तो

बलबन पुनः नाइब
(1254-1265 ई०)

उसे समाप्त कर दिया गया जैसा कि मलिक कुतुबुद्दीन हसन के साथ हुआ। बलबन ने सुल्तान से 'छत्र' (सुल्तान के पद का प्रतीक) प्रयोग करने की आज्ञा माँगी थी और सुल्तान ने अपना छत्र उसके प्रयोग के लिए दे दिया था। कुतुबुद्दीन ने उसके विषय मे कुछ कह दिया जिसके कारण बलबन ने उसकी हत्या करा दी।

नाइब के रूप मे बलबन का मुख्य कार्य अपनी स्थिति को दृढ करना था। इसमे वह सफल हुआ। इसके अतिरिक्त उसके अन्य मुख्य कार्य दिल्ली सल्तनत की सीमाओ की सुरक्षा करना तथा आन्तरिक विद्रोहों को दबाना थे। इन कार्यों को करने

नाइब के रूप में बलबन के कार्य

के लिए वह निरन्तर प्रयत्नशील रहा परन्तु आशिक रूप मे सफल हुआ।

पूर्व मे बगाल का सूबा दिल्ली सुल्तानो के लिए सर्वदा कष्टदायक रहा था। इस अवसर पर सूबेदार तुगानखाँ ने दिल्ली की सत्ता को मानने से इन्कार कर दिया। परन्तु उडीसा में जाजनगर के हिन्दू राजा से परास्त हो जाने पर उसने दिल्ली सुल्तान से सहायता माँगी। तमरखाँ के नेतृत्व में भेजी गयी सेना के बगाल तक पहुँचने तक उडीसा की सेना वहाँ से वापिस जा चुकी थी परन्तु बलबन के इशारे से तमरखाँ ने तुगानखाँ से लखनौती को छीन लिया। तुगानखाँ को अवध की सूबेदारी दी गयी और बगाल दिल्ली के अधीन हो गया। इसके पश्चात् 1255 ई० मे तुगान के एक उत्तराधिकारी यूजबक-ए-तुगरिलखाँ ने सुल्तान की उपाधि ग्रहण कर ली। परन्तु 1257 ई० मे कामरूप के हिन्दू राजा पर आक्रमण करने के अवसर पर वह मारा गया और बंगाल फिर से दिल्ली के अधीन हो गया। लेकिन तीन या चार वर्ष के पश्चात् कडा के इक्तादार अर्सलाखाँ ने बगाल पर अधिकार कर लिया और वह एक स्वतन्त्र शासक की तरह व्यवहार करने लगा। इस प्रकार नासिरुद्दीन के समय में बगाल दिल्ली सल्तनत के प्रभुत्व से निकल गया।

उत्तर-पश्चिम में मंगोल-आक्रमणो, बनियान के शासक सैफुद्दीन कार्लूग की महत्वाकाक्षाओ और कश्लूखाँ सदृश विद्रोही सरदारो के विद्रोहों ने दिल्ली सल्तनत की स्थिति को दुर्बल बनाया। मुल्तान और सिन्ध पर दिल्ली का अधिकार अस्थिर रहा और मगोलो ने लाहौर तक अपना अधिकार कर लिया। यद्यपि बाद में वे उसे छोड गयें तब भी पंजाब का उत्तर-पश्चिम का सम्पूर्ण प्रदेश मगोलो के अधिकार मे रहा। परन्तु 1259 ई० मे मंगोल शासक हलाकू के साथ एक समझौता हो जाने के पश्चात् पजाब मे कुछ शान्ति हो गयी।

बलबन को अपनी बहुत कुछ शक्ति आन्तरिक विद्रोहो को दबाने मे लगानी पड़ी पश्चिम मे खोक्खर, मेवात में मेव (मेवाती), दोआब और बुन्देलखण्ड में होने वाले विद्रोह तथा मालवा और राजस्थान के राजपूत-शासकों ने उसे निरन्तर

व्यस्त रखा। बलबन को प्राय प्रत्येक वर्ष किसी न किसी स्थान पर विद्रोहों को दबाने के लिए जाना पड़ता था। इससे यह स्पष्ट होता है कि वह इन विद्रोहो को समाप्त करने मे पूर्ण सफल नही हुआ था। राजस्थान मे रणथम्भौर, ग्वालियर और बूँदी को जीतने के उसके प्रयत्न असफल रहे। जाजनगर (दक्षिणी बिहार) और कामरूप के शासकों ने तुर्क सेनाओ को पराजित करने में सफलता पायी। यह इस बात का प्रमाण था कि इल्तुतमिश के उत्तराधिकारियो के समय मे हिन्दू शासक अपनी शक्ति में वृद्धि करके दिल्ली सल्तनत से टकराने का साहस कर रहे थे।

इस प्रकार नाइब की दृष्टि से बलबन के समय मे कोई बहुत महत्वपूर्ण कार्य नही किये गये। वास्तव में सुल्तान के सम्मान और शक्ति मे कमी हो जाने और तुर्की सरदारों की महत्वाकाक्षाओं के पारस्परिक प्रतिस्पर्धा मे परिवर्तित हो जाने से दिल्ली सल्तनत और तुर्की राज्य का प्रभाव बहुत दुर्बल हो गया था। बलबन के लिए यही कार्य यथेष्ट था कि उसने तुर्की राज्य को नष्ट नही होने दिया और उसके प्रभाव को कायम रखने के लिए प्रयत्नशील रहा। इसके अतिरिक्त उसे अपनी स्थिति को भी दृढ़ रखना था जिसमे वह पूर्णतया सफल रहा और यही बलबन की सबसे बड़ी सफलता थी।

1265 ई० में सुल्तान नासिरुद्दीन की अकस्मात् मृत्यु हो गयी। इतिहासकार इसामी ने लिखा है कि बलबन ने नासिरुद्दीन को जहर देकर मरवा दिया था और फरिश्ता ने लिखा है कि बलबन ने इल्तुतमिश के कई वशजो का वध कर दिया जिसमे कोई उसके विरुद्ध सिहासन का दावेदार न बन सके। इस कारण प्रो० के. ए. निजामी का यह मत है कि बलबन ने नासिरुद्दीन को मरवा दिया था। मृत्यु के अवसर पर सुल्तान की आयु 36 वर्ष की थी जबकि बलबन उससे 20 या 24 वर्ष बड़ा था। इस कारण महत्वाकाक्षी बलबन पर ऐसा सन्देह किया जाना अस्वाभाविक भी नही है। परन्तु सर वूल्जले हेग और प्रो० हबीबुल्ला यह मत प्रकट करते हैं कि सुल्तान की अचानक मृत्यु हो गयी और क्योंकि उसके कोई बच्चा न था, अतएव बलबन स्वय सुल्तान बन गया। इनमें से सत्य कुछ भी हो परन्तु तथ्य यह है कि नासिरुद्दीन की मृत्यु के पश्चात् बलबन निर्विवाद सुल्तान बना।

6

गियासुद्दीन बलबन, कैकुबाद और क्यूमर्स

बलवन ने एक नवीन राजवंश 'बलवनी-वश' की नीव डाली यद्यपि इल्तुतमिश के वंश से उसके घनिष्ठ रक्त-सम्बन्ध हो गये थे। सुल्तान मसूदशाह और सुल्तान नासिरुद्दीन महमूद दोनों उसके दामाद थे और नासिरुद्दीन की दूसरी पत्नी से उत्पन्न एकमात्र पुत्री से उसके पुत्र बुगराखाँ का विवाह हुआ था।[1] सुल्तान नासिरुद्दीन के समय में बलवन नाइब था और राज्य की सम्पूर्ण शक्ति का उपभोग करता था। इस प्रकार बलवन के सुल्तान बनने से सुल्तान मे परिवर्तन हुआ, परन्तु शासन करने वाले मे नही। वास्तविकता मे नासिरुद्दीन का शासन बलवन का शासन था। यहाँ तक कि उसने सुल्तान के सम्मान के प्रतीक 'छत्र' का प्रयोग भी नासिरुद्दीन के समय मे ही आरम्भ कर दिया था।

[1]

गियासुद्दीन बलबन (1265-1287 ई०)

बहाउद्दीन बलवन के जन्म के बारे मे कुछ पता नही लगा है परन्तु सम्भवतया, जैसा कि डॉ० ए. एल. श्रीवास्तव ने लिखा है, वह 'इल्तुतमिश की भाँति इल्बारी तुर्क था।' वह बचपन में मंगोलों के द्वारा पकड़ा गया और उन्होने उसे बगदाद ले जाकर गुलाम के रूप में बेच दिया। उसे ख्वाजा जमालुद्दीन बसरी नामक एक व्यक्ति ने खरीदा जो उसे 1232-1233 ई० में गुजरात के मार्ग से दिल्ली ले आया। इल्तुतमिश ने 1233 ई० में ग्वालियर की विजय के पश्चात् उसे खरीदा। इल्तुतमिश उसकी योग्यता से प्रभावित हुआ और कुछ समय पश्चात् उसे 'खासदार' का पद प्राप्त हो गया। अपनी योग्यता और कार्यक्षमता के कारण रजिया के शासन-काल मे वह 'अमीर-ए-शिकार' के महत्वपूर्ण पद पर पहुँच गया। परन्तु रजिया के विरुद्ध षड्यन्त्र करने वाले तुर्की सरदारों मे से वह भी एक था और जब बहरामशाह सुल्तान बना तो उसे 'अमीर-ए-अखूर' (अश्वशाला का प्रधान) का पद

प्रारम्भिक जीवन

1 *The Foundations of Muslim Rule in India* by A. B. M Habibullah.

प्रतिष्ठा को स्थापित किये हुए शासन और सिंहासन के प्रति भय अथवा श्रद्धा प्राप्त करना असम्भव था, जो एक अच्छे शासन की प्रथम आवश्यकता थी। इल्तुतमिश की मृत्यु के पश्चात् एक के बाद एक हुए दुर्बल सुल्तानों के कारण सुल्तान का सम्मान नष्ट हो गया था। तुर्की गुलाम सरदारों और बाद के समय में स्वयं बलबन ने भी सुल्तान की शक्ति और सम्मान को नष्ट करने में योग दिया था। इस कारण यह स्पष्ट था कि जिन साधनों और तरीकों का उपयोग बलबन ने अपनी शक्ति के निर्माण के लिए किया था, उनको अब अपनी शक्ति की रक्षा के लिए नष्ट करना आवश्यक था। **तुर्की सरदारों की शक्ति और प्रभाव को नष्ट करना और जन-साधारण में सुल्तान के प्रति भय और सम्मान की भावना जाग्रत करना बलबन की प्रथम आवश्यकता तथा उसके मार्ग की सबसे बड़ी कठिनाई थी।** प्रो० ए. बी. एम. हबीबुल्ला ने लिखा है कि "इल्तुतमिश ने संस्था (दिल्ली सल्तनत अर्थात् सुल्तान के पद को कायम करने) की रूपरेखा का सिर्फ निर्माण ही किया था, उसको पुनर्जीवित करने और उसे उसकी स्थिति की पूर्णता तक पहुँचाने का कार्य बलबन के लिए छोड़ दिया गया था।"[1]

बलबन की दूसरी प्रमुख **कठिनाई दिल्ली सल्तनत को सुरक्षा और उसका संगठन था। उसकी अन्य सभी कठिनाइयाँ इससे सम्बन्धित थीं।** यद्यपि बलबन के समय में **मंगोलों के द्वारा भारत की विजय का भय न था परन्तु मंगोल-आक्रमणों से अपनी उत्तर-पश्चिम की सीमाओं की सुरक्षा करना बलवन की एक प्रमुख कठिनाई थी।** उत्तर-पश्चिमी पंजाब का सम्पूर्ण प्रदेश मंगोलों के हाथ में चला गया था। मंगोल भारत में और अधिक प्रवेश न कर सकें, यह बलबन की एक प्रमुख चिन्ता थी। **बंगाल नासिरुद्दीन के अन्तिम समय में स्वतन्त्र हो गया था।** अन्य सूबे इस **उदाहरण को अपने सम्मुख न रखें तथा बंगाल भी दिल्ली सल्तनत का अंग बना रहे, यह भी बलबन के लिए आवश्यक था।** इल्तुतमिश की मृत्यु के बाद से हिन्दुओं की आक्रमणकारी शक्ति बढ़ गयी थी। राजस्थान, दोआब, मालवा, बुन्देलखण्ड आदि सभी ऐसे प्रदेश थे जहाँ हिन्दू शासक अपनी शक्ति को पुन. स्थापित और विस्तृत करने का प्रयत्न कर रहे थे। **बलबन के लिए हिन्दू शासकों की इस आक्रमणकारी शक्ति को नष्ट करना आवश्यक था।** विभिन्न स्थानों पर होने वाले विद्रोह यह सिद्ध कर रहे थे कि दिल्ली सल्तनत की शक्ति का कोई भय नहीं रहा था। मेव (मेवाती) तथा कटेहर और दोआब के हिन्दुओं के विद्रोहों एवं उपद्रवों ने राज्य की सीमाओं के अन्तर्गत भी अशान्ति और अव्यवस्था उत्पन्न कर रखी थी। दिल्ली के निकट मेवों का इतना अधिक आतंक हो गया था कि कोई भी राजमार्ग सुरक्षित न था। दिल्ली नगर का पश्चिमी फाटक दोपहर की नमाज के बाद बन्द कर दिया जाता था। इतिहासकार बरनी ने लिखा है कि "दोपहर की नमाज से पहले भी वे (मेव) उन

---

1 "Iltutmish had only outlined the institution, *it was left to Balban to regenerate and raise it to its full stature.*" —Prof A B M Habibullah

पानी भरने वालों और दासियों को लूटते थे जो तालाब से पानी लेने जाती थीं। वे उनके कपड़े उतार कर ले जाते थे और उनको नग्न छोड़ देते थे।"[1] इन विद्रोहियों और लुटेरों को नष्ट करना भी राज्य के सम्मान और उसकी सुरक्षा के लिए आवश्यक था।

इस प्रकार बलबन के सम्मुख विभिन्न कठिनाइयाँ थीं। लेकिन बलबन योग्य, दूरदर्शी और व्यावहारिक व्यक्ति था। वह अपनी कठिनाइयों को ठीक प्रकार समझ सका और उसने दृढ़ता से उन्हें दूर करने का प्रयत्न किया। बलबन ने एक निश्चय यह किया कि राज्य-विस्तार का प्रयत्न वह उस समय तक नहीं करेगा जब तक कि जिस राज्य को उसने प्राप्त किया है उसकी सीमाओं की सुरक्षा और उन सीमाओं के अन्तर्गत शान्ति और व्यवस्था को स्थापित करने का प्रबन्ध नहीं कर लेता। जब उसके सरदारों ने उसे गुजरात और मालवा को विजय करने की सलाह दी तब उसने उनसे कहा कि "जब तक अपना राज्य अरक्षित है तब तक विदेशी भूमि पर आक्रमण करने की अपेक्षा अपने ही राज्य में शान्ति स्थापित रखना और अपनी शक्ति को संगठित करना अधिक श्रेयस्कर है।"[2] इस कारण बलबन का सम्पूर्ण समय आन्तरिक संगठन का है, साम्राज्य-विस्तार का नहीं।

बलबन के कार्य

1. बलबन का राजत्व-सिद्धान्त और सुल्तान की प्रतिष्ठा की स्थापना—बलबन दिल्ली सल्तनत का पहला शासक था जिसने सुल्तान के पद और अधिकारों के बारे में विस्तृत रूप से विचार प्रकट किये। प्रो० के. ए. निजामी ने लिखा है कि 'यह सुल्तान के सम्मान में वृद्धि करने तथा अन्य सरदारों के संघर्ष से बचने के लिए आवश्यक था परन्तु इसका एक कारण उसकी हीनता की भावना भी थी जिसके कारण वह अपने विचारों को निरन्तर व्यक्त करके अपने सरदारों को यह विश्वास दिलाना चाहता था कि वह किसी हत्यारे के छुरे अथवा जहर के प्याले के कारण सुल्तान नहीं बना है बल्कि ईश्वर की इच्छा के कारण बना है।' बलबन के राजत्व-सिद्धान्त की दो मुख्य विशेषताएँ थीं। प्रथम, सुल्तान का पद ईश्वर के द्वारा प्रदान किया हुआ होता है और द्वितीय, सुल्तान का निरंकुश होना आवश्यक है। उसके अनुसार "सुल्तान पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि (नियाबत-ए-खुदाई) है और उसका स्थान केवल पैगम्बर के पश्चात् है। सुल्तान को कार्य करने की प्रेरणा और शक्ति ईश्वर से प्राप्त होती है। इस कारण जनसाधारण या सरदारों को उसके कार्यों की आलोचना करने का अधिकार नहीं है।" उसने अपने पुत्र बुगराखाँ से कहा था कि "सुल्तान का पद निरंकुशता का

---

1 "But even before the afternoon prayers, (the Meos) molested water-carriers and slave-girls, who went to fetch water from the tank; they took off their clothes and left them nude." —Barani.

2 "Maintaining peace and consolidating our power in our own kingdom is far better than invading foreign territories, while our own dominion is insecure." —Balban.

(डॉ० के. ए. निजामी : बरनी के विवरण पर आधारित)

सजीव प्रतीक है ।"[1] उसका विश्वास था कि सुल्तान की विशेष स्थिति और सम्मान ही उसके नागरिकों को उसकी आज्ञा-पालन के लिए बाध्य कर सकते थे ।

अपने इन विचारों को बलबन ने व्यवहार में परिणत किया । अपने वंशानुगत अधिकार की लघुता को समझकर उसने अपने को विद्वान फिरदौसी की रचना 'शाहनामा' के शूरवीर पात्र अफ्रीसीयाब का वंशज बताया । सुल्तान की प्रतिष्ठा के अनुकूल उसने अपने व्यवहार को बहुत गम्भीर और एकाकी बना लिया । उसने अधिकांशतया एकान्त मे रहना आरम्भ कर दिया, शराब पीना बन्द कर दिया, विनोदप्रिय व्यक्तियों के साथ बैठना बन्द कर दिया और साधारण व्यक्तियो के साथ तो क्या छोटे अमीरो और सरदारों से भी मिलना बन्द कर दिया । दिल्ली के एक धनी व्यापारी ने सुल्तान से मिलने के लिए अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति देने का वायदा किया परन्तु तब भी वह बलबन से मिलने की स्वीकृति न पा सका । उसने न कभी किसी के सामने अस्वाभाविक हर्ष प्रकट किया और न कभी अपना दुख । जब उसे उसके सबसे बड़े और उसके उत्तराधिकारी प्रिय पुत्र महमूद की मृत्यु की सूचना राज-दरबार मे दी गयी तो वह विचलित हुए बिना राज्य-कार्य करता रहा, यद्यपि उसकी और उसके वंश की सम्पूर्ण आशाएँ उस शहजादे की मृत्यु के साथ समाप्त हो गयी थी और वह उसके लिए अपने निजी कक्ष में फूट-फूटकर रोया करता था । वह दरबार मे न हँसता था और न मुस्कराता था । वह कभी भी पूर्ण वेश-भूषा के बिना किसी के सम्मुख उपस्थित नही होता था । इस प्रकार बलबन ने अपने व्यवहार को 'व्यक्ति बलबन' के स्थान पर 'सुल्तान बलबन' मे ढाल दिया ।

दरबार के लिए भी उसने एक बड़े सुल्तान के दरबार के अनुरूप नियम बनाये और उन्हें कठोरता से लागू किया । इस दृष्टि से उसका आदर्श ईरानी बादशाह थे और उसने उनकी कई परम्पराओ को दरबार मे आरम्भ किया । उसने 'सिजदा' (भूमि पर लेटकर अभिवादन करना) और 'पैबोस' (सुल्तान के सिंहासन के निकट जाकर उसके चरणो को चूमना) की रीतियाँ आरम्भ कीं, ऊँचे और भयानक व्यक्तियों को अंगरक्षक बनाया जो उसके सिंहासन के दोनो तरफ चमचमाती हुई नंगी तलवारें लेकर खड़े रहते थे और बड़े-बड़े सरदारो के अतिरिक्त बाकी सभी व्यक्तियों को अपने दरबार मे खड़े रहने के आदेश दिये । दरबारियो के लिए शराब पीना निषिद्ध कर दिया गया और उन्हें विशेष वस्त्र धारण करके ही दरबार में आने की आज्ञा दी गयी । किसी भी व्यक्ति को दरबार में मुस्कराने अथवा हँसने की आज्ञा न थी । उसके दरबार मे प्रत्येक वर्ष ईरानी त्यौहार नौरोज बड़ी शान-शौकत के साथ मनाया जाने लगा । उसके दरबार की शान-शौकत को देखकर विदेशी व्यक्ति चकित रह जाते थे । 16वी सदी के एक लेखक ने बलबन के बारे मे लिखा था कि उसका चेहरा लम्बा था, उसकी दाढ़ी लम्बी थी और वह बहुत ऊँचा मुकुट पहनता था जिसके कारण

---

1 "Kingship is the embodiment of despotism." —Balban

(डॉ० के. ए. निजामी : बरनी के विवरण पर आधारित)

दाढ़ी से लेकर उसके मुकुट की ऊँचाई की लम्बाई प्राय. एक गज हो जाती थी। जब बलबन बाहर निकलता था तो नगी तलवारें लिये हुए तथा बिसमिल्लाह-बिसमिल्लाह कहते हुए भयकर शरीर-रक्षक उसके साथ चलते थे। शान-शौकत और सत्ता के इस प्रदर्शन का प्रभाव सरदारों और जन-साधारण पर आया और सुल्तान की व्यक्तिगत प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई। इसके अतिरिक्त बलबन ने विदेशों से आये हुए विद्वान व्यक्तियों और सम्मानित राज-पुरुषों को अपने दरबार मे स्थान दिया तथा उनके निवास-गृहों के नाम उनके देश अथवा वश के नाम पर रखे। इससे उसका विदेशो में सम्मान बढा और उसे मुस्लिम सभ्यता का संरक्षक माना जाने लगा। **अपने व्यक्तिगत व्यवहार और दरबार की शान-शौकत तथा सत्ता के प्रदर्शन से बलबन को सुल्तान की प्रतिष्ठा स्थापित करने में सहायता मिली,** इसमे सन्देह नही किया जा सकता।

2. तुर्की सरदारों अथवा चालीस गुलाम सरदारों के दल की समाप्ति—बलबन 'चालीस तुर्की सरदारो के गुट' का सदस्य रहा था। उसका एक सदस्य होने के नाते उसने सुल्तानो और सरदारों के बीच हुए सघर्ष में स्वयं सक्रिय भाग लिया था तथा उसी कारण वह सुल्तान के पद पर पहुँचा था। इस कारण वह भली-भाँति जानता था कि सुल्तान की प्रतिष्ठा और उसके वंश की सुरक्षा उस समय तक सम्भव नही है जब तक कि वह सरदारो के उस गुट को समाप्त नही कर देता। सुल्तान नासिरुद्दीन के समय में जब उसने 'नाइब' के रूप मे कार्य किया तभी से उसने इस 'चालीस सरदारो के गुट' (तुर्कान-ए-चिहालगानी) को नष्ट करने का प्रयत्न किया और उसके लिए सभी सम्भव साधनों का प्रयोग किया। जहर का प्याला अथवा हत्यारे का छुरा दोनों ही उसके लिए समान थे यदि वे उसके लक्ष्य की पूर्ति में सहायक थे। इस कारण जब तक वह सुल्तान बना उस समय तक इस दल के अधिकांश सदस्य या तो स्वय मर चुके थे अथवा बलबन द्वारा मार दिये गये थे। जो कुछ सरदार बाकी रह गये थे उन्हें उसने सुल्तान बनने के पश्चात् समाप्त कर दिया या उनके प्रभाव को नष्ट कर दिया। बदायूँ के इक्तादार (सूबेदार) मलिक बकबक को जन-साधारण के सम्मुख कोडों से पीटा गया क्योकि उसने अपने एक दास को कोडो से पीटकर मार दिया था। इसी प्रकार अवध के इक्तादार हैबातखाँ को अपने एक दास को जान से मार देने के अपराध मे 500 कोडे लगाये जाने की आज्ञा दी गयी। उसने मृत व्यक्ति की विधवा को बहुत-सा धन देकर मुक्ति पायी परन्तु वह इतना अधिक लज्जित हुआ कि अपनी मृत्युपर्यन्त वह अपने निवास-स्थान से बाहर नही निकला। प्रो० हबीबुल्ला ने बलबन के न्याय की प्रशंसा की है और निस्सन्देह बलबन जन-साधारण के प्रति न्यायपूर्ण था। परन्तु प्रभावशाली सरदारों के प्रति इस प्रकार के व्यवहार का कारण तो उनके प्रभाव और सम्मान को नष्ट करना ही हो सकता था, अन्य कुछ नही। बलबन अपने और अपने वंश के अधिकार की सुरक्षा और सम्मान के लिए किसी भी तरीके को अपनाने मे नही हिचकता था, यह डॉ० के. ए. निजामी के कथन से स्पष्ट होता है। उन्होने लिखा है कि "यद्यपि व्यक्ति और व्यक्ति के झगडो के सम्बन्ध मे बलबन न्यायपूर्ण था परन्तु जब कभी किसी एक व्यक्ति और

राज्य के हित में टकराव हुआ अथवा जब कभी उसके व्यक्तिगत या वश के हित से सम्बन्धित प्रश्न उपस्थित हुआ तब उसने न्याय और निष्पक्षता के सभी सिद्धान्तों को त्याग दिया।"[1] इसी कारण जब अवध का इक्तादार अमीनखाँ बंगाल के आक्रमण में विफल होकर वापिस लौटा तो बलबन ने उसे मृत्यु-दण्ड देकर अयोध्या के फाटक पर लटकवा दिया। इसके अतिरिक्त, बलबन ने अपने चचेरे भाई शेरखाँ पर सन्देह करके उसे जहर देकर मरवा दिया। शेरखाँ की मृत्यु से बलबन का सबसे शक्तिशाली और सम्भावित विरोधी सरदार समाप्त हो गया। इस प्रकार बलबन ने सभी महत्वपूर्ण तुर्की सरदारों को समाप्त कर दिया और 'चालीस सरदारो का गुट' नष्ट हो गया। उन सरदारो के स्थान पर छोटे सरदारों की पदोन्नति की गयी जो बलबन के प्रति वफादार हो सकते थे और जो कभी भी उसके साथ समानता का दावा नही कर सकते थे। **'चालीस सरदारो के गुट' को नष्ट करके बलबन ने सुल्तान की प्रतिष्ठा और आतंक को स्थापित करने में अवश्य सफलता प्राप्त की परन्तु जिस प्रकार उसने उनको नष्ट किया उससे भारत में तुर्की नस्ल का पराभव ही गया।** बाद के समय में तुर्क नस्ल ने अपनी शक्ति और योग्यता दोनों को खो दिया। प्रो० के. ए निजामी ने बलबन को भारत मे तुर्क-शक्ति के पतन के लिए दोषी बताया है। उन्होने लिखा है कि "अपने व्यक्तिगत और पारिवारिक हितो की सुरक्षा करने के लिए उसने तुर्की शासक-वर्ग के हितो को पूर्णतया भुला दिया। उसने तुर्की सरदारो की प्रतिभा को इतनी क्रूरता से नष्ट किया कि जब खलजी सिंहासन के लिए उनके प्रतिद्वन्द्वी बनकर सामने आये तब वे पूर्णतया असहाय और पराजित कर दिये गये। भारत मे तुर्की शक्ति के पतन मे बलबन के उत्तरदायित्व से इन्कार नही किया जा सकता।"[2]

3. सेना का संगठन—मध्य-युग में एक बडी और कुशल सेना के अभाव मे सुल्तान की शक्ति और प्रतिष्ठा की सुरक्षा सम्भव नही थी। मगोल-आक्रमणो से सुरक्षा तथा आन्तरिक विद्रोहों को दबाने के लिए भी बलबन को सेना का पुनर्गठन करना आवश्यक था। इसके अतिरिक्त, बलबन की निरंकुशता का आधार उसकी सेना की शक्ति ही हो सकती थी। इस कारण बलबन ने सेना को विशाल और कुशल बनाने का प्रयत्न किया। बलबन ने अपनी **सेना की संख्या में वृद्धि** की तथा हजारो अनुभवी और वफादार सैनिक-अधिकारियो की नियुक्ति की। उसने सैनिको के वेतन **में वृद्धि की। वह उनकी शिक्षा पर बल देता था** और स्वयं जाडो मे प्रत्येक दिन

---

1 [illegible] overboard [illegible] individual [illegible] interests [illegible] Nizami

2 [illegible] interests, he completely ignored [illegible] He destroyed the talent amongst [illegible] the Khaljis entered the field as [illegible]ey were completely outmanoeuvred [illegible] the fall of the Turkish power in [illegible] —Prof K. A. Nizami

एक हजार घुड़सवार और एक हजार पैदल सैनिकों को लेकर शिकार के बहाने रेवाड़ी तक जाता था और रात्रि हो जाने के पश्चात् वापिस आता था। उसने अपना सेना-मन्त्री (दीवान-ए-अर्ज) इमाद-उल मुल्क को नियुक्त किया जो बहुत ही ईमानदार और परिश्रमी व्यक्ति था। बलबन ने उसे वजीर के आर्थिक नियन्त्रण से भी मुक्त कर दिया जिससे उसे धन की कमी न हो। बलबन की सेना की अच्छी व्यवस्था का बहुत अधिक श्रेय इमाद-उल मुल्क को था। इसके अतिरिक्त, बलबन कभी भी अनावश्यक सैनिक कार्यवाहियाँ नहीं करता था, प्रत्येक सैनिक-आक्रमण की योजना स्वयं बनाता था और उसे अन्तिम दिन तक गुप्त रखता था तथा उसके सैनिकों को आज्ञा दी जाती थी कि वह निर्धनों और दुर्बलों को न सतायें।

बलबन ने उन सभी जागीरों की जाँच करायी जो विभिन्न व्यक्तियों को सैनिक-सेवा के बदले में पिछले शासकों द्वारा दी गयी थीं। उनमें से अनेक व्यक्ति ऐसे थे जो जागीरें प्राप्त करके उनके बदले में राज्य की कोई सेवा नहीं कर रहे थे। अनेक वृद्ध पुरुष, बच्चे अथवा विधवा स्त्रियाँ भी ऐसी जागीरों की मालिक थी। ऐसे सभी व्यक्तियों से जागीरें छीन लेने के आदेश दिये गये। जो व्यक्ति राज्य की सेवा के योग्य थे अथवा राज्य-सेवा कर रहे थे, उनकी जागीरों में आय एकत्र करने का अधिकार सरकारी कर्मचारियों को दिया गया और जागीरदारों को नकद धन देने के आदेश दिये गये। परन्तु बलबन को अपने इन आदेशों में थोड़ा परिवर्तन करना पड़ा। अनेक वृद्ध पुरुष और विधवा स्त्रियाँ सुल्तान के मित्र कोतवाल फख-रुद्दीन की शरण में पहुँची और सुल्तान से उनकी सिफारिश करने की प्रार्थना की। वृद्ध कोतवाल के कहने से बलबन ने ऐसे असहाय व्यक्तियों को उनकी जागीरें वापिस दे देने की आज्ञा दे दी। इस कारण बलबन की यह सुधार-योजना व्यर्थ हो गयी।

इसके अतिरिक्त सेना का केन्द्रीकरण किया गया हो, ऐसा कोई प्रमाण प्राप्त नहीं होता। सैनिकों को वेतन नकद दिया जाता हो, ऐसी भी कोई बात नहीं थी। सैनिकों को वेतन के स्थान पर पहले की भाँति ही भूमि प्राप्त होती रही। इक्तादारों और सरदारों को अपनी सेना की व्यवस्था करने का स्वयं अधिकार रहा। इस कारण सेना के संगठन में दोष रहे। परन्तु तब भी बलबन के समय में सेना की शक्ति में वृद्धि हुई, इसे सभी स्वीकार करते हैं।

4. शासन और गुप्तचर-विभाग का संगठन—बलबन का शासन अर्द्ध-सैनिक और अर्द्ध-असैनिक था। उसके सभी पदाधिकारियों से सैनिक और प्रशासकीय दोनों ही प्रकार की सेवा की आशा की जाती थी। बलबन ने शासन का नियन्त्रण पूर्णतया अपने हाथों में रखा था। उसके समय में अन्य पदाधिकारियों का ही नहीं बल्कि वजीर के पद का भी महत्व घट गया था और 'नाइब' जैसा कोई अधिकारी ही न रहा था। बलबन प्रत्येक अधिकारी की नियुक्ति की स्वयं देखभाल करता था। बलबन के शासन की एक विशेषता यह भी थी कि वह केवल उच्च वंश के व्यक्तियों को ही अधिकारियों के पद पर नियुक्त करता था। निम्न वंश के व्यक्तियों से उसे घृणा थी। अमरोहा में एक भारतीय मुसलमान को एक सामान्य अधिकारी का पद

देने से भी वह असन्तुष्ट हुआ था। शासन के सम्बन्ध में उसके क्या विचार थे यह उसके द्वारा अपने पुत्रों को दी गयी सलाह से पता लगता है। उसने सलाह दी थी कि—[1]

1. एक शासक को दुर्बलों को शक्तिशालियों से बचाना चाहिए।

2. शासन न बहुत कठोर होना चाहिए और न बहुत उदार। कर न इतने अधिक होने चाहिए कि जनता असहाय और निर्धन हो जाय और न इतने कम होने चाहिए कि जनता उद्दण्ड हो जाय।

3. शासक का यह कर्तव्य है कि वह एक ऐसी व्यवस्था स्थापित करे जिसमें कृषि-उत्पादन पर्याप्त हो।

4. राज्य की अर्थ-व्यवस्था योजनाबद्ध होनी चाहिए। आय में से आधी आय व्यय करनी चाहिए और आधी आय संकट के लिए सुरक्षित रखनी चाहिए।

5. राज्य के आदेशों का पालन होना चाहिए और उसके निर्णयों में जल्दी-जल्दी परिवर्तन नहीं होना चाहिए।

6 शासक को व्यापारियों को समृद्ध और सन्तुष्ट बनाये रखने के प्रयत्न करने चाहिए।

7. सैनिकों को ठीक समय पर वेतन मिलना चाहिए तथा शासक को ऐसा प्रबन्ध करना चाहिए जिससे सेना सन्तुष्ट एवं प्रसन्न रहे।

उपर्युक्त सिद्धान्तों पर बलबन ने भी कार्य किया और उसने एक ऐसी शासन-व्यवस्था को स्थापित करने में सफलता पायी जिसमें जन-साधारण न्याय और शान्ति प्राप्त कर सका।

परन्तु बलबन के शासन की सफलता का एक मुख्य आधार उसका गुप्तचर-विभाग था। बलबन ने अपने पुत्रों, इक्तादारों, सैनिक-अधिकारियों, प्रशासकीय अधिकारियों आदि सभी के साथ अपने गुप्तचर (बरीद) नियुक्त किये थे। प्रत्येक इक्ता (सूबा) और जन-साधारण में भी उसके गुप्तचर रहा करते थे। बलबन स्वयं उनकी नियुक्ति करता था और उन पर पर्याप्त धन व्यय करता था। उनसे आशा की जाती थी कि वे प्रत्येक महत्वपूर्ण सूचना को प्रत्येक दिन सुल्तान के पास भेजेंगे। यदि उनमें से कोई भी अपने कर्तव्य की पूर्ति में असफल हो जाता था तो उसे कठोर दण्ड दिया जाता था। गुप्तचर सुल्तान से सीधा सम्पर्क स्थापित करते थे यद्यपि उनमें से कोई भी दरबार में खुले तौर से सुल्तान के निकट नहीं जाता था। इस प्रकार, बलबन ने एक अच्छा गुप्तचर-विभाग संगठित किया।

5. **विद्रोहों का दमन और शान्ति-व्यवस्था**—बलबन की एक मुख्य समस्या हिन्दू विद्रोहियों का दमन था। दोआब, बदायूँ, अमरोहा, कटेहर आदि स्थानों पर ही विद्रोह नहीं होते थे बल्कि दिल्ली का नागरिक जीवन भी अरक्षित था। विद्रोही और लुटेरे राजमार्गों पर आक्रमण करते थे, व्यापारियों को लूटते थे और लगान-

[1] प्रो० के. ए. निजामी (बरनी के विवरण पर आधारित)।

अधिकारियों को पीटकर भगा दिया करते थे। राज्य की शान्ति और सम्मान की सुरक्षा के लिए इन विद्रोहों को समाप्त करना आवश्यक था। सिंहासन पर बैठते ही बलबन ने सर्वप्रथम दिल्ली की सुरक्षा का प्रबन्ध किया जहाँ मेवों (मेवातियों) ने आतंक फैला रखा था। दिल्ली के आस-पास के जंगल साफ कर दिये गये, चारों दिशाओं में चार किलों का निर्माण करके वहाँ अफगान सैनिकों की नियुक्ति की गयी तथा लुटेरों और विद्रोहियों पर निरन्तर आक्रमण किये गये। **एक ही वर्ष में दिल्ली को इन लुटेरों के आतंक से मुक्त कर दिया गया। दूसरे वर्ष बलबन ने दोआब और अवध के विद्रोहों को दबाया।** सम्पूर्ण विद्रोही प्रदेश को सैनिक-क्षेत्रों मे बाँट दिया गया। मुख्य स्थानों पर सैनिक चौकियाँ बनायी गयी, जंगल साफ किये गये, विभिन्न स्थानों पर सैनिक टुकड़ियाँ नियुक्त की गयी और घूम-घूम कर विद्रोहियों का दमन किया गया। इसके पश्चात् **सुल्तान कटेहर गया।** कटेहर में बलबन ने नृशंसता का व्यवहार किया। गाँव के गाँव जला दिये गये और सभी पुरुषों का वध कर देने के आदेश दिये गये। **सुल्तान की आतंक की यह नीति सफल रही और उसने प्रारम्भिक कुछ वर्षों में ही अपने राज्य की सीमाओं** के अन्तर्गत शान्ति की स्थापना करने में सफलता प्राप्त की। साथ ही सुल्तान ने जंगलों को साफ करने, सड़कों का निर्माण करने और उनकी सुरक्षा की व्यवस्था करने की नीति को भी अपनाया और वह भी उसकी सफलता का कारण बनी।

6. **बंगाल-विजय**— बंगाल पर दिल्ली सल्तनत का आधिपत्य सर्वदा ही अस्थिर रहा था। नासिरुद्दीन महमूद के समय में अर्सलाखाँ ने अपने को स्वतन्त्र शासक घोषित कर दिया था। परन्तु **जब बलबन सिंहासन पर बैठा, उस समय अर्सलाखाँ के पुत्र और उत्तराधिकारी तातारखाँ ने दिल्ली के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया** और बलबन को 63 हाथी भेंट में भेजे। **कुछ समय पश्चात् तातारखाँ को हटाकर तुगरिलखाँ को बंगाल का इक्तादार बनाया गया** जो बलबन का एक योग्य गुलाम सरदार था। तुगरिलखाँ ने जाजनगर के शासक को परास्त किया और वहाँ से बहुत-सा धन तथा हाथी प्राप्त किये। उसने उनमें से कोई भेंट बलबन को नही भेजी। जाजनगर के विरुद्ध उसकी सफलता ने उसे प्रोत्साहन दिया। उसे यह भी ख्याल था कि सुल्तान वृद्ध हो चुका है और मंगोल-आक्रमणों से भयभीत है, इस कारण वह बंगाल की ओर ध्यान न दे सकेगा। इन परिस्थितियों से लाभ उठाने का निश्चय करके **तुगरिलखाँ ने 1279 ई० में विद्रोह कर दिया।** उसने 'सुल्तान मुगीसुद्दीन' की उपाधि ग्रहण की, अपने नाम के सिक्के चलाये और खुतबा पढ़वाया। तुगरिलखाँ के इस विद्रोह से बलबन को एक बड़ा धक्का लगा। यह एक गुलाम सरदार का पहला विद्रोह था। यदि वह सफल हो जाता तो बलबन की सम्पूर्ण व्यवस्था नष्ट हो जाती। इस कारण उस विद्रोह को दबाना बलबन की एक मुख्य आवश्यकता हो गयी। विद्रोह का समाचार मिलते ही उसने अवध के इक्तादार अमीनखाँ को बंगाल पर आक्रमण करने के आदेश दिये। परन्तु अमीनखाँ की पराजय हुई और उसकी सेना नष्ट हो गयी। बलबन ने क्रोधित होकर अमीनखाँ को अयोध्या के फाटक पर

नदी के पश्चिमी प्रदेश पर आक्रमण कर सका और न वह उनके भय को सर्वदा के लिए समाप्त कर सका।

बलवन काफी वृद्ध हो चुका था। शहजादा मुहम्मद की मृत्यु ने उसको बहुत दुखी कर दिया। बलवन की सम्पूर्ण आशाएँ उसमें केन्द्रित थी। उसका दूसरा पुत्र बुगराखाँ विलासी और आरामपसन्द था। उससे बलवन को अपने वंश की सुरक्षा की आशा न थी। बलवन बीमार हो गया और उस समय उसने बुगराखाँ को बंगाल से बुला लिया। उसका आशय उसको अपना उत्तराधिकारी बनाने का था। परन्तु बुगराखाँ ने बंगाल के आरामपसन्द और स्वतन्त्र जीवन को अधिक पसन्द किया और चुपके से बंगाल वापिस चला गया। बलवन ने अपने बडे पुत्र महमूद के पुत्र कैखुसरव को अपना उत्तराधिकारी चुना और कुछ समय पश्चात् 1287 ई० के मध्य मे उसकी मृत्यु हो गयी।

मृत्यु

डॉ० ए. एल. श्रीवास्तव ने बलवन के मुख्यतया दो दोष बताये हैं। प्रथम, "वह धर्मान्ध था तथा अपनी बहुसंख्यक प्रजा के प्रति उसका व्यवहार असहिष्णुतापूर्ण था।" द्वितीय, "उसमे रचनात्मक प्रतिभा का अभाव था। उसमे व्यवस्था कायम करने की शक्ति थी, नयी चीजों का आविष्कार करने की नही।"[1] इसके अतिरिक्त, उन्होने उसकी प्रशसा की है और तथाकथित गुलाम सुल्तानों मे इल्तुतमिश के पश्चात् वे उसे दूसरा स्थान प्रदान करते है। प्रो० ए. बी. एम. हबीबुल्ला ने बलबन की नीति मे एक मुख्य दोष यह बताया है कि उसने भारतीय मुसलमानों के प्रभाव को राजनीति और शासन में स्वीकार नही किया। वह लिखते है कि "वह अपने को मुसलमानों का शासक मानने के स्थान पर तुर्की संप्रभुता का संरक्षक अधिक मानता था।"[2] उनका कहना है कि "अप्रत्यक्ष रूप से परन्तु काफी द्रुतगति से भारत तुर्की राज्य से वदलकर भारतीय मुसलमान राज्य मे परिवर्तित होता जा रहा था और तुर्कों की श्रेष्ठता को स्थापित रखना असम्भव था। बलवन ने नस्ल की श्रेष्ठता के सिद्धान्त में विश्वास करते हुए इसका विरोध किया। यह उसकी एक बड़ी भूल थी। उसकी मृत्यु के पश्चात् तुर्क भारत के भाग्य-विधाता नही रहे।" इसके अतिरिक्त, वह भी बलबन के कार्यों की प्रशसा करते है।

बलबन का मूल्यांकन

परन्तु बलवन की सबसे अधिक दुर्बलताएँ प्रो० के. ए. निजामी ने बतायी हैं। वह उसे राज्य मे शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने का श्रेय तो प्रदान करते हैं परन्तु अन्य बातों में उसकी असफलताओं की ओर स्पष्ट सकेत करते है। वह लिखते हैं कि "बलवन की तुर्कों की श्रेष्ठता को कायम रखने की नीति ने लाभ के स्थान पर

1 "He was not a constructive genius He possessed an orderly, but not an inventive intellect." —Dr. A. L Srivastava

2 "He considered himself more the custodian of Turkish sovereignty than a king of Mussalmans" —Prof A. B. M. Habibullah

हानि अधिक पहुँचायी। इसके अतिरिक्त, बलबन की सबसे बडी असफलता उसकी सेना के विषय मे थी। लखनौती के विद्रोह को दबाने में उसे छः वर्ष लगे थे, राजपूत-शासको के विरुद्ध वह कोई कदम नही उठा सका था और उसके अधिकारी मगोल-आक्रमणों के विरुद्ध असफल रहे थे। वह बताते हैं कि इसका मुख्य कारण अच्छे सैनिक अधिकारियों की कमी थी। मध्य-एशिया में मंगोलो का प्रभाव बढ जाने के कारण तुर्क भारत मे बडी सख्या में आ नही सके थे और बलबन तुर्कों के अतिरिक्त किसी अन्य नस्ल के व्यक्तियों को कोई निम्न पद तक देने को तत्पर न था। उसकी सैनिक दुर्बलता पर प्रकाश डालते हुए वह लिखते है कि "बलबन ने कभी भी किसी राजपूत राय से युद्ध करने का खतरा नही उठाया। इसके लिए उसने मंगोलो की महान् शक्ति के भय का बहाना किया। परन्तु बलबन के सिंहासन पर बैठने से एक वर्ष पहले ही हलाकू (हुलागू) की मृत्यु हो चुकी थी और बलबन को स्पष्ट ज्ञान होना चाहिए था कि मिस्र-निवासियो की विजय ने हलाकू को शीघ्र ही कब्र की ओर भेज दिया था तथा पर्शिया के इल-खाँ (मगोल-शासक) पर्याप्त रूप से सुरक्षित भारत के लिए कोई खतरा उपस्थित नही कर सकते थे। अलाउद्दीन खलजी तो क्या इल्तुतमिश के मापदण्ड से देखते हुए भी बलबन प्रत्येक प्रकार से असफल रहा। अपनी राजनीतिक सत्ता के दैवी-उत्पत्ति सिद्धान्त के प्रत्येक प्रकार के दिखावे और दावे के बावजूद भी उसने किसी भी राजपूत किले पर आक्रमण करने का खतरा नही उठाया। धर्म के प्रति भक्ति-भाव रखते हुए और धार्मिक प्रवचनो के अवसर पर आँसू बहाने के पश्चात् भी वह एक सप्रभु-सुल्तान की भाँति अपने पदाधिकारियों को अपनी सार्वजनिक आज्ञाओं के द्वारा काबू मे न रख सका बल्कि उसे जहर के प्याले और हत्यारे के छुरे का सहारा लेना पडा। बगाल के विद्रोही सूबेदार तुगरिल ने बलबन द्वारा उसके विरुद्ध भेजी गयी दो सेनाओ को परास्त किया और बलबन उस सूबे को तीन वर्ष के अभियान के पश्चात् ही अपने अधिकार मे कर सका। निश्चय रूप से साधनहीन 'इल-खाँ-राज्य' के एक सीमावर्ती अधिकारी ने उसके बडे पुत्र को परास्त करने में सफलता पायी।"[1] वह पुनः लिखते हैं कि "यद्यपि उसने एक पुलिस के व्यक्ति की भाँति शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने के कर्तव्यो की पूर्ति की परन्तु एक भी

---

1 "Balban never ventured to fight a Rajput Rai His excuse was the great power of the Mongols. But Halaku had died a year before Balban's accession and Balban must have known that the victory of the Egyptians had driven Halaku to an early grave and that the 'Il Khans' of Persia were no danger to a properly protected India Judged by the standards of Iltutmish, not to speak of Alauddin Khalji, Balban failed all along the line For all his pretensions and claims to the divine origin of his political power, he never ventured to attack a Rajput fort. In spite of his religious devotions and tears at religious sermons, he could not control his officers by public farmans (decrees) like a sovereign king but had to resort to the poisoned cup and the assassin's dagger Tughril, the rebel governor of Bengal, defeated the two armies which Balban sent against him, and Balban could only bring the province under control after a campaign of three years. A frontier officer of the Il Khan-i-kingdom—a kingdom confessedly without any resources—succeeded in defeating and killing his elder son." —Prof. K. A. Nizami.

ऐसा कानून या नियम प्राप्त नही होता जिसके कारण बलबन को याद किया जा सके। विद्रोहियो मे सबसे अधिक शान्त और वृद्ध जलालुद्दीन खलजी ने तुर्की गुलाम सरदारों के शासन को उलट दिया। यह निश्चय रूप मे साबित करता है कि वह व्यवस्था (बलबन की) कितनी दुर्बल और कीड़ों द्वारा खायी हुई हो चुकी थी।"[1]

निस्सन्देह बलबन की शासन-व्यवस्था में दोष थे। डॉ० ए. एल. श्रीवास्तव और प्रो० हबीबुल्ला ने भी बलबन की शासन-व्यवस्था के दोषों को बताया है। बलबन की मृत्यु के तीन वर्ष के पश्चात् ही उसके देश का नष्ट हो जाना और दिल्ली के सिहासन पर खलजी-वंश का अधिकार हो जाना उसके दोषों और दुर्बलता को सिद्ध करते है। बलबन के मुख्य दोष उसकी निरंकुशता और तुर्की नस्ल की श्रेष्ठता को कायम रखने का प्रयत्न करना थे। एक व्यक्ति अथवा किसी एक अल्पसंख्यक-वर्ग की शक्ति और क्षमता पर आधारित राज्य स्थायी नहीं हो सकता था। इस कारण बलबन का राज्य और उसके वंश का दिल्ली के सिंहासन पर अधिकार सुरक्षित न रहा।

परन्तु तब भी बलबन को एक योग्य शासक माना गया है। तथाकथि गुलाम-सुल्तानों में उसका महत्वपूर्ण स्थान है। वह अपनी योग्यता से सुल्तान बन था। वह कठोर और क्रूर था, परन्तु सम्भवतया उसके समय की परिस्थितियों उसका ऐसा बनना आवश्यक था। शासन के प्रति भय और सम्मान की भावना नष्ट हो जाना और विद्रोहियो एवं लुटेरो की सख्या मे वृद्धि एक कठोर शासक की आवश्यकता की ओर ध्यान दिला रहे थे। बलबन ने उस आवश्यकता की पूर्ति की अन्यथा बलबन न्यायप्रिय, दुर्बलो का रक्षक और प्रजा के आर्थिक हितो की ओ ध्यान देने वाला शासक था। **इल्तुतमिश के दुर्बल उत्तराधिकारियों के समय उत्पन्न हुई अराजकता को दूर करने का श्रेय बलबन को था। उसने विद्रोहों को समाप्त किया, विद्रोही इक्तादारों को दण्ड दिया, दिल्ली सल्तनत की सीमाओं को सुरक्षित रखा और उसके अन्तर्गत शान्ति और व्यवस्था स्थापित की।** सुल्तानो और तुर्की गुलाम-सरदारो के संघर्ष तथा सुल्तान की प्रतिष्ठा को समाप्त किये जाने के लिए बलबन दोषी न था। उसके राजनीतिक मच पर आने से पहले वह संघर्ष आरम्भ हो चुका था। उसने धीरे-धीरे उन परिस्थितियो का लाभ अपने और अपने वंश के हित के लिए उठाया, यह अन्य बात है। एक बार सुल्तान बनने के पश्चात् उसने **सुल्तान की प्रतिष्ठा को पुनः कायम किया, यह उसकी महान् सफलता थी।** प्रो० ए. बी एम. हबीबुल्ला ने लिखा है कि "बलबन का एकमात्र और महानतम् कार्य

---

1 "Tho ... performing the policeman's d... of ... law and order, there ...

—Prof. K. A. Ni...

राज्य में सल्तनत (बादशाहत) को पुनः श्रेष्ठतम स्थान प्रदान करना था।"[1] इस क्षेत्र में उसने कुतुबुद्दीन ऐबक और इल्तुतमिश के द्वारा आरम्भ किये गये कार्य की पूर्ति की। इल्तुतमिश ने सुल्तान के पद को स्थापित किया था परन्तु उसकी शक्ति तुर्की गुलाम-सरदारों की शक्ति पर आश्रित थी। बलबन ने इस दुर्बलता को नष्ट करने में सफलता प्राप्त की। बलबन की शक्ति स्वयं सुल्तान की शक्ति थी जिसको किसी के सहारे की आवश्यकता नहीं थी बल्कि जिस पर अन्य सभी निर्भर करते थे। **इस कारण बलबन यथार्थ में सुल्तान था।** निस्सन्देह, बलबन मंगोल-आक्रमणों के भय को सर्वदा के लिए समाप्त नहीं कर सका, परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि **उसने मंगोलों की सफलता के मार्ग को बन्द कर दिया। उसने दिल्ली सल्तनत को सशक्त बनाया** और अपनी उत्तर-पश्चिमी सीमाओं की सुरक्षा के सम्बन्ध में उसने जो नीति अपनायी वह आगे आने वाले खलजी शासकों के लिए एक उदाहरण सिद्ध हुई थी। डॉ० ईश्वरीप्रसाद ने लिखा है कि "महान् योद्धा, शासक एवं नीति-निपुण बलबन जिसने घोर संकटमय स्थिति में पड़े हुए अल्पवयस्क मुसलमान-राज्य को सुरक्षित रखा और नष्ट होने से बचाया, मध्यकालीन भारतीय इतिहास में सदैव उच्च स्थान पाता रहेगा। उसने अलाउद्दीन के सफल शासन की भूमिका बना दी। यदि उसने भारत में संघर्ष-रत मुसलमान शक्ति को दृढ़ एवं सुरक्षित न बना दिया होता तो अलाउद्दीन मंगोलों के आक्रमणों का सफल प्रतिरोध करने तथा सुदूरवर्ती प्रदेशों की विजय करने में कभी सफल न हो पाता जिनके कारण उसको मुसलमानों के इतिहास में ऐसा गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है।"[2] बलबन के विषय में इतिहासकार बरनी का एक कथन महत्वपूर्ण है। उसने लिखा है कि "बलबन की मृत्यु से दुखी हुए मलिकों (अमीरों) ने अपने वस्त्र फाड़ डाले और सुल्तान के शव को नंगे पैरों दारुल-अमन के कब्रिस्तान को ले जाते हुए उन्होंने अपने-अपने सिरों पर धूल फेंकी। उन्होंने चालीस दिन तक उसकी मृत्यु का शोक मनाया और नंगी भूमि पर सोये।"[3] इससे प्रकट होता है कि बलबन की कठोरता के बावजूद भी उसके सरदार उसे प्रेम करते थे अथवा उसकी उपस्थिति की आवश्यकता को अनुभव करते थे। एक कठोर शासक के प्रति यह भावना एक आश्चर्य की बात थी। प्रो० ए बी. एम. हबीबुल्ला ने भी

---

1 "Balban's greatest single achievement lay in the revival of the monarchy as the supreme factor in the state." —Prof A B. M. Habibullah

2 "Balban, a great warrior, ruler and statesman who saved the infant Muslim state from extinction at a critical time, will ever remain a great figure in [illegible] ddin, but for the [illegible] ling power of the [illegible] uddin to withstand [illegible] in distant lands, [illegible]" —Dr Ishwari Prasad.

3 [illegible] ents and threw dust [illegible] to the burial grou d [illegible] ath and slept on the [illegible] A B M Habibullah.

यह स्वीकार किया है कि "उसने एक बड़ी मात्रा में खलजी राज्य-व्यवस्था की पृष्ठ-भूमि का निर्माण किया।"[1] इस कारण यह मानना पड़ता है कि बलबन एक सफल शासक था। इल्तुतमिश के उत्तराधिकारियों में से एकमात्र रजिया ने योग्यता से कार्य किया परन्तु वह असफल हुई। बलबन ने सफलता प्राप्त की और उसने इल्तुतमिश के दुर्बल उत्तराधिकारियों के समय में उत्पन्न हुई अव्यवस्था और दुर्बलता को दूर कर दिया। निस्सन्देह, वह अपने वंश के अधिकार को दिल्ली के सिंहासन पर सुरक्षित रखने में असफल हुआ, परन्तु वह दिल्ली सल्तनत के अधिकार और प्रभाव को स्थायित्व प्रदान करने में अवश्य सफल हुआ। बलबन को एक महान् सुल्तान नहीं माना जा सकता। परन्तु तथाकथित गुलाम-सुल्तानों में महान् सुल्तान कहलाने का अधिकारी तो कोई भी नहीं है। बलबन में भी कमियाँ रहीं परन्तु जो सफलताएँ उसने प्राप्त कीं, उनके कारण उसे गुलाम-सुल्तानों में एक महत्वपूर्ण सुल्तान माना गया है। डॉ० ए. एल. श्रीवास्तव के शब्दों मे "तथाकथित गुलाम-सुल्तानों में इल्तुतमिश के बाद उसका दूसरा स्थान है।"[2]

[2]

कैकुबाद और शमसुद्दीन क्यूमर्स (1287-1290 ई०)

बलबन ने अपनी मृत्यु से पहले अपने बड़े पुत्र मुहम्मद के पुत्र कैखुसरव को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया था परन्तु दिल्ली का कोतवाल फखरुद्दीन मुहम्मद और उसके परिवार से घृणा करता था। उसने एक षड्यन्त्र किया और कैखुसरव को डराकर मुल्तान भगा दिया अथवा उसे मुल्तान की सूबेदारी दिला दी और उसके स्थान पर बलबन के दूसरे पुत्र तथा बंगाल के इक्तादार बुगराखाँ के पुत्र कैकुबाद को सुल्तान बनाने मे सफलता प्राप्त की। सुल्तान बनने के अवसर पर कैकुबाद की आयु 17 अथवा 18 वर्ष की थी। कैकुबाद सुन्दर, सुसभ्य, उदार, शिक्षित और शस्त्र चलाने मे निपुण था। परन्तु वह अल्पायु था और उसका लालन-पालन बलबन के कठोर नियन्त्रण में हुआ था। उसने सुल्तान बनने से पहले किसी सुन्दर स्त्री का मुँह तक नहीं देखा था और न कभी शराब पी थी। कोतवाल फखरुद्दीन के दामाद निजामुद्दीन ने इसका लाभ उठाया। वह कुचक्री तथा महत्वाकांक्षी था और उसका श्वसुर प्रभावशाली व्यक्ति था। उसने कैकुबाद को विलासिता की ओर प्रेरित किया। कैकुबाद की दबी हुई भावनाएँ भड़क उठी और स्त्री, शराब तथा गाना-बजाना ही उसके एकमात्र कार्य रह गये। निजामुद्दीन दिल्ली का केवल 'दाद-बेग' (शहर का अधिकारी) था परन्तु वास्तव मे वह सुल्तान का 'नाइब' बन गया और सम्पूर्ण शासन की बागडोर उसके हाथो मे चली गयी। निजामुद्दीन स्वार्थी और कुचक्री था परन्तु योग्य भी था। उसने शासन को अव्यवस्थित नहीं होने दिया।

---

1 "In a large measure he prepared the ground for the Khalji state-system."
—Prof A B. M. Habibullah

2 "His place among the so-called Slave kings is next only to that of Iltutmish."
—Dr. A. L. Srivastava

मंगोलों की एक सेना ने तैमूरखाँ के नेतृत्व में पंजाब पर आक्रमण किया और समाना तक पहुँच गयी परन्तु मलिक बकबक ने लाहौर के निकट उसे परास्त करने में सफलता प्राप्त की अथवा शाही सेना के आने का समाचार पाकर मंगोल स्वयं वापिस चले गये। लगभग एक हजार मंगोल बन्दी बना लिये गये और दिल्ली लाकर उन्हें कत्ल कर दिया गया।

परन्तु निजामुद्दीन सिंहासन के पीछे से शक्ति का उपभोग करने से सन्तुष्ट न रह सका। वह सुल्तान की असावधानी से लाभ उठाकर सिंहासन को प्राप्त करने के लिए उत्सुक हो उठा। उसने अपने श्वसुर कोतवाल फखरुद्दीन की सलाह मानने से भी इन्कार कर दिया। उसने सुल्तान के महल में अपनी पत्नी को भेज दिया जिससे वह महल पर भी अपना नियन्त्रण रख सके। छः माह पश्चात् कैखुसरव का वध कर दिया गया, वजीर ख्वाजा खतीर को गधे पर बैठाकर नगर में घुमाया गया तथा अन्य कई विरोधी तुर्क सरदारों को निजामुद्दीन ने कत्ल करा दिया। इस कारण अनेक तुर्क सरदार निजामुद्दीन के विरोधी हो गये।

कैकुबाद के विलासमय जीवन और निजामुद्दीन के बढ़ते हुए प्रभाव की सूचना उसके पिता बुगराखाँ तक पहुँच चुकी थी। उसने अपने पुत्र को पत्रों द्वारा समझाने का प्रयत्न किया परन्तु उसका कोई प्रभाव नहीं हुआ। अन्त में बुगराखाँ ने अपने पुत्र से मिलने का निश्चय किया और एक बड़ी सेना लेकर वह बंगाल से अवध पहुँच गया। कैकुबाद भी अपनी सेना को लेकर अवध गया और अयोध्या के निकट पहुँच गया। निजामुद्दीन ने कैकुबाद को अपने पिता से मिलने से रोकने तथा उससे युद्ध करने का प्रयत्न किया परन्तु बुगराखाँ के धैर्य और कुछ वफादार तुर्क सरदारों के प्रयत्नों के कारण पिता-पुत्र की भेंट सम्भव हो गयी। बुगराखाँ ने 'जमींपोशी' और 'पैंबोस' की रस्मों की पूर्ति की; यहाँ तक कि कैकुबाद को इतनी ग्लानि अनुभव हुई कि वह सिंहासन छोड़कर अपने पिता के चरणों पर गिर पड़ा। इसके पश्चात् पिता-पुत्र गले मिले और तीन दिन तक साथ-साथ रहे। बुगराखाँ ने कैकुबाद को विलासप्रिय जीवन को छोड़ देने की सलाह दी और चलते समय चुपके से निजामुद्दीन से छुटकारा पाने की भी राय दी। कैकुबाद ने दिल्ली वापिस आकर अपने पिता की सलाह के अनुसार कार्य करने का प्रयत्न किया। परन्तु वह दुर्बल-चरित्र था जिसके कारण एक सप्ताह पश्चात् वह पुनः भोग-विलास में फँस गया। किन्तु उसने निजामुद्दीन से छुटकारा पाने का निश्चय कर लिया था। निजामुद्दीन को मुल्तान जाने के आदेश दिये गये परन्तु जब उसने टालमटोल की तो कैकुबाद ने उसे जहर देकर मरवा दिया। निजामुद्दीन की मृत्यु सुल्तान के लिए लाभदायक होती यदि वह शासन को अपने हाथों में लेने का प्रयत्न करता। परन्तु उसने ऐसा नहीं किया और पहले की भाँति ही इन्द्रिय-सुखों में लगा रहा। शीघ्र ही उसका स्वास्थ्य भी खराब हो गया और शासन-सत्ता दो तुर्की सरदार मलिक कच्छन और मलिक सुर्खा के हाथों में चली गयी।

कैकुबाद ने जलालुद्दीन फीरोज खलजी को अपनी सेना का सेनापति और

बुलन्दशहर का इक्तादार नियुक्त किया था। खलजियों को गैर-तुर्क समझा जाता था। इस कारण जलालुद्दीन खलजी की सेनापति के पद की नियुक्ति से तुर्क सरदार असन्तुष्ट हो गये। मलिक कच्छन और मलिक सुर्खा ने शासन में तुर्कों की श्रेष्ठता कायम रखने के लिए सभी गैर-तुर्क सरदारों को कत्ल करने की योजना बनायी जिनमें सबसे पहला नाम जलालुद्दीन खलजी का था। इस समय तक कैकुबाद को लकवा मार गया था। तुर्की सरदारों ने उसे पूर्णतया अनुपयोगी समझकर उसके तीन वर्ष के पुत्र क्यूमर्स को शमसुद्दीन के नाम से सुल्तान घोषित कर दिया। मलिक कच्छन ने जलालुद्दीन को मारने का उत्तरदायित्व लिया और उसे धोखे से मारने के लिए उसे सुल्तान से मिलने के आदेश दिये गये। जब इस आदेश को लेकर कच्छन स्वयं जलालुद्दीन के पास गया तब उसे कत्ल कर दिया गया। जलालुद्दीन अपनी सेना को लेकर दिल्ली के निकट पहुँच चुका था। उसके सैनिकों ने दिल्ली में प्रवेश करके सुल्तान और कोतवाल फखरुद्दीन के बच्चों को पकड लिया। उसके पश्चात् सुल्तान के सरक्षक की नियुक्ति का प्रश्न उपस्थित हुआ। फखरुद्दीन और सुल्तान के भतीजे मलिक छज्जू ने इस पद को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। तब जलालुद्दीन खलजी स्वयं सुल्तान का सरक्षक बन गया। परन्तु यह व्यवस्था अधिक समय तक नही चल सकती थी। तीन माह के पश्चात् जलालुद्दीन ने क्यूमर्स उर्फ सुल्तान शमसुद्दीन का वध करा दिया। कैकुबाद को एक खलजी सरदार ने उसकी चादर में लपेट कर यमुना नदी मे फेंक दिया। इस प्रकार, बलबन के उत्तराधिकारियो का अन्त हुआ और उनके साथ-साथ तुर्कों की श्रेष्ठता का समय भी समाप्त हो गया।

7
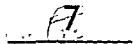
जलालुद्दीन फीरोजशाह खलजी : 1290–1294 ई०

जलालुद्दीन खलजी ने दिल्ली में एक नवीन राजवंश की स्थापना की। निस्सन्देह, खलजी-वंश के सुल्तान भी तुर्क थे। 'तारीख-ए-फखरुद्दीन मुबारकशाही' के लेखक फ़खरुद्दीन, रावर्टी (Raverty), बार्थोल्ड (Barthold) आदि विभिन्न विद्वानों ने उन्हें तुर्क माना है। अफगानिस्तान में हेलमन्द नदी की घाटी के प्रदेश को 'खलजी' के नाम से पुकारा जाता था और जो जातियाँ उस प्रदेश में बस गयी उन्हें खलजी पुकारा जाने लगा। उन्ही जातियों में से जलालुद्दीन के वंशज थे जो 200 वर्षों से भी अधिक समय तक उस प्रदेश में रहे जिसके कारण उनका रहन-सहन तथा रीति-रिवाज अफगानों की भाँति हो गये और भारत में उन्हें भ्रमवश अफगान समझा जाने लगा।

परन्तु तुर्क होते हुए भी खलजियों की शासन-व्यवस्था पिछले इल्बारी-तुर्कों की शासन-व्यवस्था से एक दृष्टि से भिन्न रही। दिल्ली के सिंहासन पर खलजी-वंश का आधिपत्य हो जाने से भारत में तुर्कों की श्रेष्ठता समाप्त हो गयी। प्रो० ए. बी. एम. हबीबुल्ला ने लिखा है कि "25 वर्ष पहले बलबन के सिंहासनरोहण से भिन्न, इस समय से एक युग समाप्त हो गया क्योंकि ममलूक-राजवंश के समाप्त हो जाने से वह नस्लवाद भी समाप्त हो गया जो कुतुबुद्दीन, इल्तुतमिश और उनके उत्तराधिकारियों के राजनीतिक दृष्टिकोण की एक मुख्य विशेषता थी।"[1] इल्बारी-तुर्कों ने बड़े साहस और शक्ति से भारत में तुर्की राज्य का निर्माण किया था और उन्होंने राज्य के संगठन में तुर्कों को ही श्रेष्ठता प्रदान की थी। तुर्कों की श्रेष्ठता स्थापित रखने के लिए बलबन ने उनके सभी विरोधियों को नष्ट करने का प्रयत्न भी किया। परन्तु वह प्रयत्न विफल रहा। इल्बारी-तुर्क बदलती हुई परिस्थितियों और मुख्यतया भारतीय अथवा गैर-इल्बारी-तुर्कों के बढते हुए प्रभाव को समझने में असमर्थ रहे। इल्बारी-तुर्कों के विरुद्ध खलजियों की सरल सफलता ने यह सिद्ध कर दिया कि नस्लवाद पर

---

1 "Unlike Balban's accession twenty-five years earlier, it meant the end of an age, for with the Mameluk dynasty also passed away that racialism, which had characterized the political attitude of Qutbuddin, Iltutmish and their successors." —Prof. A. B. M. Habibullah.

आधारित तुर्की श्रेष्ठता की नीति अनुपयोगी एवं असफल थी। खलजियों का विद्रोह मुख्यतया भारतीय मुसलमानों का उन तुर्कों के विरुद्ध विद्रोह था जो दिल्ली के बजाय गोर और गजनी से प्रेरणा प्राप्त करते थे। खलजी-वश के दिल्ली के सिंहासन पर आरूढ होने से शासन मे भारतीय और गैर-तुर्क मुसलमानो का प्रभाव हो गया जिससे **यह स्पष्ट हो गया कि बादशाह पर किसी एक विशेष वर्ग का एकाधिपत्य नहीं होता।**

ममलूक-सुल्तानो के शासनकाल पर दृष्टिपात करने से एक बात और स्पष्ट होती है। **प्रायः 100 वर्ष के निरन्तर संघर्ष और शासन के बावजूद भी तुर्क भारत में राज्य-विस्तार करने में असफल रहे थे। कुतुबुद्दीन ऐबक से लेकर बलबन तक हुए दिल्ली सुल्तान केवल उस राज्य की सुरक्षा और दृढ़ता में व्यस्त रहे जिसे मुहम्मद गोरी ने भारत में स्थापित किया था।** स्वतन्त्र हिन्दू राजा और अधीन हिन्दू प्रजा निरन्तर मुसलमानो से सघर्ष करती रही थी और बलबन जैसा निरकुश सुल्तान भी राज्य-विस्तार का साहस नही कर सका था। इस कारण, इल्बारी-तुर्कों के शासनकाल मे सम्पूर्ण उत्तर भारत की विजय भी पूर्ण न हो सकी थी। खलजी-वंश के समय मे इस स्थिति मे परिवर्तन हो गया। अलाउद्दीन खलजी ने न केवल साम्राज्य-विस्तार करने में ही सफलता प्राप्त की बल्कि हिन्दुओं की विद्रोह और संघर्ष करने की शक्ति को भी उसने दुर्बल किया। इस प्रकार, **खलजी-युग साम्राज्यवाद और मुस्लिम शक्ति के विस्तार का युग रहा।** इसके अतिरिक्त, **खलजी-वंश के शासनकाल में शासन-व्यवस्था में गम्भीर परिवर्तन किये गये और उसमें भारतीय मुसलमानों का सहयोग भी लिया गया।** डॉ० के. एस. लाल ने लिखा है कि "उसने (खलजी-क्रान्ति ने) एक नवीन राजवश को ही आरम्भ नही किया बल्कि उसने एक निरन्तर होने वाली विजयों, राज्य-पद्धति मे नवीन अन्वेषणो और अतुलनात्मक साहित्यिक क्रिया के युग को आरम्भ किया।"[1]

एक अन्य दृष्टि से भी खलजी-वश का महत्व है। जलालुद्दीन ने सिंहासन पर अधिकार न वशानुगत आधार पर, न चुनाव द्वारा और न षड्यन्त्र द्वारा किया था बल्कि शक्ति के आधार पर किया था और शक्ति के द्वारा ही खलजियों ने उसे कायम रखा। खलजियो ने अपनी शक्ति के निर्माण मे न तो जन-साधारण से सहायता ली, न सरदारों से और न उलेमा-वर्ग (मुसलमानों के धार्मिक वर्ग) से। खलजियो ने अच्छा अथवा बुरा कुछ भी किया हो परन्तु एक बात अवश्य थी कि **उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि राज्य बिना धर्म की सहायता के केवल जीवित ही नहीं रह सकता बल्कि सफलतापूर्वक कार्य भी कर सकता है।** खलजी-वश के किसी भी सुल्तान ने खलीफा से अपने पद की स्वीकृति लेने की आवश्यकता भी अनुभव नही की।

जलालुद्दीन के पूर्वज काफी समय पहले भारत में आकर बस गये थे और तुर्क-

---

1 "It not only heralded the advent of a new dynasty; it ushered in an era of ceaseless conquests, of unique experiments in statecraft, and of incomparable literary activity." —Dr. K. S. Lal, *History of the Khaljis*

सुल्तानो की सेवा मे थे। जलालुद्दीन ने अपनी योग्यता से 'सरे-जांदार' उर्फ शाही-अगरक्षक के पद को प्राप्त किया और बाद मे समाना का सूबेदार बना। उस पद पर

प्रारम्भिक जीवन

कार्य करते हुए उसने कई अवसरो पर मंगोल-आक्रमणकारियो का मुकाबला किया और सफलता प्राप्त की। सुल्तान कैंकुबाद ने उसे दिल्ली बुलाया, 'शाइस्ताखाँ' की उपाधि दी और 'आरिज-ए-मुमालिक' उर्फ सेना-मन्त्री का पद दिया। इस प्रकार जलालुद्दीन एक योग्य सेनापति था और कैंकुबाद के अन्तिम दिनो मे सेना-मन्त्री के पद पर कार्य कर रहा था। इसके अतिरिक्त वह भारत में खलजी कबीले का प्रधान और दरबार के गैर-तुर्की मुसलमानों के दल का नेता था। तुर्क सरदारो ने गैर-तुर्की सरदारों की शक्ति को नष्ट करने के लिए उनके महत्वपूर्ण सरदारो को कत्ल करने की योजना बनायी। उन सरदारों में से एक जलालुद्दीन खलजी भी था। इस कारण उसने उन तुर्क सरदारों के नेताओं का विरोध किया और अन्त में अपग कैंकुबाद और क्यूमर्स उर्फ सुल्तान शमसुद्दीन को समाप्त करके दिल्ली के सिंहासन को अपने अधिकार मे कर लिया। 13 जून, 1290 को कैंकुबाद द्वारा बनवाये गये अपूर्ण किलोखरी (कीलूगढी) के महल मे जलालुद्दीन ने अपना राज्याभिषेक किया और सुल्तान बन गया।

सुल्तान बनने के अवसर पर जलालुद्दीन 70 वर्ष का वृद्ध व्यक्ति था और **वृद्धता की दुर्बलताएँ उसके चरित्र में प्रकट होने लगी थीं।** यद्यपि वह एक योग्य सेनापति था परन्तु अब उसे युद्ध प्रिय नही रह गया। वह अत्यधिक उदार और सहिष्णु

विचार और व्यवहार

बन गया। उसने तुर्की सरदारो और पिछले शासनाधिकारियो को सन्तुष्ट करने का प्रयत्न किया, विद्रोहियो को ही नही बल्कि लुटेरो और ठगों को भी माफ कर दिया, षड्यन्त्रकारी अमीरो को व्यक्तिगत शौर्य-प्रदर्शन द्वारा अथवा उदारता मे अपने पक्ष मे करने का प्रयत्न किया और अन्त मे अपनी अविवेकपूर्ण उदारता के कारण अपने भतीजे के षड्यन्त्र मे फँसकर मारा गया। **जलालुद्दीन ने सुल्तान के पद की प्रतिष्ठा के अनुकूल व्यवहार नहीं किया और न उसके अनुकूल उसकी महत्वाकांक्षाएँ रहीं।** जब वह कुछ माह पश्चात् बलबन के लाल किले में गया तब वह बाहर के फाटक पर ही घोड़े से उतर गया और बलबन के सिंहासन को देखकर रो पड़ा तथा उसने सिंहासन पर बैठने से इन्कार कर दिया। बरनी के कथन के अनुसार उसने अहमद चप से कहा कि "वह उस सिंहासन पर कैसे बैठ सकता है जिसके सामने वह भय और सम्मान से घण्टो खडा रहा करता था।" जलालुद्दीन ने एक धार्मिक मुसलमान की भाँति अपने वृद्धावस्था के समय को व्यतीत करने के अतिरिक्त किसी अन्य इच्छा को व्यक्त नही किया। जलालुद्दीन का राजवश से कोई सम्बन्ध न था और दिल्ली के नागरिक जो एक लम्बे समय से इल्बारी-तुर्कों को ही शासन का अधिकारी मानते आ रहे थे, जलालुद्दीन और खलजियो के शासन करने के अधिकार को स्वीकार करने को तैयार न थे। तुर्की सरदार खलजियो को गैर-तुर्क मानते थे। इस कारण वे खल-

उन्ही मे से एक ने इस षड्यन्त्र की सूचना सुल्तान को दे दी। सुल्तान ने उसे दरबार में बुलाया और जब सीदी मौला ने राजनीति में हस्तक्षेप करने के अपराध को स्वीकार नही किया तब सुल्तान ने क्रोधित होकर उसे मार देने की आज्ञा दी। विरोधी धार्मिक सम्प्रदाय के एक व्यक्ति ने एक छुरे से सीदी मौला पर कई वार किये और उसी समय शहजादा अर्कलीखाँ के आदेश पर उसे हाथी के पैरो से रौंद दिया गया। बरनी ने लिखा है कि इस घटना के पश्चात् एक जबर्दस्त आँधी आयी, बहुत जोर की वर्षा हुई और अकाल पड़ा। बहुत-से व्यक्तियो ने यह विश्वास किया कि यह दुर्घटनाएँ उस फकीर की मृत्यु के कारण हुई थीं। अकाल का कारण कुछ भी रहा हो परन्तु यह स्पष्ट है कि सीदी मौला ने राजनीति मे हस्तक्षेप करने का प्रयत्न किया था।

सीदी मौला को इस प्रकार दण्डित करना सुल्तान का एकमात्र कठोर कार्य था अन्यथा उसकी नीति उदारता और सभी को सन्तुष्ट करने की रही।

जलालुद्दीन ने अपनी वाह्य नीति में भी अपनी स्वाभाविक दुर्बलता का परिचय दिया। उसने विजय की इच्छा से केवल दो आक्रमण किये। रणथम्भौर

युद्ध

चौहानो की सत्ता का केन्द्र-स्थान था और राणा हम्मीरदेव ने गोंड और उज्जैन के राजाओ को परास्त करने मे सफलता पायी थी। इस कारण जलालुद्दीन हम्मीरदेव की बढती हुई शक्ति को रोकना चाहता था। इस समय तक उसके सबसे बड़े पुत्र खानखाना की शंकाजनक परिस्थितियों मे मृत्यु हो चुकी थी। इस कारण अपने दूसरे पुत्र अर्कलीखाँ को राजधानी मे छोडकर सुल्तान 1290 ई० में रणथम्भौर की ओर बढा। मार्ग में सुल्तान ने झैन के किले को जीता और वहाँ के हिन्दू मन्दिरो को नष्ट किया। ब्रह्मा की दो बड़ी काँसे की मूर्तियो को तोडकर उसके टुकडों को दिल्ली की जामा-मस्जिद के द्वार के सामने डालने के लिए भेज दिया गया। सुल्तान की सेना के एक भाग ने मालवा पर भी आक्रमण किया जिसने उसके सीमावर्ती क्षेत्रों को लूटा और मन्दिरो को नष्ट किया। उसके पश्चात् सुल्तान रणथम्भौर के किले के सामने पहुँच गया जिसकी सुरक्षा का प्रबन्ध राजपूतो ने भलीभाँति कर लिया था। किले की सुदृढ स्थिति को देखकर सुल्तान उसी दिन झैन वापिस आ गया और उसने अपने सरदारों से स्पष्ट कह दिया कि वह मुसलमान सैनिको के जीवन के मूल्य पर किले को जीतने को तैयार नही है। उसने कहा कि "वह एक मुसलमान के एक बाल को ऐसे दस किलों की तुलना मे अधिक महत्वपूर्ण मानता है।"[1] इस कारण रणथम्भौर को बिना जीते हुए सुल्तान जून, 1291 में दिल्ली वापिस पहुँच गया। 1292 ई० में मनडौर पर आक्रमण किया गया और उसे जीतकर दिल्ली के अधीन कर लिया गया। झैन को भी दुबारा लूटा गया।

---

1 "He did not value even ten such forts above a single hair of a Musalman."
—Jalaluddin Khalji

मण्डौर की विजय से पहले ही 1292 ई० में हलाकूखाँ (हुलागू) के एक प्रपौत्र अब्दुल्ला के नेतृत्व मे मंगोलों की एक बडी सेना ने पंजाब पर आक्रमण किया और सुनम तक पहुँच गयी। इस अवसर पर जलालुद्दीन ने समय नष्ट नहीं किया और अपनी सेना को लेकर सिन्ध नदी के तट पर पहुँच गया। बरनी के कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि जलालुद्दीन ने मगोलो को परास्त करने मे सफलता पायी थी। परन्तु ऐसा कुछ नही हुआ था। छुटपुट के आक्रमणो में सुल्तान को सफलता मिली और जब मंगोलों की एक बडी टुकडी ने सिन्ध नदी को पार करके सुल्तान पर आक्रमण किया तो उसे परास्त कर दिया गया और बहुत-से मगोल पदाधिकारी कैद कर लिये गये। उसके पश्चात् सन्धि की बातचीत आरम्भ हो गयी और जो कुछ भी निश्चय हुआ, वह सुल्तान के लिए बहुत सम्मानपूर्ण न था। मगोलों ने वापिस चले जाने का निर्णय किया। परन्तु चगेजखाँ के एक वशज उलगू ने अपने 4000 समर्थकों के साथ इस्लाम को स्वीकार करके भारत मे रहने का निश्चय किया। जलालुद्दीन ने अपनी एक पुत्री का विवाह उलगू के साथ कर दिया और उसे तथा उसके साथियों को दिल्ली के निकट रहने की आज्ञा प्रदान कर दी। ये मंगोल 'नवीन मुसलमान' कहलाये।

जलालुद्दीन के समय मे उसके भतीजे और कडा-मानिकपुर के सूबेदार अलाउद्दीन ने **दो साहसिक बाह्य आक्रमण** किये। 1292 ई० मे सुल्तान की स्वीकृति लेकर उसने मालवा मे स्थित **भिलसा** पर आक्रमण किया और वहाँ से बहुत-सा धन लूटकर लाया जिसका एक भाग उसने सुल्तान के पास भिजवा दिया। सुल्तान ने प्रसन्न होकर उसे अवध की सूबेदारी प्रदान की। इस विजय से अलाउद्दीन की विजय और धन की लालसा तीव्र हो गयी। वास्तव मे अलाउद्दीन दिल्ली का सिंहासन प्राप्त करने के लिए लालायित हो गया था और जलालुद्दीन की दुर्बल नीति मे असन्तुष्ट महत्वाकांक्षी खलजी सरदार उसके निकट एकत्र हो गये थे। परन्तु अलाउद्दीन को धन की आवश्यकता थी जिससे वह अपनी शक्ति और समर्थकों की सख्या मे वृद्धि कर सकता। भिलसा के आक्रमण के अवसर पर उसने **दक्षिण के देवगिरि राज्य** की सम्पत्ति और वैभव के बारे में सुना था। इस कारण वह उस पर आक्रमण करने के लिए लालायित हो गया। वास्तव में 13वी सदी मे देवगिरि का राज्य दक्षिण भारत में सबसे अधिक शक्तिशाली और सम्पन्न राज्य था। उसका शासक रामचन्द्रदेव एक योग्य और साहसी राजा था। उसने मालवा और मैसूर के राज्यों को परास्त किया था। दीर्घकाल की शान्ति, राज्य-विस्तार तथा व्यापार और कृषि की उन्नति ने देवगिरि राज्य को सम्पन्न और वैभवपूर्ण बना दिया था। उस समय तक उत्तर भारत का कोई भी मुसलमान शासक दक्षिण भारत में प्रवेश करने का साहस नही कर सका था तथा दक्षिण भारत के राज्यो का सम्मान और सम्पत्ति सुरक्षित रही थी। अलाउद्दीन ने देवगिरि की सम्पत्ति लूटने का निश्चय किया। परन्तु उसने अपनी योजना किसी को नही बतायी। सुल्तान जलालुद्दीन से उसने केवल चन्देरी पर आक्रमण करने की आज्ञा माँगी। फरवरी 1296 ई० में अपने 8000 चुने हुए

घुड़सवारों को लेकर वह दक्षिण की ओर चला। चन्देरी और भिलसा होता हुआ वह देवगिरि की उत्तरी सीमा पर स्थित एलिचपुर नामक स्थान पर पहुँच गया जहाँ उसने दो दिन आराम किया और यह अफवाह फैला दी कि वह दिल्ली से भागा हुआ एक असन्तुष्ट सरदार है जो तैलगाना राज्य में नौकरी प्राप्त करने की आशा से जा रहा है। देवगिरि से प्राय 12 मील पश्चिम की ओर लासूडा के दर्रे में वहाँ के सरदार कान्हा ने अलाउद्दीन का मार्ग रोका। दो साहसी जागीरदार रानियों ने भी उसकी सहायता की। अलाउद्दीन को कठिन मुकाबला करना पड़ा परन्तु उसने उन्हें परास्त कर दिया और देवगिरि की ओर बढ़ा। राजा रामचन्द्रदेव इस सहसा आक्रमण से चकित रह गया। मुसलमानों का दक्षिण भारत में यह पहला आक्रमण था जिसमें जन-साधारण में भी भय और आतंक फैल गया। रामचन्द्रदेव का बड़ा पुत्र शंकरदेव (सम्भवतया उसका सही नाम सिहनदेव था) राज्य की चुनी हुई सेना लेकर युद्ध करने के लिए होयसल राज्य की सीमा पर गया हुआ था। ऐसी स्थिति में और मुख्यतया तब जबकि अलाउद्दीन की सेना नगर में प्रवेश कर रही थी, रामचन्द्रदेव ने किले के फाटक बन्द करके अपनी सुरक्षा करने का प्रयत्न किया। रामचन्द्रदेव कितना असावधान था यह इस बात से स्पष्ट होता है कि उसके किले के चारों तरफ की खाई में न तो पानी था और न किले में रसद का प्रबन्ध। इससे भी अधिक, अनाज समझकर एक व्यापारी से छीनकर किले में रखे गये बोरों में अनाज के बदले नमक निकला। अलाउद्दीन ने यह अफवाह फैला दी कि उसकी सेना तो दिल्ली से आने वाली 20 हजार की मुख्य सेना का एक अग्रगामी भाग मात्र है। ऐसी स्थिति में रामचन्द्रदेव ने सन्धि की बातचीत की और अलाउद्दीन भी धन लेकर वापिस जाने के लिए राजी हो गया। परन्तु इसी समय रामचन्द्रदेव का पुत्र शंकरदेव (सिहनदेव) राजधानी पर विपत्ति के समाचार सुनकर वापिस आ गया और उसने अपने पिता की राय के विरुद्ध अलाउद्दीन को लूटी हुई सम्पत्ति को छोड़कर चले जाने की धमकी दी। एक हजार घुड़सवारों को नसरत जलेसरी के संरक्षण में किले की देखभाल के लिए छोड़कर अलाउद्दीन ने शंकरदेव का मुकाबला किया। अलाउद्दीन की पराजय प्रायः निश्चित थी कि नसरत जलेसरी उसकी दुर्बल स्थिति को जानकर अपने घुड़सवारों को लेकर उसकी सहायता के लिए पहुँच गया जिसे देखकर शंकरदेव (सिहनदेव) की सेना ने यह समझा कि वह दिल्ली से आने वाली मुख्य सेना है जिसकी अफवाह अलाउद्दीन ने पहले ही फैला रखी थी। इससे भयभीत होकर हिन्दू सेना भाग खड़ी हुई और अलाउद्दीन की विजय हुई। अब रामचन्द्रदेव के पास सन्धि करने के अतिरिक्त कोई चारा न रहा। जब उसे यह पता लगा कि किले में रखे हुए बोरों अनाज की बजाय नमक है तो उसे किले में बन्द रहकर सुरक्षा करना भी व्यर्थ लगा और सन्धि-वार्ता अनिवार्य हो गयी। अब अलाउद्दीन ने सन्धि के लिए कठोर शर्तें प्रस्तुत कीं और युद्ध-क्षति के रूप में अतुल सम्पत्ति लेकर वापिस लौटा। बरनी के कथन के अनुसार यह सम्पत्ति इतनी अधिक थी कि अलाउद्दीन और उसके उत्तराधिकारियों द्वारा अपव्यय किये जाने के पश्चात् भी वह फीरोज तुगलक के समय तक काम दे गयी। अलाउद्दीन ने एलिचपुर प्रान्त को

हस्तगत कर लिया जिसकी वार्षिक आय को रामचन्द्रदेव ने अलाउद्दीन के पास भेजना स्वीकार कर लिया। कुछ इतिहासकारों के अनुसार रामचन्द्रदेव ने अपनी एक पुत्री का विवाह भी अलाउद्दीन से किया। परन्तु यह विवाह चाहे हुआ हो अथवा नहीं और अलाउद्दीन को प्राप्त होने वाली धन-राशि कितनी भी क्यों न हो, इसमें सन्देह नहीं कि अलाउद्दीन ने इस आक्रमण मे अतुल सम्पत्ति प्राप्त की जिसका प्रयोग वह सुल्तान बनने के अवसर पर सफलता से कर सका। अलाउद्दीन का देवगिरि का आक्रमण जलालुद्दीन के समय की सबसे महत्वपूर्ण घटना थी। इससे न केवल अलाउद्दीन की महत्वाकाक्षाएँ ही बलवती हुई बल्कि इसने उसे वह साधन भी उपलब्ध हो गये जिनकी सहायता से वह दिल्ली का सुल्तान बन सका। इसके अतिरिक्त, अपने केन्द्र-स्थान से सैकडो मील दूर, सर्वथा अपरिचित तथा शत्रुओं से भरपूर मार्ग से गुजर कर दूरस्थ देवगिरि पर सफल आक्रमण अलाउद्दीन के साहस और सैनिक प्रतिभा को सिद्ध करता है। इतिहासकार ब्रिग्स ने लिखा है कि "चाहे उस निश्चय को योजना बनाने की दृष्टि से, चाहे कार्यरूप मे परिणत करने के साहस की दृष्टि से अथवा उसकी सफलता के परिणामस्वरूप महान् सौभाग्य की दृष्टि से देखा जाय परन्तु इतिहास के वृहत् पन्नों में शायद ही ऐसी कोई अन्य घटना हो जिससे उसकी तुलना की जा सके।"[1] डॉ० एस. राय ने लिखा है कि "वास्तव मे दिल्ली को देवगिरि में जीता गया क्योंकि दक्षिण के स्वर्ण ने ही अलाउद्दीन के सिंहासन पर बैठने का मार्ग प्रशस्त किया।"[2]

जलालुद्दीन का वध

जब अलाउद्दीन देवगिरि को लूटकर कड़ा-मानिकपुर की ओर वापिस लौट रहा था, उस समय जलालुद्दीन ग्वालियर मे था। अभी तक अलाउद्दीन का एक सरदार अला-उल-मुल्क कड़ा-मानिकपुर से सुल्तान को यह सूचना भेजता रहा था कि अलाउद्दीन सुल्तान की तरफ से मध्य भारत के आक्रमण पर गया हुआ है। पहली बार ग्वालियर मे सुल्तान को अलाउद्दीन के देवगिरि-आक्रमण की सूचना मिली। अहमद चप ने सुल्तान को सलाह दी कि सुल्तान को अलाउद्दीन का मार्ग रोककर उससे दक्षिण में प्राप्त सम्पत्ति छीन लेनी चाहिए अन्यथा वह धन उसे शक्तिशाली बना देगा जो राज्य के हित मे नही होगा। परन्तु सुल्तान ने उसकी सलाह को यह कहकर ठुकरा दिया कि "मैंने अलाउद्दीन को अपनी गोद मे पाला है। मेरे पुत्र मेरे विरुद्ध हो सकते है परन्तु अलाउद्दीन नहीं।" इसके पश्चात् सुल्तान दिल्ली चला गया और अलाउद्दीन बिना किसी बाधा के कड़ा-मानिकपुर पहुँच गया। अब

---

1 "In the long volumes of History, there is scarcely anything to be compared with this exploit, whether we regard the resolution in forming the plan, the boldness of its execution, or the great fortune that attended its accomplishment." —Briggs.

2 "Delhi was really conquered at Devagiri, for it was the gold of the Deccan that paved the way for 'Ala-u-din's accession to the throne." —Dr. S. Roy, *The Delhi Sultnate*, Bhartiya Vidya Bhawan Series, Vol. VI.

अलाउद्दीन ने अपने भाई अलमास बेग (जिसे बाद में 'उलुगखाँ' की उपाधि दी गयी) को पत्र लिखा कि वह बहुत भयभीत है क्योंकि उसने सुल्तान की आज्ञा के बिना देवगिरि पर आक्रमण किया था और वह सुल्तान को देवगिरि की सम्पूर्ण सम्पत्ति सौंपने को तैयार है बशर्ते सुल्तान स्वय कड़ा-मानिकपुर आये। यदि ऐसा न हुआ तो वह बगाल भाग जायेगा अथवा आत्महत्या कर लेगा। इसी प्रकार का पत्र उसने सुल्तान को लिखा और उससे माँफी माँगी। अलमास बेग चतुर साबित हुआ और उसने अलाउद्दीन के प्रति जलालुद्दीन के प्रेम और विश्वास का पूर्ण लाभ उठाया। उस समय तक दरबार के अधिकांश सरदारो को यह विश्वास हो गया था कि अलाउद्दीन चालाकी कर रहा है और सम्भवतया बगाल जाकर अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित करना चाहता है। परन्तु तब भी अपने वफादार सरदारों की राय को ठुकराकर सुल्तान ने अलाउद्दीन से मिलने के लिए मानिकपुर जाने का निर्णय किया। स्वयं सुल्तान नदी के मार्ग से मानिकपुर गया और उसकी सेना अहमद चप के नेतृत्व में स्थल-मार्ग से गयी। अलाउद्दीन कड़ा को छोडकर गगा नदी को पार करके मानिकपुर पहुँच गया जिससे स्थल-मार्ग से आने वाली सुल्तान की सेना को नदी पार करने मे कठिनाई हो। उसके पश्चात् भी सुल्तान के पहुँचने पर अलाउद्दीन ने अपने भाई अलमास बेग (जो पहले ही उसके पास पहुँच चुका था) को उसके पास भेजा और उसने सुल्तान को केवल कुछ विश्वासपात्र सरदारो को लेकर गगा पार करने के लिए तैयार कर लिया। सरदारो ने सुल्तान को समझाया कि अलाउद्दीन एक तो स्वय उससे मिलने नहीं आया है और दूसरे उसने अपनी सेना युद्ध की तैयारी मे खड़ी कर रखी है, इस कारण सुल्तान को उसके पास नही जाना चाहिए। परन्तु सुल्तान अलमास बेग की बातों में आकर अन्धा हो गया और केवल दो नावों मे अपने कुछ सरदारों को लेकर अपने भतीजे से मिलने चल दिया। तट पर पहुँचने से पहले अलमास बेग की प्रार्थना पर सुल्तान ने अपने शस्त्र उतार फेंके और अपने सरदारो के शस्त्र भी उतरवा दिये जबकि अलाउद्दीन की सेना युद्ध-पंक्ति मे खडी थी। अतः जो होना था वही हुआ। अलाउद्दीन नदी के तट पर जलालुद्दीन से मिलने आया और सुल्तान के पैरो पर गिर पड़ा। सुल्तान ने उसे उठाकर गले से लगाया और उसे आश्वासित करता हुआ अपनी नाव की ओर चला। उसी समय अलाउद्दीन के इशारे पर मुहम्मद सलीम ने सुल्तान पर आक्रमण किया। सुल्तान घायल होकर अपनी नाव की तरफ यह कहता हुआ भागा कि "धोखेबाज अलाउद्दीन, यह तूने क्या किया?" एक अन्य सरदार इख्तियारुद्दीन हुद ने सुल्तान के पीछे दौडकर उसे भूमि पर गिरा दिया और उसका सिर काट लिया। एकमात्र मलिक फखरुद्दीन को छोडकर सुल्तान के सभी साथी कत्ल कर दिये गये अथवा गंगा मे डूबकर मर गये। इस प्रकार 20 जुलाई, 1296 ई० को सुल्तान जलालुद्दीन का वध कर दिया गया और जबकि सुल्तान के कटे हुए सिर से रक्त बह रहा था, अलाउद्दीन को सुल्तान घोषित कर दिया गया। सुल्तान के कटे हुए सिर को कड़ा-मानिकपुर और अवध की सीमाओं मे एक साधारण अपराधी के सिर की भाँति घुमा-घुमाकर जन-साधारण को दिखाया गया।

अलाउद्दीन ने अपने चाचा का वध करके स्वयं को सुल्तान तो घोषित कर दिया था परन्तु अभी दिल्ली उसके अधीन न थी। इसके अतिरिक्त, जलालुद्दीन का वफादार सरदार अहमद चप अनेक कठिनाइयों के होते हुए भी दिल्ली की सेना को लेकर वापिस दिल्ली पहुँच गया था और राज्य का उत्तराधिकारी अर्कलीखाँ एक साहसी और योग्य सेनापति था। परन्तु जलालुद्दीन की विधवा पत्नी मलिका-ए-जहान ने अलाउद्दीन के कार्य को सरल कर दिया। अलाउद्दीन ने एक बार बंगाल जाकर वहाँ एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने का विचार किया था परन्तु दिल्ली की राजनीति ने उसे दिल्ली की ओर बढ़ने की प्रेरणा दी। जलालुद्दीन का योग्य और ज्येष्ठ पुत्र अर्कलीखाँ मुल्तान में था। विधवा मलिका-ए-जहान ने अपने दूसरे पुत्र कद्रखाँ को 'रुकुनुद्दीन इब्राहीम' के नाम से दिल्ली मे सुल्तान घोषित कर दिया। इससे अर्कलीखाँ असन्तुष्ट हो गया और मुल्तान मे ही रुक गया। उसके साथी भी असन्तुष्ट हो गये और वे रुकुनुद्दीन के प्रति वफादार न रहे। जलाली-सरदारो और भाइयों के इस मतभेद को देखकर अलाउद्दीन दिल्ली की ओर बढ़ा। मार्ग मे स्थान-स्थान पर धन बिखेरता हुआ वह आगे बढा। प्रत्येक उस स्थान पर जहाँ अलाउद्दीन मार्ग मे रुका, पाँच मन सोने के सिक्के बिखेरे गये। इससे उसे अपने समर्थकों की सख्या बढाने और एक बड़ी सेना एकत्र करने मे सहायता मिली। जब वह बुलन्दशहर पहुँचा तो वे जलाली-सरदार जो रुकुनुद्दीन इब्राहीम के द्वारा उसके विरुद्ध भेजे गये थे, उसके साथ मिल गये। उन्हे बहुत-सा धन दिया गया। इस प्रकार अलाउद्दीन के सोने ने बाकी बचे हुए कार्य की भी पूर्ति कर दी। जब अलाउद्दीन दिल्ली के निकट पहुँचा तो उसके साथ एक विशाल सेना थी। अर्कलीखाँ ने दिल्ली की सहायता के लिए आने से इन्कार कर दिया था और जलाली-सरदार परस्पर मे विभाजित हो गये थे। ऐसी स्थिति मे जब रुकुनुद्दीन इब्राहीम अपनी सेना को लेकर दिल्ली से बाहर निकला तो उसकी विजय की कोई आशा नही थी। युद्ध के आरम्भ होने से पहले ही उसकी सेना का सम्पूर्ण वाम-भाग अलाउद्दीन मे जा मिला जिसके कारण रुकुनुद्दीन इब्राहीम, उसकी माँ और उनके कुछ वफादार सरदार जैसे अहमद चप और अलगूखाँ मुल्तान भाग गये और बिना किसी युद्ध के अलाउद्दीन ने दिल्ली पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार 22 अक्टूबर, 1296 ई० को अलाउद्दीन ने दिल्ली मे प्रवेश किया जहाँ बलबन के लाल महल मे उसने अपना राज्याभिषेक कराया और दिल्ली का सुल्तान बना।

जलालुद्दीन फीरोजशाह का मूल्यांकन

डॉ० ए. एल. श्रीवास्तव ने लिखा है कि "जलालुद्दीन दिल्ली का प्रथम तुर्की सुल्तान था जिसने उदार निरंकुशवाद के आदर्श को अपने सामने रखा।"[1] निस्सन्देह, जलालुद्दीन प्रथम सुल्तान था जिसने अपने विरोधियो को सन्तुष्ट करने का प्रयत्न किया था। वह एक योग्य सेनापति रहा था और सुल्तान बनने से पहले उसने मंगोलों के

---

1 "Jalal-u-din was the first Turkish Sultan of Delhi who placed before [illegible] ideal of benevolent despotism." —Dr. A. L. [illegible]

विरुद्ध युद्ध करने में सफलता प्राप्त की थी। परन्तु सुल्तान बनने के पश्चात् उसने युद्ध और आक्रमण की नीति को त्याग दिया। इसके अतिरिक्त, उसने भय और आतंक के बजाय उदारता एवं सहृदयता की नीति को अपनाया तथा अपने शत्रुओं के हृदय-परिवर्तन पर बल दिया। परन्तु यह सभी कुछ उसकी नीति के कारण ही नहीं था, जैसा कि डॉ० श्रीवास्तव ने लिखा है, बल्कि इसका एक कारण सुल्तान की वृद्धावस्था भी था। निस्सन्देह, जलालुद्दीन कायर न था परन्तु उसकी दयालुता और शान्ति की नीति अतिशय मात्रा में होने के कारण दुर्बलता की बन गयी जो किसी भी प्रकार से राज्य के हित में नहीं थी। ठगों और षड्यन्त्रकारी सरदारों के प्रति उसका व्यवहार दोषपूर्ण तथा सुल्तान की योग्यता में अविश्वास उत्पन्न करने वाला था। एक व्यक्ति की दृष्टि से उसकी दयालुता और उदारता प्रशंसनीय थी। धार्मिक दृष्टि से वह एक कट्टर मुसलमान था और मुसलमानों के जीवन एवं हितों के रक्षक की दृष्टि से भी उसकी सराहना की जा सकती है। परन्तु एक शासक की दृष्टि से रणथम्भौर की विजय को पूर्ण किये बिना वापिस आ जाना दिल्ली राज्य के सम्मान के अनुकूल न था। इसके अतिरिक्त, जैसा कि डॉ० श्रीवास्तव ने स्वयं लिखा है, वह अपनी बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा के प्रति उदार न था। उसने हिन्दू मन्दिरों को तोड़ा था और उनके देवताओं की मूर्तियों को अपमानित एवं खण्डित किया था। इस कारण पूर्ण उदारता भी जलालुद्दीन की मूल प्रकृति नहीं मानी जा सकती। सीदी मौला के प्रति किया गया उसका व्यवहार भी इसी बात की ओर संकेत करता है। अतः यह माना जा सकता है कि जलालुद्दीन की उदार नीति बहुत कुछ उसकी वृद्धावस्था की दुर्बलताओं के कारण भी थी। डॉ० के. एस. लाल ने लिखा है कि मंगोलों को वह पराम्त नहीं कर सका था और जिस प्रकार उसने उनसे समझौता किया था वह सम्मान-पूर्ण नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त, अलाउद्दीन के प्रति तो उसका व्यवहार पूर्णतया मूर्खता का सिद्ध हुआ। बार-बार अपने वफादार सरदारों के समझाने के पश्चात् भी वह उसकी चालाकी में उसके शिकंजे में फँसता गया और स्वयं अपनी मृत्यु का कारण बना। बिना हथियारों के अलाउद्दीन से मिलने जाना और अपने सरदारों को भी शस्त्र-विहीन करके ले जाना एक सुल्तान के लिए मूर्खता के अतिरिक्त और क्या हो सकता है। इसी कारण डॉ० के. एस. लाल ने लिखा है कि "खलजी-वंश के संस्थापक से अधिक अनुपयुक्त राज्य-मुकुट को धारण करने वाला कोई अन्य व्यक्ति नहीं हो सकता था।"[1] ऐसा भी नहीं माना जा सकता कि जलालुद्दीन ने कैकुबाद और क्यूमर्स के शासन-काल में उत्पन्न हुई अव्यवस्था को ठीक करने के लिए कोई ठोस कदम उठाये हों जिनके कारण विस्तारवादी नीति के स्थान पर संगठन और शान्ति की नीति का पालन करना आवश्यक हो गया हो। उसके समय में शासन और व्यवस्था के लिए कोई विशेष कार्य किया गया हो, इसका भी कोई प्रमाण नहीं मिलता।

---

1 "Never was a man more unsuited to wear the Crown than the founder of the Khalji dynasty." —Dr. K. S. Lal

निस्सन्देह, जियाउद्दीन बरनी का 'तारीख-ए-फीरोजशाही' ही एकमात्र ऐसा ग्रन्थ है जिससे हमे उसके और खलजी-वश के इतिहास के बारे मे पता लगता है, किन्तु बरनी सभी खलजी शासकों मे असन्तुष्ट था अतएव उसके विवरण पर पूर्ण विश्वास करना कठिन है। परन्तु तब भी शासक की दृष्टि से जलालुद्दीन का समर्थन करने के लिए हमे बहुत कम तथ्य प्राप्त होते हैं। वह एक धर्मपरायण, दयालु और सज्जन व्यक्ति था, यह ठीक है। परन्तु शासक की दृष्टि से वह असफल रहा, यह मानना पड़ता है। **शासक की दृष्टि से केवल एक बात उसके पक्ष में है कि जलालुद्दीन ने तुर्कों, गैर-तुर्कों और भारतीय मुसलमानों को शासन में सम्मिलित करके भारत के मुसलमानी राज्य को एक बड़ा आधार प्रदान करने का प्रयत्न किया जिसका ममलूक-सुल्तानों (गुलाम-वंश के सुल्तानों) के समय में अभाव था।** यह भी बहुत कुछ परिस्थितियों के कारण था क्योंकि जलालुद्दीन स्वय शुद्ध तुर्क होने का दावा नही कर सकता था। परन्तु यह बहुत कुछ सुल्तान जलालुद्दीन की उदारता के कारण भी था, इसमे सन्देह नही किया जा सकता। इसके अतिरिक्त, जलालुद्दीन खलजी-वंश का सस्थापक भी था। अतः अन्य दृष्टिकोणों से उसका शासन-काल महत्वहीन होते हुए भी उल्लेखनीय और उपयोगी बन सका।

8

अलाउद्दीन खलजी : 1296–1316 ई०

1296 ई० मे अपने चाचा और श्वसुर जलालुद्दीन का वध करने और उसके पुत्र रुकुनुद्दीन इब्राहीम को दिल्ली छोड़ने के लिए बाध्य करने के पश्चात् अलाउद्दीन दिल्ली के सिंहासन पर बैठा। उस अवसर पर उसने 'अबुल मुजफ्फर सुल्तान अला-उद्दुनियाँ-वा-दीन मुहम्मद शाह खलजी' की उपाधि ग्रहण की। एक विजेता, शासक और शासन-प्रबन्धक की दृष्टि से मध्य-युग के इतिहास मे अलाउद्दीन खलजी का एक विशेष और गौरवपूर्ण स्थान है। अलाउद्दीन को 'महान्' कहकर नही पुकारा गया है परन्तु वह 'महानता' के बहुत निकट था और तुलनात्मक दृष्टि से दिल्ली सल्तनत के सुल्तानों मे उसे महान् स्वीकार करना अनुचित भी नही है।

अलाउद्दीन जलालुद्दीन के भाई शिहाबुद्दीन मसूद खलजी का पुत्र था। शिहाबुद्दीन के चार पुत्र थे—अली अथवा गुरशप (अलाउद्दीन), अलमास बेग, कुतुलुग तिगिन और मुहम्मद। अली अथवा अलाउद्दीन और अलमास बेग का तो इतिहास मे विवरण मिलता है परन्तु बाकी अन्य दो भाइयो के विषय मे कुछ अधिक पता नहीं लगता। इसी प्रकार, अलाउद्दीन के प्रारम्भिक जीवन अथवा उसकी जन्म-तिथि के बारे में भी कुछ ठीक पता नही लगता। ऐसा प्रतीत होता है कि अलाउद्दीन को पढ़ने-लिखने की शिक्षा कम प्राप्त हुई, परन्तु शस्त्र-शिक्षा मे वह निपुण हो गया। खलजी-क्रान्ति मे उसने महत्वपूर्ण भाग लिया और जब जलालुद्दीन सुल्तान बना तो उसे 'अमीर-ए-तुजुक' और उसके छोटे भाई अलमास बेग को 'अखूरबेग' का पद दिया गया। जलालुद्दीन ने अपनी एक पुत्री का विवाह अलाउद्दीन के साथ और एक अन्य पुत्री का विवाह अलमास बेग के साथ किया था। मलिक छज्जू के विद्रोह को दबाने मे भी अलाउद्दीन ने महत्वपूर्ण भाग लिया जिसके कारण उसे कड़ा-मानिकपुर की सूबेदारी दी गयी।

प्रारम्भिक जीवन

कड़ा-मानिकपुर की सूबेदारी अलाउद्दीन के लिए महत्वपूर्ण सिद्ध हुई। मलिक छज्जू के समर्थक और वृद्ध जलालुद्दीन की सहिष्णु नीति से असन्तुष्ट महत्वाकांक्षी खलजी सरदार उसके चतुर्दिक एकत्र हो गये और उन्होंने अपने सम्मान और पद मे

वृद्धि की लालसा से अलाउद्दीन को सुल्तान बनने की प्रेरणा देना आरम्भ किया। ऐसी प्रेरणा अलाउद्दीन की मनोवृत्ति के अनुकूल थी। वह अपनी पत्नी और सास के व्यवहार से दुखी था। उसकी पत्नी सुल्तान की पुत्री होने के कारण दम्भी थी जिसके कारण अलाउद्दीन का पारिवारिक जीवन कलहपूर्ण था। उसकी सास मलिका-ए-जहान उसे सन्देह की दृष्टि से देखती थी तथा अपने पति और पुत्री को अलाउद्दीन के विरुद्ध भड़काती रहती थी। कड़ा-मानिकपुर पहुँचकर वह अपनी सास के ईर्ष्यालु और सन्देह-पूर्ण व्यवहार से अवश्य दूर हो गया किन्तु पत्नी के दुर्व्यवहार ने उसे पारिवारिक जीवन के प्रति उदासीन कर दिया। ऐसी परिस्थितियों में उसकी राजनीतिक महत्वाकांक्षाएँ बलवती हो गयी। वह आरम्भ से ही योग्य और महत्वाकांक्षी था। अब परिस्थितियों ने भी उसका साथ दिया। सुल्तान जलालुद्दीन का सम्मान दिन-प्रतिदिन घट रहा था। वह षड्यन्त्रकारी सरदारों का दमन करने में असफल रहा था, उसका रणथम्भौर पर आक्रमण विफल रहा था और मंगोल सरदार से उसकी पुत्री का विवाह सुल्तान की प्रतिष्ठा के प्रतिकूल माना गया था। ऐसी स्थिति में अलाउद्दीन और उसके समर्थकों का साहस बढ़ गया। 1292 ई० में उसने सुल्तान की आज्ञा लेकर भिलसा को लूटा और उसके बदले में उसे अवध की सूबेदारी दी गयी। 1296 ई० में उसने देवगिरि पर आक्रमण किया और वह वहाँ से अतुल सम्पत्ति लूटकर लाया। इससे उसके सम्मान एवं शक्ति में वृद्धि हुई। उसी वर्ष उसने जलालुद्दीन को मानिकपुर बुलाकर धोखे से कत्ल कर दिया। इस कार्य में उसे अपने भाई अलमास बेग से भी बहुत सहायता मिली क्योंकि सुल्तान को धोखा देने और फुसलाने में उसका प्रमुख योग रहा। अलाउद्दीन ने स्वयं को कड़ा-मानिकपुर में ही सुल्तान घोषित कर दिया और अपने समर्थकों को सम्मानित पद दिये। इसके पश्चात् दिल्ली की दुर्बल स्थिति ने उसे दिल्ली पर आक्रमण करने के लिए उत्साहित किया और उसी वर्ष रुकुनुद्दीन इब्राहीम को भागने के लिए मजबूर करके उसने दिल्ली पर अधिकार कर लिया तथा अपना राज्याभिषेक किया। इस प्रकार अपनी योग्यता, धूर्तता और देवगिरि से लूटे गये धन की शक्ति के आधार पर अलाउद्दीन ने दिल्ली का सुल्तान बनने में सफलता प्राप्त की।

कठिनाइयाँ

सिंहासन पर बैठने के अवसर पर अलाउद्दीन के सम्मुख अनेक कठिनाइयाँ थीं। उसने अपने कृपालु चाचा का वध किया था जिसके कारण वह प्रजा की घृणा का पात्र था। अनेक जलाली (जलालुद्दीन के वंश के समर्थक) सरदार अलाउद्दीन से असन्तुष्ट थे और क्योंकि उनकी षड्यन्त्रकारी प्रवृत्ति पर कोई अंकुश नहीं लगाया गया था अतएव वह कभी भी खतरनाक सिद्ध हो सकते थे। जलालुद्दीन का बड़ा पुत्र अर्कलीखाँ पंजाब, मुल्तान और सिन्ध का स्वतन्त्र स्वामी था और उसका भाई अपदस्थ सुल्तान रुकुनुद्दीन इब्राहीम, उसकी माँ तथा अन्य वफादार और योग्य जलाली-सरदार उसकी शरण में थे। वे सभी मिलकर अलाउद्दीन के लिए कभी भी संकट उपस्थित कर सकते थे। अधीनस्थ प्रदेशों में से सम्पूर्ण दोआब और अवध

अलाउद्दीन की स्थिति दुर्बल थी और अधीनस्थ राजा एवं प्रजा विद्रोह के लिए तत्पर थी। उत्तर-पश्चिमी सीमा पर खोक्खर जाति शत्रुतापूर्ण थी और मंगोल भारत में प्रवेश पाने के लिए निरन्तर आक्रमण कर रहे थे। बंगाल, बिहार और उड़ीसा जैसे दूरस्थ प्रदेशों में दिल्ली सल्तनत का प्रभाव नगण्य था और प्रायः स्वतन्त्र अथवा अर्द्ध-स्वतन्त्र हिन्दू अथवा मुसलमान शासक वहाँ शासन कर रहे थे। राजस्थान में प्रायः सभी राज्य स्वतन्त्र थे और चित्तौड़ तथा रणथम्भौर जैसे राज्य दिल्ली सल्तनत को चुनौती दे रहे थे। बुन्देलखण्ड और मालवा में भी राजपूतों की शक्ति मजबूत थी। गुजरात पर किसी भी मुसलमान शासक ने अधिकार नही किया था और दक्षिण भारत में दिल्ली सल्तनत के किसी भी शासक ने प्रवेश करने का साहस नही किया था। इसके अतिरिक्त, शासन को व्यवस्थित करना और सुल्तान के लिए सम्मान और भय उत्पन्न करना भी अलाउद्दीन के लिए आवश्यक था।

परन्तु अलाउदीन इन कठिनाइयों के अनुकूल सिद्ध हुआ। उसने इन सभी को समाप्त किया। उसने प्रजा को वश में किया, सिंहासन के दावेदारों को नष्ट किया, षड्यन्त्रकारी और विद्रोही सरदारों का दमन किया, दूरस्थ प्रान्तों में अपनी सत्ता स्थापित की, एक कठोर शासन-व्यवस्था स्थापित की, नवीन राज्यों को जीता अथवा उन्हें अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिए बाध्य किया, विदेशी आक्रमणों से अपने राज्य की सुरक्षा की और इस प्रकार खलजी साम्राज्यवाद और खलजी निरंकुशता को सफलता प्रदान की।

अलाउद्दीन की सबसे पहली आवश्यकता और कठिनाई सिंहासन पर अपनी स्थिति को दृढ़ करने की थी। उसने खुले तौर पर और अत्यधिक उदारता से **जन-साधारण में धन बाँटा** जिससे व्यक्ति बहुत शीघ्र ही उसके चाचा के वध की घटना को भूल गये। उसने

प्रारम्भिक कार्य

अपने वफादार सरदारों को बड़े-बड़े पद और सम्मानित उपाधियाँ तो जलालुद्दीन के वध के पश्चात् ही प्रदान कर दी थी; जैसे—उसने अपने भाई अलमास बेग को 'उलुगखाँ', नसरत जलेसरी को 'नसरतखाँ', मलिक यूसुफ को 'जफरखाँ' और सजर को 'अलमखाँ' की उपाधि से विभूषित किया था। अब दिल्ली का सिंहासन प्राप्त करने के पश्चात् **जो जलाली-सरदार स्वेच्छा से उसकी सेवा में आ गये, उन्हें भी उसने उनके पदों पर रहने दिया अथवा उन्हें अच्छे पद दिये** जिससे वह सन्तुष्ट हो जायें। इस कारण, ख्वाजा खतीर वजीर रहा, काजी उमदात-उल दीवान-ए-इन्शा बना और मलिक फखरुदीन मुख्य काजी बना। इसी प्रकार अन्य सरदारों को भी प्रतिष्ठित पद दिये गये। इससे जलाली-सरदार भी सन्तुष्ट हो गये।

परन्तु अभी एक मुख्य समस्या अर्कलीखाँ, उसके परिवार और उसके उन वफादार सरदारों की थी जो मुल्तान में थे। सिंहासन पर बैठने के प्रायः एक माह पश्चात् तीस अथवा चालीस हजार सैनिकों की एक शक्तिशाली सेना उलुगखाँ और जफरखाँ के नेतृत्व में मुल्तान पर आक्रमण करने के लिए भेजी गयी। कुछ माह के

घेरे के पश्चात् अर्कलीखाँ ने आत्म-समर्पण कर दिया और वह, उसके परिवार के सदस्य तथा जलाली-सरदार बन्दी बना लिये गये। मार्ग में सुल्तान के आदेश से अर्कलीखाँ, रुकुनुद्दीन इब्राहीम, अहमद चप और मलिक अलगू को अन्धा कर दिया गया। बाद में अर्कलीखाँ, उसके दो पुत्र और रुकुनुद्दीन इब्राहीम हाँसी के कोतवाल के सुपुर्द कर दिये गये जिसने उन सभी का वध करा दिया। मलिका-ए-जहान, अहमद चप और मलिक अलगू को नसरतखाँ के सुपुर्द कर दिया गया और सम्भवतया ये सभी धीरे-धीरे कत्ल कर दिये गये।

इस प्रकार, अलाउद्दीन ने सिंहासन के सभी दावेदारों को समाप्त कर दिया। 1297 ई० और 1299 ई० में हुए दो मंगोल-आक्रमणों को भी उसने विफल कर दिया। इसके पश्चात् उसने उन जलाली-सरदारों को दण्ड दिया जो धन के लालच में आकर उसके साथ मिल गये थे। उनमें से बहुतों को उसने अन्धा करा दिया और बहुतों को कैद करा दिया तथा उन सभी की सम्पत्ति जब्त कर ली। परन्तु मलिक कुतुबुद्दीन ऐबक, मलिक नासिरुद्दीन और मलिक अमीर जमाल खलजी को दण्डित नहीं किया गया क्योंकि उन्होंने अलाउद्दीन से धन लेकर उसका साथ नहीं दिया था बल्कि धन लेने से इन्कार कर दिया था। इस प्रकार, अलाउद्दीन ने पुराने जलाली-सरदारों को पूर्णतया नष्ट करके अपने वफादार सरदारों का दल बनाया जो उसके सहायक बने।

अलाउद्दीन को अपनी और राज्य की सेवा के लिए विभिन्न योग्य व्यक्ति प्राप्त हुए। जियाउद्दीन बरनी ने उसके सरदारों को तीन वर्गों में बाँटा था। प्रथम, आरम्भ में अलाउद्दीन को उलुगखाँ (उसका भाई), नसरतखाँ, अलपखाँ और जफरखाँ जैसे योग्य सेनानायक प्राप्त हुए। इसके अतिरिक्त, उसे मलिक अला-उल-मुल्क, मलिक फखरुद्दीन, मलिक असगरी और मलिक ताजिदुद्दीन काफूरी की सेवाएँ भी प्राप्त हुईं। इन व्यक्तियों ने उसे राज्य की जड़ों को स्थापित करने में सहायता दी। द्वितीय, उन अधिकारियों का वर्ग था जिन्होंने उसे शासन एवं व्यवस्था स्थापित करने में सहायता दी। उन व्यक्तियों में मलिक हमीदुद्दीन, मलिक अजीउद्दीन, मलिक आइनुल-मुल्क मुल्तानी, निजामुद्दीन उलुगखाँ, मलिक शरफ कानी और ख्वाजा हाजी मुख्य थे। तृतीय, अपने शासन के बाद के समय में अलाउद्दीन को मलिक काफूर की सेवाएँ प्राप्त हुईं जिसने अलाउद्दीन के लिए दक्षिण भारत को विजय किया और जो अन्त में 'नाइब' और राज्य का सबसे प्रभावशाली सरदार हो गया। अलाउद्दीन की सफलता का श्रेय उसके इन योग्य पदाधिकारियों को भी था।

अलाउद्दीन एक योग्य तथा महत्वाकांक्षी शासक सिद्ध हुआ। अपनी प्रारम्भिक कठिनाइयों को दूर करने के पश्चात् उसने राज्य-विस्तार और शासन-व्यवस्था हेतु महत्वाकांक्षी योजनाएँ बनायीं। उसकी विजयों और सफलताओं ने उसे इतना प्रोत्साहन दिया कि उसने 'सिकन्दर द्वितीय' (सानी) की उपाधि धारण की और उसे अपने सिक्कों पर अंकित कराया। वह सम्पूर्ण विश्व को जीतने और एक नवीन धर्म को आरम्भ करने की इच्छा करने लगा। परन्तु उसके मित्र और वफादार कोतवाल अला-उल-मुल्क ने सलाह दी कि पहले वह भारत के विस्तृत प्रदेश को जीतने का प्रयत्न करे और

धर्म को चलाने का विचार त्याग दे क्योंकि यह कार्य शासकों का नहीं बल्कि पैगम्बरों का होता है। अलाउद्दीन ने उसकी सलाह मान ली और भारत में ही एक विस्तृत और दृढ राज्य स्थापित करने का प्रयत्न किया। वह अपने इस उद्देश्य की पूर्ति में सफल भी हुआ। अपनी शासन-नीति (गृह-नीति) के द्वारा उसने एक ऐसे निरंकुश राज्य को स्थापित किया जिसके बारे में इल्तुतमिश ने विचार मात्र किया था, जिसकी स्थापना में सुल्ताना रजिया असफल रही थी और जिसके लिए बलबन प्रयत्नशील था तथा बहुत कुछ मात्रा में सफल भी। परन्तु अलाउद्दीन के समय में निरंकुशता अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी। इसके अतिरिक्त, अलाउद्दीन ने अपनी विजय-योजनाओं को सफल बनाकर भारत में मुस्लिम साम्राज्यवाद को भी उसकी पूर्णता पर पहुँचा दिया जिसके लिए ममलूक-सुल्तान तो प्रयत्न भी नहीं कर सके थे। इस प्रकार अलाउद्दीन प्रत्येक क्षेत्र में सफल रहा। यह अन्य बात है कि वह अपनी सफलता को स्थायित्व प्रदान नहीं कर सका और उसकी सफलता उसके जीवन तक ही सीमित रही।

[1]
आन्तरिक व्यवस्था

अलाउद्दीन एक शक्तिशाली मुसलमान बादशाह था परन्तु उसने शासन में इस्लाम के सिद्धान्तों का पालन नहीं किया। यह उसके और बयाना के काजी मुगीसुद्दीन के वार्तालाप मे प्रकट होता है जिसका विवरण बरनी ने दिया है।

1. राजत्व-सिद्धान्त

सुल्तान के यह पूछने पर कि "भेंट देने वालों के रूप मे हिन्दुओ की क्या स्थिति होनी चाहिए", काजी ने उत्तर दिया कि "शरा मे हिन्दुओ को खराज-गुजर (कर देने वाला) कहा गया है और जब कोई लगान-अधिकारी उनसे चाँदी माँगे तब उनका कर्तव्य है कि वे बिना पूछताछ के और बडी नम्रता और सम्मान के साथ उन्हें सोना दें। यदि अफसर उनके मुँह में धूल फेंके तो उसे लेने के लिए उन्हे बिना हिचकिचाहट के अपना मुँह खोल देना चाहिए।"[1] सुल्तान के यह पूछने पर कि "राज्य के दुश्चरित्र कर्मचारियो के साथ उसे क्या व्यवहार करना चाहिए", काजी ने उत्तर दिया कि "मैंने किसी पुस्तक में इसके बारे में नहीं पढा है परन्तु राज्य-कोष से धन चुराने वाले के हाथ नही काटने चाहिए।" सुल्तान के यह पूछने पर कि "देवगिरि से लूटे हुए धन पर किसका अधिकार है", काजी ने उत्तर दिया कि "उस पर मुसलमानों का अधिकार है।" सुल्तान के यह पूछने पर कि "राज्य-कोष पर उसका और उसके परिवार का क्या अधिकार है", काजी ने उत्तर दिया कि "सुल्तान का अधिकार केवल 234 टंका प्रति वर्ष प्राप्त करने का है, अथवा उतना धन जितना कि वह राज्य के बडे से बडे अधिकारी को देता है, अथवा अधिक

---

1 [illegible] and [illegible] jout [illegible] ows [illegible] vide [illegible] din.

से अधिक 234 टंका का हजार गुना धन।" अलाउद्दीन ने हिन्दुओं के सम्बन्ध में दी गयी काजी की सलाह को स्वीकार कर लिया क्योंकि वह उसके राजनीतिक तथा प्रशासकीय उद्देश्य की पूर्ति मे सहायक थी परन्तु अन्य बातों के सम्बन्ध में दी गयी काजी की सलाह को उसने स्वीकार नही किया। अगले दिन काजी मुगीसुद्दीन को भेंट और सम्मान देकर उसने कहा कि "मौलाना मुगीस, न मुझे कुछ ज्ञान है और न मैंने कोई पुस्तक पढ़ी है तब भी मैं मुसलमान पैदा हुआ था तथा मेरे पूर्वज पीढ़ियों से मुसलमान रहे है। उन विद्रोहो को रोकने के लिए जिनमें हजारों जीवन नष्ट हो जाते है, मैं अपनी प्रजा को ऐसे आदेश देता हूँ जो मैं उनकी और राज्य की भलाई के लिए लाभदायक समझता हूँ····मैं ऐसे आदेश देता हूँ जो मैं राज्य के लिए लाभदायक और परिस्थितियों के अनुकूल समझता हूँ। मैं नही जानता कि 'शरा' उनकी आज्ञा प्रदान करता है अथवा नहीं। मैं नहीं जानता कि 'अन्तिम निर्णय के दिन' खुदा मेरे साथ क्या व्यवहार करेगा।"[1] इसी प्रकार, यद्यपि अलाउद्दीन ने 'यामीन-उल-खिलाफत नासिरी अमीर-उल-मुमनिन' (खलीफा का नाइब) की उपाधि ग्रहण की थी जिसका आशय नाम मात्र के लिए खलीफा की परम्परा को स्थापित रखना तो हो सकता था परन्तु अन्य कुछ नही, क्योंकि उसने खलीफा से अपने सुल्तान के पद की स्वीकृति लेने की आवश्यकता नही समझी और न कभी उसके लिए प्रयत्न किया। उलेमा-वर्ग से भी वह कोई सलाह नही लेता था। इस प्रकार, **अलाउद्दीन ने शासन में न तो इस्लाम के सिद्धान्तों का सहारा लिया, न उलेमा-वर्ग से सलाह ली और न ही खलीफा के नाम का सहारा लिया।** इसी कारण डॉ० ए. एल. श्रीवास्तव ने लिखा है कि "इस प्रकार अलाउद्दीन दिल्ली का पहला सुल्तान था जिसने धर्म पर राज्य का नियन्त्रण स्थापित किया और ऐसे तत्वों को जन्म दिया जिनसे कम से कम सिद्धान्ततः तो राज्य असाम्प्रदायिक आधार पर खड़ा हो सकता था।"[2] निस्सन्देह, अलाउद्दीन पूर्ण मुसलमान था, इस्लाम धर्म के कानूनों का विरोध नही करता था, हिन्दुओं के प्रति उसकी नीति कठोर थी और समय-समय पर उसने मुसलमानों की धार्मिक भावना का लाभ भी उठाया था, परन्तु उसने धर्म और धार्मिक वर्ग को शासन मे हस्तक्षेप नही करने दिया। **सुल्तान के अधिकारों पर धर्म कोई सीमा लगाये, यह उसे स्वीकार न था।**

अलाउद्दीन निरंकुश राज्यतन्त्र में विश्वास करता था। यद्यपि बलबन की

---

1 [illegible]

2 "Thus to Ala-ud-din belongs the credit of being the first Turkish Sultan of Delhi to bring the church under the control of the state and to usher in factors that might make the state secular in theory." —Dr. A. L. Srivastava.

भाँति अलाउद्दीन ने राजत्व-सिद्धान्तों की कभी व्याख्या नही की परन्तु उसके विचार और कार्य उसी की भाँति थे। सुल्तान सर्वशक्तिशाली होता है, कोई उसके समान नही है, सुल्तान की इच्छा ही कानून होती है, आदि जैसे सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न-राज्य-तन्त्र के विचार अलाउद्दीन के भी थे। इस कारण अलाउद्दीन स्वेच्छाचारी और निरंकुश सुल्तान था। उसके वजीर, सेनापति, सरदार, शासनाधिकारी आदि सभी व्यक्ति उसके कर्मचारी थे और उनमे से कोई भी व्यक्ति उसे सलाह देने का भी साहस नही करता था। दिल्ली का कोतवाल अला-उल-मुल्क ही एकमात्र ऐसा व्यक्ति था जिससे अलाउद्दीन ने शासन के विषय मे सलाह ली अथवा जो उसे सलाह देने का साहस कर सका था। अलाउद्दीन मे एक निरंकुश शासक बनने की क्षमता भी थी। उसमे मौलिक विचारों को जन्म देने की क्षमता, उनको कार्य-रूप में परिणत करने का दृढ निश्चय और उनके परिणामों को भुगतने का साहस था। दिल्ली सुल्तानो को प्रभावित करने वाले वर्ग राज्य मे केवल दो थे—सरदारो का वर्ग और उलेमा-वर्ग। अलाउद्दीन ने सरदारो की शक्ति और साहस को नष्ट कर दिया और उलेमा-वर्ग को शासन मे हस्तक्षेप नही करने दिया। डॉ० के. एस. लाल ने लिखा है कि "एक शब्द मे, फ्रास के शासक लुई चौदहवें की भाँति अलाउद्दीन अपने को राज्य मे सर्वोपरि मानता था।"[1] इसी आधार पर उसने कार्य किये और सफलता पायी। इस कारण **उसके समय में शासन का केन्द्रीकरण पूर्णता पर था और निरंकुशता अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी थी।**

अलाउद्दीन के शासन-काल के आरम्भ मे ही कुछ विद्रोह हुए। इनमें से एक-दो विद्रोह ऐसे भी हुए जिन्होंने अलाउद्दीन के जीवन को सकट में डाल दिया अथवा जिनके द्वारा सुल्तान मे परिवर्तन करने का प्रयत्न किया गया।

2. विद्रोह; उनके कारण और अध्यादेश

1299 ई० मे गुजरात पर आक्रमण किया गया था। उसकी सफलता के पश्चात् जब नसरतखाँ वापिस आ रहा था तो लूट के धन के वितरण पर **'नवीन मुसलमान'** (मगोल जो इस्लाम धर्म में परिवर्तित हो गये थे) असन्तुष्ट हो गये और उन्होने अचानक विद्रोह करके अलाउद्दीन के एक भतीजे और नसरतखाँ के एक भाई का वध कर दिया। नसरतखाँ ने विद्रोह को दबा दिया। बहुत-से विद्रोही मारे गये परन्तु कुछ भागकर हम्मीरदेव अथवा कुछ अन्य रायकरन की शरण मे चले गये। अलाउद्दीन और नसरतखाँ ने विद्रोहियो के बच्चो और उनकी पत्नियों को (जो दिल्ली में थे) अपमानित किया और उनका वध कर दिया। दूसरा विद्रोह अलाउद्दीन के मृतक भाई मुहम्मद के पुत्र और राज्य के **वकीलदार अकतखाँ** ने किया। जब अलाउद्दीन रणथम्भौर के अभियान के लिए जा रहा था तब वह मार्ग मे शिकार के लिए रुका। वह अपने कुछ सैनिको के साथ था तब अकतखाँ ने अचानक अपने मगोल मुसलमानो को लेकर उस पर तीर बरसाने

---

1 "In a word, like Louis XIV of France, Alauddin regarded himself to be all in all in the state." —Dr. K. S. Lal.

आरम्भ कर दिये। सुल्तान ने अपनी कुर्सी को ढाल बनाकर अपनी रक्षा की परन्तु शीघ्र मूर्छित होकर गिर गया। उसके पैदल सैनिक उसके चारों तरफ घेरा बनाकर खड़े हो गये और उन्होने कह दिया कि सुल्तान मर गया है। अकतखाँ ने सुल्तान को मृतक मानकर देर करना ठीक नही समझा। उसने खेमे में जाकर स्वय को सुल्तान घोषित कर दिया। कुछ सरदारो ने उसे सुल्तान मान भी लिया। परन्तु जब उसने सुल्तान के 'हरम' (जनानखाने) मे प्रवेश करने का प्रयत्न किया तो 'हरम' के रक्षक मलिक दीनार और उसके सैनिको ने उसे रोक दिया। इतने मे अलाउद्दीन होश मे आ गया तथा अपने सैनिको को लेकर खेमे मे पहुँच गया। सुल्तान को जीवित देखकर अकतखाँ भाग खड़ा हुआ। उसका पीछा किया गया और उसका सिर काटकर सुल्तान के सम्मुख प्रस्तुत किया गया। सुल्तान ने उसके छोटे भाई कुतलुगखाँ तथा अन्य समर्थको का भी वध करा दिया। **तीसरा विद्रोह अलाउद्दीन की एक बहिन के पुत्रों ने किया।** उनमे से एक मलिक उमर बदायूँ का सूबेदार था और दूसरा मगूखाँ अवध का सूबेदार था। जब अलाउद्दीन रणथम्भौर के घेरे मे व्यस्त था [illegible] उन्होने विद्रोह किया। परन्तु वे सफल न हुए और सुल्तान के प्रति वफादार [illegible] ने उन्हे परास्त करके कैद कर लिया। उनको सुल्तान के सामने लाया [illegible] उसके आदेश से उनका वध कर दिया गया। **चौथा विद्रोह दिल्ली में हाजी [illegible] किया।** हाजी मौला पुराने कोतवाल फखरुद्दीन का सेवक रहा था। [illegible] अलाउद्दीन के पहले कोतवाल अला-उल-मुल्क की भी मृत्यु हो चुकी थी [illegible] दिल्ली मे बैयादे तिर्मिजी और सीरी मे अयाज को [illegible]। जब अलाउद्दीन रणथम्भौर के किले के घेरे मे व्यस्त [illegible] कोतवाल तिर्मिजी का धोखे से वध कर दिया और [illegible] का असफल प्रयत्न किया। उसने सुल्तान के लाल महल [illegible] इल्तुतमिश की एक पुत्री के वशज शाहिन्शाह को [illegible]। [illegible] अलाउद्दीन का एक वफादार सरदार हमीदुद्दीन इस [illegible] रहा तथा हाजी मौला, शाहिन्शाह और उनके समर्थकों [illegible]।

इस प्रकार, उक्त सभी विद्रोह असफल हुए। [illegible] के होने के कारण अलाउद्दीन ने उनके [illegible] और जबकि वह रणथम्भौर के घेरे को डाले [illegible] सरदारो से उनके बारे मे सलाह ली और [illegible] **के मुख्यतया चार कारण हैं :**

1. सुल्तान अपनी प्रजा और [illegible] अनभिज्ञ रहता है ;

2. शराब पीना और [illegible] एक दूसरे के निकट आते है तथा [illegible]

3. सरदारों के पारस्परिक [illegible] एक दूसरे के निकट हो जाते है [illegible]

4 व्यक्तियों के पास सम्पत्ति का संग्रह होना जिसके कारण उन्हें विद्रोह और षड्यन्त्र करने के लिए शक्ति व समय मिल जाता है।

विद्रोहों के कारणों को समझकर अलाउद्दीन ने दिल्ली आकर उनको समाप्त करने के लिए निम्नलिखित चार अध्यादेश बनाये :

1 एक अध्यादेश के द्वारा दान मे दी गयी भूमि, उपहार, पेन्शन आदि व्यक्तियों से छीन ली गयी और सरकारी अधिकारियों को सभी व्यक्तियों से अधिकाधिक कर और धन लेने के आदेश दिये गये। इस आदेश से यह लाभ हुआ कि व्यक्तियों के पास धन नही रह गया और उनका ध्यान और समय मुख्यतया जीविका कमाने मे लग गया। बरनी ने लिखा है कि दिल्ली मे केवल मलिक, अमीर, राज्य-कर्मचारी, हिन्दू-मुल्तानी व्यापारी और सेठों के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति के पास सोना न रहा।

2. दूसरे अध्यादेश के द्वारा अलाउद्दीन ने एक अच्छे गुप्तचर-विभाग का संगठन किया। 'बरीद' (गुप्तचरों के अफसर) और 'मुनहिस' (गुप्तचर) अमीरो के घरों, दफ्तरो, प्रान्तीय राजधानियों और बाजारो मे नियुक्त किये गये जो सुल्तान को प्रत्येक बात और घटना की सूचना देते थे। अलाउद्दीन का गुप्तचर-विभाग इतना अधिक सफल हुआ कि बडे से बडे सरदार भी उससे आतंकित हो गये और आपस मे बातचीत करने मे भी डरने लगे।

3 तीसरे अध्यादेश के द्वारा अलाउद्दीन ने शराब और भाँग जैसे मादक द्रव्यो का प्रयोग और जुआ खेलना बन्द कर दिया। दिल्ली में शराब पीना बिलकुल समाप्त कर दिया गया और सुल्तान ने स्वयं शराब पीना छोडकर अपनी शराब और शराब के पात्रों को जनता के सम्मुख फिकवा दिया। इस कानून को तोडने वाले को कठोर दण्ड दिया जाता था जिसके कारण शराब पीने वाले दिल्ली से 20 या 25 मील दूर जाकर ही शराब पी सकते थे। परन्तु बाद मे इस कार्य को असम्भव समझ कर अलाउद्दीन ने इस नियम मे कुछ परिवर्तन कर दिया। व्यक्तियों को अपने घरो मे शराब पीने और बनाने की आज्ञा दे दी गयी परन्तु वे सार्वजनिक रूप से न शराब बना सकते थे, न उसे पी सकते थे और न शराब की दावतें कर सकते थे। अलाउद्दीन के लक्ष्य की पूर्ति के लिए यह पर्याप्त था।

4. चौथे अध्यादेश के द्वारा अलाउद्दीन ने अमीरों और सरदारों की दावतों, पारस्परिक मेल-जोल और विवाह-सम्बन्धो पर रोक लगा दी। सुल्तान की आज्ञा के बिना वे आपस में विवाह-सम्बन्ध नही कर सकते थे, आपस में मिल-जुल नही सकते थे, न एक दूसरे की दावत कर सकते थे और न जनता के निकट सम्पर्क मे आ सकते थे। अलाउद्दीन ने पुराने सरदारो को समाप्त कर दिया था और अपने नवीन सरदारो को इतना भयभीत कर दिया कि वे सुल्तान ही नहीं सुल्तान के अधिकारी के आदेश का पालन भी तत्परता से करते थे।

सुल्तान के उपर्युक्त अध्यादेश अपने उद्देश्य की पूर्ति में पूर्ण सफल हुए। जब तक अलाउद्दीन शारीरिक और मानसिक दृष्टि से दुर्बल नहीं हुआ तब तक उसके राज्य में विद्रोह नहीं हुए और सरदारों का शासन में प्रभाव समाप्त हो गया।

हिन्दुओं के प्रति व्यवहार—अलाउद्दीन का हिन्दुओ के प्रति क्या व्यवहार था और उसके क्या कारण थे, इसके विषय मे इतिहासकारों में मतभेद है। हिन्दू अलाउद्दीन की कर-व्यवस्था और मुख्यतया लगान-व्यवस्था से प्रभावित हुए थे और उस पर दृष्टिपात करने से ही हिन्दुओ के प्रति किये गये उसके व्यवहार और कारणो पर प्रकाश पडता है। डॉ० यू. एन. डे ने लिखा है कि अलाउद्दीन की कर-व्यवस्था का आधार अत्यधिक विस्तृत था यद्यपि उससे हिन्दुओं और किसानों की सम्पन्नता नष्ट हो गयी परन्तु तुलनात्मक दृष्टि मे वह अत्यधिक कठोर न थी और उसके समय मे तो क्या "भारतीय इतिहास मे कभी भी खूत और मुकद्दम ऐसी निर्धनता की स्थिति में नही पहुँचे।"[1] वह लिखते है कि "बरनी का यह कथन कि निर्धनता के कारण धन कमाने के लिए खूतों और मुकद्दमों की पत्नियों को मुसलमानों के घरो मे कार्य करने के लिए जाना पडता था, पूर्णतया बकवास है।"[2] डॉ० डे के इन विचारो से यह अनुमान लगता है कि अलाउद्दीन की नीति हिन्दुओ के प्रति दुर्व्यवहारपूर्ण न थी। परन्तु अधिकाश इतिहासकार इसे स्वीकार नही करते है। उनके अनुसार अलाउद्दीन की कर-व्यवस्था बहुत कठोर थी जिसका प्रभाव मुख्यतया हिन्दुओ पर आया था। इससे यह विश्वास किया जाता है कि, निस्सन्देह, अलाउद्दीन ने हिन्दुओ को निर्धन बनाने का प्रयत्न किया था। डॉ० के. एस लाल ने लिखा है कि "निस्सन्देह अलाउद्दीन के कार्य अत्याचारपूर्ण थे।"[3] उनके अनुसार अलाउद्दीन का लक्ष्य किसानो के पास केवल इतना धन छोडने का था जो उनके जीवन की रक्षा मात्र के लिए ही आवश्यक हो। अलाउद्दीन ने खूत, मुकद्दम आदि हिन्दू लगान-अधिकारियो के विशेषाधिकारो को समाप्त कर दिया था, यह सभी इतिहासकार स्वीकार करते है। सर वूल्जले हेग ने लिखा है कि "सम्पूर्ण राज्य मे हिन्दुओ को निर्धनता तथा पीडा के निम्नतर स्तर पर पहुँचा दिया गया और यदि कोई एक वर्ग अन्य वर्गों की तुलना मे दयनीय था तो वह पैतृक आधार पर कर निर्धारित करने और उसे वसूल करने वाले पदाधिकारियो का था जिसका पहले सबसे अधिक सम्मान था।"[4] इससे यह स्वीकार करना पडता है कि **अलाउद्दीन ने हिन्दुओं को निर्धन बना दिया था। राज्य की बहुसंख्यक प्रजा के साथ यह व्यवहार न तो उचित था और न राज्य के हित में।** इसके अतिरिक्त, अलाउद्दीन के समय मे हिन्दू मन्दिरो को नष्ट करने, देवी-देवताओ की मूर्तियो को अपमानित करने और युद्ध-बन्दियों को कत्ल करने की नीति भी यथावत् रही थी। काजी मुगीसुद्दीन द्वारा

---

1 "The Khuts and Muqaddams at no stage of Indian history ever reached that stage of poverty." —Dr. U. N Dey.

2 "The statement of Barani that the wives of the Khuts and Muqaddams, because of poverty, were forced to seek jobs in the houses of the Musalmans and earn their wages is rather absurd "—Dr. U. N. Dey, *Some Aspects of Medieval Indian History*

3 "Alauddin's measures were truly oppressive." —Dr. K S. Lal.

4 "Hindu throughout the kingdom were reduced to one dead level of poverty and misery and if there was one class more to be pitied than another, it that which had formerly enjoyed the most esteem, the hereditary and collectors of the revenue."—Sir Wolseley Haig, *The Cambridge H India*, Vol. III.

हिन्दुओ के सम्बन्ध मे दी गयी सलाह का भी अलाउद्दीन ने स्वागत किया था क्योकि वह उसकी नीति के अनुकूल थी। इस कारण **हिन्दुओं के प्रति अलाउद्दीन की नीति निश्चय ही कठोर थी।**

परन्तु इस नीति का आधार क्या था ? डॉ० के. एस. लाल ने लिखा है कि अलाउद्दीन की कठोर कर-व्यवस्था और बहुसंख्यक हिन्दू किसानों की निर्धनता के कारण अलाउद्दीन पर हिन्दुओ पर अत्याचार करने वाले शासक का भ्रम अवश्य हो जाता है, परन्तु उसकी नीति का आधार धार्मिक न था। अलाउद्दीन व्यावहारिक शासक था और वह अपनी प्रजा के बहुसख्यक व्यक्तियो को अप्रसन्न करने की भूल नही कर सकता था। परन्तु उसे यह विश्वास हो गया था कि "जब तक हिन्दुओ को निर्धन नही बनाया जायेगा तब तक वह विद्रोह करना बन्द नही करेंगे।" डॉ० के एस. लाल ने लिखा है, "अलाउद्दीन अपने देशवासियों को इसलिए निर्धन बनाना चाहता था ताकि उनके मुँह से विद्रोह का शब्द नही निकल सके।"[1] इस प्रकार, डॉ० के. एस. लाल के अनुसार अलाउद्दीन की इस नीति का उद्देश्य राजनीतिक था। परन्तु सर वूल्जले हेग ने लिखा है कि "उसने पश्चात् अलाउद्दीन ने हिन्दुओ के लिए विशेष नियम बनाये जिनसे वह कुछ धर्म के आधार पर, कुछ सम्पत्ति के कारण जिसका उनमें से अनेक उपभोग करते थे, और कुछ उनके विद्रोहों मुख्यतया दोआब के कारण असन्तुष्ट था।"[2] डॉ० एस. रॉय ने लिखा है कि "अलाउद्दीन के लक्ष्य निश्चय ही राजनीतिक थे।"[3] परन्तु साथ ही वह यह भी लिखते है कि सुल्तान ने हिन्दू और मुसलमानो में अन्तर किया था। उनके अनुसार "मुसलमानो से कुछ विशेष अधिकार छीने गये थे परन्तु हिन्दुओं की भाँति एक वर्ग के आधार पर उन्हे जान-बूझकर पीस देने वाली निर्धनता और तिरस्कारपूर्ण असम्मान की स्थिति मे ले जाने का प्रश्न नही था।"[4] वह पुनः लिखते हैं, "परन्तु तब भी ऐसे माननीय आधार हैं जिनके कारण यह विश्वास किया जा सकता है कि हिन्दुओं के प्रति व्यवहार करते हुए अलाउद्दीन साम्प्रदायिकता की भावना से भी प्रभावित हुआ था।"[5] इस प्रकार, **डॉ० रॉय अलाउद्दीन की नीति का आधार राजनीतिक और धार्मिक दोनों ही मानते हैं और यही विचार सत्य के अधिक निकट प्रतीत होता है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि अलाउद्दीन ने विद्रोहों को समाप्त करने के लिए**

---

1 "Alauddin wanted to impoverish his countrymen so that the word rebellion should not pass their lips" —Dr. K. S Lal

2 "Ala-ud-din next framed a special code of laws against Hindus, who were obnoxious to him partly by reason of their faith, partly by reasons of the wealth which many of them enjoyed, and partly by reason of their turbulence, especially in the Doab." —Sir Wolseley Haig

3 "The motives of Ala-ud-din were decidedly political." —Dr. S Roy

4 "Some privileges were taken away from the latter (Muslims), but there was no question of deliberately reducing them, as a class, to a state of grinding poverty and abject humiliation, which was the lot of Hindus" —Dr. S Roy

5 "There are, however, good grounds to believe that in dealing with the Hindus Ala-ud-din was also actuated by communal considerations" —Dr S Roy, *The Delhi Sultanate—The History and Culture of the Indian People*, Bharatiya Vidya Bhawan.

हिन्दुओं के प्रति कठोर नीति को भी अपना एक आधार बनाया और वह इसमें भी सफल हुआ।

3. राजस्व (कर) तथा लगान-व्यवस्था

अलाउद्दीन की राजस्व और लगान-व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य भी एक शक्तिशाली और निरंकुश राज्य की स्थापना करना था। साम्राज्य-विस्तार की लालसा की पूर्ति और मंगोलों के आक्रमणों से सुरक्षा करने के लिए एक बड़ी सेना की आवश्यकता थी जिसके लिए राज्य की आय में वृद्धि करना आवश्यक था। इसके अतिरिक्त, हिन्दुओं की विद्रोह करने की शक्ति को तोड़ देना भी इसका एक कारण रहा। डॉ० यू. एन. डे ने इन सुधारों के किये जाने का एक अन्य कारण भी बताया है। उनके अनुसार इक्तादार या राज्य और किसानों के बीच का वर्ग पुरानी व्यवस्था में सबसे अधिक लाभ उठाता था। वह वर्ग बिना राज्य की स्वीकृति के अपनी भूमि में वृद्धि करता चला गया था और जबकि वह किसानों से अधिक से अधिक कर वसूल करता था, राज्य को उसमें से बहुत कम हिस्सा प्राप्त होता था। इससे किसानों और राज्य को कम से कम और उस वर्ग को अधिक से अधिक लाभ था। यह स्थिति बहुत समय तक नहीं चल सकती थी और इस स्थिति में सुधार करने का उत्तरदायित्व अलाउद्दीन पर आया। वह लिखते हैं कि "सम्भवतया विद्रोहों ने इस समस्या को प्रमुख बना दिया था परन्तु ये सुधार एक ऐतिहासिक क्रम का परिणाम थे और अलाउद्दीन उनको कार्य-रूप में परिणत करने का साधन मात्र बना।"[1]

इस प्रकार, अलाउद्दीन की कर तथा लगान-व्यवस्था के विभिन्न कारण थे। इसमें भी सन्देह नहीं कि अलाउद्दीन ने प्राचीन परम्परा को समाप्त करके एक नवीन व्यवस्था की नींव डाली। सर्वप्रथम उसने उन व्यक्तियों पर आक्रमण किया जिन्हें इनाम, पेन्शन आदि के रूप में पिछले सुल्तानों से मुफ्त भूमि प्राप्त हुई थी और जो अब किसी भी रूप में राज्य की सेवा नहीं कर रहे थे। उन सभी व्यक्तियों से भूमि छीन ली गयी जिन्हें वह मिल्क (राज्य द्वारा प्रदत्त सम्पत्ति), इनाम, इद्रारात (पेन्शनें) तथा वक्फ (धर्म की सेवा के आधार पर प्राप्त हुई भूमि) आदि के रूप में मिली हुई थी। डॉ० यू. एन. डे का कहना है कि ऐसा नहीं था कि व्यक्तियों के पास ऐसी भूमि न रही हो, परन्तु अलाउद्दीन ने पहले ऐसे सभी व्यक्तियों से भूमि छीनकर उसका पुनः वितरण किया। उसने योग्यता तथा राज्य-सेवा के आधार पर व्यक्तियों को भूमि प्रदान की तथा इसका स्पष्ट ब्यौरा रखा कि किसके पास कौन-सी और कितनी भूमि रहेगी। डॉ० आर. पी. त्रिपाठी ने भी लिखा है कि ऐसा करने में उसका उद्देश्य "ऐसी सभी भूमियों के बारे में जिनके अधिकार को वह ठीक नहीं मानता था, निर्णय करने, उन्हें समाप्त करने अथवा अपनी शर्तों पर उन्हें अन्य व्यक्तियों को

---

1 "May be, the rebellion highlighted the malady but the reforms were an outcome of historical process, Ala-ud-din merely a tool in implementing them."
—Dr. U. N. Dey.

देने के सुल्तान के अधिकार को स्थापित करना था।"[1] डॉ० के एस. लाल ने लिखा है कि "सुल्तान सभी भूमि को छीनकर अपने अफसरों को नकद वेतन देना चाहता था और यदि ऐसी सभी भूमि को छीना नही गया तो उसमे से अधिकाश का प्रबन्ध करने का अधिकार राज्य ने अवश्य ले लिया।"[2] अलाउद्दीन के **इस सुधार से राज्य की भूमि (खालसा-भूमि) में वृद्धि हुई, केवल उपयुक्त व्यक्तियों के पास भूमि रही और पुराने सरदारों का प्रभाव कम हुआ।**

अलाउद्दीन का **दूसरा आक्रमण खूत, चौधरी और मुकद्दमों पर** हुआ जो पैतृक आधार पर लगान-अधिकारी थे और सभी हिन्दू थे। सुल्तान को उनसे शिकायत थी कि वे किसानो से अधिक से अधिक धन वसूल करते थे और उसमे से राज्य को कम से कम देकर अधिक से अधिक अपने पास रख लेते थे। वे खराज, जजिया, करी और चराई जैसे करों का देना भी टाल देते थे। इन कारणों से वे धनवान थे। बरनी ने लिखा है कि "(वे) अच्छे घोड़े पर सवार होते थे, अच्छे वस्त्र पहनते थे, ईरानी धनुषों का प्रयोग करते थे, आपस में युद्ध करते थे और शिकार करते थे··· " और शराब तथा ठाठ की दावतें करते थे।"[3] अलाउद्दीन ने **उनसे लगान वसूल करने का अधिकार छीन लिया और उनके विशेषाधिकार समाप्त कर दिये। उनकी भूमि पर कर लिया जाने लगा और बाकी अन्य सभी कर भी उनसे लिये गये जिसके कारण खूत (जमींदार) और बलाहर (साधारण किसान) में कोई अन्तर न रहा।** बरनी के कथनानुसार उनकी स्थिति बहुत खराब हो गयी जिसके कारण उनकी पत्नियों को कार्य करने के लिए मुसलमानों के घरों मे जाना पडता था। अपने इस सुधार से अलाउद्दीन ने हिन्दुओ को निर्धन बनाकर उनकी विद्रोह करने की शक्ति को भी समाप्त कर दिया।

अलाउद्दीन ने लगान (खराज) पैदावार का ½ भाग कर दिया। डॉ० यू. एन डे का कहना है कि "पिछले सुल्तान कितना लगान वसूल करते थे इसके बारे में प्रमाण प्राप्त नही होते और जो कुछ भी बताया जाता है वह केवल अनुमान के आधार पर बताया जाता है।" परन्तु जो कुछ भी अनुमान लगाया जाता है उसके आधार पर यह कहा जाता है कि पिछले सुल्तानो के समय मे यह पैदावार का ⅓ भाग होता था। इस प्रकार अलाउद्दीन ने लगान मे वृद्धि की थी, इसमें सन्देह नहीं है। **इसके अतिरिक्त, अलाउद्दीन पहला सुल्तान था जिसने भूमि की पैमाइश (नाप) कराकर लगान वसूल करना आरम्भ किया। इसके लिए एक 'विस्वा' को एक इकाई माना गया। सुल्तान लगान को गल्ले के रूप में लेना पसन्द करता था,** यह भी स्पष्ट है।

---

1 "To assert the right of the monarch to deal with all classes of lands, cancelled all such grants which he did not approve and bestowed others on his own terms."—Dr. R. P. Tripathi, *Some Aspects of Muslim Administration*

2 "The Sultan preferred resumption of all land-grants and paying his officers in cash. Thus even if all the grants were not abrogated, the management of most of them at least was taken over by the government." —D K. S. Lal

3 "(They) ride upon fine horses, wear fine clothes, shoot with Persian bows, make war upon each other, and go out hunting....and hold drinking and convivial parties." —Dr. S. Roy (Based on the records of Barani

अलाउद्दीन ने दो नवीन कर भी लगाये—मकान-कर और चराई-कर। चराई-कर दूध देने वाले सभी पशुओं पर लगाया गया था और उन सब के लिए चरागाह निश्चित कर दिये गये थे। जजिया, सिंचाई-कर और आयात-निर्यात कर पहले की ही भाँति रहे। 'करी' अथवा 'करही' एक अन्य कर था परन्तु उसके बारे में कुछ ठीक पता नहीं लगता। इस प्रकार किसानों पर कर का भार बहुत अधिक था, इसमें सन्देह नहीं। सम्भवतया राज्य किसानों से उनकी पैदावार का 75% से 80% तक करों के रूप में वसूल कर लेता था। इसके अतिरिक्त, जबकि मुसलमान व्यापारियों पर वस्तु के मूल्य का 5% कर था, हिन्दुओं पर यह कर 10% था।

अलाउद्दीन की लगान-व्यवस्था सम्पूर्ण राज्य में समान रूप से लागू नहीं की जा सकती थी। भूमि की पैमाइश करके किसानों से सरकारी कर्मचारियों के द्वारा लगान वसूल किये जाने की व्यवस्था दिल्ली और उसके सीमावर्ती क्षेत्रों में ही लागू की गयी थी। डॉ० आर. पी. त्रिपाठी के अनुसार निचले दोआब, अवध, गोरखपुर, बिहार, बंगाल, मालवा, पश्चिमी पंजाब, गुजरात और सिन्ध इस व्यवस्था में सम्मिलित न थे।

अपनी व्यवस्था को लागू करने के लिए अलाउद्दीन ने एक अलग विभाग 'दीवान-ए-मुसतखराज' स्थापित किया था और हजारों की संख्या में आमिल, मुंशरिफ, मुहस्सिल, गुमाश्ता, नवसिन्दा और सरहंग नाम के पदाधिकारियों की नियुक्ति की थी। रिश्वत और बेईमानी को रोकने के लिए उसने लगान-अधिकारियों के वेतन में वृद्धि की परन्तु जब उससे कोई लाभ नहीं हुआ तो उसने उन्हें कठोर दण्ड दिये। बरनी ने लिखा है कि "पाँच सौ अथवा एक हजार टका के लिए एक लगान-अधिकारी को वर्षों जेल में रहना पड़ता था और एक अधिकारी किसी व्यक्ति से एक टका भी रिश्वत के रूप में लेने का साहस नहीं कर सकता था। प्रजा भी इतनी भयभीत हो गयी थी कि एक साधारण लगान-अधिकारी बारह खूत और चौधरियों को पीटकर उनसे लगान वसूल कर सकता था और व्यक्ति लगान-अधिकारियों से इतनी घृणा करने लगे थे कि कोई भी व्यक्ति अपनी पुत्री का विवाह उनमें से किसी के भी साथ करने को तैयार नहीं होता था।" अलाउद्दीन पूरी तरह से भ्रष्टाचार को समाप्त कर सका हो, यह तो सम्भव प्रतीत नहीं होता परन्तु तब भी अपने कठोर शासन से उसने उसमें सुधार अवश्य किया था और एक सीमित क्षेत्र में वह व्यवस्था सफल थी। उसके वित्त-मन्त्री शराफ काई ने भी अपने परिश्रम से उसकी इस सफलता में बड़ा योग दिया।

अलाउद्दीन की लगान-व्यवस्था उसके समय तक उसके उद्देश्य की पूर्ति में सफल रही। उसका उद्देश्य राज्य की आय में वृद्धि करने के साथ-साथ विद्रोहों की आशंकाओं को समाप्त करना था। वह इसमें सफल हुआ। परन्तु क्या उसकी व्यवस्था प्रजा और राज्य के स्थायी हित के अनुकूल थी? डॉ० यू. एन. डे ने लिखा है कि "एक व्यक्ति यह निर्णय करने के लिए लालायित हो जाता है कि किसानों की भौतिक स्थिति पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा था क्योंकि बढ़ी हुई कर-व्यवस्था के

पश्चात् न तो विद्रोह हुए और न किसान भूमि को छोड़कर भागे। यह भी कहा जा सकता है कि जब किसानों ने अपने ऊपर अत्याचार करने वालो के साथ भी वही व्यवहार होते हुए देखा जिससे वह बहुत पहले से पीड़ित थे तो उन्हें एक अप्रत्यक्ष सन्तुष्टि हुई।"[1] परन्तु डॉ० डे का यह विचार एक अनुमान ही कहा जा सकता है। अपनी आय का 75% से 80% तक राज्य को देकर कोई भी वर्ग सन्तुष्ट नहीं हो सकता। इसी प्रकार, डॉ० इरफान हबीब का यह कहना कि "गाँवों में दो वर्गों के परस्पर झगडों का लाभ उठाते हुए अलाउद्दीन ने जान-बूझकर शक्तिशाली के विरुद्ध दुर्बल का समर्थन करके पूर्णतः न्यायोचित कार्य किया"[2] अधिक भी ठीक प्रतीत नहीं होता। इस दृष्टिकोण मे खूत, चौधरी, मुकद्दमो आदि के विशेषाधिकारो की समाप्ति पर अत्यधिक बल दिया गया है परन्तु किसानों पर डाले गये बोझ पर कोई ध्यान नहीं दिया गया है। अलाउद्दीन के समय मे किसानों पर जो अत्यधिक भार डाला गया था, उसके सन्दर्भ मे विचार करते हुए डॉ० के. एस. लाल ने लिखा है कि "मध्ययुगीन भारत के मुसलमान शासको पर भारतीय जनता को निर्धन बनाने का आरोप ठीक अर्थ मे लगाया जा सकता है।"[3] अतः यह कहना अधिक ठीक है कि अलाउद्दीन **की कर-व्यवस्था राज्य और जन-साधारण के हित में न थी, और उससे स्थायी लाभ प्राप्त नहीं हो सके।** डॉ० ताराचन्द ने लिखा है कि "यह नीति आत्मघातक थी क्योकि उसने सोने के अण्डे देने वाली मुर्गी को मार दिया। उसने उत्पादन-वृद्धि और कृषि मे सुधार के तरीकों के लिए कोई प्रोत्साहन न छोड़ा।"[4]

जियाउद्दीन बरनी ने लिखा था कि "बादशाहत दो स्तम्भों पर आधारित होती है—एक स्तम्भ शासन- है और दूसरा स्तम्भ विजय है। यह दोनों स्तम्भ सेना पर निर्भर करते है ....बादशाहत सेना है और सेना बादशाहत है।"[5] अलाउद्दीन

4. सैनिक-व्यवस्था

जैसे महत्वाकाक्षी शासक के लिए एक बड़ी तथा शक्तिशाली सेना आवश्यक थी। आन्तरिक विद्रोहो को दबाने, भारत-विजय की लालसा को पूरा करने, अपने शासन

---

1 "The peasants do not seem to have been materially effected much, at least such a conclusion one is tempted to draw from the fact that neither revolts nor dessertions took place after the imposition of this enhanced rate. The cultivators, however, it may be suggested, derived an indirect satisfaction when they saw their erstwhile oppressors being subjected to the same treatment which they had been suffering so long from them." —Dr. U. N Dey

2 "Alauddin consciously utilized the conflict between the two rural 'classes' by standing forth as the protector of the 'weak' against 'strong' in these villages is perfectly reasonable." —Dr. Irfan Habib

3 "The accusation of impoverishing the Indian people can rightly be levelled against the Muslim rulers of medieval India." —Dr. K. S Lal

4 "The policy was suicidal for it killed the goose that laid the golden egg. It left no incentive for increasing the produce or improving the method of cultivation." —Dr. Tara Chand

5 "Kingship is maintained by two pillars—the first pillar is administration and the second pillar is conquest. Both pillars are supported by the army.. Kingship is the army and the army is kingship." —Ziauddin Barani

को निरकुशता पर आधारित करने और मगोल-आक्रमणो से सुरक्षा के लिए अलाउद्दीन ने सैनिक-व्यवस्था की ओर पूर्ण ध्यान दिया।

अलाउद्दीन ने केन्द्र पर एक बड़ी और स्थायी सेना रखी और उसे नकद वेतन दिया। ऐसा करने वाला वह दिल्ली का पहला सुल्तान था। उससे पहले के सुल्तान अपनी सेना की सख्या और शक्ति के लिए अपने सरदारों, इक्तादारो और मलिको की सैनिक-सहायता पर निर्भर करते थे। अलाउद्दीन ने इस निर्भरता को समाप्त कर दिया। सैनिको की भर्ती सेना-मन्त्री (दीवान-ए-अर्ज) द्वारा की जाने लगी और उन्हे सुल्तान की ओर से नकद वेतन दिया जाने लगा। सुल्तान के सैनिको को हथियार, शिक्षा, रसद, वस्त्र, वेतन आदि सुल्तान से प्राप्त होते थे उनकी नियुक्ति और पदोन्नति सुल्तान पर निर्भर करती थी। एक सैनिक ('एक अस्पा' जिसके पास एक घोडा होता था) को प्रति वर्ष 234 टंका वेतन मिलता था तथा 'दो अस्पा' (वह सैनिक जिसके पास दो घोड़े होते थे) को 78 टका अतिरिक्त वेतन मिलता था। फरिश्ता के अनुसार, सुल्तान की सेना मे 4,75,000 घुडसवार थे। पैदल सेना की सख्या इससे अधिक ही होगी, यह माना जा सकता है। हाथी भी सेना का एक भाग थे और पत्थर फेंकने वाली मशीनो (तोपो) का प्रयोग भी किया जाता था। धनुप-बाण, तलवार, भाला, कटार आदि युद्ध करने के मुख्य शस्त्र थे। सुरक्षा के लिए शिरस्त्राण, कवच और ढाल का प्रयोग किया जाता था।

युद्ध के अवसर पर सैनिक अपने स्थान पर किसी अन्य व्यक्ति को न भेज दे, इसकी रोकथाम हेतु **सैनिकों का हुलिया** रखने की व्यवस्था आरम्भ की गयी। इसी प्रकार सैनिक अच्छे घोड़ो मे परिवर्तन न कर सकें और एक ही घोड़े को बार-बार निरीक्षण के लिए प्रस्तुत न किया जा सके, इसके लिए **घोड़ों को दागने** की प्रथा आरम्भ की गयी। किसी अन्य दिल्ली सुल्तान ने अभी तक इन कार्यों को अपनी सेना मे आरम्भ नही किया था।

इसके अतिरिक्त, अलाउद्दीन ने उत्तर-पश्चिमी सीमा पर बलबन द्वारा बनवाये गये किलो की मरम्मत करायी तथा महत्वपूर्ण स्थानो पर नवीन किले भी बनवाये। इन सभी किलों मे स्थायी रूप से सेना रखी गयी। दिल्ली और सीरी के किलों की भी मरम्मत करायी गयी।

अलाउद्दीन को अपने आरम्भिक काल मे रणथम्भौर को जीतने मे कठिनाई हुई थी, वारंगल पर किया गया उसका आक्रमण विफल हुआ था और मंगोल दिल्ली तक आ सके थे। परन्तु अलाउद्दीन के समय मे ही उत्तर तथा दक्षिण भारत में महान् विजये की गयी और मगोलो को निरन्तर परास्त किया गया। इससे सिद्ध होता है कि **अलाउद्दीन ने एक श्रेष्ठ सेना का निर्माण करने में सफलता प्राप्त की थी।**

2. वेतन-व्यवस्था

अलाउद्दीन ने केन्द्र पर एक बडी सेना रखी और उसे नकद वेतन दिया। इस सेना का व्यय बहुत अधिक था। बरनी के अनुसार "यदि उतनी बडी सेना को साधारण वेतन भी दिया जाता तो राज्य का खजाना पांच या छः वर्ष में ही समाप्त

अत अलाउद्दीन ने सेना के व्यय मे कमी करने के लिए सैनिको के वेतन मे कमी की। परन्तु उसके सैनिक सुविधापूर्वक रह सकें, इसके लिए उसने वस्तुओं की कीमतें निश्चित कीं और उनकी दरें कम कर दीं।" सुल्तान के खजाने मे धन की कमी न थी। परन्तु देवगिरि से लूटकर लायी हुई सम्पूर्ण सम्पत्ति, दक्षिण भारत के राज्यों से निरन्तर प्राप्त होने वाला कर और शराब पीने के सोने-चाँदी के बर्तनों को तोडकर सिक्के बनाने से भी अलाउद्दीन की बडी सेना के व्यय के भार को शाही खजाना नही उठा सकता था। लगान को पैदावार का $\frac{1}{2}$ भाग कर देने तथा अन्य करो मे वृद्धि कर देने से भी सेना के व्यय की समस्या का हल नहीं निकल सका था। इसके विपरीत, आरम्भ मे सुल्तान द्वारा मुक्त-हृदय से नागरिकों में धन के वितरण और इतनी बडी सख्या में सैनिकों को वेतन देने से मुद्रा के मूल्य में कमी हो गयी थी। इस कारण **सैनिकों के वेतन और वस्तुओं के मूल्य में कमी करना आवश्यक था।** डॉ० के एस. लाल ने लिखा है कि "यह गणित की एक साधारण गणना और एक साधारण आर्थिक सिद्धान्त था। क्योंकि उसने सैनिको के वेतन को कम करके निश्चित करने का निर्णय किया था, अतएव उसने दैनिक आवश्यकताओं की वस्तुओ के मूल्य को भी कम करके निश्चित किया।"[1] डॉ० यू एन. डे ने इस सम्बन्ध मे एक अन्य विचार प्रकट किया है। **उनके अनुसार अलाउद्दीन की बाजार-व्यवस्था का मुख्य कारण सैनिको के वेतन में कमी करना न होकर वस्तुओ के मूल्यों को बढ़ने से रोकना था।** वह लिखते है कि "जबकि अलाउद्दीन ने अपने एक सैनिक को 234 टका प्रति वर्ष दिया था, मुगल बादशाह अकबर ने अपने तबिनन (सैनिक) को 240 रु० प्रति वर्ष और शाहजहाँ ने अपने सैनिक को 200 रु० प्रति वर्ष दिया। इस प्रकार अलाउद्दीन ने अपने सैनिक को अकबर के सैनिक से प्रति वर्ष 6 रु० कम और शाहजहाँ के सैनिक से 34 रु० प्रति वर्ष अधिक दिया। इस प्रकार 14वी सदी के आरम्भ मे अलाउद्दीन द्वारा अपने सैनिको को दिया गया वेतन कम न था। इसी सम्बन्ध मे वह एक प्रश्न करते है और उसका उत्तर भी देते है। क्या अलाउद्दीन ने दिल्ली के समीपवर्ती क्षेत्रों मे वस्तुओ के मूल्य प्रचलित मूल्य से कम निश्चित किये थे? उनके अनुसार ऐसा नही था। वह लिखते है कि "अलाउद्दीन के समय मे वस्तुओं के मूल्य प्राय. वही थे जो हमें बाद मे फीरोजशाह तुगलक के समय में प्राप्त होते हैं।" बरनी का कथन भी इस बात का समर्थन करता है। बरनी के कथनानुसार "किसान दिल्ली की मण्डी में अपनी वस्तुओं को लेकर सरकारी मूल्यों पर बेचने के लिए आते थे।" वह यह भी लिखता है कि "सुल्तान स्वयं प्रत्येक वस्तु के उत्पादन-मूल्य के आधार पर वस्तुओं का मूल्य निश्चित करता था।" डॉ० डे लिखते हैं, "इस कारण, निस्सन्देह, किसानों और व्यापारियों को कुछ लाभ अवश्य प्राप्त होता था।" जहाँ तक इस बात का प्रश्न है कि जब अलाउद्दीन का आशय वस्तुओं के मूल्य को सामान्यतया प्रचलित मूल्य

---

1 "It was simple arithmetical calculation and simple economic principle: since he had decided to reduce and fix the salary of soldiers, he also decided to reduce and fix the prices of common use." —Dr. K. S. Lal

से कम करने का नही था तो फिर बाजार-नियन्त्रण करने और उसे कठोरता से लागू करने की क्या आवश्यकता थी। वह लिखते है कि "उस समय दिल्ली एक बडे साम्राज्य की राजधानी होने के कारण व्यापार और आवागमन का केन्द्र बन गयी थी, उसकी जनसख्या मे बहुत वृद्धि हो गयी थी और अलाउद्दीन की बडी सेना भी वही रहती थी। इसके अतिरिक्त, सैनिको को नकद वेतन दिये जाने तथा अन्य कारणो से मुद्रा का चलन भी दिल्ली मे अधिक था। इस प्रकार जनसख्या और मुद्रा मे विस्तार हो जाने के कारण वस्तुओ के मूल्य में वृद्धि होना स्वाभाविक था और व्यापारी-वर्ग द्वारा संग्रह करने तथा चोर-बाजारी करने के कारण वस्तुओं के मूल्य मे अधिक से अधिक वृद्धि हो जाने की सम्भावना थी। अलाउद्दीन का मुख्य उद्देश्य वस्तुओ के मूल्यो मे इन कारणो से उत्पन्न होने वाली वृद्धि को रोकना था।" वह लिखते है कि "अलाउद्दीन का उद्देश्य व्यापारी-वर्ग द्वारा चालाकी के विभिन्न साधनो के प्रयोग से वस्तुओं के मूल्यो मे हो रही वृद्धि को रोकना था, न कि उनके सामान्यतया प्रचलित मूल्यो मे कमी करना।"[1] डॉ० डे का यह विचार तर्कपूर्ण और माननीय है। परन्तु इससे इस बात का महत्व कम नही हो जाता कि क्योकि अलाउद्दीन ने केन्द्र पर एक बडी सेना रखी और उसे नकद वेतन देना आरम्भ किया इस कारण उसे बाजार-नियन्त्रण की आवश्यकता हुई।

आधुनिक इतिहासकारों में से कुछ ने यह विचार भी प्रकट किया है कि बाजार-नियन्त्रण और उसके परिणामस्वरूप वस्तुओं के मूल्य निर्धारित करने में अलाउद्दीन का उद्देश्य मानवीय था। वह अपनी प्रजा को सभी वस्तुएँ उचित मूल्य पर और पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध कराना चाहता था। इसी कारण उसने यह कार्य किया था। उनके इस विचार का आधार शेख नासिरुद्दीन द्वारा लिखे गये ग्रन्थ 'खायरुल-मजालिस' मे शेख हमीदुद्दीन का एक सवाद है जिसमे अलाउद्दीन की अपनी प्रजा की भलाई की भावना की प्रशसा की गयी है। अमीर खुसरव द्वारा रचित 'खजाइ-नुल-फुतूह' मे भी अलाउद्दीन के आर्थिक सुधारों की प्रशसा की गयी है। परन्तु उपर्युक्त आधारों को अधिक प्रमाणित नहीं माना जा सकता और न वे यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त ही हैं कि अलाउद्दीन का मुख्य उद्देश्य प्रजा की भलाई था। इसके विपरीत, जिस कठोरता से इस बाजार-व्यवस्था को लागू किया गया और जिस प्रकार जन-साधारण पर इसका प्रभाव पडा उससे तो यही स्पष्ट होता है कि अलाउद्दीन ने इस व्यवस्था को लागू करने मे किसी विशेष आर्थिक सिद्धान्त अथवा प्रजा की भलाई का ध्यान नही रखा था। इससे यह स्पष्ट होता है कि बाजार-नियन्त्रण और वस्तुओ के मूल्यों को निर्धारित करने में अलाउद्दीन का एकमात्र उद्देश्य राजनीतिक था। एक बड़ी सेना रखना, अपने सैनिको को एक निश्चित और नकद वेतन देकर उनको जीवन को सुविधाएँ उपलब्ध कराना और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वस्तुओ के मूल्यों को

---

1 "Ala-ud-din's motive was to check the rising prices which was due to manipulation of the business community and not to reduce the prices to a lower level than the normal" —Dr. U. N. Dey.

बढ़ने से रोकना उसका उद्देश्य था तथा बाजार-नियन्त्रण इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु एक साधन।

अलाउद्दीन ने प्रायः सभी वस्तुओं के मूल्यों को निश्चित किया। सभी प्रकार के अनाज, दालें, कपड़ा, गुलाम अथवा घोड़े ही नही वरन् सब्जी, मेवा, माँस, मछली, गन्ना, सुई, धागा, रंग, कंघा आदि जैसी दैनिक आवश्यकता की वस्तुओं के मूल्य भी निर्धारित किये गये। प्रत्येक वस्तु के लिए पृथक-पृथक बाजार निश्चित किये गये। गल्ले के लिए मण्डी, कपड़े के लिए सराय-ए-आदिल, घोड़ों, गुलामों और पशुओं के लिए एक पृथक बाजार तथा दैनिक जीवन के उपभोग की बाकी वस्तुओं के लिए एक अन्य बाजार निश्चित किया गया। कठिनाई के अवसरों पर सुरक्षा के लिए सरकारी गोदामों में सभी आवश्यक वस्तुओं को संग्रह करने की व्यवस्था की गयी थी और ऐसी परिस्थितियों में प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक वस्तुओं के खरीदने की सीमा निश्चित की जाती थी। कोई भी वस्तु अप्राप्य न हो जाये इसके लिए भी प्रबन्ध किया गया था। खालसा-भूमि (सुल्तान की भूमि) तथा जहाँ तक भी सम्भव था अधीन सामन्तों की भूमि से भी गल्ले के रूप में लगान वसूल किया गया। सरकार में रजिस्टर्ड व्यापारियों को ही किसानों से गल्ला खरीदने की आज्ञा थी। सभी व्यापारियों को शहाने-मण्डी के दफ्तर में अपने को पंजीकृत (Registered) कराना पड़ता था। कपड़े के व्यापारियों को बाहर से कपड़ा लाने के लिए अग्रिम धन देने की व्यवस्था थी परन्तु उन्हें बाजार में एक निश्चित मूल्य पर कपड़ा बेचने के लिए बाध्य किया जाता था। सभी व्यापारियों को एक निश्चित मात्रा में वस्तुएँ लाने के लिए भी बाध्य किया जाता था जिससे किसी वस्तु की कमी न हो। सुल्तान द्वारा निश्चित किये गये मूल्यों पर ही वे वस्तुएँ बेची जायँ और तोल में भी ठीक हों, इसके लिए बड़ी कठोरता से कार्य किया जाता था। वस्तुएँ केवल निश्चित मूल्य पर ही बेची जा सकती थीं यहाँ तक कि बड़े से बड़ा पदाधिकारी भी सुल्तान की आज्ञा के बिना मूल्यों में कोई परिवर्तन नहीं कर सकता था। कम तोलने वाले के शरीर से उतनी ही मात्रा में माँस काट लिया जाता था। कोई भी व्यक्ति (व्यापारी या किसान) किसी भी वस्तु का संग्रह नहीं कर सकता था। दोआब के पदाधिकारियों को यह लिखकर देना पड़ता था कि वे किसी भी किसान को अनाज संग्रह नहीं करने देंगे। सट्टे-बाजी और चोर-बाजारी पूर्णतया समाप्त कर दी गयी थी। किसी भी कानून को भंग करने वाले व्यक्ति को कठोरतम दण्ड दिया जाता था। इन कार्यों की देखभाल के लिए दीवाने-रियासत और शहाने-मण्डी तथा न्याय के लिए सराय-अदूल नाम के बड़े अधिकारियों की नियुक्ति की गयी थी। इनके अतिरिक्त, बरीद-ए-मण्डी, मुनहीयान्स आदि अनेक पदाधिकारियों की भी नियुक्ति की गयी थी। इन सभी अधिकारियों को दण्ड देने के विस्तृत अधिकार थे। वे सभी सुल्तान से आतंकित थे और उन्होंने सभी व्यापारियों को आतंकित कर रखा था जिसके कारण सुल्तान के नियमों का अक्षरशः पालन किया गया। राज्य के बड़े-बड़े सरदार और धनवान व्यक्ति भी इन कानूनों को नहीं तोड़ सकते थे। यदि उनमें से कोई

किसी बहुमूल्य वस्तु को खरीदना चाहता था तो उसे दीवाने-रियासत अथवा शहाने-मण्डी से आज्ञा लेनी पड़ती थी।

अलाउद्दीन की यह बाजार-व्यवस्था दिल्ली में ही लागू की गयी थी अथवा राज्य के अन्य भागों या शहरों में भी लागू की गयी थी ? केवल इतिहासकार फरिश्ता ने यह लिखा है कि वस्तुओं के जो मूल्य दिल्ली में थे, वही राज्य के अन्य भागों में भी थे। परन्तु स्वयं बरनी, जो खलजी-वंश के इतिहास को जानने का एकमात्र मूल आधार है, ऐसी कोई स्पष्ट बात नहीं कहता बल्कि समय-समय पर उसी के द्वारा व्यक्त किये गये विचारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अलाउद्दीन की यह व्यवस्था केवल दिल्ली तक ही सीमित थी और अधिकांश आधुनिक इतिहासकार इसी मत को स्वीकार करते हैं।

अलाउद्दीन की बाजार-व्यवस्था उसके समय में उसके लक्ष्य की पूर्ति में सफल रही। अलाउद्दीन चाहता था कि सभी वस्तुएँ निश्चित मूल्य पर बेची जायँ और वह इसमें सफल हुआ। बरनी ने लिखा है कि "जब तक अलाउद्दीन ने शासन किया तब तक वस्तुओं के मूल्य न बढ़े और न घटे बल्कि सर्वदा निश्चित रहे।"[1] वस्तुओं के मूल्य को निश्चित रखने में अलाउद्दीन का उद्देश्य था कि वह एक बड़ी सेना रख सके। वह उसमें भी सफल हुआ। उसकी सेना बड़ी ही नहीं बल्कि प्रत्येक युद्ध में सफल भी रही। अलाउद्दीन के समय में मंगोलों के भीषणतम आक्रमण हुए परन्तु अलाउद्दीन न केवल उन्हें परास्त करने में ही सफल रहा बल्कि भारत के दूरस्थ प्रदेशों को विजय करने में भी उसने सफलता प्राप्त की। इसके अतिरिक्त, दिल्ली के नागरिकों को भी उससे लाभ था क्योंकि उन्हें भी सभी वस्तुएँ सामान्य मूल्यों पर प्राप्त होती थीं और बेईमानी की कोई गुंजाइश नहीं थी। दिल्ली के नागरिकों की भावनाएँ हमीद कलन्दर के शब्दों से व्यक्त होती हैं। उसने कहा था कि "व्यक्ति उसके (अलाउद्दीन खलजी के) मकबरे पर श्रद्धा प्रकट करने जाते थे, उसकी कब्र पर पवित्र धागा बाँधते थे, दुआएँ माँगते थे और उनकी इच्छाएँ पूर्ण हो जाती थीं।"[2] निस्सन्देह, वस्तुओं को निर्धारित मूल्यों पर बेचे जाने की अलाउद्दीन की व्यवस्था सफल और अद्वितीय थी। डॉ० के. एस. लाल, जो अन्य विभिन्न प्रकार से उस व्यवस्था के दोषों को बताते हैं, यह स्वीकार करते हैं कि "अलाउद्दीन के शासन का वास्तविक महत्व वस्तुओं के मूल्यों के कम करने में नहीं है बल्कि बाजार में कीमतों को निश्चित रखने में है जो अपने युग का एक महान् आश्चर्य समझा गया था।"[3] डॉ० के. एस. लाल अलाउद्दीन के पक्ष में एक अन्य बात भी कहते हैं। वह लिखते हैं कि "अलाउद्दीन के समय की भाँति किसी

---

1 "So long as Alauddin ruled, prices of commodities never rose or fell but ever remained fixed." —Barani

2 "People used to pay homage to his (Ala-ud-din Khalji's) tomb, put sacred thread on his grave, beg for boons and their wishes were fulfilled." —Hamid

3 "What is of real importance in Alauddin's reign is not so much the ness of prices, as the establishment of a fixed price in the market considered one of the wonders of the age." —Dr.

अन्य शासक के समय मे मगोलो के निरन्तर आक्रमण नही हुए। दिल्ली सल्तनत युग के किसी अन्य सुल्तान के समय में इतने विस्तृत आधार पर विजये नही की गयी। इन परिस्थितियो मे यह तनिक भी आश्चर्यजनक नही है कि उसके सभी सुधार और कानून सेना के लाभ के लिए किये गये। इसके अतिरिक्त, भारत के विख्यात तुर्की सुल्तानो में से कितने सुल्तान सेना की तुलना मे किसानो और व्यापारियो की प्रसन्नता और समृद्धि का ध्यान रख सकते थे? आवश्यकता, धार्मिक उत्साह और व्यक्तिगत महत्वाकाक्षा से प्रेरित विजय का यश उनके लिए किसानो को धनवान और व्यापारियो को अधिक धनवान बनाने वाले कानूनो के निर्माण के मुकाबले कही अधिक आकर्षक था। अलाउद्दीन इसके लिए अपवाद न था।"[1]

परन्तु अलाउद्दीन को उसकी सफलता का उचित श्रेय प्रदान करने के पश्चात् यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि अलाउद्दीन की बाजार-व्यवस्था न तो जन-साधारण के हित में थी, न राज्य के अन्तिम हितो की पूर्ति में सहायक और न स्थायी। इस व्यवस्था से किसानों को कोई लाभ न था। जिन किसानो को अपनी पैदावार का आधा भाग लगान के रूप मे देना पडता हो, कुछ अन्य कर भी देने पडते हों और बाकी को सरकारी व्यापारियो को निश्चित मूल्य पर बेचना पडता हो, वे अपनी दैनिक आवश्यकता की वस्तुओ को अपने स्थानीय बाजार के मूल्यो (जो निस्सन्देह दिल्ली मे लागू मूल्यो से अधिक होगे) पर खरीदकर सुखी और सम्पन्न कैसे रह सकते थे? दिल्ली के नागरिक तो अलाउद्दीन के निर्धारित मूल्यों से लाभ प्राप्त कर सके थे परन्तु बाकी अन्य नागरिको को यह सुविधा कैसे मिल सकती थी? **कारीगरों को भी इस व्यवस्था में लाभ नहीं था** क्योंकि उनके द्वारा बनायी गयी वस्तुएँ अधिक से अधिक उत्पादन-मूल्य से कुछ अधिक मूल्य पर ही बिक सकती थी (यदि यह मान लिया जाय कि अलाउद्दीन ने मूल्य-निर्धारण मे उत्पादन-मूल्य को अपना आधार बनाया था)। **व्यापारी-वर्ग इससे सन्तुष्ट नहीं हो सकता था** क्योंकि उनका लाभ राज्य की इच्छा पर निर्भर करता था। अलाउद्दीन ने व्यापारियो को वस्तुएँ खरीद कर लाने और बेचने के लिए बाध्य किया था और वह उन्हें एक दूसरे के लिए तथा उनके परिवार के सदस्यों को बन्धक के रूप मे रखता था। इससे व्यापारियो की स्थिति स्पष्ट हो जाती है। ऐसी स्थिति मे व्यापार तथा उद्योगों को प्रोत्साहन मिलने का कोई प्रश्न नही था। डॉ० के. एस लाल ने लिखा है कि "चाहे सुल्तान का उद्देश्य उन निर्धन किसानो पर जुल्म करने का न रहा हो जिनके विरुद्ध सम्भवतया

---

1 ... ns so persistent as in
he Sultanate period
circumstances if all
efit of the army, it
kish kings of India
peasants and traders
personal ambition
rendered the glory of conquest much more appealing to them than the glory of making such laws as would make the peasants rich and traders richer. Alauddin was no exception."
—Dr. K. S Lal

उसे किसी शिकायत का कारण न था परन्तु राज्य की तीव्र आवश्यकताओं ने उसे ऐसे कदम उठाने पर बाध्य किया जिनके कारण व्यापार और कृषि के हितों को सेना के हितों की पूर्ति के लिए त्याग दिया गया।"[1] इसी प्रकार डॉ० एस. रॉय ने अलाउद्दीन की बाजार-व्यवस्था का मूल्यांकन करते हुए लिखा है कि "जबकि सम्पूर्ण देश का खून निचोड़ा गया, राजधानी का पेट भरा गया। दिल्ली में इतनी अधिक मात्रा में अनाज संग्रह किया गया था कि 1334 ई० में वहाँ आने वाले इब्न-बतूता ने अलाउद्दीन के द्वारा संग्रह किये गये चावल को खाया। इन नियमों से केवल सेना को और अनजाने में दिल्ली की जनता को लाभ हुआ। जिन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए वे बनाये गये थे उस दृष्टि से वे अत्यधिक सफल हुए। परन्तु क्योंकि वे आर्थिक सिद्धान्तों के विरुद्ध थे *अतएव वे अपने निर्माता के साथ ही समाप्त हो गये।*"[2] इस प्रकार **अलाउद्दीन की व्यवस्था में मूल आधार पर दोष थे।** वह व्यवस्था अलाउद्दीन के समय में ही सफल रही। कुतुबुद्दीन मुबारकशाह को न साम्राज्य-विस्तार की लालसा थी और न मंगोल-आक्रमणों का भय। इस कारण उसे न तो बड़ी सेना की आवश्यकता थी और न बाजार-व्यवस्था की। मुबारकशाह इन कार्यों के लिए योग्य भी न था। उसे युद्धों से अधिक स्त्रियों से प्रेम था। इसके अतिरिक्त, [illegible] आर्थिक वह *व्यवस्था बहुत लम्बे समय तक स्थापित भी नहीं रखी जा सकती थी। अन्ततः* **अलाउद्दीन की मृत्यु के साथ-साथ उसकी बाजार-व्यवस्था भी समाप्त हो गयी।**

[2]

साम्राज्य-विस्तार

उत्तर भारत

अलाउद्दीन की आकांक्षाएँ साम्राज्यवादी थीं। [illegible] राज्यों को अधिक से अधिक संख्या में अपनी अधीनता में [illegible] अपनी अधीनता [illegible] करने के लिए बाध्य करना उसकी साम्राज्यवादी नीति का लक्ष्य था। [illegible] द्वितीय' की उपाधि ग्रहण की थी और [illegible] यद्यपि अपने मित्र और दिल्ली के [illegible] उसने अपनी विजय-योजनाओं को [illegible] तक ही सीमित [illegible] कारण भारत में अधिक से अधिक [illegible] उसका लक्ष्य रहा। उत्तर भारत के [illegible] उसकी नीति [illegible]

थी जबकि दक्षिण भारत के राज्यों से वह अपनी अधीनता स्वीकार कराकर और वार्षिक कर लेकर ही सन्तुष्ट हो गया।

गुजरात एक समृद्धशाली राज्य था। मुसलमान आक्रमणकारियों ने समय-समय पर उसके विभिन्न क्षेत्रों को लूटने में सफलता प्राप्त की थी परन्तु वे उसे विजय करने में न केवल असमर्थ रहे थे बल्कि एक-दो अवसरों पर पराजित भी हुए थे। उस समय

1 जयसलमेर और गुजरात

उसकी राजधानी अन्हिलवाड (पाटन) थी और बघेला-शासक कर्ण (राय करन) उसका शासक था। 1299 ई० में उलुगखाँ और नसरतखाँ के नेतृत्व में गुजरात पर आक्रमण किया गया। **मार्ग में उन्होंने जयसलमेर को विजय किया।** बाद में अहमदाबाद के निकट राजा कर्ण ने उनका मुकाबला किया परन्तु वह परास्त हुआ और उसने अपनी पुत्री देवलदेवी के साथ भागकर देवगिरि के शासक रामचन्द्रदेव के यहाँ शरण ली। गुजराती स्रोत-ग्रन्थों के आधार पर यह पता लगता है कि कर्ण की पराजय का कारण उसके मन्त्री माधव का विश्वासघात था। युद्ध में विजय के पश्चात् मुसलमानों ने सूरत, सोमनाथ और काम्बे के बन्दरगाह तक आक्रमण किये। गुजरात को मुसलमानों ने निर्दयता से लूटा, राजा कर्ण का समस्त खजाना और उसकी पत्नी कमलादेवी भी उनके हाथ लगी जिसको लेकर वे दिल्ली पहुँचे। सोमनाथ मन्दिर को पुनः नष्ट कर दिया गया और उसकी मूर्ति के टुकडों को दिल्ली लाकर मुसलमानों के पैरों तले रौंदने के लिए फेंक दिया गया। कमलादेवी से अलाउद्दीन ने विवाह कर लिया और वह उसकी प्रिय पत्नी बनी। यहीं नसरतखाँ ने काफूर हजारदीनारी को खरीदा।

रणथम्भौर चौहान राजपूतों की शक्ति का गढ था। सुल्तान जलालुद्दीन उसे विजय करने में असफल रहा था और राणा हम्मीरदेव ने अपने राज्य और प्रभाव को बढ़ाने में सफलता पायी थी। राजस्थान की विजय रणथम्भौर को जीते बिना सम्भव

2. रणथम्भौर

न थी। इस कारण उसका एक विशेष महत्व था। इसके अतिरिक्त, राणा हम्मीरदेव ने अपनी शरण में आये हुए मंगोल मुसलमानों को वापिस देने से इन्कार करके अलाउद्दीन को आक्रमण करने का बहाना दे दिया। उलुगखाँ और नसरतखाँ को इस किले की विजय करने के लिए भेजा गया। परन्तु उनका आक्रमण विफल हुआ और नसरतखाँ मारा गया। मुसलमान आक्रमणकारियों को पीछे हटना पड़ा। तब **अलाउद्दीन ने स्वयं आक्रमण किया और रणथम्भौर के किले का घेरा डाल दिया।** एक वर्ष के निरन्तर घेरे के पश्चात् न तो किले को जीता जा सका और न राजपूतों ने आत्म-समर्पण ही किया। हम्मीरदेव का एक मन्त्री रनमल अलाउद्दीन से मिल गया जबकि उसे सन्धि की बातचीत के लिए भेजा गया था। अन्त में जुलाई 1301 ई० में **अलाउद्दीन ने किले को जीत लिया।** परन्तु इससे पहले राजपूत स्त्रियों ने जौहर कर लिया था और राजपूत सैनिक राणा हम्मीरदेव के साथ युद्ध में मारे जा चुके थे। अलाउद्दीन

ने रनमल और उसके सभी साथियों का वध करा दिया जो विश्वासघात करके उसके साथ आ मिले थे।

डॉ० के. एस लाल ने यह विचार व्यक्त किया है कि "1303 ई० में वारंगल पर किया गया आक्रमण वस्तुत: बंगाल पर किया गया आक्रमण था जहाँ शमसुद्दीन ने स्वयं को सुल्तान घोषित कर दिया था और अपने नाम के सिक्के चलाये थे।" इस आक्रमण का कोई परिणाम न निकला क्योंकि वारंगल जाकर मुस्लिम सेना की पराजय हुई और उसे वापिस लौटना पडा। इसके फलस्वरूप बंगाल भी 1324 ई० तक स्वतन्त्र रहा।

3. बंगाल

राजस्थान मे रणथम्भौर के पश्चात् राजपूतो की एक दूसरी बड़ी शक्ति चित्तौड का राज्य था। एक ऊँची पहाडी पर बना हुआ चित्तौड़ का किला अजेय माना जाता था। जनवरी 1303 ई० मे अलाउद्दीन ने चित्तौड़ पर आक्रमण किया और किले का घेरा डाल दिया। राणा रतनसिंह ने सात माह तक बहादुरी से मुसलमानों का मुकाबला किया परन्तु अन्त मे अगस्त 1303 ई० में **किले पर अलाउद्दीन का अधिकार हो गया**। राजपूत स्त्रियो ने पद्मिनी के साथ 'जौहर' कर लिया। राजपूती प्रमाणों के अनुसार राणा रतनसिंह युद्ध में लडता हुआ मारा गया, जबकि इसामी और अमीर खुसरव ने लिखा है कि राणा ने अपनी पराजय के पश्चात् आत्मसमर्पण कर दिया और अलाउद्दीन की शरण मे चला गया। सत्य कुछ भी हो परन्तु उसके पश्चात् रतनसिंह का नाम कही भी सुनने में नही आता। यह भी निश्चय है कि राजपूतों ने अलाउद्दीन का कडा मुकाबला किया था क्योंकि किले पर अधिकार करने के पश्चात् अलाउद्दीन ने कत्लेआम का आदेश दिया था और प्राय. 30,000 राजपूत उस समय कत्ल किये गये थे। अलाउद्दीन ने चित्तौड का नाम खिज्राबाद रखा और उसे अपने पुत्र खिज्रखाँ को देकर वह स्वयं दिल्ली वापिस आ गया। 1311 ई० मे खिज्रखाँ को चित्तौड से वापिस बुला लिया गया और अलाउद्दीन ने उसे अपने एक मित्र-राजपूत मालदेव को दे दिया। परन्तु राजपूत चित्तौड की पराजय को न भूल सके। उन्होंने खिज्रखाँ को तंग किया था और रतनसिंह के ही एक वंशज हम्मीरदेव ने मालदेव को भी निरन्तर तंग किया। मालदेव ने उसे सन्तुष्ट करने के लिए अपनी एक पुत्री का विवाह भी उसके साथ किया परन्तु हम्मीरदेव ने चित्तौड को जीतने के प्रयत्नों में कमी न की और अन्त में 1321 ई० मे मालदेव की मृत्यु के पश्चात् उसने चित्तौड़ और सम्पूर्ण मेवाड राज्य को स्वतन्त्र करने में सफलता प्राप्त की। इस प्रकार, अलाउद्दीन की मृत्यु के पश्चात् चित्तौड स्वतन्त्र हो गया।

4. चित्तौड़

पद्मिनी की कहानी—पद्मिनी की कहानी का मुख्य आधार 1540 ई० मे मलिक मुहम्मद जायसी द्वारा लिखी गयी काव्य-पुस्तक 'पद्मावत' है। अमीर खुसरव ने सुलेमान और रानी शैबा के प्रेम-प्रसंग का उल्लेख अपने ग्रन्थ मे किया था और उसने संकेतो मे अलाउद्दीन की समता सुलेमान से तथा पद्मिनी की तु

शैवा से की थी। परन्तु उसके द्वारा बताया गया यह प्रेम-प्रसंग स्पष्ट न था बल्कि एक संकेत मात्र था। उससे यह स्पष्ट नही होता कि शैवा से उसका अर्थ पद्मिनी से ही था। परन्तु, सम्भवतया, उसी को आधार मानकर मलिक मुहम्मद जायसी ने 'पद्मावत' की रचना की और उसके आधार पर राणा रतनसिंह की रानी पद्मिनी की कहानी बनी। बाद मे राजस्थान के अनेक कवियों ने उस पर गाथाएँ लिखी तथा बहुत-से इतिहासकारो ने उस कहानी को स्वीकार किया।

'पद्मावत' के अनुसार अलाउद्दीन के चित्तौड पर आक्रमण करने का एक प्रमुख कारण राणा रतनसिंह की अत्यन्त सुन्दर और विदुषी पत्नी पद्मिनी को प्राप्त करना था। जब अलाउद्दीन चित्तौड़ के किले को जीतने में असमर्थ रहा तो उसने यह शर्त रखी कि यदि उसे पद्मिनी की शक्ल दर्पण मे दिखा दी जायेगी तो वह वापिस चला जायेगा। राणा ने इस शर्त को स्वीकार कर लिया। परन्तु जब राणा दर्पण मे रानी को दिखाकर अलाउद्दीन को उसके खेमो तक छोड़ने गया तब उसे कैद करके दिल्ली ले जाया गया। राजपूतो ने भी अलाउद्दीन के साथ छल करने का निश्चय किया। उन्होंने सुल्तान को सूचना भेजी कि वे उसे पद्मिनी को देने को तैयार है। उसके पश्चात् सशस्त्र राजपूतो को 1600 पालकियों मे बैठाकर वे दिल्ली पहुँचे और रानी ने केवल एक बार राणा से मिलने की स्वीकृति माँगी। इस स्वीकृति के मिलने पर राजपूत राणा के पास पहुँचे। वहाँ उन्होने अचानक आक्रमण करके राणा को छुडा लिया और रानी तथा राणा चित्तौड़ भाग गये। मार्ग मे गोरा ने मुसलमानो का मुकाबला किया और बादल राणा तथा रानी को लेकर सुरक्षित चित्तौड पहुँच गया। उसके पश्चात् रतनसिंह ने कुम्भलगढ के शासक देवपाल पर आक्रमण किया जिसने उसकी अनुपस्थिति में पद्मिनी को प्राप्त करने का प्रयत्न किया था। इस युद्ध मे राणा ने देवपाल को मार दिया परन्तु स्वयं घायल हो गया और कुछ समय पश्चात् उसकी मृत्यु हो गयी। रानी पद्मिनी राणा के शरीर के साथ सती हो गयी। अलाउद्दीन उसके पश्चात् चित्तौड पहुँचा और उसने किले को जीतने मे सफलता प्राप्त की।

'पद्मावत' की इस कहानी के भी विभिन्न स्वरूप हो गये है। कुछ लेखकों के अनुसार राणा दिल्ली नही गया था बल्कि वह अलाउद्दीन के खेमो मे ही कैद था जहाँ से राजपूतों ने उसे छुडाया। इसी प्रकार पद्मिनी की कहानी मे भिन्न-भिन्न लेखको तथा कवियों ने विभिन्न परिवर्तन कर दिये है। परन्तु क्या पद्मिनी की कहानी ऐतिहासिक तथ्य है? इसके विषय मे इतिहासकारों मे मतभेद है। डॉ० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, डॉ० बी. पी. सक्सेना, डॉ० के. एस. लाल और डॉ० कानूनगो इस कहानी की सत्यता मे विश्वास नही करते। उनका कहना है कि तत्कालीन इतिहासकार इसामी, अमीर खुसरव, इब्न-बतूता आदि किसी ने इस कहानी का वर्णन नही किया है, अपितु इस कहानी का मुख्य आधार केवल 'पद्मावत' है। परन्तु अबुल फजल, हाजी-उद्-दबीर, फरिश्ता और नैनसी ने इस कहानी को सत्य माना और बाद मे कर्नल टॉड इससे सहमत हुए। आधुनिक इतिहासकारों मे से डॉ० ईश्वरीप्रसाद, डॉ० ए. एल. श्रीवास्तव और डॉ० एम. रॉय यह लिखते हैं कि 'पूर्णतया प्रमाणित न होने हुए भी इस कहानी को

पूर्णतया मनगढ़न्त कहना गलत है।' डॉ० ए एल श्रीवास्तव के अनुसार "यद्यपि इस सम्बन्ध में अनेक घटनाएँ कल्पित है परन्तु काव्य का मुख्य कथानक सत्य प्रतीत होता है।" डॉ० एस रॉय और डॉ० ईश्वरीप्रसाद अलाउद्दीन के चरित्र की कामुकता और हिन्दू स्त्रियों को प्राप्त करने की इच्छा के कारण इस कहानी के आधार को सत्य मानने की सम्भावना प्रकट करते है। अन्त मे यह कहा जा सकता है कि इस कहानी को पूर्णतया असत्य कहकर टाल देना उचित नहीं है यद्यपि ऐतिहासिक तथ्य इसे अभी तक सत्य प्रमाणित करने मे असमर्थ है।

मालवा का तत्कालीन शासक महलकदेव एक शक्तिशाली शासक था और उसका सेनापति हरनन्द (कोका प्रधान) एक योग्य राजनीतिज्ञ और कुशल योद्धा था। मुसलमानों ने मालवा पर आक्रमण करके उज्जैन, भिलसा आदि स्थानों को पहले भी

5. मालवा

लूटा था परन्तु मालवा को अभी तक विजय नही किया गया था। 1305 ई० मे अलाउद्दीन ने मुल्तान के सूबेदार आईन-उल-मुल्क को मालवा पर आक्रमण करने के लिए भेजा। उसने महलकदेव और हरनन्द के नेतृत्व मे एक हिन्दू सेना को परास्त किया। हरनन्द युद्ध में मारा गया परन्तु महलकदेव भागकर माण्डू चला गया। कुछ समय पश्चात् आईन-उल-मुल्क माण्डू की तरफ बढ़ा। मार्ग मे उसने महलकदेव के एक पुत्र को युद्ध में परास्त किया और बाद मे माण्डू के किले का घेरा डाल दिया। एक विश्वासघाती की सहायता से आईन-उल-मुल्क रात्रि मे किले मे प्रवेश पा सका और उसने अचानक आक्रमण कर दिया। राजा महलकदेव मारा गया और नवम्बर 1305 ई० में किले पर आईन-उल-मुल्क का अधिकार हो गया। उसके पश्चात् उज्जैन, धारनगरी, चन्देरी आदि को भी जीत लिया गया और मालवा को दिल्ली राज्य में सम्मिलित कर लिया गया।

1308 ई० मे अलाउद्दीन ने सिवाना पर आक्रमण किया। वहाँ का शासक परमार-राजपूत शीतलदेव था जो राजस्थान का एक शक्तिशाली शासक माना जाता था। कई माह तक राजपूतों ने मुसलमानों का कड़ा मुकाबला किया परन्तु एक देश-

6. सिवाना

द्रोही की सहायता से मुसलमानों ने उस मार्ग को बन्द कर दिया जहाँ से एक झील से किले मे पानी जाता था। उसके पश्चात् मुसलमानों ने किले मे प्रवेश करने में सफलता प्राप्त की। शीतलदेव जालौर भागने की तैयारी करता हुआ घेर लिया गया और मारा गया। कमालुद्दीन गुर्ग को सवाना की देखभाल का उत्तरदायित्व सौंपकर अलाउद्दीन दिल्ली वापिस चला गया।

जालौर सिवाना से केवल 50 मील दूर था और वहाँ का शासक कान्हणदेव (कृष्णदेव तृतीय) एक साहसी और महान् योद्धा था। डॉ० के. एस. लाल ने लिखा है कि 1304 ई० में कान्हणदेव ने अला-उद्दीन के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया

7. जालौर

था। परन्तु डॉ० दशरथ शर्मा ने अपनी नवीन खोजों से यह सिद्ध किया है

कान्हणदेव ने अलाउद्दीन की अधीनता को स्वीकार नहीं किया था बल्कि गुजरात से वापिस आते हुए नसरतखाँ पर आक्रमण किया था और 1305 ई० मे हुए मुसलमानी आक्रमण को विफल कर दिया था। 1311 ई० मे जालौर पर पुन. आक्रमण किया गया। राजपूतों ने कई अवसरो पर मुसलमानों को परास्त किया और राजपूती स्रोतों के आधार पर यह युद्ध कई वर्ष चला। बाद मे अलाउद्दीन ने कमालुद्दीन गुर्ग के नेतृत्व मे एक बड़ी सेना भेजी और अन्त मे **जालौर को विजय कर लिया गया।** कान्हणदेव युद्ध मे मारा गया और उसके सभी सम्बन्धी कत्ल कर दिये गये। केवल कान्हणदेव का एक भाई मालदेव जीवित बच सका जिसने अलाउद्दीन को प्रसन्न करके चित्तौड की सूबेदारी प्राप्त की। जालौर का युद्ध बहुत कठिन था और कान्हणदेव की वीरता की गाथाएँ सम्पूर्ण राजस्थान में प्रसिद्ध हुई।

जालौर की विजय ने अलाउद्दीन की राजस्थान की विजय को पूर्ण कर दिया। बूँदी, मांडोर और टोंक भी अलाउद्दीन की अधीनता में आ गये। सम्भवतया जोधपुर पर भी अलाउद्दीन का अधिकार हो गया था यद्यपि इसके पूर्ण प्रमाण अभी प्राप्त नहीं हो सके हैं। यद्यपि अलाउद्दीन की राजस्थान की विजय **अत्यन्त अस्थिर थी और अलाउद्दीन के सूबेदारों को निरन्तर राजस्थान में राजपूतों से मुकाबला करना पड़ा, परन्तु तब भी अलाउद्दीन का उद्देश्य पूरा हो गया। राजस्थान के मजबूत किले उसके अधिकार में हो गये तथा गुजरात और दक्षिण भारत के मार्ग उसके आधिपत्य मे हो गये।**

दक्षिण भारत

14वीं सदी के आरम्भ के कुछ वर्षों के पश्चात् अलाउद्दीन मंगोल-आक्रमणों से सुरक्षित हो गया था, उत्तर भारत में उसकी शक्ति का विरोध करने का साहस किसी मे बाकी न रहा था, उसके कठोर शासन के कारण राज्य मे शान्ति और व्यवस्था थी, विद्रोहों की आशकाएँ समाप्त हो चुकी थीं और सुल्तान के पास एक बडी तथा शक्तिशाली सेना थी। ऐसी स्थिति मे अलाउद्दीन दक्षिण भारत की विजय के लिए तत्पर हुआ। उस समय दक्षिण भारत में चार शक्तिशाली और सम्पन्न राज्य थे। विन्ध्याचल पर्वत के दक्षिण-पश्चिम मे महाराष्ट्र को सम्मिलित करते हुए यादवों का देवगिरि राज्य था। रामचन्द्रदेव वहाँ का शासक और देवगिरि (आधुनिक दौलताबाद) उसकी राजधानी थी। दक्षिण-पूर्व मे तेलंगाना का काकतीय राज्य था जिसका शासक प्रतापरुद्रदेव द्वितीय था तथा उसकी राजधानी वारंगल थी। देवगिरि के दक्षिण और तेलगाना के दक्षिण-पश्चिम मे होयसल राज्य था जिसका शासक वीर बल्लाल तृतीय था और द्वारसमुद्र उसकी राजधानी थी। सुदूर दक्षिण मे पांड्य राज्य था जिसे मुसलमान इतिहासकारों ने 'माबर' (मलाबार) राज्य के नाम से पुकारा था। सुन्दर पाड्य द्वारा अपने पिता का वध किये जाने के पश्चात् वीर पाड्य और सुन्दर पाड्य नामक भाइयों में मुसलमानों के आक्रमण के समय संघर्ष चल रहा था। इसकी राजधानी मदुरा थी।

दक्षिण भारत के इन राज्यो पर आक्रमण करने में अलाउद्दीन के उद्देश्य धन और विजय-लालसा दोनों ही थे। डॉ० के एस लाल ने लिखा है कि "इस प्रकार सभी विजेताओं को प्रेरणा प्रदान करने वाले धन के लालच और गौरव की लालसा ने उसे भी एक के बाद एक दक्षिण के सभी राज्यो पर आक्रमण करने के लिए प्रेरणा दी।"[1] देवगिरि के धन ने उसे सुल्तान बनने में सहायता दी और दक्षिण के सम्पन्न राज्य उसे सुल्तान बनाये रखने मे सहायता दे सकते थे। वास्तव में दक्षिण भारत में अतुल सम्पत्ति सगृहीत थी और उसे अभी तक किसी भी मुसलमान आक्रमणकारी ने नही लूटा था। सभी इतिहासकारों और यात्रियो ने दक्षिण भारत की सम्पत्ति का विशद वर्णन किया है। शिहाबुद्दीन अबुल अब्बास अहमद ने लिखा था कि "सदियों से भारत मे सोना बहकर आ रहा था और उसे कभी भी विदेश नही भेजा गया था।"[2] मार्को पोलो ने मलाबार की अतुल सम्पति का वर्णन किया है। अमीर खुसरव, बरनी और फरिश्ता ने यह लिखा है कि अलाउद्दीन के समय मे दक्षिण भारत से अकथनीय सम्पत्ति लायी गयी थी। अलाउद्दीन के समय की लूट-मार के पश्चात् भी मुहम्मद तुगलक को वहाँ से अपार सम्पत्ति प्राप्त हो सकी और उसके पश्चात् भी अब्दुर रज्जाक ने विजयनगर-साम्राज्य की सम्पन्नता और सम्पत्ति के बारे मे जो कुछ लिखा है उससे यह सिद्ध होता है कि दक्षिण भारत मे अपार सम्पत्ति संग्रह थी और वहाँ उसे सचय करने के साधन भी थे। इस कारण अलाउद्दीन का प्रमुख उद्देश्य दक्षिण भारत की सम्पत्ति को लूटना था। परन्तु अलाउद्दीन इतने से ही सन्तुष्ट न था। दक्षिण भारत के राज्यों को अपनी अधीनता स्वीकार करने और वार्षिक कर देने के लिए बाध्य करना भी उसका उद्देश्य था जिससे उसकी प्रतिष्ठा में वृद्धि होती थी और उसे दक्षिण से निरन्तर धन भी प्राप्त हो सकता था। डॉ० यू. एन. डे ने उसके इस उद्देश्य पर अत्यधिक बल दिया है। वह लिखते है कि "अलाउद्दीन दक्षिण और सुदूर दक्षिण के राज्यों को अधीनस्थ राज्य बनाने के लिए पूर्ण सोच-विचार कर निश्चित की गयी नीति का पालन कर रहा था जिसमे यह राज्य उसकी संप्रभुता को स्वीकार करें, उसे वार्षिक कर दें और प्रत्येक प्रकार से उसके अधीन राजाओं की भाँति व्यवहार करें।"[3] अलाउद्दीन एक व्यावहारिक राजनीतिज्ञ था। वह जानता था कि दक्षिण को अपने राज्य मे सम्मिलित करके उस पर शासन करना असम्भव है। इस कारण उसका उद्देश्य दक्षिण के राज्यों को अपने राज्य में सम्मिलित करने का कभी नहीं बना बल्कि जिन राज्यों ने उसकी अधीनता स्वीकार

---

1 "Thus the greed of gold and lust for glory—the two incentives of all conquerors—prompted him to invade all the kingdoms of Deccan one after the other."
—Dr. K. S. Lal.

2 "Gold had been flowing into India for a number of centuries and had never been exported."
—Shihabuddin Abul Abbas Ahmad

3 "Alauddin was following a calculated policy of reducing the kingdoms of Deccan and the South as tributary states which would accept his suzerainty, pay annual tribute and act in all manners as his subordinates."
—Dr. U. N. De

कर ली और उसे वार्षिक कर दिया, उनके शासकों के प्रति उसका व्यवहार सम्मान-पूर्ण रहा। रामचन्द्रदेव और वीर बल्लाल समय-समय पर सुल्तान की राजधानी में उससे मिलने गये और उनका सत्कार किया गया। डॉ० एस. रॉय ने लिखा है कि "उसने दक्षिण मे राज्य-विस्तार की इच्छा कभी नही की। वह हिन्दू राजाओ से अपनी सप्रभुता को स्वीकार कराना और उनसे बडी मात्रा मे राजस्व चाहता था।"[1] अपने इन उद्देश्यो की पूर्ति के लिए उसने दक्षिण भारत पर आक्रमण करने के लिए समय-समय पर अपनी सेनाएँ भेजी। उसके समय में **दक्षिण भारत की विजय का मुख्य श्रेय मलिक काफूर को है** जिसे एक गुलाम के रूप मे खरीदा गया था और जो अपनी योग्यता से 'नाइब' के पद को प्राप्त कर सका था जो उस समय राज्य-शासन मे सबसे बडा पद था।

अलाउद्दीन के समय मे सबसे **पहला आक्रमण** 1303 ई० मे तैलगाना पर किया गया था। परन्तु फखरुद्दीन जूना और नसरतखाँ के भतीजे मलिक छज्जू के नेतृत्व में बंगाल तथा उडीसा के मार्ग से किया गया **यह आक्रमण विफल** हुआ और प्रतापरुद्रदेव ने मुसलमानों को परास्त करके अव्यवस्थित रूप से वापिस लौटने के लिए बाध्य किया। उसके पश्चात् अलाउद्दीन कुछ वर्षों तक दक्षिण की ओर ध्यान न दे सका।

1. देवगिरि

1296 ई० में देवगिरि के शासक रामचन्द्रदेव ने अलाउद्दीन के सफल आक्रमण से बाध्य होकर उसे प्रति वर्ष एलिचपुर की आय को भेजने का वायदा किया था परन्तु 1305 अथवा 1306 ई० से उसने उस वार्षिक कर को दिल्ली नही भेजा। यह भी कहा गया है कि रामचन्द्रदेव का पुत्र शकरदेव (सिंहनदेव) इस बात के लिए उत्तरदायी था। रामचन्द्रदेव ने यह सूचना सुल्तान को दी। यह भी हो सकता है कि रामचन्द्रदेव ने सुल्तान की सेना की वारंगल मे पराजय और उसकी मंगोल-आक्रमणो मे व्यस्तता का लाभ उठाना चाहा था। परन्तु कारण कुछ भी रहा हो, अलाउद्दीन वार्षिक कर की हानि को बर्दाश्त करने के लिए तैयार न था। **1307 ई० में नाइब मलिक काफूर के नेतृत्व में एक सेना देवगिरि पर आक्रमण करने के लिए भेजी गयी।** ख्वाजा हाजी को उसकी सहायता के लिए साथ भेजा गया और मालवा के सूबेदार आईन-ए-मुल्क तथा गुजरात के सूबेदार अलपखाँ को अपनी सेनाएँ लेकर उसकी सहायता करने के आदेश दिये गये। **मलिक काफूर को राजा कर्णदेव (गुजरात के भागे हुए शासक) की पुत्री देवलदेवी को भी दिल्ली लाने के आदेश दिये गये।**

सम्भवतया 1299 ई० मे नसरतखाँ के गुजरात से चले आने के पश्चात् राजा कर्णदेव ने अन्हिलवाड और गुजरात के अधिकाश प्रदेश पर पुनः अधिकार कर लिया था परन्तु मलिक कडा बेग ने उसे एक बार फिर बगलाना भाग जाने पर बाध्य किया। तत्पश्चात् अलाउद्दीन ने अलपखाँ को गुजरात का सूबेदार नियुक्त किया

---

1 "What he aspired to in the South was not the annexation of new territory, but huge tribute from the Hindu kings with a mere acknowledgement of his overlordship." —Dr. S. Roy

जिसका शासन सफल रहा। राजा कर्ण को रामचन्द्रदेव ने अपने यहाँ शरण दी थी और बगलाना का प्रदेश उसे स्वतन्त्र रूप मे शासन करने के लिए दे दिया था। उस समय से वह वहीं था। इस समय जबकि काफूर दक्षिण की विजय पर जा रहा था, अलाउद्दीन की पत्नी (पहले वह राजा कर्ण की पत्नी थी) कमलादेवी ने अपनी एकमात्र जीवित पुत्री देवलदेवी को दिल्ली लाये जाने की इच्छा प्रकट की। इस कारण अलाउद्दीन ने काफूर को देवलदेवी को उसके पिता राजा कर्ण से छीनकर दिल्ली लाने की आज्ञा दी। अमीर खुसरव ने अपनी पुस्तक 'आशिक' मे लिखा है कि देवलदेवी और शहज़ादा खिज्रखाँ मे परस्पर प्रेम था और यह आदेश खिज्रखाँ के अनुरोध पर दिया गया था। परन्तु फरिश्ता के अनुसार देवलदेवी की आयु उस समय चार वर्ष थी जबकि उसकी माँ को पकड़कर दिल्ली लाया गया था। काफूर के आक्रमण के समय में भी उसकी आयु कठिनाई से चौदह या पन्द्रह वर्ष की रही होगी। ऐसी स्थिति मे ऐसा कोई प्रमाण नही मिलता कि देवलदेवी और खिज्रखाँ के मध्य कोई प्रेम-प्रसग था। देवलदेवी और उसके पिता की कठिनाइयों का कारण तो स्वय उसकी माँ बनी।

मलिक काफूर मालवा को पार करके मुल्तानपुर पहुँचा। राजा कर्ण ने अपनी पुत्री को काफूर को देने से इन्कार कर दिया और दो माह तक सफलतापूर्वक उसका मुकाबला किया। इस कारण अलपखाँ को राजा कर्ण को समाप्त करने का उत्तरदायित्व देकर काफूर स्वय देवगिरि की ओर बढ गया। अलपखाँ का मुकाबला भी कर्ण ने दो माह तक किया। इसी अवसर पर उसे देवगिरि के राजकुमार शकरदेव (सिंहनदेव) का देवलदेवी से विवाह करने और सहायता देने का आश्वासन मिला। इससे पहले राजा कर्ण ने इस विवाह-प्रस्ताव को अपने वश को शकरदेव के वश की तुलना मे अधिक प्रतिष्ठित राजपूत-वंश मानकर ठुकरा दिया था परन्तु इस अवसर पर उसने उसे स्वीकार कर लिया और कुछ सैनिकों के साथ देवलदेवी को देवगिरि की ओर भेज दिया। अलपखाँ ने राजा कर्ण को एक युद्ध मे पराजित करके देवगिरि की ओर भागने के लिए बाध्य किया और स्वय उसका पीछा किया। मार्ग मे अचानक उसके सैनिकों को देवलदेवी का काफिला मिल गया और उन्होने देवलदेवी को छीन लिया। अलपखाँ ने देवलदेवी को दिल्ली भेज दिया जहाँ उसका विवाह शहज़ादा खिज्रखाँ से कर दिया गया। अलपखाँ स्वय मलिक काफूर से जाकर मिल गया।

मलिक काफूर सम्पूर्ण मार्ग मे लूट-मार करता हुआ देवगिरि पहुँचा। सम्भवतया रामचन्द्रदेव पूर्णतया असावधान था। एक युद्ध मे उसे पराजित कर दिया गया। उसका पुत्र शंकरदेव (सिंहनदेव) युद्ध मे भाग निकला और रामचन्द्रदेव ने आत्म-समर्पण कर दिया। काफूर ने देवगिरि को लूटा और बहुत-से हाथी, सम्पत्ति, राजा रामचन्द्रदेव तथा उसके अनेक सम्बन्धियों को दिल्ली ले गया। अलाउद्दीन ने रामचन्द्रदेव के प्रति सम्मानपूर्ण व्यवहार किया, उसे 'राय रायन' की उपाधि दी तथा छः माह के पश्चात् उसे एक लाख सोने के टंका और नवसारी के जिले को देकर उसके राज्य मे वापिस भेज दिया। देवगिरि राज्य का शासक रामचन्द्रदेव ही रहा परन्तु वह न केवल अलाउद्दीन के अधीन ही हो गया बल्कि उसके व्यवहार से सन्तुष्ट

उसका वफादार मित्र भी बन गया। उसने **दक्षिण भारत की विजय में काफूर को बहुत सहायता दी।** डॉ० एस रॉय ने लिखा है कि "निस्सन्देह देवगिरि दक्षिण और सुदूर दक्षिण मे खलजी सैनिक-अभियानों के लिए एक आधार बना।[1]

अलाउद्दीन तैलंगाना पर अपने पिछले आक्रमण की विफलता को भूला नही था। देवगिरि पर आक्रमण की सफलता ने उसे तैलगाना पर पुनः आक्रमण करने के लिए प्रोत्साहित किया। 1 नवम्बर, 1309 ई० को मलिक काफूर को तैलंगाना पर आक्रमण करने के लिए भेजा गया। दिसम्बर में काफूर देवगिरि पहुँच गया। रामचन्द्रदेव ने काफूर की सेना के लिए रसद की व्यवस्था की, मराठा सैनिको को उसके साथ किया और स्वयं भी कुछ दूर तक उसके साथ गया। काफूर ने हीरों की खानो के जिले बसीरागढ (भैरागढ) के मार्ग से तैलगाना में प्रवेश किया। मार्ग मे उसने सिरबर (सिरपुर) के किले को विजय किया और जनवरी 1310 ई० मे तैलगाना की राजधानी वारगल के निकट पहुँच गया। वारगल का किला पहले मिट्टी की और उसके बाद एक पत्थर की प्राचीर से सुरक्षित था। उसके चारो तरफ पानी से भरी हुई खाई थी। परन्तु तब भी प्रतापरुद्रदेव द्वितीय अधिक समय तक अपनी रक्षा न कर सका और उसने सन्धि की इच्छा प्रकट की। उसने अपनी एक सोने की मूर्ति बनवाकर और उसके गले मे सोने की जजीर डालकर आत्म-समर्पण-स्वरूप काफूर के पास भेजी। काफूर सन्धि के लिए राजी हो गया। **प्रतापरुद्रदेव ने उसे 100 हाथी, 700 घोड़े और अतुल धनराशि प्रदान की, अलाउद्दीन की अधीनता स्वीकार की तथा वार्षिक कर देना भी स्वीकार किया।** लूट मे प्राप्त हुई सम्पत्ति को एक हजार ऊँटों पर लादकर मार्च 1310 ई० मे काफूर उत्तर भारत वापिस लौटा। कहा जाता है और खफीखाँ ने लिखा है कि इसी अवसर पर प्रतापरुद्रदेव ने काफूर को संसार-प्रसिद्ध 'कोहनूर हीरा' दिया था जिसे काफूर ने सुल्तान अलाउद्दीन को भेंट किया।

2. तैलंगाना

काफूर को तैलगाना से वापिस हुए केवल कुछ माह ही हुए थे कि अलाउद्दीन ने नवम्बर, 1310 ई० मे उसे सुदूर दक्षिण पर आक्रमण करने के लिए भेजा। फरवरी, 1311 ई० में काफूर देवगिरि पहुँचा। रामचन्द्रदेव ने उसे हथियारों और रसद की ही सहायता नही दी बल्कि अपनी दक्षिण-सीमा के सेनापति परसराम (पारमदेव) को काफूर की सहायता के लिए नियुक्त किया। जिस समय काफूर होयसल राज्य की सीमा पर पहुँचा उस समय वीर बल्लाल तृतीय वीर पाड्य और सुन्दर पाड्य के पारस्परिक झगडे से लाभ उठाने के लिए पाड्य राज्य की सीमाओं पर आक्रमण करने हेतु गया हुआ था। यह सूचना पाकर काफूर ने तुरन्त उसकी राजधानी द्वारसमुद्र पर आक्रमण कर दिया। वीर बल्लाल फौरन लौटकर आया और

3 होयसल

---

1 "Indeed, Devagiri served as the base for Khalji military operations in the Deccan and the Far South" —Dr. S. Roy

उसकी प्रार्थना पर वीर पाड्य ने भी अपनी एक सेना उसकी सहायता के लिए भेजी। परन्तु राजधानी के संकट मे हतोत्साह होकर अपने सरदारो की सलाह के विरुद्ध वीर बल्लाल तृतीय ने छुटपुट के युद्ध के पश्चात् सन्धि करना स्वीकार कर लिया। उसने अलाउद्दीन की अधीनता स्वीकार कर ली, वार्षिक कर देना स्वीकार किया और काफूर को हाथी, घोड़े और अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति अर्पित कर दी। वीर बल्लाल स्वयं काफूर के सम्मुख उपस्थित हुआ और उसने उसे पांड्य राज्य पर आक्रमण करने के मार्ग को बताने का भी आश्वासन दिया।

पाड्य राज्य मे वीर पाड्य और सुन्दर पाड्य मे सिंहासन के लिए झगड़ा हुआ था और अपने भाई से हारकर सुन्दर पाड्य ने मम्भवतया अलाउद्दीन से दिल्ली जाकर अथवा काफूर से जो उस समय दक्षिण मे ही था, सहायता मांगी थी। काफूर के आक्रमण का उद्देश्य भी सुदूर दक्षिण तक पहुँचना था। इम कारण होयसल राज्य में कुछ दिन रहकर वह पांड्य राज्य की सीमाओ पर पहुँच गया। वीर पाड्य अधिक कुशल सिद्ध हुआ। उसने किले मे बन्द रहकर युद्ध करना ठीक नही समझा और न उसने सामने शत्रु की शक्तिशाली सेना का मुकाबला किसी एक बडे युद्ध मे किया। उसने शत्रु से छिपकर और स्थान-स्थान पर छुटपुट युद्ध करने की नीति अपनायी। परिणामस्वरूप काफूर को वीर पाड्य से कोई बडा युद्ध नही करना पडा। काफूर ने मार्च 1311 ई० मे पांड्य राज्य की सीमा मे प्रवेश किया। उसने वीर पाड्य के प्रमुख स्थान 'वीरधूल' पर आक्रमण किया जहाँ उसने लूट-मार की और यही वीर पाड्य के 20,000 मुसलमान सैनिक भी उससे मिल गये। परन्तु वीर पाड्य वहाँ से जा चुका था। काफूर उसको तलाश करता हुआ कुण्डूर पहुँचा जहाँ उसे कुछ खजाना और 120 हाथी तो मिले परन्तु वीर पाड्य वहाँ से भी निकल चुका था। यहाँ से उसने बरमतपुरी (ब्रह्मपुरी या आधुनिक चिदमपुरम) पर आक्रमण किया और 'लिंग महादेव' के सोने के मन्दिर को लूटा और बरबाद कर दिया। यहाँ उसे 250 हाथी भी प्राप्त हुए। काफूर ने श्रीरगम और कुण्डूर के मन्दिरो को लूटा और बरबाद किया। उसके पश्चात् उसने पांड्य राज्य की राजधानी मदुरा पर आक्रमण किया और वहाँ पर भी मन्दिरो को नष्ट किया तथा सम्पत्ति को लूटा। परन्तु वीर पाड्य उसके हाथ नही लगा। वीर पांड्य को पकड़ने के काफूर के सभी प्रयत्न असफल हुए। इस कारण पांड्य राज्य ने अलाउद्दीन की अधीनता को स्वीकार नहीं किया। परन्तु काफूर ने बहुत बडी मात्रा मे सम्पत्ति एकत्र कर ली थी। वीर पाड्य को पकड़ने के प्रयत्न और उसकी असफलता के कारण काफूर ने पाड्य राज्य में अत्यधिक लूट-मार की, बहुत बडी मात्रा मे जन-संहार किया तथा अनेक मन्दिरो को नष्ट-भ्रष्ट किया। सम्भवतया काफूर रामेश्वरम् तक भी गया था परन्तु इसके विषय में कुछ मतभेद है। इसामी और बरनी ने इस विषय मे कुछ नही लिखा है परन्तु अमीर खुसरव ने अपनी पुस्तक 'आशिक' मे यह संकेत दिया है कि काफूर ने रामेश्वरम् के हिन्दू मन्दिर को नष्ट करके वहाँ एक मस्जिद खड़ी की। अप्रैल, 1311 ई० में काफूर अपार सम्पत्ति लेकर उत्तर

4. पांड्य

वापिस पहुँचा। धन की दृष्टि से यह आक्रमण काफूर का सबसे सफल आक्रमण था। इस अवसर पर होयसल राजा वीर बल्लाल भी दिल्ली गया जिसे अलाउद्दीन ने धन और सम्मान सहित वापिस भेज दिया।

1312 ई० में रामचन्द्रदेव की मृत्यु हो गयी और उसका पुत्र शंकरदेव (सिंहनदेव द्वितीय) देवगिरि के सिंहासन पर बैठा। सिंहनदेव सर्वदा से दिल्ली के आधिपत्य को मानने के विरुद्ध था और शासक बनते ही उसने दिल्ली से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया तथा एक स्वतन्त्र शासक की भाँति व्यवहार करने लगा। तेलंगाना के राजा प्रतापरुद्रदेव ने भी अलाउद्दीन से प्रार्थना की कि वह अपने किसी प्रतिनिधि को उससे वार्षिक कर लेने के लिए देवगिरि भेज दे। दिल्ली में अलाउद्दीन की पत्नी 'मलिका-ए-जहान' और उसके भाई अलपखाँ ने काफूर के प्रभाव को कम करने के प्रयत्न आरम्भ कर दिये थे। इस कारण काफूर स्वयं दक्षिण जाने के लिए उत्सुक था। **1313 ई० में अलाउद्दीन ने उसे देवगिरि पर पुनः आक्रमण करने के लिए भेजा। शंकरदेव (सिंहनदेव) ने काफूर का मुकाबला किया परन्तु युद्ध में मारा गया। इस बार देवगिरि के अधिकांश भाग को दिल्ली राज्य में सम्मिलित कर लिया गया।** काफूर ने यहाँ से तेलंगाना तथा होयसल राज्य के कुछ नगरों और क्षेत्रों पर आक्रमण करके दक्षिण में मुसलमानों के प्रभुत्व और आतंक को स्थापित किया। 1315 ई० में अलाउद्दीन ने काफूर को दिल्ली बुला लिया।

देवगिरि पर दूसरा आक्रमण

अलाउद्दीन की दक्षिण विजय न पूर्ण थी और न स्थायी। अलाउद्दीन ने दक्षिण के राज्यों को अपने राज्य में मिलाने की नीति नहीं अपनायी थी। वह उनसे केवल अपने आधिपत्य को स्वीकार कराकर वार्षिक कर चाहता था। इसमें भी उसकी सफलता पूर्ण नहीं थी। देवगिरि और होयसल राज्यों ने निस्सन्देह उसकी सत्ता को मान लिया परन्तु तेलंगाना के शासक प्रतापरुद्रदेव का व्यवहार सर्वदा शंकापूर्ण रहा और पाड्य शासक वीर पाड्य ने अन्त तक उसकी अधीनता स्वीकार नहीं की। अलाउद्दीन की विजय स्थायी भी नहीं मानी जा सकती। मलिक काफूर को देवगिरि पर दुबारा आक्रमण करके शंकरदेव (सिंहनदेव) से युद्ध करना पड़ा, तेलंगाना और कर्नाटक पर आक्रमण करने पड़े और देवगिरि को अपनी सैनिक छावनी बनाना पड़ा। इससे यह स्पष्ट होता है कि दक्षिण के राज्य विजेता के हटते ही दिल्ली सल्तनत के प्रभाव से मुक्त होने की चेष्टा आरम्भ कर देते थे। बाद के समय में मुबारकशाह खलजी और मुहम्मद तुगलक को भी दक्षिण को अपने अधीन रखने के लिए प्रयत्न करने पड़े। अतः यह माना जा सकता है कि अलाउद्दीन के समय की दक्षिण भारत की विजय अस्थिर भी थी।

परन्तु तब भी अलाउद्दीन की दक्षिण-नीति सफल थी। उसकी नीति के प्रमुख उद्देश्यों की पूर्ति हो गयी। **दक्षिण के अधिकांश राज्यों को दिल्ली की अधीनता स्वीकार करने और वार्षिक कर देने के लिए बाध्य किया गया और उन सभी को पददलित किया गया।** अलाउद्दीन दिल्ली का पहला सुल्तान था जिसकी सेनाओं ने

अलाउद्दीन खिलजी का साम्राज्य
भारत 1315 A.D
मंगोल
दिल्ली
नेपाल
कामरूप
काठियावाड़
उज्जैन
भिलसा
कालिंजर
ग्वालियर
जैसलमेर
चित्तौड़
उड़ीसा
यादव
काकतिया
होयसल
पाण्ड्य
अरब सागर
बंगाल की खाड़ी
----साम्राज्य की सीमाएँ
----आधीन राज्य

सुदूर दक्षिण तक आक्रमण किये और सफलता प्राप्त की। दक्षिण भारत के अनेक ग्रन्थ यह बताते हैं कि हिन्दुओं ने कई स्थानों पर मुसलमानों को परास्त किया परन्तु इन युद्धों से जो परिणाम निकला उससे स्पष्ट होता है कि यद्यपि हिन्दुओं ने अनेक स्थानों पर मुसलमानों का कड़ा मुकाबला किया परन्तु अंतिम सफलता मुसलमानों को ही प्राप्त हुई। इस कारण सैनिक दृष्टि से मुसलमानों और उनके सेनापति मलिक काफूर की सफलता अद्वितीय थी। 'वसाफ' ने लिखा है कि "दक्षिण में काफूर की शानदार सफलताओं ने महमूद गजनी की हिन्दुस्तान की विजयों को ढक दिया।"[1] इसके अतिरिक्त काफूर दक्षिण भारत से इतना अधिक धन लूटकर ले गया कि उसकी तुलना किसी भी लूट से नहीं की जा सकती। अलाउद्दीन का एक लक्ष्य दक्षिण भारत की संचित सम्पत्ति को लूटना था और वह उसमें पूर्णतया सफल हुआ।

दक्षिण भारत में काफूर की विजयों के प्रायः वही कारण थे जो उत्तर भारत में मुसलमानों की सफलता के कारण बने थे। दक्षिण भारत में एक शक्तिशाली राज्य के स्थान पर चार राज्य थे और उनमें परस्पर शत्रुता थी। वीर पाड्य द्वारा वीर वल्लाल को सैनिक सहायता भेजना ही एकमात्र ऐसा उदाहरण है जबकि दक्षिण भारत के इन शासकों ने एक-दूसरे की सहायता का ध्यान किया था अन्यथा वे एक दूसरे के विरुद्ध मुसलमानों के सहायक बने थे। जब अलाउद्दीन ने 1296 ई० में देवगिरि पर आक्रमण किया था उस समय राजकुमार शकरदेव (सिहनदेव) तीर्थ-यात्रा पर नहीं गया हुआ था बल्कि सेना के अधिकांश भाग को लेकर होयसल राज्य से युद्ध करने के लिए गया हुआ था। जिस समय काफूर ने होयसल राज्य पर आक्रमण किया उस समय वीर वल्लाल पाड्य राज्य पर आक्रमण करने के लिए गया हुआ था और जब काफूर ने पांड्य राज्य पर आक्रमण किया तब सुन्दर पाड्य अपने भाई वीर पांड्य के विरुद्ध काफूर की सहायता कर रहा था। इसके अतिरिक्त, रामचन्द्रदेव ने काफूर को तैलंगाना और होयसल राज्य के विरुद्ध सहायता प्रदान की तथा होयसल शासक वीर वल्लाल ने काफूर को वीर पाड्य के विरुद्ध सहायता दी। उत्तर भारत की भांति दक्षिण भारत में भी पारस्परिक एकता और मुसलमानी आक्रमणों के प्रभाव को ठीक प्रकार समझने का सर्वथा अभाव था। उत्तर भारत के विनाश से दक्षिण भारत के राज्यों ने कोई सबक नहीं लिया था। गुप्तचर-विभाग की दुर्बलता, सीमाओं की सुरक्षा के प्रति उदासीनता, शत्रु की गतिविधि की सूचना न रखना, किलों में रहकर सुरक्षात्मक युद्ध लड़ना, एक ही युद्ध में अपने राज्य के भाग्य का निर्णय कर डालना आदि उत्तर भारत के राजपूत शासकों के द्वारा की गयी भूलों की पुनरावृत्ति दक्षिण के शासकों ने भी की। वीर पाड्य के अतिरिक्त रामचन्द्रदेव, प्रतापरुद्रदेव और वीर बल्लाल मलिक काफूर के आक्रमणों के प्रति पूर्णतया असावधान रहे और वे युद्ध के लिए उसी समय तत्पर हुए जबकि काफूर ने उनकी राजधानियों के फाटक खटखटाये। लूट का लालच और इस्लाम धर्म के आधार पर हुई एकता और समानता की भावना

---

1 "The brilliant achievements of Kafur in the Deccan eclipsed the victories of Mahmud of Ghazni in Hindustan." —Vassaf.

भी मुसलमानों की सफलता कारण बनी, इसमें सन्देह नहीं है। परन्तु मुसलमानों की सफलता का एक मुख्य कारण **अलाउद्दीन की श्रेष्ठ सेना और काफूर का योग्य नेतृत्व था।** अलाउद्दीन का सैन्य-संगठन, शस्त्र, अनुभव, युद्ध-नीति आदि सभी दृष्टियों से श्रेष्ठ थी। जिस सेना ने मंगोलो के निरन्तर होने वाले आक्रमणों को विफल कर दिया था, वह श्रेष्ठ थी इसमे सन्देह करने का कोई कारण भी नही है। अलाउद्दीन की घुड़सवार सेना तो निश्चय ही बहुत अच्छी थी जिसके बारे में डॉ० के. एस लाल ने लिखा है कि "उसकी घुड़सवार सेना की गतिशीलता आश्चर्यजनक थी। उसने दिल्ली से देवगिरि तक की दूरी को प्राय: समाप्त कर दिया था।"[1] मलिक काफूर अपने समय का एक योग्यतम सेनापति सिद्ध हुआ और इसमें कोई सन्देह नही कि अलाउद्दीन के समय में हुई दक्षिण भारत की विजय का श्रेय बहुत कुछ उसकी योग्यता को था।

इस प्रकार **अलाउद्दीन ने एक विस्तृत साम्राज्य की स्थापना की।** उत्तर-पश्चिम मे सिन्ध नदी उसके राज्य की सीमा थी परन्तु 1306 ई० के पश्चात् काबुल और गजनी तक का क्षेत्र उसके प्रभाव मे आ गया था। पूर्व मे उसका राज्य *अवध* तक था। उडीसा, बंगाल और बिहार उसके राज्य मे न थे और न उनकी विजयो का कोई वर्णन प्राप्त होता है। उत्तर मे काश्मीर उसके राज्य मे न था परन्तु पजाब से लेकर दक्षिण मे विन्ध्याचल तक का क्षेत्र उसके राज्य मे सम्मिलित था। राजस्थान के शासक उसके अधीन शासक थे और उनके महत्वपूर्ण किलो पर अलाउद्दीन का अधिकार था। गुजरात उसके अधीन था। दक्षिण मे पाड्य राज्य के अतिरिक्त अन्य राज्यो ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली थी। इस प्रकार सम्पूर्ण भारत को अपने अधिकार मे न रखते हुए भी उसने अभी तक के तुर्की सुल्तानों की तुलना मे सबसे अधिक विस्तृत राज्य स्थापित किया था।

[3]
मंगोल-आक्रमण और उत्तर-पश्चिम सीमा-नीति

अलाउद्दीन के समय मे भारत की उत्तर-पश्चिम सीमा से मंगोलो के निरन्तर आक्रमण हुए। मंगोलो का दबाव सिन्ध और पंजाब पर निरन्तर बढता गया था और ममलूक-सुल्तानो के समय मे उनकी सीमाएँ रावी नदी तक हो गयी थी। गजनी और काबुल उनके अधीन थे जो उनके आक्रमणों के लिए आधार बने हुए थे। जब सुल्तान जलालुद्दीन खलजी के समय मे मंगोलो का आक्रमण हुआ था तब भी दिल्ली सुल्तान ने उसमे कोई गौरवपूर्ण भाग नही लिया था। अलाउद्दीन के समय मे भी कुछ अन्तिम वर्षों को छोडकर भारत पर मंगोलो के आक्रमण का भय सर्वदा बना रहा।

यद्यपि चंगेजखाँ की मृत्यु के पश्चात् मंगोल-साम्राज्य के विभाजन और उनके नेताओं के पारस्परिक युद्धों के कारण मंगोलो की शक्ति पहले की अपेक्षा दुर्बल हो गयी थी परन्तु तब भी एशिया मे मंगोल अभी तक एक महान् शक्ति थे। इसके

1 "The mobility of his cavalry was staggering : it had almost annihilated the distance between Delhi and Devagiri" —Dr. K S Lal

अतिरिक्त इस समय मे मगोल-आक्रमणो का उद्देश्य पहले से भिन्न था। जबकि पहले मंगोलों के आक्रमणों का उद्देश्य लूट-मार और अपने प्रभाव का विस्तार मात्र था, अलाउद्दीन के समय में हुए उनके आक्रमणों का उद्देश्य भारत-विजय अथवा बदले की भावना थी। मगोलो की विभिन्न शाखाओं मे से पर्शिया (ईरान) के इल-खानों और ट्रान्स-आक्सियाना के चगताइयों ने इस समय मे भारत पर आक्रमण किये। परन्तु भाग्यवश इन दोनो मंगोल शाखाओ में भी पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता थी और दोनों मध्य-एशिया मे ही नही बल्कि भारत मे भी एक दूसरे के विरुद्ध साम्राज्य-विस्तार की लालसा करती थी। मंगोलों के आक्रमण के समय अफगान तथा खोक्खर जातियाँ भी लूट-मार की लालसा से उनके साथ मिल जाती थीं। दिल्ली सुल्तानों से असन्तुष्ट भारतीय अमीर भी कभी-कभी मंगोलों से मिल जाते थे। इस कारण मंगोलों के आक्रमण भारत के लिए अभी तक एक स्थायी खतरा बने हुए थे।

1297-1298 ई० में ट्रान्स-आक्सियाना के शासक दवाखाँ ने एक लाख की सेना कादर के नेतृत्व मे भारत पर आक्रमण करने के लिए भेजी। पंजाब मे प्रवेश करके उन्होंने लाहौर के समीपवर्ती क्षेत्रों को लूटना आरम्भ किया। अलाउद्दीन ने जफरखाँ और उलुगखाँ को उनके विरुद्ध भेजा जिन्होने मगोलो को जालन्धर के निकट परास्त कर दिया। प्रायः 20,000 मगोल युद्ध मे मारे गये, उनके बहुत-से अफसर पकड़कर कत्ल कर दिये गये और बहुत बडी सख्या मे मंगोल स्त्रियों और बच्चों को गुलाम बनाकर दिल्ली भेज दिया गया।

1299 ई० में सलदी के नेतृत्व मे मंगोलो का दूसरा आक्रमण हुआ। सलदी दवाखाँ का भाई था। उसने सेहवान (सिविस्तान) पर अधिकार कर लिया। परन्तु जफरखाँ ने उसे परास्त किया और सेहवान उससे छीन लिया। सलदी और अनेक मंगोल स्त्री-पुरुषो को बन्दी बनाकर दिल्ली भेज दिया गया। जफरखाँ की इस विजय से अलाउद्दीन उसकी तरफ से शकित हो गया। यह विश्वास किया जाता है कि वह उसे दिल्ली बुलाना चाहने लगा अथवा उसे जहर देकर मरवा देने के लिए भी उत्सुक हो गया। अलाउद्दीन का भाई उलुगखाँ भी जफरखाँ से ईर्ष्या करने लगा क्योंकि जफरखाँ की इस विजय ने उसके गुजरात की विजय के यश को ढक दिया। यह कहना अनुचित नही होगा कि मंगोलो के विरुद्ध अगले युद्ध मे जफरखाँ की मृत्यु का कारण अलाउद्दीन और उलुगखाँ की ईर्ष्या भी थी।

1299 ई० के अन्त में दवाखाँ ने अपने पुत्र कुतलुग ख्वाजा के नेतृत्व मे दो लाख मगोलों की एक शक्तिशाली सेना को सलदीखाँ की पराजय और मृत्यु का बदला लेने तथा भारत को विजय करने के लक्ष्य से भेजा। मार्ग में मुल्तान और समाना के सूबेदारों ने उन्हें तग किया परन्तु वे बिना किसी बड़े युद्ध को किये हुए दिल्ली के निकट पहुँच गये। अलाउद्दीन के सामने बड़ी कठिनाई थी। मगोल दिल्ली के फाटक को खडखडा रहे थे और दिल्ली सुल्तान से एक बड़ा युद्ध करने के लिए कटिबद्ध थे। उन्होंने छुटपुट युद्धों मे अपनी शक्ति अपव्यय नही की थी तथा वे पर्याप्त मात्रा में रसद एकत्र करके दिल्ली पहुँचे थे। इस अवसर पर अलाउद्दीन ने एक योग्य शासक

और दृढ योद्धा होने का परिचय दिया और उसने अपने मित्र अला-उल-मुल्क की सलाह को भी नही माना जिसने सुल्तान को उचित अवसर तक युद्ध न करने की और मगोलो को तग करके दुर्बल बनाने की सलाह दी। अलाउद्दीन ने कहा कि "वह दिल्ली की सप्रभुता को किस प्रकार सुरक्षित रख सकता है यदि वह आक्रमणकारी का मुकाबला करने से भयभीत होगा ? उसके समकालीन शासक और उसके शत्रु जो दो हजार कोस से उससे युद्ध करने आये है उसके बारे में क्या कहेंगे यदि वह एक ऊँट की पीठ के पीछे छिपेगा और भविष्य की पीढियाँ उसके बारे में क्या कहेंगी ? यदि वह कायरता का अपराधी होगा और मंगोलो को कूटनीति अथवा वार्तालाप से परास्त करने का प्रयत्न करेगा तो वह किसी को अपनी शक्ल दिखाने का अथवा हरम (जनानखाने) मे प्रवेश करने का साहस कैसे करेगा ? ...... जो भी हो कल मैं कीली के मैदान में जाने के लिए दृढ-निश्चय हूं जहाँ मैं कुतलुग ख्वाजा से युद्ध करूंगा।"[1] दूसरे दिन अलाउद्दीन अपनी सेना को लेकर कीली के मैदान मे पहुंच गया। स्वयं सुल्तान और नसरतखाँ सेना के मध्य भाग मे, उलुगखाँ वाम पक्ष पर और जफरखाँ दाहिने पक्ष पर था। जफरखाँ मगोलो से युद्ध करने के लिए बेचैन था और उसने कुतलुग ख्वाजा को द्वन्द्व-युद्ध की चुनौती दी थी। उसे मंगोलो के वाम पक्ष पर आक्रमण करने के लिए तत्पर होने का आदेश मिला ही था कि उसने आक्रमण कर दिया। उसके पुत्र दिलेरखाँ ने भी मगोलो पर भीषण हमला किया। केन्द्र पर हुए मगोलो के आक्रमण को सुल्तान ने विफल कर दिया। परन्तु इस बीच में जफरखाँ के आक्रमण से मंगोलो का वाम पक्ष टूट गया और वे भाग खडे हुए। थोड़े समय पश्चात् मगोलो ने जफरखाँ पर भीषण आक्रमण किया और जफरखाँ ने उनका मुकाबला ही नही किया बल्कि उनको भागने पर मजबूर किया। जफरखाँ ने 18 कोस तक मंगोलों का पीछा किया परन्तु जब वह उन्हे भगाकर केवल एक हजार सैनिको के साथ वापिस लौटा तो तार्गी के नेतृत्व मे मंगोलो ने उसे घेर लिया। मगोलो की सख्या प्राय दस हजार थी परन्तु तब भी बचकर भागने के स्थान पर जफरखाँ ने उनसे भयंकर युद्ध किया और वह तथा उसका एक-एक सैनिक और सरदार उस युद्ध मे मारा गया। इस सम्पूर्ण युद्ध मे जफरखाँ की सहायता के लिए न तो अलाउद्दीन गया और न उलुगखाँ। अपने अत्यधिक जोश और सुल्तान अथवा उलुगखाँ से कोई सहायता प्राप्त न होने के कारण जफरखाँ मारा गया जो अपने समय का एक श्रेष्ठ और साहसी सेनापति था। जफरखाँ के शौर्य और भारतीय सेना की दृढता से मगोल इतने प्रभावित

1 ... of Delh... ...dered to encounter
...adversaries who had
...d himself behind a
...pronounce on him
...ven enter the royal
...ured to repel the
...e what may, I am
...re I propose joining
—Alauddin Khalji

हुए कि वे उसी रात्रि को 30 कोस पीछे हट गये और फिर वापिस चले गये। जफरखाँ के शौर्य से मगोल इतने प्रभावित हुए थे कि बाद मे भी यदि मगोलों के पशु पानी पीने से इन्कार करते थे तो मगोल उनसे यही कहते थे कि 'क्या तुमने जफरखाँ को देख लिया है जो तुम पानी पीने से इन्कार करते हो ?'

मगोलों का चौथा आक्रमण उस समय हुआ जबकि अलाउद्दीन चित्तौड के घेरे से वापिस लौटकर दिल्ली पहुँचा ही था। उसकी दिल्ली की सेना अपर्याप्त और दुर्बल स्थिति मे थी और एक बडी सेना तैलगाना के आक्रमण पर (1303 ई०) जा चुकी थी। मगोल नेता तार्गी ने 1,20,000 घुडसवार लेकर बडी शीघ्रता से दिल्ली पर आक्रमण किया। अलाउद्दीन मगोलो से खुला युद्ध करने की स्थिति में न था। उसने सीरी के किले में अपनी सुरक्षा का प्रबन्ध किया। मगोलो ने अलाउद्दीन की सहायता के लिए उत्तर-पश्चिम से आने वाली तथा मलिक जूना और छज्जू के नेतृत्व मे पूर्व से आने वाली सेना के मार्ग को बन्द कर दिया। परन्तु मगोल घेरा डालकर किलो को जीतने की कला मे दक्ष न थे और सम्भवतया वे इसके लिए तत्पर होकर भी नही आये थे। मध्य-एशिया की राजनीति के कारण वे अधिक समय तक भारत मे रह भी नही सकते थे। इन कारणो मे दो माह के घेरे के पश्चात् सीरी के किले को जीतने मे असफल होकर वे दिल्ली की सडको और उसके निकटवर्ती क्षेत्रो को लूटकर वापिस चले गये।

तार्गी के इस आक्रमण ने अलाउद्दीन को सचेत कर दिया। **उसने सीरी के किले को दृढ़ किया, दिल्ली के किले की मरम्मत करायी, सीरी को अपनी राजधानी बनाया, उत्तर-पश्चिमी सीमा के पुराने किलों की मरम्मत करायी, कुछ नवीन किले बनवाये, उन किलो में स्थायी सेना रखी, सीमान्त प्रदेश की रक्षा के लिए एक पृथक सेना और एक सूबेदार (सीमारक्षक) की नियुक्ति की तथा अपनी सेना की संख्या और युद्ध-कुशलता में वृद्धि की।**

1305 ई० मे अलीबेग और तार्ताक के नेतृत्व मे 50,000 की मंगोल सेना ने पुन. आक्रमण किया। पिछले आक्रमण का नेता तार्गी भी उनके साथ सम्मिलित हो गया। सीमा के किलो से बचकर मगोल अमरोहा तक पहुँच गये। अलाउद्दीन ने मलिक काफूर और गाजी मलिक को उनके विरुद्ध भेजा जिन्होंने वापिस जाती हुई मंगोल सेना को घेरकर परास्त कर दिया। अलीबेग और तार्ताक कैद करके दिल्ली लाये गये जहाँ उन्हें कत्ल कर दिया गया और उनके सिरों को सीरी के किले की दीवार मे चिनवा दिया गया। तार्गी अमरोहा पहुँचने से पहले ही एक युद्ध मे मारा जा चुका था। **इस युद्ध के पश्चात् गाजी मलिक तुगलक को पंजाब का सूबेदार और सीमारक्षक तथा अलपखाँ को गुजरात का सूबेदार बनाया गया।**

1306 ई० मे अलीबेग और तार्ताक की मृत्यु का बदला लेने के लिए मगोलों ने पुनः आक्रमण किया। उनकी एक सेना कबक के नेतृत्व मे मुल्तान होती हुई रावी नदी की ओर बढी तथा एक अन्य सेना इकबालमन्द और तई-बू के नेतृत्व मे नागौर की तरफ बढी। अलाउद्दीन ने मलिक काफूर और गाजी मलिक तुगलक को उनके

विरुद्ध भेजा। मलिक काफूर ने कबक को रावी तट पर परास्त करके कैद कर लिया और नागौर की ओर बढ़ा। मंगोलो पर अचानक आक्रमण किया गया और वे पराजित होकर भाग गये। कबक के साथ-साथ प्रायः पचास हज़ार मगोलो को बन्दी बनाकर दिल्ली लाया गया। सभी मगोल पुरुषों को हाथियों से कुचलवाकर उनके सिरों की एक मीनार बदायूँ दरवाजे पर बनायी गयी तथा स्त्री एव बच्चो को गुलाम बनाकर विभिन्न स्थानो पर बेच दिया गया।

जियाउद्दीन बरनी के अनुसार कन्क, इकबालमन्द और एक अन्य मगोल नेता ने अलाउद्दीन के समय मे विभिन्न अवसरो पर आक्रमण किये थे और इस कारण मगोलो के आक्रमण 1306 ई० के पश्चात् भी हुए परन्तु अमीर खुसरव और इसामी के अनुसार 1306 ई० मे हुआ मगोलो का उपर्युक्त आक्रमण अलाउद्दीन के समय का अन्तिम आक्रमण था। डॉ० के. एस. लाल और डॉ० रॉय भी उसे अन्तिम आक्रमण मानते है।

इस प्रकार अलाउद्दीन के समय मे मगोलो के सबसे अधिक और सबसे भयंकर आक्रमण हुए। इसके बावजूद भी **अलाउद्दीन ने उनके विरुद्ध सफलता प्राप्त की।** भारत पर मंगोल-आक्रमण उसके अन्तिम वर्षों मे नही हुए। यही नही बल्कि फरिश्ता और बरनी के कथनानुसार सीमा-रक्षक गाजी मलिक तुगलक ने काबुल, गजनी और कन्धार तक आक्रमण किये और मंगोलो की सीमा के अन्तर्गत विभिन्न क्षेत्रो मे लूट-मार की तथा कर वसूल किया। इस अग्रगामी नीति के कारण मंगोलो की आक्रमणकारी शक्ति प्रायः नष्ट हो गयी।

[4]
अलाउद्दीन के अन्तिम दिन तथा मृत्यु

अलाउद्दीन के अन्तिम दिन कष्ट मे व्यतीत हुए। अलाउद्दीन 'नवीन मुसलमानों' (इस्लाम धर्म मे परिवर्तित मंगोल) से असन्तुष्ट था। उसने उन्हें सभी सरकारी पदो से पृथक् कर दिया था। उन्होने अलाउद्दीन को कत्ल करने का षड्यन्त्र किया परन्तु उसकी सूचना सुल्तान को मिल गयी। उसने प्रायः 20 या 30 हजार मंगोल पुरुषों **का वध करा दिया** और उनके बीबी-बच्चों तथा सम्पत्ति को उनके वध करने वालो मे बाँट दिया। उस कत्लेआम मे अनेक निरपराध व्यक्ति मारे गये।

परन्तु यह अलाउद्दीन की असयत बुद्धि का एक उदाहरण मात्र था। अथक परिश्रम और बढ़ती हुई आयु ने उसके शरीर और बुद्धि को नष्ट करना आरम्भ कर दिया था। उसने सन्देह के कारण अपने सभी योग्य सरदारो को राजधानी से दूर भेज दिया था और स्वयं अपने परिवार को अपने नियन्त्रण मे रखने मे असमर्थ हो रहा था। उसका सबसे बडा पुत्र खिज्रखाँ भोग-विलासी था, उसकी पत्नी मलिका-ए-जहान उससे उदासीन होकर अपने विलास मे मस्त थी और अपने भाई अलपखाँ के साथ मिलकर नायब काफूर की शक्ति को तोड़ने मे लगी हुई थी। फरवरी 1312 ई० मे खिज्रखाँ का विवाह अलपखाँ की एक पुत्री से कर दिया गया और खिज्रखाँ को सिंहासन का उत्तराधिकारी घोषित कर दिया गया। 1313 ई० मे काफूर देवगिरि

के द्वितीय आक्रमण पर चला गया जिसके कारण मलिका-ए-जहान और अलपखाँ राजधानी मे प्रभावशाली हो गये। इसी अवसर पर मलिका-ए-जहान ने अपने दूसरे पुत्र शादीखाँ का विवाह अलपखाँ की दूसरी पुत्री से कर दिया और खिज्रखाँ का विवाह राजा कर्ण की पुत्री देवलदेवी से कर दिया गया। इस बीच मे अलाउद्दीन का स्वास्थ्य बहुत खराब हो गया और जब उसने पाया कि उसकी पत्नी और उसका पुत्र उसकी परवाह नही करते तब 1315 ई० में उसने मलिक काफूर को दक्षिण भारत से बुला लिया। परन्तु मलिक काफूर ने सुल्तान की मृत्यु को निकट जानकर स्वयं अपनी सत्ता स्थापित करने का प्रयत्न किया। उसने सुल्तान को विश्वास दिला दिया कि खिज्रखाँ, मलिका-ए-जहान और अलपखाँ उसके शत्रु हैं। इसके पश्चात् जबकि अलाउद्दीन अपने बिस्तर पर बीमार पड़ा हुआ था, मलिक काफूर ने अलपखाँ को महल मे ही मार दिया। मलिका-ए-जहान को कैद कर दिया गया तथा खिज्रखाँ को पहले अमरोहा भेजा गया और बाद मे ग्वालियर के किले मे कैद कर दिया गया। मलिक काफूर राज्य का सर्वेसर्वा बन गया और अलाउद्दीन कुछ न कर सका। ऐसी स्थिति मे गुजरात मे अलपखाँ की सेना ने विद्रोह कर दिया। जो सेना कमालुद्दीन गुर्ग के नेतृत्व मे उसे दबाने के लिए भेजी गयी वह असफल हुई तथा कमालुद्दीन मारा गया। उसी प्रकार, चित्तौड मे हम्मीरदेव ने मालदेव को चुनौती दी तथा देवगिरि मे रामचन्द्रदेव के दामाद हरपालदेव ने तुर्कों को बाहर निकालकर अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया। ऐसी स्थिति मे जबकि अलाउद्दीन का ऐश्वर्य और सत्ता भग हो रही थी, 5 जनवरी, 1316 ई० को उसकी मृत्यु हो गयी।

[5]

अलाउद्दीन का मूल्यांकन

मध्य-युग के शासकों मे अलाउद्दीन एक महत्वपूर्ण शासक था। वह 30 वर्ष की आयु में सिंहासन पर बैठा और 15 वर्ष मे ही भारत का सर्वाधिक शक्तिशाली सुल्तान बन गया। अपने जीवन मे शासन और साम्राज्य-विस्तार मे अलाउद्दीन की सफलता अद्वितीय थी। डॉ० के एस लाल ने लिखा है कि "एक नगण्य स्थिति से उठकर वह मध्य-युग के महान् शासको मे से एक बन गया।"[1]

व्यक्तिगत दृष्टि से अलाउद्दीन स्वार्थी और क्रूर था। वह प्रेम और नैतिकता से रहित था। उसका एकमात्र लक्ष्य सफलता था और उसकी प्राप्ति के लिए वह किसी भी साधन का प्रयोग कर सकता था। 'साध्य से ही साधन का औचित्य सिद्ध होता है,' यह उसका विश्वास था। अपने सरक्षक चाचा जलालुद्दीन का वध करके वह सिंहासन पर बैठा तथा उसके पुत्रो को उसने अन्धा करके मरवा दिया। जब तक जलाली-सरदार उसके लिए उपयोगी थे, उसने उन्हे प्रसन्न रखा परन्तु जैसे ही उनकी उपयोगिता नष्ट हो गयी, उसने उन्हे क्रूरता से नष्ट करा दिया। विद्रोही सरदारों

---

[1] "From nothingness he rose to be one of the greatest rulers of medieval India."
—Dr. K. S Lal.

विरुद्ध भेजा । मलिक काफूर ने कबक को रावी तट पर परास्त करके कैद कर लिया और नागौर की ओर बढा । मंगोलो पर अचानक आक्रमण किया गया और वे पराजित होकर भाग गये । कवक के साथ-साथ प्राय: पचास हजार मगोलों को बन्दी बनाकर दिल्ली लाया गया । सभी मगोल पुरुषों को हाथियों से कुचलवाकर उनके सिरो की एक मीनार बदायूं दरवाजे पर बनायी गयी तथा स्त्री एवं बच्चो को गुलाम बनाकर विभिन्न स्थानो पर बेच दिया गया ।

जियाउद्दीन बरनी के अनुसार कन्क, इकवालमन्द और एक अन्य मगोल नेता ने अलाउद्दीन के समय मे विभिन्न अवसरों पर आक्रमण किये थे और इस कारण मगोलो के आक्रमण 1306 ई० के पश्चात् भी हुए परन्तु अमीर खुसरव और इसामी के अनुसार 1306 ई० मे हुआ मगोलों का उपर्युक्त आक्रमण अलाउद्दीन के समय का अन्तिम आक्रमण था । डॉ० के. एस. लाल और डॉ० रॉय भी उसे अन्तिम आक्रमण मानते है ।

इस प्रकार अलाउद्दीन के समय मे मगोलो के सबसे अधिक और सबसे भयकर आक्रमण हुए । इसके बावजूद भी **अलाउद्दीन ने उनके विरुद्ध सफलता प्राप्त की।** भारत पर मगोल-आक्रमण उसके अन्तिम वर्षों में नही हुए । यही नही बल्कि फरिश्ता और बरनी के कथनानुसार सीमा-रक्षक गाजी मलिक तुगलक ने काबुल, गजनी और कन्धार तक आक्रमण किये और मगोलों की सीमा के अन्तर्गत विभिन्न क्षेत्रों में लूट-मार की तथा कर वसूल किया। इस अग्रगामी नीति के कारण मंगोलों की आक्रमणकारी शक्ति प्राय' नष्ट हो गयी ।

[4]

अलाउद्दीन के अन्तिम दिन तथा मृत्यु

अलाउद्दीन के अन्तिम दिन कष्ट में व्यतीत हुए । अलाउद्दीन 'नवीन मुसलमानों' (इस्लाम धर्म मे परिवर्तित मंगोल) से असन्तुष्ट था । उसने उन्हे सभी सरकारी पदो से पृथक् कर दिया था । उन्होने अलाउद्दीन को कत्ल करने का षड्यन्त्र किया परन्तु उसकी सूचना सुल्तान को मिल गयी । **उसने प्राय: 20 या 30 हजार मंगोल पुरुषों का वध करा दिया** और उनके बीबी-बच्चो तथा सम्पत्ति को उनके वध करने वालो मे बाँट दिया । उस कत्लेआम मे अनेक निरपराध व्यक्ति मारे गये ।

परन्तु यह अलाउद्दीन की असयत बुद्धि का एक उदाहरण मात्र था । अथक परिश्रम और बढती हुई आयु ने उसके शरीर और बुद्धि को नष्ट करना आरम्भ कर दिया था । उसने सन्देह के कारण अपने सभी योग्य सरदारो को राजधानी से दूर भेज दिया था और स्वय अपने परिवार को अपने नियन्त्रण मे रखने मे असमर्थ हो रहा था । उसका सबसे बडा पुत्र खिज्रखाँ भोग-विलासी था, उसकी पत्नी मलिका-ए-जहान उससे उदासीन होकर अपने विलास मे मस्त थी और अपने भाई अलपखाँ के साथ मिलकर नायब काफूर की शक्ति को तोड़ने मे लगी हुई थी । फरवरी 1312 ई० मे खिज्रखाँ का विवाह अलपखाँ की एक पुत्री मे कर दिया गया और खिज्रखाँ को सिंहासन का उत्तराधिकारी घोषित कर दिया गया । 1313 ई० मे काफूर देवगिरि

के द्वितीय आक्रमण पर बिगड़ गया जिसके कारण मलिका-ए-जहान और अलपखाँ राजधानी में प्रभावशाली हो गये। इसी अवसर पर मलिका-ए-जहान ने अपने दूसरे पुत्र शादीखाँ का विवाह अलपखाँ की दूसरी पुत्री से कर दिया और खिज्रखाँ का विवाह राजा कर्ण की पुत्री देवलदेवी से कर दिया गया। इस बीच में अलाउद्दीन का स्वास्थ्य बहुत खराब हो गया और जब उसने पाया कि उसकी पत्नी और उसका पुत्र उसकी परवाह नहीं करते तब 1315 ई० में उसने मलिक काफूर को दक्षिण भारत से बुला लिया। परन्तु मलिक काफूर ने सुल्तान की मृत्यु को निकट जानकर स्वयं अपनी सत्ता स्थापित करने का प्रयत्न किया। उसने सुल्तान को विश्वास दिला दिया कि खिज्रखाँ, मलिका-ए-जहान और अलपखाँ उसके शत्रु हैं। इसके पश्चात् जबकि अलाउद्दीन अपने बिस्तर पर बीमार पड़ा हुआ था, मलिक काफूर ने अलपखाँ को महल में ही मार दिया। मलिका-ए-जहान को कैद कर दिया गया तथा खिज्रखाँ को पहले अमरोहा भेजा गया और बाद में ग्वालियर के किले में कैद कर दिया गया। मलिक काफूर राज्य का सर्वेसर्वा बन गया और अलाउद्दीन कुछ न कर सका। ऐसी स्थिति में गुजरात में अलपखाँ की सेना ने विद्रोह कर दिया। जो सेना कमालुद्दीन गुर्ग के नेतृत्व में उसे दबाने के लिए भेजी गयी वह असफल हुई तथा कमालुद्दीन मारा गया। उसी प्रकार, चित्तौड़ में हम्मीरदेव ने मालदेव को चुनौती दी तथा देवगिरि में रामचन्द्रदेव के दामाद हरपालदेव ने तुर्कों को बाहर निकालकर अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया। ऐसी स्थिति में जबकि अलाउद्दीन का ऐश्वर्य और सत्ता भग हो रही थी, 5 जनवरी, 1316 ई० को उसकी मृत्यु हो गयी।

[5]
अलाउद्दीन का मूल्यांकन

मध्य-युग के शासकों में अलाउद्दीन एक महत्वपूर्ण शासक था। वह 30 वर्ष की आयु में सिंहासन पर बैठा और 15 वर्ष में ही भारत का सर्वाधिक शक्तिशाली सुल्तान बन गया। अपने जीवन में शासन और साम्राज्य-विस्तार में अलाउद्दीन की सफलता अद्वितीय थी। डॉ० के. एस. लाल ने लिखा है कि "एक नगण्य स्थिति से उठकर वह मध्य-युग के महान् शासकों में से एक बन गया।"[1]

व्यक्तिगत दृष्टि से अलाउद्दीन स्वार्थी और क्रूर था। वह प्रेम और नैतिकता से रहित था। उसका एकमात्र लक्ष्य सफलता था और उसकी प्राप्ति के लिए वह किसी भी साधन का प्रयोग कर सकता था। 'साध्य से ही साधन का औचित्य सिद्ध होता है,' यह उसका विश्वास था। अपने संरक्षक चाचा जलालुद्दीन का वध करके वह सिंहासन पर बैठा तथा उसके पुत्रों को उसने अन्धा करके मरवा दिया। जब तक जलाली-सरदार उसके लिए उपयोगी थे, उसने उन्हें प्रसन्न रखा परन्तु जैसे ही उनकी उपयोगिता नष्ट हो गयी, उसने उन्हें क्रूरता से नष्ट करा दिया। विद्रोही सरदारों

---

1 "From nothingness he rose to be one of the greatest rulers of medieval India."
—Dr. K. S Lal.

को समाप्त कर दिया, उसके समय मे उसकी हिन्दू प्रजा विद्रोह करने मे पूर्णतया असमर्थ थी और उसके राज्य की सीमाओं के अन्तर्गत उसकी आज्ञाओं का निर्विवाद पालन किया जाता था। एक शासक की दृष्टि से वह अपनी प्रजा को शान्ति और सुरक्षा प्रदान कर सका। फरिश्ता ने लिखा है कि "न्याय इतना कठोर था कि चोरी और डकैती जिनका पहले देश में बोलबाला था, अब सुनने को भी नहीं मिलती थी। यात्री राजमार्गों पर निश्चिन्त होकर सोते थे और व्यापारी पूर्ण सुरक्षा के साथ अपना सामान बंगाल के समुद्र से काबुल तक और तैलंगाना से कश्मीर तक ले जा सकते थे।"[1] इसके अतिरिक्त, अलाउद्दीन दिल्ली का पहला सुल्तान था जिसने धर्म को राजनीति में हस्तक्षेप नहीं करने दिया। अलाउद्दीन उलेमा-वर्ग के प्रभाव से मुक्त रहा। निस्सन्देह उसकी नीति हिन्दुओ के प्रति कठोरता की थी परन्तु इसका कारण धर्म से अधिक राजनीति था। हिन्दुओं को निर्धन और शक्तिहीन किये बिना उनके विद्रोहो को समाप्त करना असम्भव था। इस कारण यह कहा जा सकता है कि हिन्दुओं के प्रति अलाउद्दीन की नीति दिल्ली के अन्य सुल्तानों के समान ही रही थी।

अलाउद्दीन एक महान् शासन-प्रबन्धक था। उसे शासन में नवीन कार्य और नवीन पद्धतियों को आरम्भ करने का श्रेय है। इस कार्य में उसने किसी से सहायता नहीं ली। निस्सन्देह वह समय-समय पर अपने सरदारो से सलाह लिया करता था परन्तु उनमे से कोई भी उसकी शासन सम्बन्धी नीतियो के लिए उत्तरदायी न था। एकमात्र अला-उल-मुल्क ऐसा था जिसकी सलाह का वह सम्मान करता था, किन्तु वह शासन मे नवीन प्रयोगों के आरम्भ की नियुक्ति से पहले ही मर चुका था। उसने एक शक्तिशाली सेना का संगठन किया। केन्द्र पर एक विशाल स्थायी सेना की नियुक्ति, घोड़ो को दागने की प्रथा, सैनिकों का हुलिया रखा जाना, आदि उसकी नवीन विशेषताएँ थी। भूमि की पैमाइश कराकर सरकारी कर्मचारियों द्वारा लगान वसूल करने की व्यवस्था भी सर्वप्रथम उसी ने आरम्भ की। बाजार-नियन्त्रण तो एकमात्र उसी के शासन की विशेषता रही। सम्पूर्ण शासन को एक सूत्र में बांधने का श्रेय भी अलाउद्दीन को है। उसके शासन-प्रबन्ध की सफलता पर दृष्टिपात करते हुए डॉ॰ के. एस. लाल ने लिखा है कि "सल्तनत के समय मे अलाउद्दीन अपने पूर्वाधिकारियों अथवा उत्तराधिकारियों दोनों मे श्रेष्ठ है।"[2]

अलाउद्दीन महत्वाकांक्षी था परन्तु व्यावहारिक और कूटनीतिज्ञ भी था। इस कारण वह सफल रहा। उसकी महत्वाकांक्षाओं ने उसे प्रेरणा और दृढ़ता प्रदान की और उसकी व्यावहारिकता ने उसकी महत्वाकांक्षाओं को सीमा में बांधकर रखा।

---

1 "Justice was executed with such rigour that robbery and theft, formerly so common, were not heard of in the land. The traveller slept secure on the highway and the merchant carried his commodities with safety from the Sea of Bangal to the mountains of Kabul and from Telingana to Kashmir."
—Ferishta

2 "Alauddin stands head and shoulder above his predecessors or successors in the Sultanate."
—Dr. K. S. Lal

नवीन धर्म को आरम्भ करने और समार को विजय करने के स्वप्न को उसने त्याग दिया, दक्षिण के राज्यों को अपने राज्य में सम्मिलित करना उसने अव्यावहारिक समझा और रामचन्द्रदेव तथा वीर बल्लाल के प्रति उसके कूटनीतिक व्यवहार ने उसे उसकी दक्षिण-विजय के लिए अच्छे सहयोगी प्रदान किये। किस अवसर पर छल अथवा कूटनीति हितकर होगी तथा किस अवसर पर शौर्य और शक्ति, इसका उसे ज्ञान था। यदि ऐसा न होता तो अलाउद्दीन सफल किस प्रकार होता ?

व्यक्तिगत दृष्टि से अलाउद्दीन मुसलमान था। धर्म मे उसकी आस्था थी और वह धार्मिक व्यक्तियों का सम्मान करता था। शेख निजामउद्दीन औलिया और मुहम्मद शमसुद्दीन तुर्क का उसने सर्वदा सम्मान किया। अशिक्षित होते हुए भी अलाउद्दीन विद्वानों का सम्मान करता था और ललित-कलाओं को उसने संरक्षण प्रदान किया। उसके दरबार में विभिन्न विद्वान थे जिनमे अमीर खुसरव और अमीर हसन देहलवी जैसे प्रख्यात विद्वान सम्मिलित थे। उसने सीरी का किला, हजारखम्भा महल तथा अनेक तालाब और सरायें बनवायीं तथा कुतुबमीनार के निकट उसके द्वारा बनवाया गया 'अलाई-दरवाजा' प्रारम्भिक तुर्की कला का एक श्रेष्ठ नमूना माना गया है।

अलाउद्दीन की सबसे बड़ी दुर्बलता यह थी कि उसका शासन और राज्य शक्ति एवं आतंक पर आधारित था। इस कारण वह उसकी मृत्यु के पश्चात् तुरन्त नष्ट हो गया। उसकी मृत्यु के पश्चात् न तो उसकी विशाल सेना रही, न उसकी बाजार-व्यवस्था और न ही उसकी लगान-व्यवस्था। यही नही बल्कि नागरिक और सरदार उसकी मृत्यु और शासन की समाप्ति से प्रसन्न हुए तथा स्थायित्व के गुणो के अभाव के कारण उसका राजवंश भी कुछ ही वर्षों मे नष्ट हो गया। परन्तु तब भी यह कहा जा सकता है कि इसका उत्तरदायित्व यदि अलाउद्दीन पर था तो उसके दुर्बल उत्तराधिकारियो पर भी था। अलाउद्दीन की तो क्या किसी भी प्रकार की शासन-व्यवस्था दुर्बल सुल्तानो के सरक्षण मे सफल नहीं हो सकती थी। इसके अतिरिक्त, अलाउद्दीन के शासन के सिद्धान्त तो उसकी मृत्यु के पश्चात् भी जीवित रहे। आगे होने वाले शासकों मे से कई ने उसके विभिन्न शासन-सिद्धान्तों मुख्यतया उसके सैनिक सुधारो को अपनाया और लाभ प्राप्त किया।

इस कारण उसके शासन और राजवंश की अस्थिरता उसके दोषो को प्रकट करती हुई भी इतिहास में उसके स्थान को नही गिरा सकती। मध्य-युग के शासको मे अलाउद्दीन का एक श्रेष्ठ स्थान है। डॉ० ए. एल. श्रीवास्तव ने लिखा है कि "यदि अलाउद्दीन के कार्यों तथा सफलताओं की निष्पक्ष दृष्टिकोण से समीक्षा की जाय तो कहना पड़ेगा कि दिल्ली के मध्ययुगीन शासकों मे उसका उच्च स्थान है।"[1] हैवेल ने लिखा है कि "अलाउद्दीन अपने युग से बहुत आगे था। उसके बीस वर्ष के शासन-

---

1. "A balanced view of Ala-ud-din's work and achievement must give him a high place among the rulers of Delhi during the medieval age."
—Dr. A. L. Srivastava.

9

कुतुबुद्दीन मुबारक खलजी और खलजी-वंश का पतन

[1]

कुतुबुद्दीन मुबारक खलजी (1316-1320 ई०)

मलिक काफूर के प्रभाव के कारण अपनी मृत्यु के अवसर पर अलाउद्दीन ने अपने बड़े पुत्र खिज्रखाँ को राज्याधिकार से वंचित करके अपने पाँच या छः वर्ष के छोटे पुत्र शिहाबुद्दीन उमर को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया था। मलिक काफूर ने उस अल्पायु बच्चे को सिंहासन पर बिठा दिया, स्वयं उसका संरक्षक बन गया और राज्य की सम्पूर्ण शक्ति हस्तगत कर ली। उसने शिहाबुद्दीन की माँ से विवाह कर लिया जो देवगिरि के शासक रामचन्द्रदेव की पुत्री थी। परन्तु उसने शीघ्र ही उसकी (अपनी नव-विवाहित पत्नी की) धन-सम्पत्ति को छीनकर उसे कारागार मे डलवा दिया। उसने खिज्रखाँ और शादीखाँ को ग्वालियर के किले में कैद करके अन्धा करा दिया। अलाउद्दीन के अन्य पुत्र भी कारागार मे डाल दिये गये। सम्भवतया काफूर का लक्ष्य अलाउद्दीन के सभी पुत्रों को समाप्त करके शीघ्र ही सिंहासन को हस्तगत कर लेने का था।

परन्तु काफूर 35 दिन से अधिक शासन-सत्ता का उपभोग न कर सका। उसके व्यवहार और शक्ति के दुरुपयोग से अधिकाश सरदार उससे असन्तुष्ट हो गये। मलिक काफूर खलजी-वंश के प्रति वफादार सरदारो को भी समाप्त करना चाहता था। इससे वे सरदार अपनी सुरक्षा के लिए चिन्तित हो उठे। सरदारों की तरफ से असावधान काफूर ने कुछ सैनिको को अलाउद्दीन के तीसरे पुत्र मुबारकखाँ को अन्धा करने के लिए भेजा। मुबारक ने अपना हीरो का हार उन्हें भेंट में दिया और साथ ही उन्हे खलजी-वश के प्रति वफादार रहने के उत्तरदायित्व की याद दिलायी। धन के लालच और भावना से प्रेरित होकर वे पैदल सैनिक और उनके नेता काफूर के पास पहुँचे और उसका कत्ल कर दिया। मुबारकखाँ को कारागार से छुड़ाकर शिहाबुद्दीन का सरक्षक बनाया गया। दो माह मे सरदारो को अपने पक्ष में करके मुबारकखाँ ने अपनी स्थिति दृढ कर ली, शिहाबुद्दीन को अन्धा करके ग्वालियर के किले में कैद करा दिया और 19 अप्रैल, 1316 को वह **कुतुबुद्दीन मुबारक के नाम से दिल्ली का सुल्तान बन गया।**

जिन सैनिकों और उनके सरदारो ने काफूर का कत्ल किया था उन्होंने राज्य मे हस्तक्षेप करना चाहा और उच्च पदो की लालसा प्रकट की। इस कारण उनके नेताओ का वध कर दिया गया और उनके सैनिको को छोटी-छोटी टुकडियों मे बाँटकर सूबो मे भेज दिया गया। इस घटना के अतिरिक्त **मुबारक का शासन उदारता से आरम्भ हुआ।** जिस दिन वह सिंहासन पर बैठा, उसी दिन करीब 17 या 18 हजार कैदी कारागार से मुक्त कर दिये गये और धीरे-धीरे **अलाउद्दीन के समय के सभी कठोर कानून समाप्त कर दिये गये।** जिन व्यक्तियों को राजधानी मे वाहर भेज दिया गया था, उन्हे वापिस आने की आज्ञा मिल गयी, सैनिको को छः माह का अग्रिम वेतन दिया गया, सरदारों और विद्वानो के वेतन एव जागीरो मे वृद्धि की गयी, अनेक व्यक्तियों को उनसे छीनी गयी जागीरें वापिस कर दी गयी, कठोर दण्ड-व्यवस्था व कर समाप्त कर दिये गये, शासन की कठोरता और गुप्तचर-विभाग का कठोर अनुशासन समाप्त कर दिया गया और यद्यपि शराब के कानूनों को ममाप्त नही किया गया परन्तु उनका व्यावहारिक-प्रयोग समाप्त हो गया। इस प्रकार अलाउद्दीन के समय के सभी कठोर कानून समाप्त हो गये तथा प्रजा और सरदारो ने चैन की साँस ली। परन्तु इन कानूनों की समाप्ति से दुष्परिणाम भी निकले। सभी वस्तुओं के मूल्य बढ गये, व्यापारियो ने अधिकतम लाभ प्राप्त करना आरम्भ कर दिया, शासन में शिथिलता आ गयी और क्योंकि सुल्तान स्वयं ऐश-पसन्द था, अत. सरदार और नागरिक सभी ऐशो-आराम की ओर झुक गये।

अलाउद्दीन के अन्तिम समय में अलपखाँ के कत्ल के पश्चात् उसके वफादार सैनिको और सरदारों ने दिल्ली से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया था। मलिक काफूर ने आईन-उल-मुल्क को उस विद्रोह को दवाने के लिए भेजा था परन्तु काफूर की

गुजरात के विद्रोह की समाप्ति

शीघ्र ही हत्या हो जाने के कारण आईन-उल-मुल्क राजपूताना में रुक गया। मुबारक ने गाजी मलिक तुगलक को उसकी सहायता के लिए भेजा और गुजरात के विद्रोह को समाप्त करने की आज्ञा दी। आईन-उल-मुल्क ने गुजराती सैनिकों और सरदारों में फूट डलवा दी और अन्त मे एक युद्ध में उन्हे परास्त करके गुजरात पर अधिकार कर लिया। मुबारक ने अपने श्वसुर जफरखाँ (मलिक दीनार) को गुजरात का सूबेदार नियुक्त किया।

मलिक काफूर की मृत्यु होते ही देवगिरि राज्य दिल्ली की अधीनता से मुक्त हो गया और रामचन्द्रदेव के दामाद हरपालदेव ने अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर ली। 1318 ई० मे मुबारक स्वयं एक बडी सेना को लेकर देवगिरि गया। हरपालदेव

देवगिरि की पुनर्विजय

भाग गया हुआ परन्तु कुछ छोटे युद्धो के पश्चात् पकडा गया और उसका वध कर दिया गया। देवगिरि मे एक सूबेदार को नियुक्त करके तथा खुसरव को तैलगाना और सुदूर दक्षिण तक आक्रमण करने की आज्ञा देकर सुल्तान दिल्ली की ओर वापिस लौटा।

जिस समय मुबारक दिल्ली वापिस लौट रहा था उस समय उसके चचेरे भाई

असदउद्दीन ने उसे कत्ल करने का प्रयत्न किया। उस षड्यन्त्र मे दिल्ली के कुछ सरदार भी अवश्य सम्मिलित थे। यह निश्चित नही है कि षड्यन्त्रकारियो का उद्देश्य असदउद्दीन अथवा मुबारक द्वारा दिल्ली की रक्षा हेतु छोडे गये संरक्षक वफा मलिक अथवा खिज्रखाँ के दसवर्षीय पुत्र को सुल्तान बनाने का था। परन्तु इस षड्यन्त्र का पता लग गया और मुबारक ने असदउद्दीन तथा उसके सहयोगी षड्यन्त्रकारियो को पकडकर कत्ल करा दिया। मार्ग से ही उसने असदउद्दीन के सभी सम्बन्धियों तथा अपने भाई खिज्रखाँ, शादीखाँ और शिहाबुद्दीन को भी कत्ल करने के आदेश दे दिये। वे सभी मारे गये और दिल्ली पहुँचकर मुबारक ने वफा मलिक को तथा गुजरात से जफरखाँ को बुलाकर उन्हे भी कत्ल करा दिया।

षड्यन्त्र और विद्रोहों का दमन

जफरखाँ के गुजरात से चले आने के पश्चात् हिसामउद्दीन को वहाँ का सूबेदार बनाया गया। उसने विद्रोह किया परन्तु गुजरात के सरदारो ने उस विद्रोह को समाप्त करके हिसामउद्दीन को पकडकर दिल्ली भेज दिया। वह मुबारक के कृपापात्र खुसरवखाँ का भाई था, इस कारण उसे माफ कर दिया गया।

इसी समय देवगिरि के सूबेदार ने विद्रोह किया और शमसुद्दीन के नाम से स्वतन्त्र सुल्तान बन गया। परन्तु दिल्ली से भेजी गयी एक सेना ने विद्रोह को दबा दिया और शमसुद्दीन को दिल्ली भेज दिया गया जहाँ उसके नाक-कान काट दिये गये। साथ ही उसके समर्थकों को भी कठोर दण्ड दिये गये।

इस बीच मे खुसरव ने तैलंगाना के प्रतापरुद्रदेव को परास्त करके अधीनता मानने और धन देने के लिए बाध्य किया था। उसके पश्चात् वह सुदूर दक्षिण में मलाबार प्रदेश मे गया। वहाँ उसे कोई बड़ा युद्ध तो नही करना पड़ा परन्तु उसे सन्धि करने वाला कोई शासक भी प्राप्त नही हुआ। खुसरव को दक्षिण भारत मे बहुत सम्पत्ति मिली और वह मलाबार में एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने के स्वप्न देखने लगा। इसकी सूचना कुछ वफादार सरदारो ने सुल्तान को दी और सुल्तान ने खुसरव को दिल्ली बुला लिया। परन्तु सुल्तान खुसरव से इतना अधिक प्रभावित था कि उसने उसे दण्ड के स्थान पर उन सरदारो को दण्ड दिया जिन्होंने खुसरव की लालसाओ की सूचना सुल्तान को दी थी।

प्रारम्भिक सफलता और मुख्यतया देवगिरि के अभियान ने मुबारक की बुद्धि पलट दी और असदउद्दीन के षड्यन्त्र ने उसे सन्देही बना दिया। वह शासन के प्रति उदासीन और व्यवहार मे क्रूर हो गया। उसने सन्देह मे अपने भाइयो और कुछ योग्य सरदारों तक का वध करा दिया तथा खुसरव के प्रभाव मे आकर कुछ वफादार सरदारों को दण्डित किया। वह सुल्तान की प्रतिष्ठा के प्रतिकूल भोग-विलास मे लिप्त हो गया। उसने अपने भाई खिज्रखाँ की विधवा पत्नी देवलदेवी से विवाह कर लिया। उसे नग्न स्त्री-पुरुषो की संगत पसन्द थी। वह अत्यधिक शराब पीने लगा तथा स्त्रियों के वस्त्र पहनकर दरबार में आने लगा। बरनी के कथनानुसार "वह कभी-कभी नग्न

मुबारक का कत्ल

होकर अपने दरबारियों के बीच मे दौडा करता था।" दरबार मे स्त्रियो, वेश्याओं और चाटुकारो का प्रभाव हो गया तथा प्रतिष्ठित सरदारो का सम्मान कम होने लगा। ऐमी स्थिति मे भय के कारण कोई सरदार सुल्तान को सलाह भी नही दे सका। परन्तु मुबारक की सबसे बडी भूल खुसरवखाँ से मोह करना तथा उस पर अत्यधिक विश्वास करना था। उसने उसे वजीर का पद दिया। खुसरव ने सुल्तान से अपने गुजराती सैनिको की सेना तैयार करने की आज्ञा प्राप्त कर ली जिसकी संख्या 40,000 हो गयी। उसने अपने सम्बन्धियो और मित्रो को महल के निकट रहने तथा रात्रि मे उनके लिए महल मे प्रवेश करने की आज्ञा भी प्राप्त कर ली। अपने एक अध्यापक काजी जियाउद्दीन के द्वारा स्पष्ट रूप से समझाये जाने पर भी मुबारक ने खुसरव पर सन्देह नही किया बल्कि काजी का ही अपमान किया। 15 अप्रैल, 1320 ई० की रात्रि को खुसरव के सैनिको ने महल मे अचानक प्रवेश करके सुल्तान के शरीर-रक्षको का कत्ल कर दिया। सुल्तान ने कुछ शोरगुल होने पर खुसरव से पूछा कि इसका क्या कारण है? खुसरव के यह कहने पर कि छूटे हुए घोडो को पकडने के कारण शोरगुल हो रहा है, सुल्तान सन्तुष्ट हो गया। इतने मे ही खुसरव के आदमी सुल्तान के कमरे के निकट पहुँच गये। अब सुल्तान को वास्तविकता का ज्ञान हुआ और वह प्राण-रक्षा हेतु जनानखाने की ओर भागा। खुसरव ने उसके बाल पकड लिये परन्तु सुल्तान उसे गिराकर उसकी छाती पर बैठ गया। तभी वहाँ हत्यारे पहुँच गये और उन्होने सुल्तान का कत्ल कर दिया तथा उसके सिर को काटकर चौक में फेंक दिया। इस प्रकार सुल्तान मुबारक का अन्त हुआ।

मुबारक अपने योग्य पिता का अयोग्य पुत्र था। विलासप्रियता और दम्भ ने उसकी बुद्धि और विवेक को नष्ट कर दिया था। वह अपनी मूर्खता के कारण स्वयं के और अपने वंश के पतन के लिए उत्तरदायी हुआ। अपने पिता से उसने एक शक्तिशाली, विस्तृत और समृद्धिशाली साम्राज्य प्राप्त किया था परन्तु बहुत शीघ्र ही उसने उसे खो दिया। उसने स्वयं को खलीफा घोषित किया था और 'अल-इमाम उल-इमाम', 'खलीफत-उल-लाह' आदि की उपाधियाँ ग्रहण की थी जिनके वह सर्वदा अयोग्य था। मुबारक न तो योग्य शासक था और न ही योग्य व्यक्ति। उसे अपने कार्यों के अनुकूल ही मृत्यु प्राप्त हुई।

[2]

नासिरुद्दीन खुसरवशाह (15 अप्रैल—7 सितम्बर, 1320 ई०)

खुसरवशाह हिन्दू धर्म से परिवर्तित मुसलमान था और उसे गुजराती हिन्दू सैनिकों का समर्थन प्राप्त था। यही उसका सबसे बड़ा दोष बना। यद्यपि वह बचपन मे ही मुसलमान बन गया था, उसने दक्षिण के युद्धों मे इस्लामी जोश का परिचय दिया था, अपने नाम से खुतबा पढ़वाया था और 'पैगम्बर का सेनापति' की उपाधि ग्रहण की थी परन्तु तब भी उसके शत्रुओं ने उसके विरुद्ध 'इस्लाम का शत्रु' और 'इस्लाम खतरे में है' के नारे लगाये। अमीर खुसरव और जियाउद्दीन बरनी द्वारा उस पर इस्लाम के विरुद्ध कार्य करने के आरोपों का कोई आधार नहीं है और

यह भी प्रमाणित नही है कि वह नीच कुल मे उत्पन्न था। उसका जन्म उच्च कुल मे नहीं हुआ था यह सत्य है। परन्तु यह माना जाता है कि गुजरात की किसी एक बहादुर जाति मे उसका जन्म हुआ था, यह बात दूसरी है कि वह जाति किसी राजवंश से सम्बन्धित न थी। बचपन मे ही मुसलमान बनाये जाने के बाद वह अन्त तक मुसलमान रहा, इसमे भी सन्देह नही किया जा सकता।

सुल्तान बनने के पश्चात् खुसरव ने उन सरदारो का वध करा दिया जो खलजी-वश के प्रति अत्यधिक वफादार थे। उसने अपने सिंहासन की सुरक्षा के लिए अलाउद्दीन के बचे हुए पुत्रो का भी वध करा दिया और मुबारकशाह की विधवा (सम्भवतया पहले खिज्रखाँ की विधवा देवलदेवी) से विवाह कर लिया। उसने अन्य सभी सरदारो को सम्मान और पद देकर अपने पक्ष मे कर लिया तथा निजामुद्दीन औलिया जैसे धार्मिक व्यक्तियों का नैतिक समर्थन भी प्राप्त कर लिया।

परन्तु कुछ सरदार उससे असन्तुष्ट ही रहे। यह वे सरदार थे जो तुर्कों की जातीय श्रेष्ठता मे विश्वास करते थे तथा एक भारतीय मुसलमान का सुल्तान बनना बर्दाश्त न कर सके। गाजी मलिक तुगलक ने इसका लाभ उठाना चाहा। वह दिपालपुर का सूबेदार और सीमा-रक्षक था। वह स्वयं महत्वाकांक्षी था और उसका पुत्र जूनाखाँ दिल्ली के तुर्की सरदारो मे प्रभावशाली था। गाजी मलिक ने पहले आईन-उल-मुल्क तथा सिविस्तान, मुल्तान और समाना के सूबेदारों को विद्रोह के लिए आमन्त्रित किया परन्तु जब उनमे से कोई भी उसके साथ नहीं हुआ तो उसने उनसे छोटे अधिकारियो और उन प्रदेशो की जनता को इस्लाम के नाम से विद्रोह के लिए उकसाया। मुस्लिम जनता और सीमाप्रान्त के निम्न सैनिक अधिकारी उसके साथ हो गये तथा उसका पुत्र जूनाखाँ चुपके से भागकर उसके साथ मिल गया। इसके पश्चात् गाजी मलिक तुगलक दिल्ली की ओर बढा। मार्ग में समाना के सूबेदार मलिक यकलाकी ने उसका मुकाबला किया परन्तु वह परास्त हो गया। सिरसा के निकट खुसरवशाह के भाई हिसामुद्दीन ने उसका मुकाबला किया परन्तु वह भी पराजित हुआ और भाग खडा हुआ। दिल्ली के बाहर इन्द्रप्रस्थ के निकट स्वयं खुसरवशाह ने उसका मुकाबला किया। इस अवसर पर आईन-उल-मुल्क अपनी सेना को लेकर मालवा की तरफ चला गया। युद्ध मे खुसरवशाह ने साहस और बहादुरी का परिचय दिया परन्तु उसकी पराजय हुई और वह भाग खडा हुआ। तिलपट के निकट उसे पकड लिया गया तथा वही उसका वध कर दिया गया। 7 सितम्बर को गाजी मलिक ने अलाउद्दीन के हजार स्तम्भों वाले महल मे प्रवेश किया और बहाने के तौर पर यह पता लगाया कि खलजी-वंश का कोई उत्तराधिकारी तो जीवित न था। 8 सितम्बर, 1320 ई० को वह गियासुद्दीन तुगलक के नाम से दिल्ली के सिंहासन पर बैठा।

इस प्रकार, खुसरवशाह के 4½ माह के शासन का अन्त हुआ। खुसरव भ्रष्ट था, अपने मालिक के प्रति उसने बेवफाई की थी और उसने उसे और उसके वश को नष्ट किया था। एक योग्य शासक के गुणों का भी उसमे अभाव था। परन्तु इस्लाम के विरुद्ध कार्य करने का आरोप उस पर नहीं लगाया जा सकता। वह असफल हुआ

परन्तु उसकी असफलता का कारण उसका इस्लाम के विरुद्ध कार्य करना न था बल्कि गाजी मलिक तुगलक की महत्वाकांक्षा, उसका श्रेष्ठ तुर्की नस्ल का दावा और उसकी सैनिक शक्ति थी।

[3]

खलजी-वंश के पतन के कारण

जलालुद्दीन और अलाउद्दीन रक्तपात के द्वारा गद्दी पर बैठे थे और रक्तपात के द्वारा ही उनके वंश का नाश हुआ। मुख्यतया अलाउद्दीन ने शक्ति और आतंक के आधार पर शासन किया और शक्ति के आधार पर ही उस शासन की सुरक्षा सम्भव थी। उसके शासन से सरदार और नागरिक भयभीत थे परन्तु सन्तुष्ट कोई न था। इस कारण, स्थायित्व के तत्वों का उसमें सर्वथा अभाव था। कुतुबुद्दीन मुबारक अयोग्य था परन्तु अलाउद्दीन जैसा शासक सर्वदा सिंहासन पर रह नहीं सकता था। शासन के प्रति प्रेम, श्रद्धा और स्थायी वफादारी प्राप्त करना ही शासन को स्थायित्व प्रदान करने वाले तत्व हो सकते थे। अलाउद्दीन ने यह कार्य नहीं किया। अतएव उसका कठोर शासन उसके वंश के पतन के लिए उत्तरदायी था। परन्तु उससे भी अधिक उसका उत्तराधिकारी मुबारक अपने वंश के पतन के लिए उत्तरदायी हुआ। मुबारक अयोग्य और विलासी ही नहीं बल्कि मूर्ख भी सिद्ध हुआ। ऐसे शासक और उसके वंश का पतन मध्य-युग में पूर्णतया स्वाभाविक था।

10

गियासुद्दीन तुगलक : 1320-1325 ई०

गियासुद्दीन तुगलक ने एक नवीन राजवंश की नीव डाली परन्तु यह कहना भूल है कि 'तुगलक' किसी नस्ल अथवा वंश का नाम था। गियासुद्दीन का नाम गाजी तुगलक अथवा गाजी बेग तुगलक था। इस कारण इतिहास में उसके उत्तराधिकारियों को भी तुगलक पुकारा जाने लगा और उसका वंश तुगलक-वंश कहलाया अन्यथा उसके पुत्र मुहम्मद ने अपने को मुहम्मद-बिन तुगलक (तुगलक का पुत्र) पुकारा और उसके किसी अन्य उत्तराधिकारी ने अपने नाम के साथ 'तुगलक' शब्द का प्रयोग नही किया। फरिश्ता के अनुसार उसका पिता मलिक तुगलक बलबन का एक तुर्की गुलाम था जिसने एक हिन्दू जाट स्त्री से विवाह किया था। उनका पुत्र गाजी तुगलक था जो गियासुद्दीन तुगलक के नाम से दिल्ली के सिंहासन पर बैठा। गाजी तुगलक ने अपने पिता की भाँति दिल्ली के सुल्तानो की सेवा की थी और जलालुद्दीन खलजी के समय मे वह सैनिक सेवा में था। अपनी योग्यता से वह प्रगति करता गया और 1305 ई० में अलाउद्दीन ने उसे दिपालपुर का सूबेदार और सीमा-रक्षक नियुक्त किया। उसने मगोल-आक्रमणों के विरुद्ध सफलता प्राप्त की, काबुल तथा गजनी तक आक्रमण किये और मगोलो की सीमा के अन्तर्गत क्षेत्रों से राजस्व वसूल किया। खुसरवशाह के समय मे वह अपने उसी पद पर कायम रहा। उसके पश्चात् खुसरवशाह को समाप्त करके उसने दिल्ली के सिंहासन पर अधिकार कर लिया तथा 8 सितम्बर, 1320 ई० को सुल्तान बन गया।

सुल्तान मुबारक खलजी और खुसरवशाह ने दिल्ली सल्तनत की व्यवस्था और सम्मान को नष्ट कर दिया था। इस कारण सिंहासन पर बैठते ही गियासुद्दीन को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। अलाउद्दीन के द्वारा स्थापित की गयी

कठिनाइयाँ

शासन-व्यवस्था नष्ट हो गयी थी और उसके बाद किसी नवीन व्यवस्था को स्थापित करने का प्रयत्न नहीं किया गया था। सरदारों और दरबारियों मे धन-लोलुपता, विलासिता और अकर्मण्यता आ गयी थी, नागरिको में सुल्तान का सम्मान कम हो गया था तथा मुख्यतया मुबारक और खुसरव के द्वारा सरदारों एवं नागरिकों में

अत्यधिक धन का वितरण करने से शाही खजाना रिक्त हो गया था। परन्तु इससे भी अधिक बडी समस्या सूबेदारो और अधीन शासकों को दिल्ली की अधीनता में रखने की थी। सिन्ध मे अमर ने थट्टा और निचले सिन्ध को अधिकार मे करके अपने को प्राय स्वतन्त्र कर लिया था, गुजरात में आईन-उल-मुल्क की वापिसी के पश्चात से ही अव्यवस्था थी, राजस्थान मे चित्तौड़, नागौर और जालोर पर राजपूतो के आक्रमण बढ गये थे, बगाल पहले से ही स्वतन्त्र था, दक्षिण भारत मे तैलंगाना और होयसल राज्य के शासक स्वतन्त्रता से व्यवहार कर रहे थे तथा सुदूर दक्षिण में तुर्की प्रभाव को नष्ट कर दिया गया था। इस प्रकार गियासुद्दीन तुगलक के सम्मुख आन्तरिक और बाह्य दोनो प्रकार की समस्याएँ थीं।

गियासुद्दीन ने नस्ल के आधार पर तुर्की अमीरो का समर्थन प्राप्त करने मे सफलता प्राप्त की। परन्तु उसने खुसरव के समर्थकों को भी उनके पदो पर रहने दिया जिससे वे सन्तुष्ट रहें। उसने अलाउद्दीन के वश की लड़कियों के विवाह तो कराये परन्तु

आन्तरिक व्यवस्था

कट्टर खलजी समर्थको मे उसने उनकी जागीरें छीन ली और उन्हें उनके पद से अलग कर दिया। अलाउद्दीन के समय मे जिन व्यक्तियो से उनकी जागीरें छीन ली गयी थी, वे उन्हें वापिस कर दी गयी। इस प्रकार **उसने उदारता और कठोरता का समन्वय करके सभी सरदारों और नागरिकों को सन्तुष्ट किया तथा किसी ने उसके सुल्तान बनने का विरोध नहीं किया।** गियासुद्दीन ने खुसरव द्वारा अनावश्यक रूप से वितरित किये गये धन को वापिस लेने का प्रयत्न किया। इस कार्य मे वह काफी सफल रहा परन्तु उसे कठिनाई भी हुई। वह सम्पूर्ण धन को वापिस न ले सका। शेख निजामुद्दीन औलिया ने तो उसकी धन की माँग का उत्तर देने की भी आवश्यकता नही समझी। एक अन्य विचार के अनुसार उसने मुल्तान से कहलवा दिया कि "उसने उस धन को बाँट दिया है और अब उसके पास वापिस करने के लिए धन नही है।"

राज्य की आर्थिक स्थिति को ठीक करने के लिए गियासुद्दीन ने लगान-व्यवस्था की ओर ध्यान दिया। **किसानों की स्थिति में सुधार करना और कृषि-योग्य भूमि में वृद्धि करना उसके दो प्रमुख उद्देश्य थे।** अलाउद्दीन की व्यवस्था नष्ट हो गयी थी। इसे पुनः स्थापित करने का प्रयत्न नही किया गया। सम्भवतया किसानों से पहले की भाँति पैदावार का $\frac{1}{2}$ से $\frac{1}{3}$ भाग लगान के रूप मे वसूल किया जाने लगा। इसके अतिरिक्त उसने आदेश दिये कि एक वर्ष मे एक इक्ता (सूबा) के राजस्व मे $\frac{1}{11}$ से $\frac{1}{10}\%$ से अधिक वृद्धि नही की जानी चाहिए। पुराने हिन्दू लगान-अधिकारियों के विशेषाधिकार उन्हें पुन दे दिये गये यद्यपि सरकारी कर्मचारियो को यह आदेश भी दिये गये कि वे इस बात का ध्यान रखें कि हिन्दू अधिक धनवान न हो जायें। सरकारी कर्मचारियों को राजस्व-वसूली में हिस्सा नही दिया गया बल्कि उन्हे जागीरें दी गयी जो कर मे मुक्त रखी गयी। भूमि की पैमाइश करके लगान निश्चित करने के तरीके को पुन. आरम्भ नही किया गया बल्कि 'नस्क' और 'बँटाई' की प्रथा चलती रही। सरकारी कर्मचारियो को आदेश दिये गये कि वे किसानों की

भलाई का प्रयत्न करें और उनके साथ कठोरता न बरतें। यदि कोई अधिकारी किसानों से बहुत अधिक कर वसूल कर लेता था तो उसे कठोर दण्ड दिया जाता था परन्तु साधारण कठोरता करने पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था। अपनी इस मध्यम मार्ग की नीति से गियासुद्दीन ने किसानों, लगान-अधिकारियों और सरकारी कर्मचारियों को सन्तुष्ट और सुखी बनाये रखने का प्रयत्न किया। इसमें उसे सफलता मिली। किसानों की स्थिति में सुधार हुआ तथा कृषि-योग्य भूमि में वृद्धि हुई। गियासुद्दीन सरकारी और लगान-अधिकारियों की ईमानदारी पर भी बहुत बल देता था। उसने सिंचाई की भी अच्छी व्यवस्था की और बहुत-से बाग लगवाये। इससे किसानों और राज्य की आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ।

गियासुद्दीन ने सड़कें ठीक करायीं तथा पुलों और नहरों का निर्माण कराया। इससे यातायात में सुविधा हुई। उसकी डाक-व्यवस्था श्रेष्ठ थी और शीघ्रता करने के लिए प्रत्येक ¾ मील पर डाक लाने वाले कर्मचारी अथवा घुड़सवार नियुक्त किये गये थे। उसने न्याय-व्यवस्था को ठीक किया। अलाउद्दीन के समय की कठोर दण्ड-व्यवस्था समाप्त कर दी गयी परन्तु चोरों, कर न देने वालों और सरकारी धन की बेईमानी करने वालों को अवश्य कठोर दण्ड दिये जाते थे।

गियासुद्दीन एक कुशल सेनापति था और बरनी के कथनानुसार वह अपने सैनिकों को पुत्रवत् प्रेम करता था। इस कारण, उसने सैनिक-व्यवस्था की ओर पूर्ण ध्यान दिया। वह अपने सैनिकों को सुविधाएँ देता था और इस बात की स्वयं देख-भाल करता था कि उनको उचित वेतन मिले। परन्तु वह सैनिक अनुशासन में कठोर था। उसने 'हुलिया' और 'दाग' की प्रथाओं को कठोरतापूर्वक लागू किया। सिंहासन पर बैठने के बाद दो वर्ष में ही उसने सेना को शक्तिशाली बनाने में सफलता प्राप्त की।

हिन्दुओं के प्रति गियासुद्दीन की नीति कठोर रही। हिन्दुओं के बारे में उसने अपने अधिकारियों को आदेश दिये थे कि "वे न तो इतने धनवान बन सकें कि विद्रोह करने को तत्पर हो जायें और न इतने निर्धन हो जायें कि कृषि छोड़कर भाग जायें।" इस प्रकार, गियासुद्दीन की हिन्दुओं के प्रति नीति अलाउद्दीन की नीति के निकट ही थी।

गियासुद्दीन पूर्णतया साम्राज्यवादी था। इस दृष्टिकोण से वह अलाउद्दीन से भी आगे था। अलाउद्दीन ने दक्षिण के राज्यों को अपनी अधीनता स्वीकार करने के पश्चात् स्वतन्त्र छोड़ दिया था। उसने देवगिरि को उसी समय अपने राज्य में सम्मिलित किया था जबकि शकरदेव (सिंहलदेव

विद्रोहों का दमन और साम्राज्य-विस्तार

द्वितीय) ने उसकी अधीनता को मानने से इन्कार कर दिया था। परन्तु गियासुद्दीन ने विद्रोही और अधीनस्थ राज्यों को अपने राज्य में सम्मिलित करने की नीति अपनायी। उसके समय में जिस राज्य को पराजित किया गया और जिस स्थान के विद्रोह को दबाया गया उस राज्य और उस स्थान को दिल्ली सल्तनत में सम्मिलित कर लिया गया।

तेलंगाना के शासक प्रतापरुद्रदेव ने दिल्ली सल्तनत की अव्यवस्था का लाभ उठाकर दिल्ली सुल्तान को कर भेजना बन्द कर दिया था और एक स्वतन्त्र शासक की भांति व्यवहार कर रहा था। परन्तु उसने अपनी स्वतन्त्रता का सदुपयोग हिन्दू राज्यों के संगठन और सहयोग के लिए नहीं किया बल्कि अपने पड़ोसी हिन्दू राज्यों में युद्ध करके उसका दुरुपयोग किया। गियासुद्दीन उसके इस व्यवहार को पसन्द नहीं कर सकता था। उसने 1321 ई० में अपने सबसे बड़े पुत्र जूनाखाँ उर्फ उलुगखाँ (जो उपाधि उसे दी गयी थी) को तेलंगाना पर आक्रमण करने के लिए भेजा। उलुगखाँ ने अत्यधिक शीघ्रता से आक्रमण किया और बिना किसी विरोध के वारंगल के किले के सामने पहुँच गया। प्रायः छ माह तक किले का घेरा पड़ा रहा और अन्त में प्रतापरुद्रदेव अधीनता स्वीकार करने और राजस्व देने को तैयार हो गया। परन्तु उलुगखाँ उससे बिना किसी शर्त के आत्मसमर्पण कराना चाहता था। इस कारण कोई सन्धि न हो सकी। हिन्दुओं ने उलुगखाँ के आवागमन के मार्गों को बन्द कर दिया और दिल्ली से समाचार आना अथवा वहाँ समाचार पहुँचना असम्भव हो गया। थोड़े समय पश्चात् उलुगखाँ को घेरा उठाने के लिए बाध्य होना पड़ा और वह देवगिरि वापिस लौट गया जहाँ उसके छोटे भाई महमूदखाँ ने उसका स्वागत किया। इब्न-बतूता ने लिखा है कि उलुगखाँ विद्रोह करने के लिए तत्पर था और उसने जानबूझकर अपने मित्र उबैद द्वारा यह अफवाह फैलवा दी कि सुल्तान गियासुद्दीन की मृत्यु हो गयी है जिससे सेना और सरदार उसके साथ हो जायें। परन्तु इसका परिणाम उल्टा हुआ। अनेक सरदार अपनी-अपनी सेनाओं को लेकर उलुगखाँ का साथ छोड़ गये और उसे मजबूरी में किले का घेरा उठाना पड़ा। परन्तु इसामी और बरनी का कथन इसके विपरीत है। वह कहते हैं कि शहजादे की विद्रोह की कोई इच्छा न थी और सुल्तान की मृत्यु की अफवाह फैलाने में भी उसका कोई हाथ न था बल्कि उबैदी स्वयं पूर्णतया उसके लिए उत्तरदायी था। आधुनिक इतिहासकारों में से सर वूल्जले हेग और कुछ अन्य इतिहासकारों ने इब्न-बतूता के कथन को ठीक माना है परन्तु डॉ० ईश्वरीप्रसाद, डॉ० मेहदी हुसैन, डॉ० बी पी. सक्सेना आदि ने इसामी और बरनी के कथन को ही सही माना है। कारण कुछ भी हो परन्तु उलुगखाँ घेरा उठाकर देवगिरि होता हुआ दिल्ली वापिस पहुँच गया।

गियासुद्दीन ने उलुगखाँ के विद्रोही सरदारों को मृत्यु-दण्ड दिया परन्तु उलुगखाँ को माफ करके उसे एक अन्य सेना के साथ तेलंगाना पर पुनः आक्रमण करने के लिए भेजा। 1323 ई० में उलुगखाँ ने वारंगल पर आक्रमण किया। मार्ग में उसने बीदर तथा अन्य किलों को जीता और यातायात के मार्गों को सुरक्षित किया। वारंगल के किले को पाँच माह के पश्चात् जीत लिया गया और प्रतापरुद्रदेव तथा उसके सभी सम्बन्धियों को कैद कर लिया गया। प्रतापरुद्रदेव को दिल्ली भेज दिया गया। डॉ० बनारसी प्रसाद सक्सेना के अनुसार या तो प्रतापरुद्रदेव की मृत्यु कारागार में हुई अथवा उसने आत्महत्या कर ली। डॉ० आर सी. मजूमदार के अनुसार प्रतापरुद्रदेव को छोड़ दिया गया था और उसने या तो एक साधारण अधीन शासक के रूप में

अपना जीवन समाप्त किया अथवा एक स्वतन्त्र शासक के रूप में उसकी मृत्यु हुई। तेलंगाना की राजधानी वारंगल का नाम सुल्तानपुर रख दिया गया और तेलंगाना को दिल्ली राज्य में सम्मिलित कर लिया गया।

सम्भवतया वारंगल की विजय के पश्चात् उलुगखाँ ने सुदूर दक्षिण के मलाबार तट पर आक्रमण किया और मदुरा को जीतकर (1323 ई०) उसे दिल्ली राज्य के अधीन कर लिया, परन्तु तत्कालीन मुसलमान इतिहासकारों ने इस आक्रमण के बारे में कुछ नही लिखा है। उलुगखाँ ने उड़ीसा (जाजनगर) पर भी आक्रमण किया। उड़ीसा पर उसकी विजय पूर्ण नही थी और सम्भवतया एक युद्ध के पश्चात् लूट-मार करके उलुगखाँ दिल्ली वापिस पहुँच गया।

दक्षिण के युद्ध से छुटकारा हुआ ही था कि भारत की उत्तर-पश्चिम सीमा पर मंगोलों ने आक्रमण किया परन्तु दिल्ली से भेजी गयी एक सेना ने उन्हें परास्त कर दिया। सम्भवतया गुजरात में भी इसी समय एक विद्रोह हुआ परन्तु उसे शीघ्र दबा दिया गया।

बलबन की मृत्यु के पश्चात् से ही बंगाल स्वतन्त्र हो गया था। उसके पश्चात् दिल्ली के किसी सुल्तान ने उसे अपनी अधीनता मे लेने का प्रयत्न नही किया था। इस समय गियासुद्दीन बहादुर, शिहाबुद्दीन और नासिरुद्दीन नामक तीन भाइयों मे गद्दी के लिए संघर्ष चल रहा था। गियासुद्दीन बहादुर ने अपने भाइयो को पराजित करके बंगाल को अपने अधीन कर लिया। नासिरुद्दीन ने भागकर सुल्तान गियासुद्दीन से सहायता माँगी। सुल्तान स्वयं बंगाल की ओर बढा और तिरहुत के निकट नासिरुद्दीन भी उससे आ मिला। सुल्तान ने जफरखाँ को बंगाल पर आक्रमण करने के लिए भेजा और उसने गियासुद्दीन बहादुर को पराजित करके बन्दी बना लिया। उत्तरी बंगाल मे नासिरुद्दीन को दिल्ली की अधीनता मे शासक बना दिया गया जिसकी राजधानी लखनौती थी। दक्षिणी और पूर्वी बंगाल को दिल्ली राज्य मे सम्मिलित कर लिया गया और सुल्तान ने बहरामखाँ को वहाँ का सूबेदार नियुक्त किया।

इसामी के कथनानुसार सुल्तान ने बंगाल से वापिस आते हुए तिरहुत (मिथिला) पर आक्रमण किया। राजा हरसिंहदेव को नेपाल की सीमाओ मे जाकर रहना पड़ा और तिरहुत पर दिल्ली सुल्तान का अधिकार हो गया (1324-25 ई०)। परन्तु सुल्तान उससे पहले ही दिल्ली के लिए वापिस चल दिया था।

गियासुद्दीन की मृत्यु के बारे मे इतिहासकारो मे मतभेद है। डॉ० मेहदी हुसैन और डॉ० बी. पी. सक्सेना सुल्तान की मृत्यु को एक दुर्घटना मानते है जबकि डॉ० ईश्वरीप्रसाद और सर वूल्जले हेग उसकी मृत्यु का कारण उसके पुत्र उलुगखाँ (जूनाखाँ) के षड्यन्त्र को मानते है। डॉ० ए. एल. श्रीवास्तव और डॉ० आर. सी. मजूमदार भी डॉ० ईश्वरीप्रसाद के मत का समर्थन करते है। तत्कालीन इतिहासकारों मे से इब्न-बतूता और इसामी ने उलुगखाँ को इसके लिए दोषी ठहराया है जबकि बरनी का कथन काफी संक्षिप्त और अनिर्णयात्मक है।

गियासुद्दीन की मृत्यु

इब्न-बतूता के अनुसार जब सुल्तान गियासुद्दीन बगाल मे था तभी उसे उलुगखाँ के चिन्ताजनक व्यवहार के समाचार प्राप्त हुए थे। उसे सूचना मिली कि वह अपने समर्थकों की सख्या बढा रहा है और शेख निजामुद्दीन औलिया का शिष्य बन गया है। इस शेख से सुल्तान के सम्बन्ध अच्छे न थे। सुल्तान ने उलुगखाँ और निजामुद्दीन औलिया को दिल्ली पहुँचने पर दण्ड देने की धमकी दी जिसके बारे मे औलिया ने कहा कि "दिल्ली अभी बहुत दूर है।" सुल्तान शीघ्रता से बगाल से वापिस लौटा और उलुगखाँ ने उसके स्वागत के लिए नवीन राजधानी तुगलकाबाद से तीन या चार मील दूर अफगानपुर नामक गाँव में एक लकडी का महल बनवाया। वह महल अहमद ऐयाज (जिसे बाद मे उलुगखाँ उर्फ सुल्तान मुहम्मद तुगलक ने अपना वजीर बनाया) ने इस प्रकार बनवाया कि हाथियों के द्वारा एक विशेष स्थान पर धक्का लगने से वह गिर सकता था। भोजन के पश्चात् उलुगखाँ ने सुल्तान से बगाल से लाये गये हाथियो के प्रदर्शन की प्रार्थना की। सुल्तान की आज्ञा से वे हाथी प्रदर्शित किये गये और जब उनका धक्का महल को लगा तो वह गिर गया और सुल्तान तथा उसका छोटा पुत्र महमूद उसमे दबकर मर गये। उलुगखाँ ने मलवा हटवाने मे भी जान-बूझकर देर की और जब सुल्तान व उसके पुत्र की लाशें उसमे से निकली तो सुल्तान अपने पुत्र पर इस प्रकार झुका हुआ पाया गया जैसे कि वह अपने पुत्र की रक्षा करना चाहता था। इब्न-बतूता को इस घटना के बारे में शेख रुकनुद्दीन ने बताया था जो उस समय महल में था और जिसे उलुगखाँ ने नमाज पढ़ने के बहाने उस समय उस स्थान से हटा दिया था।

गियासुद्दीन का मूल्यांकन

तत्कालीन इतिहासकारों ने सुल्तान गियासुद्दीन को एक आदर्श मुसलमान सुल्तान माना था। इसका मुख्य कारण यह था कि उसने मगोल-आक्रमणों से इस्लाम की रक्षा की थी और खुसरवशाह को समाप्त करके इस्लाम की प्रतिष्ठा को स्थापित किया था। परन्तु उपर्युक्त आधारो पर तो सुल्तान को इस्लाम का रक्षक ही माना जा सकता है। कुछ अन्य कारण ऐसे है जिनसे उसे दिल्ली के सुल्तानों मे एक विशिष्ट स्थान प्राप्त होता है।

व्यक्तिगत दृष्टि से **सुल्तान का चरित्र अच्छा था।** वह न शराब का शौकीन था और न स्त्री का बल्कि उसने अलाउद्दीन की भाँति शराबबन्दी का प्रयत्न किया था। वह इस्लाम के नियमो का पालन करता था और धार्मिक व्यक्तियो का सम्मान करता था। हिन्दुओ के प्रति उसकी नीति यदि उदार न थी तो बहुत कठोर भी न थी। परन्तु गियासुद्दीन की सफलता चरित्र की दृष्टि से नही बल्कि उसके कार्यों की दृष्टि से थी। **वह एक योग्य सेनापति था।** सुल्तान बनने से पहले और सुल्तान बनने के पश्चात् भी उसने इस योग्यता का परिचय दिया था। उसके सैनिक अनुशासन के कारण दिल्ली की सेना एक बार पुनः शक्तिशाली बन गयी थी। इसी कारण उसने *अपने साम्राज्य का विस्तार किया।* उसने सम्पूर्ण दक्षिण भारत को अपने राज्य मे सम्मिलित कर लिया और उसके समय मे ही बगाल की भी विजय हुई। उसका साम्राज्य

अलाउद्दीन के साम्राज्य से भी अधिक विस्तृत था। जिन राज्यों को अलाउद्दीन ने केवल अपनी अधीनता स्वीकार कराने के पश्चात् स्वतन्त्र छोड दिया था, उन राज्यों को उसने अपने शासन के अधीन किया। एक शासक की दृष्टि से भी वह सफल रहा। उसने अलाउद्दीन की मृत्यु के पश्चात् उत्पन्न हुई अव्यवस्था को ठीक किया। उसने शासन से भ्रष्टाचार को समाप्त किया, कृषकों की भलाई की, कृषि-योग्य भूमि में वृद्धि की, यातायात और डाक-व्यवस्था को ठीक किया, पुल और नहरें बनवायी, बाग लगवाये, सरकारी कर्मचारियों के वेतन में वृद्धि की, लगान-अधिकारियों को प्राप्त होने वाली सुविधाएँ उन्हे पुन: प्रदान कीं तथा शाही खजाने को परिपूर्ण कर दिया। इस प्रकार, अपनी विजयों और सफल शासन द्वारा उसने सुल्तान और राज्य-सिंहासन की प्रतिष्ठा पुनः स्थापित की। गियासुद्दीन न केवल नवीन नीतियों और सिद्धान्तों को जन्म देने वाला था बल्कि एक व्यवस्थापक और राज्य के संगठनकर्त्ता की दृष्टि से भी उसका महत्वपूर्ण स्थान रहा। यद्यपि वह एक साधारण स्थिति से उठकर सुल्तान के पद पर पहुँचा था परन्तु उसने बलबन की भाँति अपनी सहायता के लिए श्रेष्ठ तुर्की नस्ल का सहारा नहीं लिया। उसने न तो कभी स्वयं श्रेष्ठ नस्ल के वंशज होने का दावा किया और न ही शुद्ध तुर्की नस्ल के व्यक्तियो की वफादारी प्राप्त करने का प्रयत्न किया। इसी प्रकार, यद्यपि वह अलाउद्दीन के समय की क्रूर परम्पराओं में पनपा था परन्तु उसने कभी भी क्रूरता को अपने शासन का आधार नहीं बनाया। गियासुद्दीन अन्य व्यक्तियों में योग्यता की खोज करता था और स्वय अपनी योग्यता में विश्वास करता था। अत उसे न तो श्रेष्ठ नस्ल की सहायता की आवश्यकता हुई और न क्रूरता की। तब भी वह सफल रहा। बरनी ने लिखा है कि "साम्राज्य के सभी शहरो में अपने शासन को स्थापित करने के लिए वह सभी कुछ जो सुल्तान अलाउद्दीन ने इतने अधिक रक्तपात, कुटिल नीति, अत्याचार और हिंसा से किया, सुल्तान तुगलकशाह ने चार वर्षों में बिना किसी कुटिलता, कठोरता अथवा रक्तपात के कर दिया।"[1]

[1] "All that Sultan Ala-ud-din did with so much shedding of blood, and crooked policy and oppression, and great violence in order that he might establish his rule throughout the cities of the empire Sultan Tughlaq Shah in the space of four years accomplished without any contention of fraud or hardness or slaughter." —Barani

11

मुहम्मद बिन तुगलक : 1325–1351 ई०

अपने पिता की मृत्यु के तीन दिन पश्चात् फरवरी अथवा मार्च, 1325 ई० में उलुगखाँ (जूनाखाँ) मुहम्मद बिन तुगलक के नाम से सुल्तान बना। साधारणतया उसे मुहम्मद तुगलक के नाम से पुकारा जाता है। 40 दिन तक वह तुगलकाबाद में रहा। तत्पश्चात् उसने दिल्ली में प्रवेश किया। उस अवसर पर सभी ने उसका स्वागत किया। उसने भी उदारतापूर्वक अपनी प्रजा मे सोने और चाँदी को बिखेरा तथा सरदारो मे पदो का वितरण किया। अपने पिता की मृत्यु मे मुहम्मद तुगलक का कुछ भी हाथ रहा हो अथवा न रहा हो परन्तु उसके सिंहासन पर बैठने का किसी ने विरोध नही किया।

मध्य-युग के शासको में चरित्र और कार्यों की दृष्टि से अन्य कोई शासक इतना विवादपूर्ण नही है जितना कि मुहम्मद तुगलक। ऐसा नहीं है कि मुहम्मद तुगलक का कोई समकालीन इतिहासकार न था। इसके विपरीत, मुहम्मद तुगलक के समय मे एक नही बल्कि तीन विख्यात विद्वान (इसामी, बरनी और इब्न-बतूता) थे और तीनों ने उसके समय के इतिहास के बारे मे विस्तृत वर्णन दिया है। परन्तु तब भी यह आश्चर्य की बात है कि इस सुल्तान के चरित्र, कार्यों के उद्देश्य और विभिन्न कार्यों की तारीखों व उनके क्रम के बारे मे निश्चित धारणा नही है।

मुहम्मद तुगलक का चरित्र और उसके कार्य रोचक है। उसकी महत्वाकाक्षाएँ और योजनाएँ तथा उसकी सफलता अथवा असफलता प्रत्येक प्रकार से आकर्षक और आश्चर्यजनक हैं। मुहम्मद तुगलक ने अपने पिता से एक विस्तृत साम्राज्य प्राप्त किया और उसने अपने समय में उसमें और अधिक वृद्धि की। दिल्ली सल्तनत के सुल्तानों में से किसी ने भी इतने विस्तृत साम्राज्य पर शासन नही किया। परन्तु दस वर्षों में ही वह साम्राज्य खण्डित हो गया और उसने अपने पिता से जो प्राप्त किया था उसे भी खो दिया। मुहम्मद तुगलक ने अपने पिता से भरपूर खजाना प्राप्त किया था। बरनी के कथनानुसार उसके समय के समान राजस्व कभी भी दिल्ली में एकत्रित नही हुआ परन्तु तब भी मुहम्मद तुगलक को आर्थिक सकट का मुकाबला करना पड़ा। चीन, ईरान, मिस्र आदि दूरस्थ विदेशी राज्यो से सम्बन्ध कायम करना उसकी अपनी

ही विशेषता थी, नस्ल और वर्ग-विभेद को समाप्त करके योग्यता के आधार पर अधिकारियों की नियुक्ति करने की नीति उसके समय मे अपनी पूर्णता पर पहुँच गयी थी, धार्मिक दृष्टि से वह अपने समय से आगे था और उसने अपने समय में विभिन्न नवीन योजनाओ को जन्म दिया; परन्तु तब भी उसके नागरिक उससे असन्तुष्ट हुए, उसके समय मे अधिकतम विद्रोह हुए और अन्त में मुहम्मद तुगलक असफल हुआ।

[1]

राजत्व-सिद्धान्त और धार्मिक विचार

मुहम्मद तुगलक का राजत्व-सिद्धान्त दैवी सिद्धान्त की भांति था। उसका विश्वास था कि सुल्तान बनना ईश्वर की इच्छा है। उसने अपने सिक्कों पर 'अस् सुल्तान जिल्ली अलाह' (सुल्तान ईश्वर की छाया है), 'ईश्वर सुल्तान का समर्थक है', आदि वाक्यो को अंकित कराया था। उसका विश्वास सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न सुल्तान मे था। वह प्रत्येक प्रकार से अपनी प्रजा की वफादारी प्राप्त करना और उसको अपनी आज्ञा-पालन के लिए बाध्य करना अपना अधिकार मानता था। इस प्रकार वह एक निरकुश सुल्तान था। उसने बरनी से कहा था कि "मैं सन्देह तथा विद्रोह, अव्यवस्था और षड्यन्त्र की आशका के आधार पर कठोर दण्ड देता हूँ। मैं आज्ञा की लेशमात्र भी अवज्ञा होने पर उन्हें मृत्यु-दण्ड देता हूँ और मैं तब तक इसी प्रकार कठोर दण्ड देता रहूँगा जब तक या तो मैं स्वयं नष्ट नहीं हो जाता अथवा प्रजा ठीक नही हो जाती तथा विद्रोह और आज्ञा की अवहेलना करना नहीं छोड़ देती।"[1]

अलाउद्दीन की भांति मुहम्मद तुगलक भी शासन में किसी भी व्यक्ति अथवा वर्ग के हस्तक्षेप को पसन्द नही करता था। उसके मन्त्री और अधिकारी उसके अनुगामी और कर्मचारी थे। उनमे से कोई भी शासन-कार्य में भाग लेने वाला नहीं बन सकता था। उसने समय-समय पर विद्वान बरनी से सलाह ली परन्तु कार्य अपनी इच्छानुसार ही किया। इसी प्रकार उसने उलेमा-वर्ग को शासन में हस्तक्षेप नहीं करने दिया और अपने आरम्भिक काल मे उसने न तो अपने सुल्तान के पद के लिए खलीफा से स्वीकृति ली और न ही अपने सिक्को पर किसी खलीफा का नाम अंकित कराया। उसका अभिप्राय इस्लाम और इस्लाम धर्म के कानूनों की उपेक्षा करना नहीं था परन्तु वह शासन में धर्म अथवा धार्मिक वर्ग के प्रभाव को स्वीकार करने के लिए तैयार न था। न्याय विभाग पर उलेमा-वर्ग का एकाधिपत्य था जिसे उसने नष्ट कर दिया। उसने [illegible] व्यक्तियो को भी काजी का पद प्रदान किया और काजी के जिस निर्णय को वह नही मानता था उसे बदल देता था। [illegible] धार्मिक व्यक्ति [illegible] या सरकारी धन की बेईमानी करने का अपराधी पाया जाता था [illegible] दण्डित करता था। राज्य के कानून के [illegible] न था। इसी [illegible]

---

1 "I inflict capital punishment on the basis of suspicion [illegible] rebellion, disorder and conspiracy [illegible] disobedience that I see in the people to death [illegible] in this way till either I perish [illegible] keep inflicting [illegible] and disobedience." [illegible] are set right [illegible]

धार्मिक वर्ग मुहम्मद तुगलक का विरोधी हो गया और उसके विरुद्ध असन्तोष का कारण बना। अपने बाद के समय में मुहम्मद तुगलक ने इस वर्ग से समझौता कर लिया। इस कारण उसने अपने सिक्कों पर खलीफा का नाम अंकित कराया, अपने सुल्तान के पद की स्वीकृति के लिए प्रार्थना की और 1340 ई० में मिस्र के खलीफा के एक वंशज गियासुद्दीन मुहम्मद को जिसकी स्थिति एक भिखारी के समान थी, दिल्ली बुलाया, उसका अत्यधिक सम्मान किया, स्वयं अनुरोध करके अपनी गर्दन पर उसका पैर रखवाया और उसे अमूल्य वस्तुएँ एवं जागीर भेंट में दीं।

मुहम्मद तुगलक ने अपनी बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा के साथ सहिष्णुता का व्यवहार किया। दिल्ली के सुल्तानों में वह प्रथम सुल्तान था जिसने योग्यता के आधार पर पद देना आरम्भ किया और भारतीय मुसलमानों तथा हिन्दुओं को भी सम्मानित पद प्रदान किये। इस दृष्टि से वह अपने समय से आगे था। सम्भवतया तत्कालीन इतिहासकारों द्वारा उसकी निन्दा किये जाने का एक कारण यह भी था। परन्तु मुहम्मद तुगलक सहिष्णु होते हुए भी अपनी प्रजा की सद्भावनाएँ प्राप्त न कर सका। इसका कारण उसकी कठोर नीति और विभिन्न योजनाओं की असफलता थी, न कि उसके विचार।

[2]
आन्तरिक शासन : विभिन्न योजनाएँ

मुहम्मद तुगलक नवीन अन्वेषण करने वाला एक महत्वाकांक्षी सुल्तान था। अपनी वाह्य नीति के अन्तर्गत उसने सम्पूर्ण भारत को विजय करने की लालसा की, सुदूर दक्षिण ही नहीं अपितु हिमालय के पर्वतीय राज्यों पर भी अधिकार करने की आकांक्षा की और भारत से बाहर खुरासान-विजय तक की योजना बनायी। परन्तु उसकी अन्वेषण-बुद्धि का प्रभाव मुख्यतया उसके आन्तरिक शासन पर पड़ा जिससे उसने कई नवीन योजनाओं को जन्म दिया।

सर वूल्जले हेग ने लिखा है कि "विस्तृत रूप से शासन की देखभाल करने में मुहम्मद तुगलक की तुलना स्पेन के शासक फिलिप द्वितीय से की जा सकती है।" उसने

1. राजस्व-सुधार

राजस्व-व्यवस्था में सुधार करने के लिए अनेक कानून बनाये। सर्वप्रथम उसने सूबों की आय और व्यय का हिसाब रखने के लिए एक रजिस्टर तैयार कराया और सभी सूबेदारों को इस सम्बन्ध में अपने-अपने सूबों का हिसाब भेजने के आदेश दिये। उसका उद्देश्य था कि साम्राज्य के सभी प्रदेशों में एक-समान लगान-व्यवस्था लागू की जा सके और कोई भी गाँव लगान देने से मुक्त न रह जाय। परन्तु यह पता नहीं लगता कि इस रजिस्टर का क्या लाभ हुआ और सुल्तान ने विभिन्न श्रेणी की भूमियों के उत्पादन और विभिन्न स्थानों पर मूल्यों के अन्तर का ध्यान किस प्रकार रखा था?

अपने शासन-काल के आरम्भ में सुल्तान ने दोआब में कर-वृद्धि की। बरनी के कथनानुसार कर दस या बीस गुना अधिक कर दिया गया। फरिश्ता के अनुसार यह

तीन या चार गुना अधिक किया गया। गार्डनर ब्राउन के अनुसार यह कर-वृद्धि बहुत साधारण थी। डॉ० ए. एल. श्रीवास्तव के अनुसार सुल्तान अपनी आय मे 5% से 10% तक वृद्धि करना चाहता था और उसने भूमि-कर मे वृद्धि नही की बल्कि मकानो तथा चरागाहो आदि पर कर लगाया। वास्तविकता कुछ भी हो परन्तु इसमे सन्देह नही कि कर में वृद्धि की गयी थी। जिस अवसर पर दोआब मे कर-वृद्धि की गयी उस समय वहाँ सूखा और अकाल पड रहा था। अतएव किसानो ने कृषि छोड़कर चोरी-डकैती का पेशा अपना लिया। लगान-अधिकारियो ने बहुत कठोरता से कर वसूल किया जिसके परिणामस्वरूप विभिन्न स्थानों पर विद्रोह हो गये। सुल्तान ने बडी कठोरता से विद्रोहो को दबाया और बरनी के शब्दो मे "हजारो व्यक्ति मारे गये और जब उन्होने बचने का प्रयत्न किया तब सुल्तान ने विभिन्न स्थानो पर आक्रमण किये तथा जंगली जानवरों की भाँति उन्हे अपना शिकार बनाया।"[1] गार्डनर ब्राउन बरनी के इस कथन से सहमत नही है। उनके अनुसार नागरिकों के कष्ट का कारण कर नही बल्कि वर्षा की कमी से उत्पन्न अकाल था। डॉ० मेहदी हुसैन ने एक नवीन विचार प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार सुल्तान की सेना से निकाले गये सैनिकों ने कृषि करना आरम्भ कर दिया था और जब कर बढाया गया तो उन्होने कर देने के स्थान पर कृषि करना बन्द कर दिया तथा लगान-अधिकारियो को मार डाला। इस कारण सुल्तान ने उनके विद्रोह को कठोरतापूर्वक दबाया। कारण कुछ भी रहा हो, परन्तु यह स्पष्ट है कि **करों में वृद्धि की गयी थी, अकाल की स्थिति में कठोरता से लगान का वसूल किया जाना विद्रोह का प्रमुख कारण था और सुल्तान ने उस विद्रोह को अत्यधिक कठोरता से दबाया।** डॉ० ए. एल. श्रीवास्तव के अनुसार "बाद में सुल्तान ने किसानों को बीज, बैल आदि दिये तथा सिंचाई के लिए कुएँ और नहरे खुदवायी परन्तु उनसे कोई लाभ नही हुआ क्योकि ये सहायता-कार्य काफी देर से किये गये तथा इस सहायता का प्रयोग किसानो ने क्षुधा-पूर्ति के लिए किया। इसके अतिरिक्त, मकान तथा चरागाह-कर जो अलाउद्दीन की मृत्यु के पश्चात् त्याग दिये गये थे, सर्वदा ही घृणा के पात्र थे।" सुल्तान की इस नीति से उसकी आय मे कोई वृद्धि नही हुई और वह अपनी प्रजा में अत्यधिक बदनाम हुआ।

2. दोआब में कर-वृद्धि (1325-1327 ई०)

मुहम्मद तुगलक ने कृषि की उन्नति के लिए नवीन विभाग खोला और एक नवीन मन्त्री 'अमीर-ए-कोही' नियुक्त किया। डॉ० ए. एल. श्रीवास्तव के अनुसार "60 वर्ग मील का एक भू-क्षेत्र चुना गया जहाँ सरकारी कर्मचारियों की देखभाल मे किसानो से खेती करने के लिए कहा गया।" वहाँ बारी-बारी से विभिन्न फसलें बोयी गयी और प्रायः तीन वर्ष मे 70 लाख टंका (अथवा रुपया) व्यय किये गये। यह एक

3. कृषि की उन्नति का प्रयत्न

---

[1] "Thousands of people perished, and when they tried to escape, the Sultan led punitive expeditions to various places and hunted them like wild beasts."

प्रकार से राजकीय कृषि-फार्म की भाँति था। परन्तु यह योजना सफल न हो सकी। सरकारी कर्मचारियों के भ्रष्टाचार, किसानों की उदासीनता, भूमि का अच्छा न होना और समय की कमी इस योजना की असफलता के कारण बने। तीन वर्ष पश्चात् इस योजना को त्याग दिया गया।

डॉ० के. ए. निजामी के अनुसार "सुल्तान कुतुबुद्दीन मुबारक खलजी ने देवगिरि का नाम कुतबाबाद रख दिया था और सुल्तान मुहम्मद तुगलक ने उसका नाम दौलताबाद रखा।"[1] मुहम्मद तुगलक के द्वारा दिल्ली के स्थान पर देवगिरि को राजधानी बनाये जाने के विभिन्न कारण बताये गये हैं।

4 राजधानी-परिवर्तन
(1326-1327 ई०)

बरनी के अनुसार साम्राज्य के केन्द्र मे होने के कारण देवगिरि को राजधानी बनाया गया। इब्न-बतूता के अनुसार सुल्तान को दिल्ली के नागरिक असम्मानपूर्ण पत्र लिखते थे अत. उन्हें दण्ड देने के लिए उसने देवगिरि को राजधानी बनाने का निर्णय किया। सर वूल्जले हेग ने इब्न-बतूता के मत को स्वीकार किया है। इसामी ने लिखा है कि दिल्ली के नागरिको की शक्ति को तोडने के लिए वह उन्हें दक्षिण भारत ले जाना चाहता था। इस प्रकार वह भी इब्न-बतूता के कथन का समर्थन करता है। प्रो० हबीबुल्ला ने लिखा है वह दक्षिण भारत में मुस्लिम सस्कृति के विकास तथा दक्षिण की सम्पन्नता और शासन की सुविधा की दृष्टि से देवगिरि को राजधानी बनाना चाहता था। डॉ० मेहदी हुसैन का कहना है कि दौलताबाद को मुस्लिम संस्कृति का केन्द्र बनाने के लिए वह उसे राजधानी बनाना चाहता था। डॉ० मेहदी हुसैन और डॉ० के. ए. निजामी के अनुसार तो मुहम्मद तुगलक का इरादा दो राजधानियाँ—दिल्ली और दौलताबाद—बनाने का था, परन्तु अधिकाश इतिहासकार इस विचार से सहमत नही हैं। डॉ० ए. एल. श्रीवास्तव के अनुसार मंगोल-आक्रमणों से सुरक्षा, दक्षिण भारत में दृढ़ व्यवस्था की आवश्यकता और दक्षिण भारत का सम्पन्न होना इस राजधानी-परिवर्तन के कारण थे। उपर्युक्त मतों के आधार पर यह माना जाता है कि **देवगिरि का साम्राज्य के केन्द्र में होना, उत्तर भारत की अपेक्षा दक्षिण भारत के शासन और संगठन पर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता, मंगोल-आक्रमणों से सुरक्षा अथवा उनके आक्रमणों के भय का कम हो जाना, दक्षिण भारत की समृद्धि का लालच और सम्भवतया वहाँ पर मुस्लिम संस्कृति को स्थापित करने की लालसा मुहम्मद तुगलक के राजधानी-परिवर्तन के कारण रहे।**

तत्कालीन इतिहासकारो के अनुसार दिल्ली की सम्पूर्ण जनता को दौलताबाद जाने के आदेश दिये गये और दिल्ली बरबाद हो गयी। बरनी ने लिखा है कि "सभी कुछ बरबाद कर दिया गया। तबाही इतनी पूर्ण थी कि शहर की इमारतो, उसके महलो और उसके आस-पास के क्षेत्रों मे एक बिल्ली अथवा कुत्ता भी दिखाई नहीं

1 *The Delhi Sultanate: A Comprehensive History of India.*

देता था।"[1] इसी प्रकार इब्न-बतूता ने लिखा है कि "सुल्तान के आदेश पर खोज करने पर उसके गुलामो को एक लँगडा और एक अन्धा व्यक्ति प्राप्त हुआ। लँगडे को मार दिया गया और अन्धे को घसीटकर दौलताबाद ले जाया गया जहाँ उसकी केवल एक टाँग ही पहुँच सकी।" उसने लिखा है कि "रात्रि को सुल्तान ने अपने महल की छत पर चढ़कर दिल्ली को देखा और जब उसे एक भी रोशनी या धुआँ अथवा चिराग दिखाई नही दिया तब उसने कहा कि अब मेरा हृदय प्रसन्न है और मेरी आत्मा को शान्ति है।"[2] उसी प्रकार इतिहासकार इसामी ने लिखा है कि "(मुहम्मद तुगलक ने) शहर (दिल्ली) को जला देने और सभी जनता को उससे बाहर निकाल देने की आज्ञा दी।"[3] आधुनिक समय में कुछ इतिहासकार यह नही मानते। डॉ० मेहदी हुसैन का कहना है कि "दिल्ली राजधानी न रहा हो, ऐसा कभी नही हुआ और इस कारण वह न कभी आबादी-रहित हुआ और न निर्जन।"[4] इसी प्रकार डॉ० के. ए. निजामी का भी कहना है कि सम्पूर्ण जनता को जाने के आदेश नही दिये गये थे बल्कि केवल सरदार, शेख, उल्मा और उच्च वर्ग के व्यक्तियो को ही दौलताबाद जाने के आदेश दिये गये थे। परन्तु डॉ० आर. सी मजूमदार, डॉ० ए. एल. श्रीवास्तव, डॉ० ईश्वरीप्रसाद सदृश आधुनिक समय के अधिकाश इतिहासकारो का कहना है कि तत्कालीन इतिहासकारो ने इस बात को चाहे बहुत बढा-चढाकर ही कहा हो परन्तु **इसमें सन्देह नहीं कि दिल्ली की सम्पूर्ण जनता को दौलताबाद जाने के आदेश दिये गये थे।**

मार्ग में सुल्तान ने जनता की सुविधा के लिए सभी सम्भव कार्य किये। दिल्ली से दौलताबाद तक की 700 मील लम्बी सडक पर छायादार वृक्ष लगाये गये, प्रत्येक दो मील के पश्चात् जनता के रुकने और खाने-पीने की व्यवस्था की गयी, सभी को यातायात सुलभ किया गया, सभी को अपनी छोड़ी हुई सम्पत्ति का मुआवजा दिया गया तथा सभी के लिए दौलताबाद मे मुफ्त रहने और खाने की व्यवस्था की गयी। परन्तु इन सभी सुविधाओं के होते हुए भी **दिल्ली से दौलताबाद की 40 दिन की यात्रा दिल्ली के नागरिकों के लिए अत्यन्त कष्टदायक रही होगी,** इसमे सन्देह नही किया जा सकता।

मुहम्मद तुगलक की यह योजना असफल रही। इसामी के अनुसार दिल्ली 14 वर्ष के पश्चात् बसी परन्तु सम्भवतया 1335 ई० मे ही सुल्तान ने व्यक्तियो को अपनी इच्छानुसार दिल्ली वापिस जाने की आज्ञा दे दी थी। इस योजना की असफलता

---

1 "All was destroyed So complete was the ruin that not a cat or a dog was left among the buildings of the city, in its palaces or in its suburbs." —Barani

2 "In the night the Sultan mounted the roof of his palace and looked round Delhi When neither a light nor even a smoke or a lamp came into sight he remarked, 'Now my heart is pleased and my soul is at rest'." —Ibn Batutah

3 "(Muhammad Tughlaq) ordered that the city (Delhi) should be set on fire and all the populace should be turned out of it " —Isami.

4 "The city of Delhi never ceased to be the capital, and as such, was never depopulated or deserted." —Dr. M. Hussain.

के विभिन्न कारण थे। सुल्तान को केवल अपने दरबारियों को दौलताबाद ले जाना चाहिए था, न कि जनता को। साधारण नागरिक अपने घरों को छोडकर अनजान और दूरस्थ दौलताबाद को जाने के लिए तैयार न थे और न उन्हें वहां ले जाने की कोई आवश्यकता ही थी। सुल्तान का यह सोचना भी भूल थी कि दौलताबाद एक उपयुक्त राजधानी होगी। मंगोलो के आक्रमणों मे सुरक्षा के लिए और उत्तर भारत के पूर्ण सगठित राज्य की सुरक्षा तथा व्यवस्था के लिए दिल्ली अधिक उपयुक्त स्थान था। अव्यवस्थित दक्षिण भारत की तुलना मे सगठित उत्तर भारत दिल्ली सल्तनत के लिए अधिक महत्वपूर्ण था।

मुहम्मद तुगलक ने अपने समय मे विभिन्न प्रकार के सुन्दर सिक्के चलाये और उन सभी का ठीक मूल्य निश्चित किया परन्तु साकेतिक मुद्रा का चलाना उसकी एक विशिष्टता रही।

5 सांकेतिक मुद्रा (तांबे या पीतल के सिक्कों) का चलाना (1329-1330 ई०)

बरनी के कथनानुसार **खजाने में धन की कमी और साम्राज्य-विस्तार की नीति को कार्य-रूप में परिणत करने के कारण** मुहम्मद तुगलक को साकेतिक मुद्रा चलानी पडी। ईरान मे साकेतिक मुद्रा चलायी गयी थी यद्यपि वहाँ वह प्रयोग असफल हुआ था। परन्तु चीन में सांकेतिक मुद्रा का प्रयोग सफलतापूर्वक किया गया था। सम्भवतया नवीन अन्वेषणो का प्रयोग करने वाले मुहम्मद तुगलक ने उन देशो से प्रेरणा प्राप्त की। आधुनिक इतिहासकारो का यह भी कहना है कि उसके समय मे सम्पूर्ण विश्व में **चाँदी की कमी** हो गयी थी और भारत मे तो बहुत ही कमी थी। इस कारण उसने यह साकेतिक मुद्रा चलायी।

बरनी के अनुसार सुल्तान ने ताँबे के सिक्के चलाये और फरिश्ता के अनुसार ये सिक्के पीतल के थे। सम्भवतया दोनो ही धातुओं के सिक्के चलाये गये थे। **सुल्तान ने इनका मूल्य चाँदी के 'टंका' के बराबर कर दिया।** पहले ताँबे के सिक्के को 'जीतल' पुकारते थे, अब 'टका' भी ताँबे अथवा पीतल का होने लगा।

परन्तु सुल्तान की **यह योजना असफल हुई।** डॉ० मेहदी हुसैन के अनुसार "यह योजना पूर्णतया उपयुक्त और कूटनीतिक थी।" प्रो० मुहम्मद हबीब के अनुसारइस योजना की असफलता का दोष नागरिको पर था जिन्होने इन नवीन सिक्कों की धातु को परखने का उसी प्रकार प्रयत्न नही किया जिस तरह वे चाँदी और सोने के सिक्के को परखते थे और इसके फलस्वरूप वे असली और नकली सिक्को में अन्तर न कर सके। परन्तु अन्य इतिहासकार इसका मूल दोष मुहम्मद तुगलक को देते है। उनके अनुसार सुल्तान की यह भूल रही कि उसने ये सिक्के ऐसे नही बनवाये जिनकी नकल करना सम्भव न होता। वास्तविकता में इस असफलता का उत्तरदायित्व दोनो पर था। सुल्तान ने इन सिक्को की नकल न किये जाने की व्यवस्था नही की और नागरिको ने इसका लाभ उठाकर नकली सिक्के बनाने आरम्भ कर दिये। बरनी के अनुसार "प्रत्येक हिन्दू का घर टकसाल बन गया।" परन्तु हिन्दू ही क्यों मुसलमान भी इस लोभ से वंचित नही रहे होगे और जो भी नकली सिक्के बना सकता था, उसने उन्हें बनाया। प्रजा

ने कर और लगान पीतल और ताँबे के सिक्को मे दिये तथा अपने घरो मे चाँदी व सोने के सिक्के एकत्र करना आरम्भ कर दिया। व्यापार मे भी व्यक्ति चाँदी और सोने के सिक्के लेना चाहते थे तथा ताँबे और पीतल के सिक्के देना चाहते थे। इससे व्यापार और मुख्यतया विदेशी व्यापार नष्ट होने लगा।

यह सिक्के अधिक से अधिक तीन या चार वर्ष चले। सुल्तान ने इस योजना की असफलता को देखकर सभी साकेतिक मुद्रा को वापिस ले लिया और व्यक्तियो को उनके बदले मे चाँदी और सोने के सिक्के दे दिये। यह सुल्तान की बहुत बडी उदारता थी। सरकारी टकसालो के सम्मुख ताँबे और पीतल के सिक्को के ढेर लग गये परन्तु सुल्तान ने सभी सिक्के बदलवा दिये।

इस प्रकार, मुहम्मद तुगलक अपनी सभी योजनाओ मे असफल रहा। यह कहा जा सकता है कि उसके सुधार समय से आगे थे, उसकी प्रजा और उसके अधिकारी उन योजनाओ को न तो समझ सके और न उन्होने उसके साथ सहयोग ही किया। परन्तु इतना कहने से उसकी योजनाओं की असफलता के मुख्य कारणों पर प्रकाश नही पड़ता। सुल्तान की योजनाओ की असफलता बहुत कुछ स्वय उसके कारण थी। सुल्तान में कल्पना-बुद्धि तो थी परन्तु व्यावहारिकता की कमी थी। वह नवीन योजनाएँ तो निकाल सकता था और वे सम्भवतया सिद्धान्त के आधार पर ठीक भी होती थी परन्तु उन्हे कार्य-रूप मे परिणत करने की जो आवश्यकताएँ थी उनकी पूर्ति सुल्तान नही कर पाता था। वह बहुत उग्र और बेसब्र था। तनिक-सी असफलता उसे क्रुद्ध कर देती थी और शीघ्र सफलता न मिलने के कारण वह अपनी योजनाओं को त्याग देता था। उसे अपने नागरिकों और अधिकारियों की योग्यता एवं क्षमता से लाभ उठाना तथा उनका सहयोग प्राप्त करना नही आता था। एक सुल्तान की दृष्टि से परिस्थितियो और व्यक्तियों के चरित्र को परखने की योग्यता का उसमें अभाव था। इस प्रकार उसमे एक व्यक्ति-समूह का नेता होने के गुण का अभाव था। मुहम्मद तुगलक की असफलताओं का मुख्य कारण यही थे। **स्वयं सुल्तान और उसके चरित्र के अभाव ही उसकी और उसकी योजनाओं की असफलता का कारण बने।**

[3]
मंगोल-आक्रमण

मुहम्मद तुगलक के समय में मगोलो का केवल एक आक्रमण हुआ। 1327 ई० के लगभग ट्रान्स-आक्सियाना के मंगोल नेता अलाउद्दीन तार्माशीरीन ने एक बड़ी सेना लेकर भारत पर आक्रमण किया। डॉ० मेहदी हुसैन का कहना है कि तार्माशीरीन गजनी के निकट अमीर चोबन से परास्त होकर एक शरणार्थी की भाँति भारत मे भागकर आया था और मुहम्मद तुगलक ने उसे 5000 दीनार की सहायता देकर वापिस भेज दिया। परन्तु अधिकाश इतिहासकार उनके इस मत से सहमत नही हैं। उनकी राय के अनुसार मगोल आक्रमणकारी के रूप मे आये और उन्होंने मुल्तान तथा लाहौर से लेकर बदायूं और मेरठ तक लूट-मार की। परन्तु सुल्तान ने उनके साथ क्या व्यवहार किया, इसके बारे मे इन इतिहासकारो मे भी मतभेद है। इसामी के

अनुसार सुल्तान की एक सेना ने मेरठ के निकट मगोलो को परास्त किया और उन्हें वापिस जाने के लिए बाध्य किया। सर वूल्जले हेग ने इसी बात का समर्थन किया है। परन्तु फरिश्ता के अनुसार मगोलों के दिल्ली के निकट पहुँचने पर सुल्तान ने उन्हे बहुमूल्य भेटे देकर वापिस कर दिया। डॉ० ईश्वरीप्रसाद और डॉ० ए. एल श्रीवास्तव इस मत का समर्थन करते हैं। मंगोलो के निर्विघ्न दिल्ली के निकट तक पहुँच जाने और विना किमी बडे युद्ध के वापिस चले जाने के कारण उनका यह मत सत्य भी जान पडता है। इतनी वात अवश्य है कि जब मंगोल वापिस चले गये तब सुल्तान ने अपनी उत्तर-पश्चिम सीमा की सुरक्षा की ओर ध्यान दिया। इसामी के अनुसार सुल्तान ने कलनूर (पजाव मे) तथा पेशावर को अपने अधिकार में कर लिया और वहाँ सुरक्षा की व्यवस्था की।

[4]
साम्राज्य-विस्तार

मुहम्मद तुगलक के समय मे दिल्ली सल्तनत का सबसे अधिक विस्तार हुआ। गियासुद्दीन तुगलक के समय मे ही विजित राज्यो को दिल्ली राज्य में सम्मिलित करने की नीति का पालन किया गया था। मुहम्मद तुगलक ने उसी नीति का अनुकरण किया। **इसामी के अनुसार, मंगोलों के वापिस चले जाने के पश्चात् उसने पेशावर और कलनूर को अपने आधिपत्य में ले लिया था।**

1. खुरासान तथा इराक की विजय-योजना

मगोलो के वापिस चले जाने के पश्चात् सुल्तान ने खुरासान तथा इराक को जीतने की योजना बनायी और इसके लिए उसने प्राय: 3,70,000 सैनिको की एक बडी सेना एकत्र की तथा उसे एक वर्ष का अग्रिम वेतन भी दे दिया। मध्य-एशिया और ईरान (र्पशिया) की अव्यवस्थित परिस्थितियाँ और सुल्तान के दरबार मे इराक तथा खुरासान से भागकर आये हुए अमीरो का प्रोत्साहन इस योजना के निर्माण का कारण बना था। परन्तु **यह योजना कार्य-रूप में परिणत न की जा सकी** और सुल्तान ने सेना को भग कर दिया। मध्य-एशिया की परिस्थितियो मे परिवर्तन हो गया था और सुल्तान बहुत लम्बे अरसे तक इतनी बडी सेना का व्यय नही उठा सकता था। इस कारण इस योजना से हानि हुई। इससे सुल्तान की आर्थिक स्थिति दुर्बल हुई और सेना से निकाले गये सैनिकों ने असन्तोष का वातावरण उत्पन्न किया। योजना मूल आधार पर भी दोषपूर्ण थी। इतने दूरस्थ प्रदेश को जीतना सम्भव न था और यदि जीत भी लिया जाता तो उसे अपने अधिकार मे रखना कठिन था।

2. नगरकोट की विजय (1337 ई०)

पंजाब के कागड़ा जिले मे स्थित नगरकोट का किला एक हिन्दू राजा के अधीन था। अभी तक किसी भी मुसलमान शासक ने उसे विजय नही किया था। मुहम्मद तुगलक ने उसे जीत लिया परन्तु अपनी अधीनता को स्वीकार कराने के पश्चात् उसे वहीं के राजा को वापिस कर दिया।

इतिहासकारों ने कराजल को 'कराचिल', 'कुमाचल', 'कूर्माचल' आदि नामों से भी पुकारा है। यह राज्य हिमालय की तराई में स्थित आधुनिक कुमायूँ जिले मे था। फरिश्ता के अनुमार सुल्तान का लक्ष्य कराजल की विजय नही बल्कि चीन की विजय था। बरनी के अनुमार यह इराक और खुरासान को जीतने का प्रथम चरण था। परन्तु आधुनिक इतिहासकार इनमें से किसी भी मत को सत्य नही मानते। उनके अनुसार मुहम्मद तुगलक का उद्देश्य उन पहाडी राज्यों को अपनी अधीनता मे लाना था जहाँ अधिकांश विद्रोहियों को शरण प्राप्त होती थी। इससे उसकी उत्तरी सीमाएँ भी सुरक्षित हो जाती थी। इब्न-बतूता के अनुसार यहाँ आक्रमण के लिए एक लाख घुडसवार और बडी संख्या मे पैदलों की एक बडी सेना को भेजा गया। खुसरो मलिक को इस सेना का नेतृत्व सौंपा गया। इस सेना ने जिदया शहर को जीत लिया और डॉ० के. ए निजामी के अनुसार सुल्तान की आज्ञा को न मानकर जब खुसरो मलिक तिब्बत की ओर बढ़ा तो उसे भी बख्तियार खलजी की भांति निराश होना पडा। उसकी सेना नष्ट हो गयी। इब्न-बतूता के अनुसार सेना के केवल तीन अफसर जीवित वापिस आ सके। परन्तु पहाड के नागरिक तराई के भाग में कृषि करते थे। इस कारण उन्होंने सुल्तान से सन्धि कर ली और उसे कर देना स्वीकार कर लिया। परन्तु इस आक्रमण से सुल्तान की सैनिक शक्ति दुर्बल हुई।

3 कराजल पर आक्रमण (1337-1338 ई०)

अपने पिता के समय मे मुहम्मद तुगलक तैलंगाना और सुदूर दक्षिण के मलाबार-तट (पाड्य राज्य) के अधिकाश भाग पर अधिकार कर चुका था। अपने शासन-काल के आरम्भ मे बहाउद्दीन गुर्सास्प के विद्रोह ने उसे दक्षिण के अन्य भागों को भी विजय करने का अवसर दे दिया। गुर्सास्प ने कम्पिली के एक छोटे राज्य मे शरण ली। वहाँ का राजा किसी समय में देवगिरि के अधीन था परन्तु अलाउद्दीन के समय मे देवगिरि को दिल्ली राज्य में सम्मिलित किये जाने के पश्चात् उसने स्वयं को स्वतन्त्र कर लिया था। उसने अपनी सीमाओ और प्रतिष्ठा में भी वृद्धि करने में सफलता प्राप्त की। अभी तक उस राज्य को मुसलमानो ने विजय नही किया था। तत्कालीन शासक कम्पिलीदेव ने गुर्सास्प को अपने यहाँ शरण दी और दिल्ली की सेनाओं से युद्ध करता हुआ मारा गया। परन्तु उससे पहले उसने गुर्सास्प को वीर बल्लाल की शरण मे भेजने का प्रबन्ध कर दिया था। राजा की मृत्यु के पश्चात् कम्पिली को दिल्ली राज्य मे सम्मिलित कर लिया गया।

4. दक्षिण भारत

वीर बल्लाल ने गुर्सास्प की रक्षा करने का प्रयत्न किया परन्तु असफल रहा। उसकी पराजय हुई और उसने गुर्सास्प को दिल्ली सुल्तान को सौंप दिया तथा स्वय उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। इस अवसर पर उससे उसके राज्य (द्वारसमुद्र) का अधिकांश भाग छीन लिया गया।

डॉ० के. ए. निजामी के अनुसार राजधानी-परिवर्तन के पश्चात्

तुगलक ने देवगिरि के निकट के **कोंढन (सिंहगढ़) को नाग नायक से छीन लिया।** सम्भतया कोंढन अभी तक स्वतन्त्र था। अतः कोंढन की विजय भी मुहम्मद तुगलक की एक नवीन विजय मानी जा सकती है।

इन विजयो ने दक्षिण भारत की विजय की पूर्ति कर दी। दक्षिण के कुछ भाग को छोडकर शेप सभी प्रदेश पर मुहम्मद तुगलक का अधिकार हो गया। डॉ० आर सी. मजूमदार ने लिखा है कि "इन सभी विजयों का श्रेय जिन्होंने इस्लाम की विजय पूर्ण कर दी और जिनसे ऐसा प्रतीत हुआ कि दक्षिण मे हिन्दू स्वतन्त्रता पूर्णतया नष्ट हो गयी, युवराज अथवा सुल्तान के रूप में मुहम्मद बिन तुगलक को था।"[1]

5. राजस्थान

केवल राजस्थान में मुहम्मद तुगलक को सफलता नही मिली। मालदेव के पुत्र जयजा को मेवाड छोड़ने के लिए बाध्य होना पडा और राणा हम्मीरदेव ने सम्पूर्ण मेवाड पर अपना अधिकार कर लिया। राणा हम्मीरदेव ने मुहम्मद तुगलक द्वारा भेजी गयी एक सेना को परास्त करने मे सफलता प्राप्त की थी, इसके भी प्रमाण प्राप्त होते हैं। उसके पश्चात् दिल्ली के सुल्तानो ने राजस्थान मे अधिक हस्तक्षेप नही किया और राजस्थान में मेवाड का राज्य सबसे अधिक प्रतिष्ठित बन गया।

इस प्रकार, मुहम्मद तुगलक ने साम्राज्य-विस्तार करने मे सफलता प्राप्त की। **दिल्ली सुल्तानों में सबसे अधिक बड़ा राज्य उसी का था।** डॉ० आर. सी. मजूमदार ने लिखा है कि "कश्मीर, उडीसा, राजस्थान और मलाबार-तट के कुछ भाग को छोडकर सम्पूर्ण भारत मे सुल्तान की सत्ता स्वीकार की जाती थी और इस विस्तृत साम्राज्य पर उसने एक आधिपत्यपूर्ण शासन-व्यवस्था स्थापित की।"[2] **परन्तु मुहम्मद तुगलक की यह सफलता स्थायी नहीं रही।** दस वर्षों के पश्चात् ही उसके विस्तृत साम्राज्य का विघटन आरम्भ हो गया। उसके समय में अनेक विद्रोह हुए। उनमें से बहुतों को उसने कठोरता से दबा दिया परन्तु अन्त मे उनमें से कुछ सफल भी हुए और भारत के दूरस्थ प्रदेशो मे स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो गये। उसके अन्तिम समय मे उसके राज्य की सीमाएँ अलाउद्दीन के राज्य की सीमाओ से अधिक न रही। इस प्रकार, मुहम्मद तुगलक राज्य-विस्तार करने मे तो सफल रहा परन्तु उस राज्य को अधिक समय अपने काबू मे न रख सका। **भारत का एक विस्तृत भू-प्रदेश होना, यातायात की सुविधाएँ और एक लम्बे समय से राजनीतिक एकता का अभाव मुहम्मद तुगलक की असफलता के कारण थे। परन्तु उसकी आन्तरिक योजनाओं की असफलता, खुरासान की विजय-योजना, कराजल का आक्रमण और दक्षिण में प्लेग के अवसर पर उसकी श्रेष्ठ सेना का नष्ट हो जाना भी उसकी असफलता के कारण थे।**

---

1 "To Muhammad bin Tughluq, either as Crown prince, or as Sultan, belongs the credit of all these conquests which completed the triumph of Islam and seemed to have finally put an end to Hindu independence in South."
—Dr. R. C. Mazumdar

2 "The authority of the Sultan was acknowledged all over India save Kashmir, Orrisa, Rajasthan and a strip of Malabar coast, and he established an effective system of administration over this vast empire." —Dr. R. C. Mazumdar.

मुहम्मद तुगलक ने विदेशी राज्यों से भी सम्बन्ध स्थापित किये। भारत मे विदेशी मुसलमान काफी बडी सख्या मे पहले भी आये थे और उसके समय मे भी आये। परन्तु मुहम्मद तुगलक ने, **सम्भवतया, मिस्र से अपने राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित किये थे।** इसके अतिरिक्त 1341 ई० मे चीन के सम्राट तोगन तिमूर ने अपना एक राजदूत उसके दरबार मे भेजा था और **उसने 1342 ई० में इब्न-बतूता को अपना राजदूत बनाकर** चीन भेजा जो 1347 ई० मे भारत वापिस आया। इन सम्बन्धो से भारत को चाहे बहुत अधिक लाभ न हुआ हो परन्तु वे मुहम्मद तुगलक के विस्तृत दृष्टिकोण का प्रतीक अवश्य थे।

[5]
विद्रोह और साम्राज्य का विघटन

मुहम्मद तुगलक के समय मे अनेक विद्रोह हुए। उनमें से कुछ विद्रोह महत्वाकांक्षी सरदारो ने किये परन्तु अधिकाश उसकी दमन-नीति के विरोध मे अथवा उसकी दुर्बल परिस्थितियो से लाभ उठाने के उद्देश्य से किये गये। इनमे से कुछ विद्रोह सफल हुए और उन्होने साम्राज्य के विघटन में भाग लिया।

(1) 1326-1327 ई० मे उसके पिता की बहिन के पुत्र तथा **गुलबर्गा के निकट सागर के जागीरदार बहाबुद्दीन गुर्सास्प** ने विद्रोह किया। उसने बहुत-सी सम्पत्ति संचय कर ली थी। उसने सुल्तान के वफादार जागीरदारो पर आक्रमण किया। 1327 ई० मे सुल्तान की सेना ने उसे देवगिरि के निकट परास्त किया और सागर तक उसका पीछा किया। गुर्सास्प वहाँ से भागकर कम्पिली के हिन्दू शासक की शरण मे चला गया। सुल्तान ने कम्पिली पर आक्रमण करने के लिए एक बडी सेना भेजी। कम्पिलीदेव ने उसका मुकाबला किया। अन्त में अपनी स्थिति को दुर्बल देखकर उसने गुर्सास्प को द्वारसमुद्र के होयसल शासक वीर बल्लाल की शरण में भेज दिया, स्त्रियो को 'जौहर' की आज्ञा दे दी और स्वयं युद्ध मे लडता हुआ मारा गया। वीर बल्लाल ने आरम्भ मे दिल्ली की सेना का मुकाबला किया परन्तु अपनी स्थिति को दुर्बल देखकर उसने गुर्सास्प को शाही सेना को सौंप दिया। इस समय मुहम्मद तुगलक ने अपनी क्रूर प्रकृति का परिचय दिया। उसने गुर्सास्प की खाल मे भूसा भरवा कर उसे साम्राज्य के सभी महत्वपूर्ण शहरो मे दिखवाया और उसके शरीर के माँस को चावल के साथ पकाकर उसकी बीवी और बच्चो के पास खाने के लिए भेजा।

(2) 1327-28 ई० मे **उच्छ, सिन्ध और मुल्तान के सूबेदार बहराम आईबा उर्फ किश्लूखाँ** ने विद्रोह किया। वह गियासुद्दीन तुगलक का मित्र था। सुल्तान मुहम्मद उसका सम्मान करता था। वह सीमा का रक्षक भी था। इस कारण उसका विद्रोह राज्य के लिए एक बडा खतरा था। सम्भवतया इस विद्रोह का मुख्य कारण यह था कि उसने दौलताबाद जाने से इन्कार कर दिया और जिस व्यक्ति ने उसे सुल्तान के आदेश दिये उसने उसके साथ दुर्व्यवहार किया जिसके कारण उसने उसका वध कर दिया। बहराम आईबा के विद्रोह की सूचना पाकर सुल्तान दक्षिण से स्वयं उत्त

और उसे परास्त कर दिया। बहराम आईवा भाग खड़ा हुआ परन्तु पकड़ा गया और उसका वध कर दिया गया।

(3) 1327-28 ई० में बंगाल में विद्रोह हुआ। गियासुद्दीन बहादुर को गियासुद्दीन तुगलक बगाल से कैद करके दिल्ली ले आया था। मुहम्मद तुगलक ने उसे छोड़ दिया था और उसे अपनी अधीनता मे सोनारगाँव मे शासन करने की आज्ञा दे दी थी। परन्तु प्राय. तीन वर्ष के पश्चात् उसने विद्रोह कर दिया। सुल्तान के सौतेले भाई बहरामखाँ ने उसे परास्त कर दिया और उसकी खाल में भूसा भरवाकर सुल्तान के पास भेज दिया।

परन्तु बहरामखाँ की शीघ्र मृत्यु हो गयी और उसके पश्चात् विभिन्न सरदारो मे पारस्परिक झगडे हो गये। अन्त मे एक वफादार सरदार अली मुबारक ने लखनौती पर अधिकार करके सुल्तान से किसी सूबेदार को भेजने की माँग की। परन्तु जब ऐसी कोई व्यवस्था नही हो सकी तो उसने स्वय को सुल्तान अलाउद्दीन के नाम से स्वतन्त्र शासक घोषित कर दिया। बाद मे मलिक हाजी इलियास नामक एक अन्य सरदार ने उसका वध करके लखनौती पर अधिकार कर लिया और सुल्तान शमशुद्दीन के नाम से स्वयं को स्वतन्त्र शासक घोषित कर दिया। सोनारगाँव पर भी उसने शीघ्र अधिकार कर लिया। मुहम्मद तुगलक बगाल की ओर ध्यान दे न सका और वहाँ शमशुद्दीन का स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो गया (1340-41 ई०)। उसके पश्चात् बगाल कभी भी दिल्ली सुल्तानों के अधीन नही हुआ।

(4) सुनम और समाना मे किसान-जागीरदारो ने विद्रोह किया परन्तु सुल्तान ने उन्हें परास्त कर दिया और उनके नेताओं को दिल्ली ले जाकर मुसलमान बना लिया।

(5) 1338 ई० में कड़ा के सूबेदार निजाम माई ने विद्रोह किया और सुल्तान अलाउद्दीन की उपाधि ग्रहण करके स्वतन्त्र शासक बन गया। परन्तु अवध के सूबेदार आईन-उल-मुल्क ने उसे परास्त करके पकड़ लिया और उसकी खाल में भूसा भरकर सुल्तान के पास भिजवा दिया।

(6) 1338-39 ई० में बीदर के सूबेदार नसरतखाँ ने विद्रोह किया। वह सुल्तान को अपने वायदे के अनुसार कर नहीं दे सका था। परन्तु उसकी पराजय हुई और उसने आत्मसमर्पण कर दिया।

(7) 1339-40 ई० मे गुलबर्गा मे अलीशाह ने विद्रोह किया परन्तु वह पराजित हुआ और उसे गजनी भेज दिया गया। वहाँ से वापिस आने पर उसका वध कर दिया गया।

(8) 1340-41 ई० मे अवध के सूबेदार आईन-उल-मुल्क ने विद्रोह किया। सुल्तान ने उसे दौलताबाद का सूबेदार नियुक्त किया था। इससे उसे सन्देह हुआ कि सुल्तान उसे बरबाद करना चाहता है। इस कारण उसने आदेश का पालन करने की बजाय विद्रोह कर दिया परन्तु वह पराजित हुआ। उसको अपमानित किया गया परन्तु बाद मे उसकी योग्यता और वफादारी का ध्यान रखते हुए

सुल्तान ने उसे माफ कर दिया और उसे महल के बगीचे की देखभाल के लिए नियुक्त कर दिया ।

(9) मुल्तान मे शाहू अफगान ने सूबेदार को कत्ल करके विद्रोह किया परन्तु सुल्तान के पहुँचने पर वह पहाड़ों मे भाग गया ।

(10) 1334-35 ई० में सैयद अहसन शाह ने मलाबार में विद्रोह किया । वह मुहम्मद तुगलक का सुदूर दक्षिण का सूबेदार था जिसकी राजधानी मदुरा थी । सुल्तान ने जो सेना विद्रोहियो को दबाने के लिए भेजी वह उसके साथ मिल गयी । बाद में सुल्तान स्वयं दक्षिण भारत गया । परन्तु इसी समम वारंगल मे प्लेग अथवा हैजा फैल गया जिसका स्वयं सुल्तान भी शिकार हुआ । उसी समय लाहौर में विद्रोह हो गया तथा दिल्ली और मालवा मे अकाल पड गया । इस कारण सुल्तान को वापिस आना पड़ा और अहशान शाह ने मदुरा में एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने में सफलता प्राप्त की ।

(11) जब सुल्तान मलाबार के विद्रोह को दबाने न जा सका बल्कि वारंगल से ही वापिस लौट गया तब वहाँ के हिन्दुओं को भी सुअवसर प्राप्त हुआ । हिन्दू उससे पहले भी तैलंगाना मे स्वतन्त्रता प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहे थे । मुस्लिम आक्रमणो ने तैलगाना के राजवंश को नष्ट कर दिया था परन्तु विभिन्न स्थानो पर हिन्दू सामन्त अब भी प्रभावशाली थे । इन्ही में से एक प्रोलय नायक ने हिन्दुओ का नेतृत्व किया । उसे प्रोलय वेम और भक्तिराज जैसे व्यक्तियो से सहायता प्राप्त हुई जिन्होने स्वय भी दक्षिण भारत मे अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने में सफलता प्राप्त की । प्रोलय नायक ने विभिन्न स्थानों पर मुसलमान सेनाओं को परास्त किया और अन्त मे पूर्वी गोदावरी जिले मे एकपल्ली नामक स्थान पर अपना एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया । परन्तु 1330-35 ई० के बीच उसकी मृत्यु हो गयी । उसका उत्तराधिकारी काप्य नायक (कृष्ण नायक) हुआ । मलाबार के विद्रोह की सफलता ने उसे प्रोत्साहन दिया । उसने होयसल राज्य के शासक वीर बल्लाल से सहायता ली और तैलंगाना पर आक्रमण किया । इस आक्रमण मे उन्हे सफलता मिली । तैलगाना की राजधानी वारंगल मे नियुक्त दिल्ली का सूबेदार मलिक मकबूल भाग खडा हुआ और इस प्रकार 1335 ई० में काप्य नायक ने सम्पूर्ण तैलंगाना में एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना करने में सफलता प्राप्त की । उसने तथा वीर बल्लाल ने मिलकर मदुरा के नवीन स्वतन्त्रता प्राप्त मुसलमानी राज्य पर भी आक्रमण किया और उसके कुछ भाग पर अधिकार करके काँची में भी हिन्दू राज्य की स्थापना करने में सफलता प्राप्त की ।

(12) इसी प्रकार का हिन्दुओं का आन्दोलन कृष्णा नदी के दक्षिण में भारत के पश्चिमी तट पर भी चल रहा था । वहाँ के हिन्दू आन्दोलन का नेतृत्व चालुक्य सोमदेव कर रहा था । उसे पूर्वी तट के हिन्दू नेताओ जैसे प्रोलय वेम की भी सहायता प्राप्त हुई और उसने मुसलमानो को परास्त करके कई किलों को जीत लिया । उसने कम्पिली से मुसलमान सूबेदार मलिक मुहम्मद को निकालकर उस पर अधिकार कर लिया (कम्पिली पर मुहम्मद तुगलक ने गुर्शास्प के विद्रोह के समय मे अधिकार किया

और उसे परास्त कर दिया । बहराम आईबा भाग खडा हुआ परन्तु पकडा गया और उसका वध कर दिया गया ।

(3) 1327-28 ई० मे बंगाल मे विद्रोह हुआ । गियासुद्दीन बहादुर को गियासुद्दीन तुगलक बगाल से कैद करके दिल्ली ले आया था । मुहम्मद तुगलक ने उसे छोड़ दिया था और उसे अपनी अधीनता मे सोनारगाँव मे शासन करने की आज्ञा दे दी थी । परन्तु प्राय· तीन वर्ष के पश्चात् उसने विद्रोह कर दिया । सुल्तान के सौतेले भाई बहरामखाँ ने उसे परास्त कर दिया और उसकी खाल मे भूसा भरवाकर सुल्तान के पास भेज दिया ।

परन्तु बहरामखाँ की शीघ्र मृत्यु हो गयी और उसके पश्चात् विभिन्न सरदारो मे पारस्परिक झगडे हो गये । अन्त मे एक वफादार सरदार अली मुबारक ने लखनौती पर अधिकार करके सुल्तान से किसी सूबेदार को भेजने की माँग की । परन्तु जब ऐसी कोई व्यवस्था नही हो सकी तो उसने स्वय को सुल्तान अलाउद्दीन के नाम से स्वत शासक घोषित कर दिया । बाद में मलिक हाजी इलियास नामक एक अन्य सरदार ने उ वध करके लखनौती पर अधिकार कर लिया और सुल्तान शमशुद्दीन के नाम से को स्वतन्त्र शासक घोषित कर दिया । सोनारगाँव पर भी उसने शीघ्र अधिका लिया । मुहम्मद तुगलक बगाल की ओर ध्यान दे न सका और **वहाँ शमशुद्दीन** स्व**तन्त्र राज्य स्थापित हो गया** (1340-41 ई०) । उसके पश्चात् बगाल क दिल्ली सुल्तानो के अधीन नही हुआ ।

(4) **सुनम और समाना** में किसान-जागीरदारो ने विद्रोह किया पर ने उन्हे परास्त कर दिया और उनके नेताओ को दिल्ली ले जाकर मुसल लिया ।

(5) 1338 ई० में **कड़ा** के सूबेदार निजाम माई ने विद्रोह किया अलाउद्दीन की उपाधि ग्रहण करके स्वतन्त्र शासक बन गया । परन्तु अ आईन-उल-मुल्क ने उसे परास्त करके पकड लिया और उसकी खाल सुल्तान के पास भिजवा दिया ।

(6) 1338-39 ई० में **बीदर** के सूबेदार नसरतखाँ ने f सुल्तान को अपने वायदे के अनुसार कर नही दे सका था । परन्तु उस उसने आत्मसमर्पण कर दिया ।

(7) 1339-40 ई० मे **गुलबर्गा** में अलीशाह ने वि पराजित हुआ और उसे गजनी भेज दिया गया । वहाँ से वध कर दिया गया ।

(8) 1340-41 ई० मे **अवध** के सूबेदार किया । सुल्तान ने उसे दौलताबाद का सूबेदार नियुक्त हुआ कि सुल्तान उसे बरबाद करना चाहता है । इस करने की बजाय विद्रोह कर दिया परन्तु वह प लिया गया परन्तु बाद मे उसकी योग्यता और

मुहम्मद तुगलक की मृत्यु के अवसर पर
भारत 1351 A.D
काश्मीर
स्यालकोट
लाहौर
मंगोल
मुल्तान
दीपालपुर
दिल्ली
सम्भल
अलीगढ़
नैपाल
आगरा
कन्नौज
अजमेर
बयाना
लखनऊ
जौनपुर
सिवाना
रणथम्भौर
जालौर
आबू
चित्तौर
अन्हिलवाड़ा
पटना
कामरूप
बंगाल
सोनारगाँव
असीरगढ़
उड़ीसा
बहमनी राज्य
अरब सागर
विजयनगर राज्य
बंगाल की खाड़ी
मलाबार
----साम्राज्य की सीमाएँ
होयसल

मुहम्मद तुगलक की मृत्यु के अवसर पर
भारत 1351 A.D

काश्मीर
स्यालकोट
लाहौर
मंगोल
मुल्तान
दीपालपुर
दिल्ली
सम्भल
अलीगढ़
नैपाल
आगरा
कन्नौज
अजमेर
बयाना
लखनऊ
सिवाना
रणथम्भौर
जालौर
जौनपुर
पटना
कामरूप
आबू
चित्तौर
अन्हिलवाड़ा
बंगाल
सोनारगाँव
असीरगढ़
एलिचपुर
उड़ीसा
बहमनी राज्य
अरब सागर
विजयनगर राज्य
बंगाल की खाड़ी
मलाबार
----साम्राज्य की सीमाएँ
होयसल

था कि 20 मार्च, 1351 ई० को उसकी मृत्यु हो गयी। बदायूँनी ने लिखा है कि "सुल्तान को उसकी प्रजा से और प्रजा को सुल्तान से मुक्ति मिल गयी।"[1]

मुहम्मद तुगलक के सिंहासन पर बैठने के एक वर्ष पश्चात् ही विद्रोह आरम्भ हो गये थे और वह अन्त तक उन विभिन्न विद्रोहो को दबाने में लगा रहा, यहाँ तक कि उसकी मृत्यु भी विद्रोह को दबाने का प्रयत्न करते हुए हुई। सम्भवतया इतने अधिक विद्रोह किसी अन्य सुल्तान के शासन-काल मे नही हुए। परन्तु इनमे से बहुतो का कारण स्वयं सुल्तान की गलत नीतियाँ अथवा भूलें थी। सुल्तान ने इनमे से अधिकाश विद्रोहों को दबाने मे सफलता प्राप्त की, परन्तु बाद मे धन की कमी और विभिन्न युद्धों मे सैनिक-शक्ति के अपव्यय किये जाने के कारण वह उनमे से बहुतो को दबाने मे असफल भी रहा। इस कारण बगाल और सम्पूर्ण दक्षिण भारत उसके हाथ से निकल गया और वहाँ स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो गये। मुहम्मद तुगलक का समय साम्राज्य-विस्तार की दृष्टि से सबसे अधिक ऐश्वर्य का था परन्तु वही समय तुगलक-साम्राज्य के विघटन का भी रहा। इस दृष्टि से मुहम्मद तुगलक तुगलक-साम्राज्य की दुर्बलता के लिए उत्तरदायी हुआ जो तुगलक-वश के पतन का कारण बनी।

[6]
मुहम्मद तुगलक का चरित्र और मूल्यांकन

मध्य-युग के इतिहास में मुहम्मद तुगलक का चरित्र और उसके कार्य अन्य सभी शासकों की तुलना मे सर्वाधिक विवादपूर्ण रहे है। सम्भवतया इस विवाद का एक कारण यह है कि तत्कालीन इतिहासकारो ने भी उसके बारे मे कोई निश्चित मत प्रकट नही किया। ऐसा नही है कि मुहम्मद तुगलक का सम्पूर्ण चरित्र विवादपूर्ण है। मुख्य विवाद उसके चरित्र की क्रूरता, उसके दुराग्रह और उसके कार्यों की असफलता मे उसके उत्तरदायित्व के बारे में है अन्यथा अनेक बाते ऐसी है जिनके सम्बन्ध मे इतिहासकार सहमत भी है।

सभी इतिहासकार सहमत हैं कि व्यक्तिगत गुणो की दृष्टि से मुहम्मद तुगलक असाधारण था। उसका शरीर पुष्ट और शक्तिशाली था। उसने उचित शिक्षा प्राप्त की थी और उसका ज्ञान बहुत विस्तृत था। उसे अरबी और फारसी भाषा, गणित, नक्षत्र-विज्ञान, भौतिकशास्त्र, तर्क-शास्त्र, दर्शन, चिकित्साशास्त्र आदि का ज्ञान था। वह एक अच्छा कवि था तथा उपमाओं एव अलकारो का सफलतापूर्वक प्रयोग करता था। वह लिखने और वार्तालाप की कला में पटु था। उसे विभिन्न ललित-कलाओं और मुख्यतया संगीत से प्रेम था। वह ललित-कलाओं को पोषण और विद्वानो को सरक्षण प्रदान करता था। उसकी स्मरण-शक्ति बहुत अच्छी थी और उसकी बुद्धि पर्याप्त कुशाग्र थी। इस प्रकार वह एक विद्वान और सुसभ्य व्यक्ति था। वह अत्यधिक उदार भी था। वह मुक्त हृदय से दान करता था। वह निर्धनो की सहायता करता था और प्राय चालीस हजार व्यक्ति प्रतिदिन शाही भोजनालय से भोजन प्राप्त करते

1 "The king was freed from his people and they from their king."

थे। उसने अनेक अस्पताल बनवाये थे और राज्य की तरफ से दान-दक्षिणा का पूर्ण प्रबन्ध था। उसका नैतिक जीवन बहुत अच्छा था और मध्य-युग के शासकों के सामान्य अवगुण उसमें नही थे। वह शराब नही पीता था और शराब पीने को रोकने के लिए उसने प्रयत्न किये थे। स्त्री-सम्बन्धों के बारे मे वह बहुत कट्टर था और उसने अनेक अवसरों पर सेना के साथ स्त्रियों को ले जाने पर प्रतिबन्ध लगाया था। वह योग्य और अपने से अधिक आयु के व्यक्तियों का सम्मान करता था। सम्भवतया उसने अपने पिता का वध कराया था परन्तु उसने अपने सिक्कों पर अपने पिता का नाम अंकित कराया और अपनी माँ का सर्वदा सम्मान किया।

वह एक सैनिक और सेनापति की दृष्टि से योग्य था। अपने शहजादा-काल मे उसने मगोलों से अनेक युद्ध किये थे और अपनी सैनिक-प्रतिभा का परिचय दिया था। सुल्तान बन जाने के बाद भी प्रत्येक महत्वपूर्ण युद्ध में वह स्वय रहा था। दक्षिण भारत की विजय को पूर्ण करने का श्रेय उसी को था। उसके समय मे अनेक विद्रोह हुए परन्तु जहाँ-जहाँ भी सुल्तान गया, उसने विद्रोहों को दबाने मे सफलता प्राप्त की। निस्सन्देह उसने अपने जीवन-काल मे ही अनेक दूरस्थ सूबों को खो दिया परन्तु उससे उसकी असहायता किसी अन्य दृष्टिकोण से साबित होती है। उसने ऐसी परिस्थितियों का निर्माण कर लिया था जिनकी ओर न तो वह स्वयं ध्यान दे सका और न ही उन पर काबू पा सका। परन्तु उसका एक भी सैनिक-अभियान असफल नही रहा जबकि यह विश्वास किया जा सकता है कि आर्थिक सकटों, उत्तर भारत के अकाल और दक्षिण भारत के हैजा अथवा प्लेग के कारण उसकी सेना दुर्बल हो गयी थी। उसके सैनिक अभियानो की सफलता यह भी सिद्ध करती है कि उसे वफादार और योग्य व्यक्तियों की सेवाएँ प्राप्त हुई थी। यह भी महत्वपूर्ण है कि दिल्ली सुल्तानो में किसी ने भी मुहम्मद तुगलक के बराबर अपने जीवन का समय सैनिक-अभियानों में व्यतीत नही किया।

मुहम्मद तुगलक शासक की दृष्टि से अत्यधिक परिश्रमी था परन्तु वह असफल हुआ। अपने 26 वर्ष के शासन-काल मे वह जीवन के किसी भी क्षेत्र में सफल नही हुआ। उसकी आन्तरिक योजनाओं मे से प्रत्येक असफल हुई। उनमें से प्रत्येक ने राज्य की आर्थिक हानि की, जन-साधारण को कष्ट और असन्तोष प्रदान किया तथा सुल्तान की प्रतिष्ठा मे कमी की। बाह्य दृष्टि से उसकी खुरासान की विजय-योजना त्याग दी गयी, कराजल-आक्रमण से लाभ कम और सैनिक हानि अधिक हुई, बगाल स्वतन्त्र हो गया, सम्पूर्ण दक्षिण भारत मे स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो गये और गुजरात तथा सिन्ध में उसका प्रभाव अस्थिर हो गया। उसने अपने पिता से प्राप्त एक शक्तिशाली राज्य को दुर्बल और छोटा कर दिया तथा यह माना जा सकता है कि तुगलक-वंश का पतन उसके समय से ही आरम्भ हो गया। **इस दृष्टिकोण से सुल्तान के पक्ष में केवल दो बातें कही जा सकती हैं। प्रथम, इन सभी कठिनाइयों और असफलताओं के होते हुए भी किसी व्यक्ति या व्यक्ति-समूह ने सुल्तान का वध करने का प्रयत्न**

नहीं किया जैसा कि सल्तनत के अधिकांश शासकों के बारे में हुआ। द्वितीय, सुल्तान की मृत्यु के पश्चात् सिन्ध में सुल्तान की सेना दो दिन तक बिना किसी सुल्तान के पड़ी रही तब भी किसी सरदार ने सुल्तान बनने का प्रयत्न नहीं किया और फीरोज तुगलक निर्विवाद सुल्तान चुना गया। परिस्थितियाँ इसके लिए जिम्मेदार हो, यह माना जा सकता है परन्तु यह बातें सुल्तान मुहम्मद तुगलक के पक्ष मे अवश्य जाती हैं। परन्तु तब भी निर्णय यही किया जाता है कि मुहम्मद तुगलक परिश्रमी, जनता की भलाई चाहने वाला और समय-समय पर अत्यधिक न्यायप्रिय होते हुए भी शासक की दृष्टि से असफल हुआ।

उपर्युक्त बातों पर सहमत होने के बावजूद भी मुहम्मद तुगलक का दोमुखी व्यक्तिव्य, चरित्र, व्यवहार और कार्य इतिहासकारों में विवाद का कारण बन जाते हैं। शासक की दृष्टि से उसकी असफलताओ पर विचार करते हुए कुछ इतिहासकार यह कहते हैं कि उसकी असफलताओं का श्रेय उसके समय की परिस्थितियों और जनता के असहयोग को था। परन्तु अधिकांश इतिहासकार इस बात से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार सुल्तान का उत्तेजक चरित्र, दुराग्रह, व्यावहारिक बुद्धि की कमी, सब्र की कमी और मानव-व्यवहार तथा परिस्थितियों को समझने की क्षमता का अभाव उसकी असफलता के मुख्य कारण थे। इतिहासकारों का यही मत अधिक तर्क-संगत प्रतीत होता है। मुहम्मद तुगलक काल्पनिक योजनाएँ तो बना लिया करता था और सम्भवतया सिद्धान्त के आधार पर वे ठीक भी होती थी, परन्तु उन्हें सफल बनाने के लिए वह उचित साधन नही खोज पाता था और न उसमे पर्याप्त मात्रा में धैर्य ही था। इस कारण उसकी योजनाएँ असफल होती थी। फलस्वरूप, सुल्तान संयम खोकर कठोर दण्ड देता था और परिस्थितियो से बाध्य होकर वह उन्हे त्याग भी देता था। सुल्तान की यह कमी भी थी कि वह अपनी प्रजा और अपने अधिकारियो का सहयोग प्राप्त करने में असफल हो जाता था और फिर क्रुद्ध होकर सभी को नीच और बेईमान मान लेता था। अतः अपनी असफलता का मूल कारण वह स्वयं था।

तत्कालीन इतिहासकार इसामी और बरनी ने सुल्तान पर 'काफिर' होने का आरोप लगाया है परन्तु यह सर्वथा गलत है। सुल्तान दिल्ली सुल्तानो में अत्यधिक सहिष्णु शासक था। वह सभी धर्मों के विद्वानो का सम्मान करता था। जैन विद्वान और सन्त जिनप्रभ सूरी को उसने दरबार मे बुलाकर सम्मान प्रदान किया था। वह सभी सूफी, शेख और अन्य विभिन्न सम्प्रदायो के सन्तों के सम्पर्क में आया था। अपनी हिन्दू प्रजा के प्रति उसका व्यवहार सहिष्णुतापूर्ण था। नगरकोट पर आक्रमण के अवसर पर उसने ज्वालामुखी देवी के मन्दिर को नष्ट नही किया। हिन्दुओं को उसने सम्मानित पदों पर नियुक्त किया था। इसके अतिरिक्त उसने उलेमा-वर्ग को उनके विशेष अधिकारो से वंचित किया था और अनेक अवसरो पर उसने उन्हें कठोर दण्ड दिये थे। अतः कट्टर मुसलमान और उलेमा-वर्ग उससे असन्तुष्ट हो गये और उन्होंने उस पर गलत आरोप लगाये। अन्त मे, सुल्तान को उन्हें सन्तुष्ट करने

के लिए खलीफा की स्वीकृति लेने और खलीफा के एक वंशज गियासुद्दीन मुहम्मद का सम्मान करने के लिए बाध्य होना पड़ा। वैसे मुहम्मद तुगलक इस्लाम और उसके सम्मान की सुरक्षा मे विश्वास करता था। वह इस्लाम के विरुद्ध कार्य करने वालों को मृत्यु-दण्ड देता था। अपने व्यक्तिगत जीवन में भी वह इस्लाम के नियमों का पालन करता था। अतः यह माना जाता है कि **वह एक सहिष्णु मुसलमान शासक था।**

परन्तु **मुहम्मद तुगलक के बारे में मुख्य विवाद उसकी क्रूर और आत्म-विरोधी प्रकृति के कारण है।** इब्न-बतूता ने लिखा है कि "मुहम्मद तुगलक एक ऐसा व्यक्ति है जो उपहार देने तथा रक्त बहाने मे अन्य सभी से अधिक रुचि रखता है। उसके द्वार पर किसी निर्धन को धनवान बनते हुए अथवा जीवित व्यक्ति को मृत्यु के मुख मे जाते हुए किसी भी समय देखा जा सकता है।" इसी प्रकार इतिहासकार बरनी ने लिखा है कि "सुल्तान ने निरपराध मुसलमानो का रक्त इतनी क्रूरता से बहाया कि सर्वदा उसके महल के दरवाजे से बहता हुआ खून का दरिया देखा जाता था।"[1] इस आधार पर इन इतिहासकारो ने उसे रक्त-पिपासु बताया। सम्भवतया इन तत्कालीन इतिहासकारो की राय के आधार पर ही **एलफिंस्टन ने यह मत व्यक्त किया कि 'मुहम्मद तुगलक में पागलपन का कुछ अश था।'** उन्होंने लिखा है कि "प्रत्येक प्रकार से यह स्वीकार किया जाता है कि वह अपने युग का एक शक्तिशाली और योग्य शासक था.......परन्तु ये सभी अनुपम प्रतिभाएँ और योग्यताएँ उसे निरर्थक ही प्रदान की गयी थी। इन सभी के साथ *निर्णय* का *अनौचित्य सम्मिलित* था जो निरंकुश शक्ति के मद को ध्यान मे रखने के बाद भी हमे यह सन्देह प्रदान करता है कि क्या उसमे पागलपन का कुछ अंश विद्यमान न था?"[2] कुछ अन्य यूरोपियन इतिहासकारो ने भी इसी मत को स्वीकार कर लिया है। **परन्तु आधुनिक इतिहासकार *इस मत* को स्वीकार नहीं करते।** निस्सन्देह मुहम्मद तुगलक अपराधियों, विरोधियो और विद्रोहियो को कठोरतम दण्ड देता था जो अमानवीय और नृशंस भी बन जाते थे। इब्न-बतूता जो एक विदेशी यात्री था, अनेक ऐसे उदाहरण देता है जबकि सुल्तान ने अमानुषिक दण्ड दिये थे। फीरोज तुगलक का अपने समय में मुहम्मद तुगलक द्वारा दण्डित अनेक व्यक्तियों को भेंट, दान अदि देकर सन्तुष्ट करने का प्रयत्न करना भी यह संकेत देता है कि सुल्तान क्रूर था। अतः कतिपय इतिहासकारो द्वारा उसे क्रूरता के दोष से मुक्त करने का प्रयत्न तो सफल नही माना जा सकता। परन्तु इसी

---

1 (The Sultan) wantonly shed the blood of innocent Muslims, so much so indeed that a stream of blood was always seen flowing before the threshold of the palace."
—Barani.

2 ... all hands that he was most eloquent and accomplished ... 'endid talents and accomplish- ... accompanied by a perversion of ... ntoxication of absolute power ... by some degree of insanity."
—Elphinstone.

आधार पर सुल्तान को रक्त-पिपासु अथवा पागल कहना भी सर्वथा अनुपयुक्त है। डॉ० ईश्वरीप्रसाद ने लिखा है कि "कुछ इतिहासकार उस पर पागलपन का आरोप लगाते हैं परन्तु इब्न-बतूता के लेखों और बरनी के इतिहास में कहीं भी इसका उल्लेख नहीं किया गया है।"[1] इसी प्रकार डॉ० ए एल. श्रीवास्तव भी उसे पागलपन के दोष मे सर्वथा मुक्त मानते है। वह लिखते है कि "मुहम्मद साधारण अपराधों के लिए मृत्यु-दण्ड इसलिए नही दिया करता था कि वह पागल था बल्कि इसलिए कि उसमे साधारण और भीषण अपराधो मे अन्तर समझने की विवेकपूर्ण बुद्धि न थी। उसकी गलतियो का कारण उसका पागलपन नही बल्कि सन्तुलन का अभाव था।"[2] इसी प्रकार अन्य अधिकांश आधुनिक इतिहासकार भी मुहम्मद तुगलक को पागलपन के दोषों से सर्वथा मुक्त कर देते हैं।

मुहम्मद तुगलक के बारे में एक अन्य विवाद यह है कि 'उसमें विरोधी तत्वों का मिश्रण था या नहीं?' स्मिथ ने लिखा है कि "वह विरोधी तत्वों का मिश्रण था जैसा कि बाद के समय मे जहांगीर हुआ।"[3] परन्तु डॉ० ईश्वरीप्रसाद इस विचार से सहमत नहीं हैं। वह लिखते है कि "केवल सरसरी दृष्टि से देखने पर ही हमें मुहम्मद 'आश्चर्यजनक विरोधी तत्वो का मिश्रण' प्रतीत होता है अन्यथा वास्तविकता मे वह ऐसा नही था।"[4] वह उसका मुख्य दोष उसमे 'शासन-प्रबन्ध के उच्च आदर्शों के साथ-साथ दुराग्रह की प्रवृत्ति' को बताते है। डॉ० के ए. निजामी भी उसे विरोधी तत्वो का मिश्रण मानने के लिए तैयार नही हैं। उनके अनुसार मुहम्मद तुगलक के बारे मे इस प्रकार की धारणा बनने का कारण बरनी है जो भावावेश मे कभी सुल्तान की बहुत प्रशसा करता है तो कभी अत्यधिक बुराई। वह लिखते हैं कि "जब बरनी वर्तमान में है तब उसे मुहम्मद बिन तुगलक से प्रेम है। जब वह भूतकाल मे है तो उसके पास उसके लिए घृणा के अतिरिक्त कुछ नही है।"[5] वह लिखते है कि सुल्तान मे विरोधी तत्वो का मिश्रण न था बल्कि स्वय बरनी के विचारो में ही विरोध था जिसके कारण सुल्तान के बारे मे इस प्रकार की धारणा बना ली गयी है। डॉ० मेहदी हुसैन भी लिखते हैं कि "मुहम्मद तुगलक के विरोधी गुण उसके जीवन के विभिन्न अवसरों पर प्रकट हुए और उसके लिए स्पष्ट कारण भी थे। अतः उसे विरोधी तत्वो

---

1 "Some historians lay the charge of madness on him but neither in the pages of Ibn Batuta nor in the history of Barani there is any mention of it."
—Dr. Ishwari Prasad.

2 [illegible]

3 "He was a mixture of opposites, as Jahangir was in his later age."
—V. A. Smith.

4 "Only when viewed superficially Muhammad appears to be an 'amazing compound of contradictions,' but he was not really so" —Dr. Ishwari Prasad.

5 "When Barani is in the present, he has love for Muhammad bin Tughluq; when he is in the past, he has nothing but hatred for him." —Dr. K. A. Nizami.

का मिश्रण स्वीकार नही किया जा सकता।" परन्तु अन्य इतिहासकार ऐसे भी हैं जो मुहम्मद तुगलक मे विरोधी तत्वो का मिश्रण मानते है। मुहम्मद तुगलक के कार्यों को देखते हुए जब उसके चरित्र की व्याख्या की जातः है तो यह स्पष्ट होता है कि निसन्देह उसके चरित्र मे विरोधी तत्व थे। मुहम्मद तुगलक मे अत्यधिक नम्रता थी परन्तु दम्भ भी अत्यधिक था। खलीफा के दरिद्र वंशज गियासुद्दीन मुहम्मद से स्वयं अनुरोध करके उसके पैर को उसने अपनी गर्दन पर रखवाया। यह उसकी नम्रता थी। परन्तु, इसके विपरीत, दूसरी ओर वह यह सुनने को भी तैयार न था कि सम्पूर्ण पृथ्वी पर ऐसा भी कोई भू-प्रदेश है जिस पर उसका आधिपत्य नही है। यह उसका दम्भ था। एक अवसर पर *सुल्तान एक साधारण व्यक्ति की भाँति काजी के न्यायालय मे उपस्थित होता है,* उसे पहले से ही आदेश भेज देता है कि न्यायालय में वह उसके साथ एक साधारण व्यक्ति की भाँति ही वर्ताव करे और काजी के निर्णय को शिरोधार्य करता है। इसी *प्रकार एक अन्य अवसर पर वह अपने एक अधिकारी के पुत्र से 21 बेंत खाता* है। वही सुल्तान अन्य अनेक अवसरों पर साधारण से साधारण अपराधो के लिए मृत्यु-दण्ड देता है अथवा दण्ड देने मे क्रूरता और बर्बरता का परिचय देता है। इसे न्याय का औचित्य नही माना जा सकता। इससे सिद्ध होता है कि साधारणतया मुहम्मद तुगलक शान्त और सयमी था परन्तु क्रोध मे उसके मस्तिष्क का सम्पूर्ण सन्तुलन नष्ट हो जाता था। इसी प्रकार कभी सुल्तान बहुत उदार बन जाता था और कभी ऐसी सकुचित प्रवृत्ति का जिसमे तर्क के लिए कोई स्थान न रहता था। सर वूल्जले हेग ने उसके बारे मे लिखा है कि एक शासक की दृष्टि से "उसके कुछ प्रशासकीय कार्य और अधिकाश सैनिक-कार्य श्रेष्ठतम योग्यता का प्रमाण देते हैं परन्तु अन्य कार्य पागलपन के कार्य हैं।"[1] ऐसी स्थिति मे यह स्वीकार करना पडता है कि मुहम्मद तुगलक में विरोधी तत्वों का मिश्रण था। डॉ० ए एल. श्रीवास्तव यह मानते हैं कि 'उसमें विरोधी तत्वो का मिश्रण था।' इस सम्बन्ध मे डॉ० आर. सी. मजूमदार ने भी लिखा है कि "वह न रक्त-पिपासु दैत्य था और न पागल जैसा कि कुछ व्यक्तियो ने कहा है। लेकिन उसमे विरोधी तत्वों का मिश्रण था, इसमे सन्देह नहीं है क्योकि असहनीय क्रूरता, अत्यधिक परिवर्तनशीलता और परिस्थितियों को समझने का अपना ही दृढ विश्वास आदि हृदय और मस्तिष्क के अनेक ऐसे गुण उसमें थे जो उसके चरित्र के कुछ दोषो के पूर्ण विरोध में दिखायी देते हैं।"[2] इस प्रकार, मुहम्मद तुगलक **पागल तो न था परन्तु उसमें विरोधी तत्वों का मिश्रण अवश्य था।**

---

1 "*Some of his administrative and most of his military* measures give evidence of abilities of the highest order, others are the acts of madness."
—Sir Wolseley Haig.

2 "He was not a monster or a lunatic, as has been suggested by some, *but* [illegible] doubt that he was a mixture of opposites, for his many good [illegible] incompatible with certain traits [illegible] ruelty, frivolous caprice, and an [illegible]
—Dr. R. C. Mazumdar.

मुहम्मद तुगलक की विभिन्न असफलताओ के होते हुए भी उसे इतिहास में एक प्रमुख स्थान प्रदान किया गया है। गार्डनर ब्राउन ने मुहम्मद तुगलक को सभी अपवादों से मुक्त करके उसकी अत्यधिक प्रशंसा की है। डॉ० ईश्वरीप्रसाद ने उसके बारे में लिखा है कि 'मध्य-युग में राजमुकुट धारण करने वालों मे मुहम्मद तुगलक, निस्सन्देह, योग्यतम व्यक्ति था। मुस्लिम शासन की स्थापना के पश्चात् दिल्ली के सिंहासन को सुशोभित करने वाले शासको मे वह सर्वाधिक विद्वान एव सुसस्कृत शासक था।"[1] सर वूल्जले हेग ने लिखा है कि "दिल्ली के सिंहासन पर बैठने वाले असाधारण शासको मे से वह एक था।"[2] उपर्युक्त इतिहासकारों के कथन मे बहुत कुछ सत्य है। शिक्षा, ज्ञान, नैतिक चरित्र, व्यक्तिगत साहस और सैन्य-सचालन की दृष्टि से मुहम्मद तुगलक अद्वितीय था। यह भी ठीक है कि उससे अधिक विद्वान और सच्चरित्र शासक दिल्ली के सुल्तानों मे से कोई नही हुआ। उसका व्यक्तित्व और चरित्र आकर्षक है। परन्तु एक शासक की दृष्टि से मुहम्मद तुगलक पूर्णतया असफल रहा, इसमे सन्देह नही किया जा सकता। उसकी सद्भावनाओ और योग्यता का अन्तिम परिणाम सफलता नही बल्कि असफलता था। वह न तो अपने राज्य की सुरक्षा कर सका, न अपनी प्रजा की भलाई और न ही अपनी प्रतिष्ठा की सुरक्षा। इस कारण इतिहास में मुहम्मद तुगलक का स्थान एक योग्य और सफल शासक के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। उसकी श्रेष्ठता उसकी विद्वत्ता, काल्पनिक शक्ति, व्यक्तिगत साहस और धार्मिक सहिष्णुता में थी। कई क्षेत्रों में उसने नवीन अन्वेषण किया। उनमें उसे सफलता नहीं मिली परन्तु उसकी शक्ति उसके सिद्धान्तों के औचित्य, उनकी पूर्ति के लिए अनवरत प्रयत्न और अपनी असफलता को स्वीकार करने में थी। इस कारण, मुहम्मद तुगलक की श्रेष्ठता उसकी सफलता अथवा असफलताओं के कारण नहीं है बल्कि उसकी विद्वत्ता और चरित्र के कुछ विशेष सद्गुणों के कारण है।

---

1 [illegible] -blest man among the crowned [illegible] sat on the throne of Delhi, [illegible] most learned and accomp- —Dr Ishwari Prasad

2 "He was one of the most extraordinary monarchs who ever sat upon a throne" —Sir Woseley Haig.

12

फीरोजशाह (तुगलक) : 1351-1388 ई०

फीरोज सुल्तान गियासुद्दीन तुगलक के छोटे भाई रज्जब का पुत्र था। रज्जब का विवाह एक राजपूत राजा रनमल पर दबाव डालकर उसकी पुत्री से किया गया था। उसी का पुत्र फीरोज था जिसका जन्म 1309 ई० में हुआ। फीरोज की शिक्षा का अच्छा प्रबन्ध किया गया परन्तु सम्भवतया वह किसी मे योग्य न हो सका। उसने अपने जीवन में न किसी सफल सैनिक-अभियान मे भाग लिया और न उसने अच्छे शासन प्रबन्धक की योग्यता का परिचय दिया। परन्तु मुहम्मद तुगलक अपने इस भाई से विशेष प्रेम करता था। सम्भवतया फीरोज का सबसे बडा गुण अपने भाई की आज्ञा का पालन करना था। इस कारण फीरोज को शासन मे महत्वपूर्ण पद प्राप्त होते रहे। जिस समय मुहम्मद तुगलक की मृत्यु हुई उस अवसर पर फीरोज उसके साथ था। सरदारो के कहने से 23 मार्च, 1351 ई० को फीरोज ने सिंहासन पर बैठना स्वीकार कर लिया और सुल्तान बना।

फीरोज के सिंहासन पर बैठने के विषय मे दो बाते विचारणीय है। प्रथम, **फीरोज स्वयं सिंहासन पर बैठने के लिए उत्सुक था अथवा नहीं ?** साधारणतया यह मत प्रचलित है कि वह स्वय सिंहासन पर बैठने के लिए उत्सुक नही था बल्कि सरदारो के कहने से बाध्य होकर उसने सिंहासन को स्वीकार किया था। आधुनिक समय मे इसके बारे मे कुछ शका प्रकट की गयी है। डॉ० यू. एन. डे ने अपने एक लेख[1] मे यह सिद्ध किया है कि फीरोज बहुत सच्चरित्र न था। वह आरम्भ से ही शराब पीता था और नाच-गाने, मुख्यतया गाना सुनने, का उसे शौक था। ऐसा भी नही माना जा सकता कि वह महत्वाकांक्षाओ से रहित था बल्कि सुल्तान मुहम्मद की मृत्यु के पश्चात् सिंहासन के उत्तराधिकार के समर्थन मे बने हुए विभिन्न गुटो में से एक गुट मे वह भी था। प्रभावशाली उलेमा-वर्ग और इस्लाम के समर्थक साधु-सन्त तथा सरदार जो मुहम्मद तुगलक की नीति से असन्तुष्ट होकर उस नीति मे परिवर्तन चाहते थे, फीरोज के समर्थक बने और स्वय फीरोज निरन्तर उनसे सम्पर्क बनाता रहा, बडी सावधानी

---

1 'Significance of the Accession of Firuz Shah Tughlaq.'

से उनका समर्थन प्राप्त करता रहा तथा उस गुट के प्रभाव को बढ़ने का अवसर देता रहा। थट्टा से दिल्ली तक के मार्ग मे वह सभी सुन्नी सन्तों के मजारों पर होता हुआ गया, सभी जीवित धर्माधिकारियो को वह सम्मान प्रदान करता गया और उसने सर्वदा कट्टर सुन्नी सम्प्रदाय के सिद्धान्तो में विश्वास प्रकट किया। जिस समय उसे सिंहासन पर बैठने के लिए आमन्त्रित किया गया, उस अवसर पर यद्यपि उसके समर्थको की संख्या अधिक थी परन्तु तब भी उसकी स्थिति सुनिश्चित न थी। उसके संकोच का यही कारण रहा था अन्यथा उसने कट्टर सुन्नी-वर्ग का समर्थन प्राप्त करके सिंहासन को प्राप्त करने की लालसा की थी। इसी कारण डॉ० डे ने लिखा है कि "उसकी अरुचि और संकोच का कारण राज्य के सभी वर्गों मे अपने लिए समर्थन प्राप्त करने की अनिश्चितता का परिणाम था।"[1] वह पुन: लिखते हैं कि "उसे सुल्तान बनने की पूर्ण इच्छा थी और उसने इस प्रकार कार्य किया कि उसे सफलता प्राप्त हो जाय।"[2] डॉ० डे ने अपने समर्थन मे बदायूँनी का एक विवरण भी दिया है जिसमे बदायूँनी ने लिखा था कि "सुल्तान मुहम्मद के एक पुत्र था जो उस समय शिकार पर गया हुआ था और जिसका फीरोज ने अमीरो की सहायता से वध कराकर सिंहासन पर अधिकार कर लिया।" डॉ० डे के अनुसार अफीफ और बरनी के कथनो को आधुनिक इतिहासकारो ने आवश्यकता से अधिक महत्व दिया है जबकि वे दोनों ही फीरोज की कृपा के इच्छुक थे और ऐसी स्थिति मे फीरोज के विरुद्ध कुछ भी लिखने को तैयार न थे। डॉ० डे का कथन अत्यधिक तर्क-संगत प्रतीत होता है। फीरोज मे सैनिक-प्रतिभा नही थी, फिर भी अमीरों ने उस संकट के अवसर पर उसे ही सुल्तान चुना। बाद के समय मे भी वह निरन्तर उलेमा-वर्ग पर निर्भर करता रहा और उसकी धार्मिक नीति कठोर रही। यह सभी बाते इस ओर संकेत करती है कि **फीरोज ने धार्मिक वर्ग और मुहम्मद तुगलक की नीतियों से असन्तुष्ट वर्ग से गठबन्धन करके सिंहासन प्राप्त करने का प्रयत्न किया और उसमें सफल हुआ।** बरनी और अफीफ ने लिखा है कि सुल्तान मुहम्मद ने फीरोज को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया था परन्तु इस बात के अन्य कोई प्रमाण प्राप्त नही होते। **यह बात अवश्य मानी जाती है कि सिन्ध के विद्रोहियों और मंगोलों के शाही खेमो तक धावा करने के कारण ऐसी परिस्थिति बन गयी थी जिनमें सुल्तान का शीघ्र चुनाव करना आवश्यक था और राज्य की परिस्थितियाँ यह भी माँग कर रही थीं कि एक बच्चे के बजाय एक वयस्क और सर्वमान्य व्यक्ति को सिंहासन प्राप्त होना चाहिए था। उन परिस्थितियों में फीरोज ने कुशलता से कार्य किया और बहुसंख्यकों का समर्थन प्राप्त करके सुल्तान बनने में सफलता प्राप्त की।**

द्वितीय विचारणीय बात यह है कि **क्या फीरोज सिंहासन का अपहरणकर्ता था**

---

1 "His reluctance or hesitation was the result of his uncertainty regarding the support that he would get from all sections of his kingdom"
—Dr. U N. Dey.

2 "He was very much interested in becoming a Sultan and did manage things in such a way as to achieve success."
—Dr. U. N. Dey.

अथवा क्या सिंहासन पर उसका न्यायोचित अधिकार न था ? सर वूल्जले हेग ने लिखा है कि वजीर ख्वाजा-ए-जहाँ ने जिस बच्चे को दिल्ली में सुल्तान घोषित किया वह मुहम्मद तुगलक का जायज पुत्र था। इस कारण सिंहासन पर अधिकार उसी का था। ऐसी स्थिति में उस बच्चे को सिंहासन से हटाकर स्वयं सुल्तान बनना न्यायपूर्ण न था। अत. फीरोज अपहरणकर्ता था। परन्तु अधिकांश आधुनिक इतिहासकार इस मत को स्वीकार नही करते। प्रथम, वह बच्चा मुहम्मद तुगलक का ही बच्चा था इसके स्पष्ट प्रमाण प्राप्त नही होते। द्वितीय, मुसलमानो में शासकों के लिए वशानुगत अधिकार मान्य नही था। अनेक बार मुसलमान सुल्तान निर्वाचित किये गये थे। इस्लामी कानून और परम्परा भी सुल्तान के निर्वाचन के विरुद्ध नही है। ऐसी परिस्थितियों मे, **फीरोज का निर्वाचन नियम के विरुद्ध नहीं था और इस कारण उसे सिंहासन का अपहरणकर्ता स्वीकार नहीं किया जा सकता।**

फीरोज का सिंहासनारोहण निर्विवाद न था। जिस समय सुल्तान मुहम्मद की मृत्यु हुई थी उस समय उसका एक भाई, तीन चचेरे भाई, एक भान्जा, उसकी पुत्री के दो पुत्र और सम्भवतया उसका एक अल्पवयस्क पुत्र जीवित था। इनमें से **उसकी बहन खुदावन्दजादा ने अपने पुत्र के अधिकार का दावा किया** परन्तु सरदारों ने उसे अयोग्य मानकर उसके अधिकार को अस्वीकृत कर दिया और फीरोज को थट्टा के निकट सुल्तान घोषित कर दिया। सेना को व्यवस्थित करके और विद्रोहियों के संकट को दूर करके फीरोज दिल्ली की ओर बढा। मार्ग में उसे विद्रोहियो के नेता तागी की मृत्यु की सूचना मिली जिससे वह प्रसन्न हुआ। मार्ग मे ही उसे यह सूचना भी मिली कि **वजीर ख्वाजा-ए-जहाँ ने एक बच्चे को मुहम्मद तुगलक के पुत्र के नाम से दिल्ली में सुल्तान घोषित कर दिया है।** परन्तु सरदारो ने उस बच्चे को मुहम्मद तुगलक का पुत्र मानने से इन्कार कर दिया और ख्वाजा-ए-जहाँ ने आत्म-समर्पण कर दिया। वजीर को माफ कर दिया गया और उसे समाना जाने की आज्ञा प्रदान की गयी। परन्तु मार्ग मे फीरोज की मौन स्वीकृति से उसका वध कर दिया गया। अगस्त, 1351 ई० मे फीरोज ने दिल्ली मे पुन. अपना राज्याभिषेक किया और इस प्रकार सुल्तान मुहम्मद के राज्य का स्वामी बन गया।

[1]
आन्तरिक शासन

फीरोज ने आन्तरिक शासन की ओर पूर्ण ध्यान दिया। मुहम्मद तुगलक के अन्तिम समय में शासन अव्यवस्थित हो गया था, नागरिकों मे तीव्र असन्तोष था, अधिकांश मुस्लिम-वर्ग सुल्तान की धार्मिक नीति और व्यवहार से उसके विरोध में हो गया और सबसे बडी समस्या राज्य की गिरती हुई आर्थिक स्थिति थी। फीरोज का लक्ष्य इस स्थिति को सुधारने का रहा। जो सूबे दिल्ली की अधीनता से मुक्त हो गये थे उन्हे पुन. अधीनता मे लाने का न तो उसका उद्देश्य था और न उसके लिए उसमे पर्याप्त योग्यता ही थी। इस कारण **राज्य की जो भी सीमाएँ शेष रह गयी थीं उनकी सुरक्षा करना, राज्य के नागरिकों में सन्तोष उत्पन्न करना, उसके लिए तथा राज्य की**

भलाई के लिए आर्थिक सम्पन्नता का प्रयत्न करना और मुस्लिम धार्मिक वर्ग को सन्तुष्ट करके अपनी मुसलमान प्रजा की सहानुभूति प्राप्त करना फीरोज के प्रमुख उद्देश्य रहे। फीरोज ने इन कार्यों मे सफलता प्राप्त की। इस कारण वह लोकप्रिय हुआ। परन्तु सुल्तान स्वयं अच्छा शासन-प्रबन्धक न था। वह आराम-पसन्द भी था। उसकी सफलता का श्रेय उसके शासनाधिकारियो को था जिनमे प्रमुख नाम उसके वजीर मलिक-ए-मकबूल (खानेजहाँ) का आता है जो तलंगाना का एक ब्राह्मण था और कुछ समय पहले ही मुसलमान बना था। सुल्तान के पक्ष मे एक बात कही जा सकती है कि उसमे योग्य व्यक्तियो को खोज करने की क्षमता थी, वह उनमें विश्वास रखता था, उन्हें अधिकार प्रदान करता था और उनसे वफादारी तथा विश्वास प्राप्त कर सकता था। अत. फीरोज का 37 वर्ष का शासन आन्तरिक दृष्टि से सफलता और सम्पन्नता का रहा तथा दिल्ली के सुल्तानो में उसे एक ऐसा शासक माना गया जिसने अपनी प्रजा की भलाई का प्रयत्न किया। इस दृष्टि से फीरोज का केवल एक अपवाद रहा। विभिन्न दृष्टिकोणों से अपने समय से आगे होते हुए और सार्वजनिक भलाई का प्रयत्न करते हुए भी उसका आदर्श एक आदर्श मुसलमान सुल्तान बनना रहा। इस कारण उसकी धार्मिक नीति कट्टर सुन्नी मुसलमानों के समर्थन, उलेमा-वर्ग के प्रभाव से परिपूर्ण और अपनी बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा के लिए असहिष्णुता की रही।

फीरोज ने उदारता और सभी को प्रसन्न करने की नीति मे अपना शासन आरम्भ किया। उसने राजवंश के सभी व्यक्तियों की सुरक्षा का आश्वासन दिया, राज्य के कर्जे को चुका दिया, पिछले वजीर ख्वाजा-ए-जहाँ ने अपने पक्ष को दृढ़ करने के लिए जिस सम्पत्ति को विभिन्न व्यक्तियों को दे दिया था, उसे उनसे छीनने का प्रयत्न नहीं किया और इस्लाम के कानूनों के अनुसार शासन करने का आश्वासन दिया।

1. राजस्व-व्यवस्था

फीरोज ने इस्लामी कानूनों द्वारा स्वीकृत केवल चार कर लगाये—खराज (लगान), खम्स (युद्ध मे लूटे हुए धन का $\frac{1}{5}$ भाग), जजिया (हिन्दुओं पर धार्मिक कर) और जकात (आय का $2\frac{1}{2}\%$ जो मुसलमानों से लिया जाता था और उन्ही की भलाई के लिए व्यय कर दिया जाता था)। खम्स को उसने उतना ही लिया जितना कि उसका अधिकार बनता था जबकि पिछले अनेक सुल्तान लूट का अधिकांश भाग स्वयं रख लेते थे। जजिया उसने ब्राह्मणो से भी लिया जिसे पहले सुल्तानों ने उदासीनता अथवा व्यावहारिकता के कारण नही लिया था। इनके अतिरिक्त उसने उलेमा-वर्ग की स्वीकृति के पश्चात् सिंचाई-कर भी लगाया। उन किसानों को जो शाही नहरो का पानी सिंचाई के लिए प्रयोग में लाते थे, अपनी पैदावार का $\frac{1}{10}$ भाग सरकार को देना पड़ता था। इन करों के अतिरिक्त अन्य सभी कर हटा दिये गये। फीरोज ने अपने समय मे प्रायः 24 कष्टदायक करों को समाप्त किया। सरकारी कर्मचारियों को आदेश दिये गये कि वे उचित कर से अधिक की माँग न करें।

सम्भवतया उसके समय मे लगान पैदावार का $\frac{1}{5}$ से $\frac{1}{3}$ भाग ही था। उसका

अथवा क्या सिंहासन पर उसका न्यायोचित अधिकार न था ? सर वूल्जले हेग ने लिखा है कि वजीर ख्वाजा-ए-जहाँ ने जिस बच्चे को दिल्ली में सुल्तान घोषित किया वह मुहम्मद तुगलक का जायज पुत्र था। इस कारण सिंहासन पर अधिकार उसी का था। ऐसी स्थिति मे उस बच्चे को सिंहासन से हटाकर स्वयं सुल्तान बनना न्यायपूर्ण न था। अत. फीरोज अपहरणकर्ता था। परन्तु अधिकाश आधुनिक इतिहासकार इस मत को स्वीकार नही करते। प्रथम, वह बच्चा मुहम्मद तुगलक का ही बच्चा था इसके स्पष्ट प्रमाण प्राप्त नही होते। द्वितीय, मुसलमानों में शासकों के लिए वशानुगत अधिकार मान्य नही था। अनेक बार मुसलमान सुल्तान निर्वाचित किये गये थे। इस्लामी कानून और परम्परा भी सुल्तान के निर्वाचन के विरुद्ध नही है। ऐसी परिस्थितियो मे **फीरोज का निर्वाचन नियम के विरुद्ध नहीं था और इस कारण उसे सिंहासन का अपहरणकर्ता स्वीकार नहीं किया जा सकता।**

फीरोज का सिंहासनारोहण निर्विवाद न था। जिस समय सुल्तान मुहम्मद की मृत्यु हुई थी उस समय उसका एक भाई, तीन चचेरे भाई, एक भान्जा, उसकी पुत्री के दो पुत्र और सम्भवतया उसका एक अल्पवयस्क पुत्र जीवित था। इनमे से **उसकी बहन खुदावन्दजादा ने अपने पुत्र के अधिकार का दावा किया** परन्तु सरदारों ने उसे अयोग्य मानकर उसके अधिकार को अस्वीकृत कर दिया और फीरोज को थट्टा के निकट सुल्तान घोषित कर दिया। सेना को व्यवस्थित करके और विद्रोहियों के संकट को दूर करके फीरोज दिल्ली की ओर बढा। मार्ग में उसे विद्रोहियों के नेता तागी की मृत्यु की सूचना मिली जिससे वह प्रसन्न हुआ। मार्ग में ही उसे यह सूचना भी मिली कि **वजीर ख्वाजा-ए-जहाँ ने एक बच्चे को मुहम्मद तुगलक के पुत्र के नाम से दिल्ली में सुल्तान घोषित कर दिया है।** परन्तु सरदारो ने उस बच्चे को मुहम्मद तुगलक का पुत्र मानने से इन्कार कर दिया और ख्वाजा-ए-जहाँ ने आत्म-समर्पण कर दिया। वजीर को माफ कर दिया गया और उसे समाना जाने की आज्ञा प्रदान की गयी। *परन्तु मार्ग मे फीरोज की मौन स्वीकृति से उसका वध कर दिया गया।* अगस्त, 1351 ई० मे फीरोज ने दिल्ली मे पुनः अपना राज्याभिषेक किया और इस प्रकार सुल्तान मुहम्मद के राज्य का स्वामी बन गया।

[1]
आन्तरिक शासन

फीरोज ने आन्तरिक शासन की ओर पूर्ण ध्यान दिया। मुहम्मद तुगलक के अन्तिम समय मे शासन अव्यवस्थित हो गया था, नागरिकों मे तीव्र असन्तोष था, अधिकांश मुस्लिम-वर्ग सुल्तान की धार्मिक नीति और व्यवहार से उसके विरोध में हो गया और सबसे बडी समस्या राज्य की गिरती हुई आर्थिक स्थिति थी। फीरोज का लक्ष्य इस स्थिति को सुधारने का रहा। जो सूबे दिल्ली की अधीनता से मुक्त हो गये थे उन्हे पुनः अधीनता मे लाने का न तो उसका उद्देश्य था और न उसके लिए उसमे पर्याप्त योग्यता ही थी। इस कारण **राज्य की जो भी सीमाएँ शेष रह गयी थीं उनकी सुरक्षा करना, राज्य के नागरिकों में सन्तोष उत्पन्न करना,** उसके लिए तथा राज्य की

एक 150 मील लम्बी नहर यमुना नदी से हिसार तक बनायी गयी थी। 6 मील लम्बी नहर सतलज से घग्घर ी थी। तीसरी नहर सिरमौर की

2 सिचाई-व्यवस्था

ों के निकट से आरम्भ होकर हांसी तक जाती थी। चौथी नहर घग्घर से बाद शहर तक और पाँचवी यमुना से फीरोजाबाद तक जाती थी। इन नहरो ा कृषि-योग्य भूमि मे वृद्धि हुई, व्यापारिक सुविधाएँ बढ़ी और सिंचाई-कर के रूप ा की आय मे वृद्धि हुई। फीरोज ने सिचाई और यात्रियो की सुविधा के लिए 150 रवाये। फरिश्ता के अनुसार फीरोज ने सिंचाई की सुविधा के लिए विभिन्न नदियो 0 बाँध और 30 झील अथवा जल को संग्रह करने के लिए तालाबों का निर्माण ा था।

कहा जाता है कि फीरोज ने 300 नवीन नगरों का निर्माण कराया। इनमे ततया वे गाँव भी सम्मिलित थे जो पहले उजड गये थे परन्तु फीरोज के समय पि की सुविधा के कारण पुनः बस गये उसके द्वारा बसाये गये नगरों में

3. नगर और सार्वजनिक निर्माण-कार्य

ाबाद, हिसार, फीरोजपुर, जौनपुर और फीरोजाबाद प्रमुख थे। यमुना नदी के पर बसाया गया दिल्ली के लाल किले के निकट आधुनिक फीरोज कोटला ाने वाला फीरोजाबाद नगर फीरोज को बहुत प्रिय था और वह अक्सर वहाँ ा। फरिश्ता ने लिखा है कि "फीरोज ने 40 मस्जिदे, 30 विद्यालय, 20 मरायें, 200 नगर, 100 अस्पताल, 5 मकबरे, 100 सार्वजनिक स्नान- 150 पुल तथा अनेक बाग एवं सार्वजनिक मनोरंजन के स्थानों का । उसने अशोक के दो स्तम्भो को भी दिल्ली मँगवाया। इनमें से दूसरा मेरठ के निकट से लाया गया था।

मुख्य कार्य सम्पूर्ण राज्य के लगान को अनुमान के आधार पर निश्चित करना था जिससे राज्य की आय निश्चित हो गयी। ख्वाजा हिसामुद्दीन ने विभिन्न सूबो का दौरा करके छ वर्ष के परिश्रम के पश्चात् खालसा भूमि (केन्द्रीय सरकार की भूमि) से छ करोड पचासी लाख टंका का लगान निश्चित किया। फीरोज के सम्पूर्ण काल मे लगान से राज्य को प्रायः यही आय प्राप्त होती रही। यह आय भूमि की नाप-तोल और उपज के आधार पर निश्चित नही की गयी थी। इसका आधार लगान विभाग के पुराने लेखा-जोखा थे। इस कारण फीरोज की लगान-व्यवस्था का आधार दोषपूर्ण था परन्तु तब भी राज्य की आय निश्चित हो जाने से व्यय पर नियन्त्रण सम्भव था। अत यह सुधार राज्य के लिए लाभदायक था। सुल्तान ने प्रायः 1200 फलों के बाग लगवाये जिनसे राज्य की आय बढी। उसने सिंचाई की भी पर्याप्त व्यवस्था की जिससे कृषि के उत्पादन और कृषि-योग्य भूमि में वृद्धि हुई।

फीरोज ने कर्मचारियों के वेतनों में वृद्धि की, उन्हें उनके कार्य के बदले में जागीरें दीं, उन्हें या सूबेदारों को यातनाएँ देकर उनसे ठीक हिसाब लेने की प्रथा को समाप्त कर दिया और सुल्तान को भेंट देने की प्रथा को भी समाप्त कर दिया जिससे वे किसानों पर भार न डालें। किसानों को राज्य से लिये गये तकावी-ऋण से भी मुक्त कर दिया गया।

फीरोज ने विभिन्न आन्तरिक व्यापारिक करों को भी समाप्त कर दिया जिससे वस्तुओं के मूल्यों में कमी हुई और व्यापार की प्रगति हुई।

फीरोज के राजस्व सम्बन्धी सुधार लाभदायक हुए। उनसे राज्य और प्रजा दोनो को ही लाभ हुआ और राज्य मे सम्पन्नता आ गयी। फीरोज के समय मे कोई अकाल नही पडा, जनता धनवान हुई और वस्तुओ के मूल्य कम रहे। सभी तत्कालीन इतिहासकारो ने राज्य और जनता की समृद्धि का वर्णन किया है। इतिहासकार शम्से-सिराज अफीफ ने लिखा है कि "जीवन की आवश्यकताएँ प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध थी और फीरोज के सम्पूर्ण शासन-काल मे बिना किसी प्रयत्न के अनाज के मूल्य अलाउद्दीन खलजी की भाँति सस्ते रहे।"[1]

परन्तु फीरोज की व्यवस्था में दो मूल दोष रहे—जागीरदारी प्रथा और भूमि का ठेके पर दिया जाना। जागीरदारो से किसानो की भलाई करने की आशा नही की जा सकती थी जबकि जागीरें केवल राज्य के बडे पदाधिकारियो को ही नहीं बल्कि सभी महत्वपूर्ण सैनिक और असैनिक पदाधिकारियो को भी दी गयी थीं। भूमि को ठेके पर लेने वाले पेशेवर व्यक्ति भी किसानो से अधिकाधिक धन वसूल करते रहते थे, इसमे सन्देह नही किया जा सकता। परन्तु इन दोषो के होते हुए भी फीरोज के समय मे राज्य और प्रजा सम्पन्न रहे, यह विश्वसनीय है।

सिंचाई की सुविधा के लिए फीरोज ने पाँच बड़ी नहरों का निर्माण कराया।

---

1 "The necessaries of life were abundant and grain continued cheap throughout the reign of Firuz, as in that of Ala-ud-din Khalji, but without any effort."
—Afif.

इनमे से एक 150 मील लम्बी नहर यमुना नदी से हिसार तक बनायी गयी थी। दूसरी 96 मील लम्बी नहर सतलज से घग्घर तक जाती थी। तीसरी नहर सिरमौर की पहाड़ियो के निकट से आरम्भ होकर हांसी तक जाती थी। चौथी नहर घग्घर से फीरोजाबाद शहर तक और पाँचवी यमुना से फीरोजाबाद तक जाती थी। इन नहरो के कारण कृषि-योग्य भूमि मे वृद्धि हुई, व्यापारिक सुविधाएँ बढ़ी और सिंचाई-कर के रूप में राज्य की आय मे वृद्धि हुई। फीरोज ने सिंचाई और यात्रियों की सुविधा के लिए 150 कुएँ खुदवाये। फरिश्ता के अनुसार फीरोज ने सिंचाई की सुविधा के लिए विभिन्न नदियो पर 50 बांध और 30 झील अथवा जल को संग्रह करने के लिए तालाबों का निर्माण कराया था।

2. सिंचाई-व्यवस्था

कहा जाता है कि फीरोज ने 300 नवीन नगरो का निर्माण कराया। इनमे सम्भवतया वे गाँव भी सम्मिलित थे जो पहले उजड़ गये थे परन्तु फीरोज के समय मे कृषि की सुविधा के कारण पुन: बस गये थे। उसके द्वारा वसाये गये नगरो मे फतेहाबाद, हिसार, फीरोजपुर, जौनपुर और फीरोजाबाद प्रमुख थे। यमुना नदी के तट पर बसाया गया दिल्ली के लाल किले के निकट आधुनिक फीरोज कोटला कहलाने वाला फीरोजाबाद नगर फीरोज को बहुत प्रिय था और वह अक्सर वहाँ रहता था। फरिश्ता ने लिखा है कि "फीरोज ने 40 मस्जिदें, 30 विद्यालय, 20 महल, 100 सरायें, 200 नगर, 100 अस्पताल, 5 मकबरे, 100 सार्वजनिक स्नान-गृह, 10 स्तम्भ, 150 पुल तथा अनेक बाग एवं सार्वजनिक मनोरंजन के स्थानो का निर्माण कराया था। उसने अशोक के दो स्तम्भो को भी दिल्ली मँगवाया। इनमें से एक खिज्राबाद से और दूसरा मेरठ के निकट से लाया गया था।

3. नगर और सार्वजनिक निर्माण-कार्य

फीरोज ने नवीन इमारतो की सुरक्षा और मरम्मत की व्यवस्था की। इसके अतिरिक्त उसने अनेक पुरानी ऐतिहासिक इमारतों की मरम्मत करायी। 'फतूहात-ए फीरोजशाही' में उसने दावा किया है कि उसने दिल्ली की जामा-मस्जिद, कुतुब-मीनार, शम्सी-तालाब, अलाई तालाब, जहाँन-पनाह, इल्तुतमिश का मदरसा, सुल्तान इल्तुतमिश, सुल्तान वहरामशाह, सुल्तान रुकुनुद्दीन फीरोजशाह, सुल्तान जलालुद्दीन और सुल्तान अलाउद्दीन के मकबरों तथा ताजुद्दीन कफूरी और शेख निजामुद्दीन औलिया की समाधियो की मरम्मत करायी।

फीरोज मुसलमान सन्तो और धार्मिक व्यक्तियो को जागीरें व सम्पत्ति दान करता था। उसने एक रोजगार का दफ्तर स्थापित किया था जो बेकार व्यक्तियों को कार्य दिलाता था अथवा उन्हें आर्थिक सहायता देता था। उसने एक विभाग 'दीवान-ए-खैरात' स्थापित किया था जो मुसलमान अनाथ स्त्रियों और विधवाओं को आर्थिक सहायता देता था और निर्धन मुसलमान लड़कियो के विवाह की व्यवस्था करता था। उसने दिल्ली के निकट एक खैराती अस्पताल भी बनवाया था।

4. परोपकार के कार्य

मुख्य कार्य सम्पूर्ण राज्य के लगान को अनुमान के आधार पर निश्चित करना था जिससे राज्य की आय निश्चित हो गयी। ख्वाजा हिसामुद्दीन ने विभिन्न सूबों का दौरा करके छ. वर्ष के परिश्रम के पश्चात् खालसा भूमि (केन्द्रीय सरकार की भूमि) से छ करोड पचासी लाख टंका का लगान निश्चित किया। फीरोज के सम्पूर्ण काल मे लगान से राज्य को प्राय यही आय प्राप्त होती रही। यह आय भूमि की नाप-तोल और उपज के आधार पर निश्चित नही की गयी थी। इसका आधार लगान विभाग के पुराने लेखा-जोखा थे। इस कारण फीरोज की लगान-व्यवस्था का आधार दोषपूर्ण था परन्तु तव भी राज्य की आय निश्चित हो जाने से व्यय पर नियन्त्रण सम्भव था। अत यह सुधार राज्य के लिए लाभदायक था। सुल्तान ने प्रायः 1200 फलों के बाग लगवाये जिनसे राज्य की आय बढी। उसने सिंचाई की भी पर्याप्त व्यवस्था की जिससे कृषि के उत्पादन और कृषि-योग्य भूमि में वृद्धि हुई।

फीरोज ने कर्मचारियों के वेतनों में वृद्धि की, उन्हें उनके कार्य के बदले में जागीरें दीं, उन्हे या सूबेदारों को यातनाएँ देकर उनसे ठीक हिसाब लेने की प्रथा को समाप्त कर दिया और सुल्तान को भेंट देने की प्रथा को भी समाप्त कर दिया जिससे वे किसानो पर भार न डालें। किसानों को राज्य से लिये गये तकावी-ऋण से भी मुक्त कर दिया गया।

फीरोज ने विभिन्न आन्तरिक व्यापारिक करों को भी समाप्त कर दिया जिससे वस्तुओं के मूल्यों में कमी हुई और व्यापार की प्रगति हुई।

फीरोज के राजस्व सम्बन्धी सुधार लाभदायक हुए। उनसे राज्य और प्रजा दोनो को ही लाभ हुआ और राज्य मे सम्पन्नता आ गयी। फीरोज के समय मे कोई अकाल नही पडा, जनता धनवान हुई और वस्तुओं के मूल्य कम रहे। सभी तत्कालीन इतिहासकारो ने राज्य और जनता की समृद्धि का वर्णन किया है। इतिहासकार शम्से-सिराज अफीफ ने लिखा है कि "जीवन की आवश्यकताएँ प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध थी और फीरोज के सम्पूर्ण शासन-काल में बिना किसी प्रयत्न के अनाज के मूल्य अलाउद्दीन खलजी की भाँति सस्ते रहे।"[1]

परन्तु फीरोज की व्यवस्था में दो मूल दोष रहे—जागीरदारी प्रथा और भूमि का ठेके पर दिया जाना। जागीरदारों से किसानों की भलाई करने की आशा नहीं की जा सकती थी जबकि जागीरें केवल राज्य के बडे पदाधिकारियों को ही नहीं बल्कि सभी महत्वपूर्ण सैनिक और असैनिक पदाधिकारियो को भी दी गयी थी। भूमि को ठेके पर लेने वाले पेशेवर व्यक्ति भी किसानो से अधिकाधिक धन वसूल करते रहते थे, इसमे सन्देह नही किया जा सकता। परन्तु इन दोषो के होते हुए भी फीरोज के समय मे राज्य और प्रजा सम्पन्न रहे, यह विश्वसनीय है।

सिंचाई की सुविधा के लिए फीरोज ने पाँच बड़ी नहरों का निर्माण कराया।

---

1 "The necessaries of life were abundant and grain continued cheap throughout the reign of Firuz, as in that of Ala-ud-din Khalji, but without any effort."
—Afif.

इनमें से एक 150 मील लम्बी नहर यमुना नदी से हिसार तक बनायी गयी थी। दूसरी 96 मील लम्बी नहर सतलज से घग्घर तक जाती थी। तीसरी नहर सिरमौर की पहाड़ियों के निकट से आरम्भ होकर हाँसी तक जाती थी। चौथी नहर घग्घर से फीरोजाबाद शहर तक और पाँचवी यमुना से फीरोजाबाद तक जाती थी। इन नहरों के कारण कृषि-योग्य भूमि में वृद्धि हुई, व्यापारिक सुविधाएँ बढ़ी और सिंचाई-कर के रूप में राज्य की आय में वृद्धि हुई। फीरोज ने सिंचाई और यात्रियों की सुविधा के लिए 150 कुएँ खुदवाये। फरिश्ता के अनुसार फीरोज ने सिंचाई की सुविधा के लिए विभिन्न नदियों पर 50 बाँध और 30 झील अथवा जल को संग्रह करने के लिए तालाबों का निर्माण कराया था।

2. सिंचाई-व्यवस्था

कहा जाता है कि फीरोज ने 300 नवीन नगरों का निर्माण कराया। इनमें सम्भवतया वे गाँव भी सम्मिलित थे जो पहले उजड़ गये थे परन्तु फीरोज के समय में कृषि की सुविधा के कारण पुन बस गये थे। उसके द्वारा बसाये गये नगरों में फतेहाबाद, हिसार, फीरोजपुर, जौनपुर और फीरोजाबाद प्रमुख थे। यमुना नदी के तट पर बसाया गया दिल्ली के लाल किले के निकट आधुनिक फीरोज कोटला कहलाने वाला फीरोजाबाद नगर फीरोज को बहुत प्रिय था और वह अक्सर वहाँ रहता था। फरिश्ता ने लिखा है कि "फीरोज ने 40 मस्जिदें, 30 विद्यालय, 20 महल, 100 सरायें, 200 नगर, 100 अस्पताल, 5 मकबरे, 100 सार्वजनिक स्नान-गृह, 10 स्तम्भ, 150 पुल तथा अनेक बाग एव सार्वजनिक मनोरंजन के स्थानों का निर्माण कराया था। उसने अशोक के दो स्तम्भों को भी दिल्ली मँगवाया। इनमें से एक खिज्राबाद से और दूसरा मेरठ के निकट से लाया गया था।

3 नगर और सार्वजनिक निर्माण-कार्य

फीरोज ने नवीन इमारतों की सुरक्षा और मरम्मत की व्यवस्था की। इसके अतिरिक्त **उसने अनेक पुरानी ऐतिहासिक इमारतों की मरम्मत करायी।** 'फतूहात-ए फीरोजशाही' में उसने दावा किया है कि उसने दिल्ली की जामा-मस्जिद, कुतुब-मीनार, शम्सी-तालाब, अलाई तालाब, जहाँन-पनाह, इल्तुतमिश का मदरसा, सुल्तान इल्तुतमिश, सुल्तान बहरामशाह, सुल्तान रुकुनुद्दीन फीरोजशाह, सुल्तान जलालुद्दीन और सुल्तान अलाउद्दीन के मकबरों तथा ताजुद्दीन कफूरी और शेख निजामुद्दीन औलिया की समाधियों की मरम्मत करायी।

फीरोज मुसलमान सन्तों और धार्मिक व्यक्तियों को जागीरें व सम्पत्ति दान करता था। उसने एक **रोजगार का दफ्तर** स्थापित किया था जो बेकार व्यक्तियों को कार्य दिलाता था अथवा उन्हें आर्थिक सहायता देता था। उसने एक विभाग **'दीवान-ए-खैरात'** स्थापित किया था जो मुसलमान अनाथ स्त्रियों और विधवाओं को आर्थिक सहायता देता था और निर्धन मुसलमान लड़कियों के विवाह की व्यवस्था करता था। उसने दिल्ली के निकट एक **खैराती अस्पताल** भी बनवाया था।

4. परोपकार के कार्य

फीरोज की न्याय-व्यवस्था इस्लाम के कानूनों पर आधारित थी। काजियों को उसने पुन. उनके विशेष अधिकार वापिस कर दिये। स्वयं फीरोज भी न्याय करता था और वह कठोर दण्ड नही देता था। मुहम्मद तुगलक के समय में सचाई को जानने के लिए व्यक्तियों को जो यातनाएँ दी जाती थीं, उन्हें उसने समाप्त कर दिया।

5. न्याय

फीरोज स्वयं विद्वान था और विद्वानों का सम्मान करता था। जियाउद्दीन बरनी और शम्से-सिराज अफीफ ने उससे संरक्षण प्राप्त किया। बरनी ने 'फतवा-ए-जहाँदारी' और 'तारीख-ए-फीरोजशाही' को लिखा। शम्से-सिराज अफीफ ने भी 'तारीख-ए-फीरोजशाही' को लिखा। एक अन्य विद्वान ने 'सीरत-ए-फीरोशाही' की रचना की। फीरोज ने स्वयं अपनी आत्मकथा 'फतूहात-ए-फीरोजशाही' लिखी। फीरोज को इतिहास और चिकित्सा-शास्त्र मे रुचि थी। इसके अतिरिक्त उसने इस्लामी कानून और धर्मशास्त्रों की शिक्षा मे भी रुचि दिखायी। उसने प्राय. 13 मदरसे स्थापित किये जिनमे से तीन श्रेष्ठ स्तर के विद्यालय थे। राज्य में सभी स्थानो पर विद्वानों को संरक्षण दिया जाता था तथा सभी विद्वानो को जागीरे और भेंटें प्रदान की जाती थीं। ज्वालामुखी के मन्दिर के पुस्तकालय मे उसे संस्कृत मे लिखे गये 1300 ग्रन्थ प्राप्त हुए और उनमें से कुछ का उसने फारसी में अनुवाद कराया। उनमे से एक का नाम 'दलायले-फीरोजशाही' रखा गया जो दर्शन और नक्षत्र-विज्ञान से सम्बन्धित ग्रन्थ था। अफीफ के कथनानुसार सुल्तान विद्वानों को सहायता के रूप मे 36 लाख टंका देता था। इस प्रकार फीरोज ने शिक्षा के लिए समुचित प्रबन्ध किया परन्तु उसके समय का साहित्य इस्लाम धर्म से प्रभावित होने के कारण संकुचित धारणाओ से परिपूर्ण रहा था।

6 शिक्षा

फीरोज को दासो का बहुत शौक था और उसके दासों की सख्या प्राय 1,80,000 तक पहुँच गयी थी। इनकी देखभाल के लिए उसने एक पृथक बिभाग और एक पृथक अधिकारी की नियुक्ति की। उन दासो की शिक्षा का पूर्ण ध्यान रखा जाता था। सभी सरदारों और सूबेदारो को यह आदेश दिये गये थे कि वे अपने दासो से पुत्रवत् व्यवहार करें। फीरोज का यह शौक राज्य के लिए हानिकारक सिद्ध हुआ। इससे शाही व्यय में अनावश्यक वृद्धि हुई और बाद मे इन दासो ने राजनीति में हस्तक्षेप किया जो तुगलक-वश के पतन के लिए उत्तरदायी हुआ।

7 दास

फीरोज का सैनिक-संगठन दुर्बल रहा। केन्द्र पर एक बडी स्थायी सेना न थी। अधिकाश सैनिकों को जागीरो के रूप मे वेतन दिया जाने लगा। उसने सैनिक-सेवा वशानुगत कर दी। एक व्यक्ति के पश्चात् उसका पुत्र, दामाद अथवा गुलाम सेना मे स्थान प्राप्त करने का अधिकार रखता था। ऐसी स्थिति में सैनिक-सेवा मे योग्यता का स्थान प्रमुख न रहा। सम्भवतया केन्द्र पर 80 या 90 हजार की घुड़सवार-सेना थी और

8. सैन्य-संगठन

शेष के लिए सुल्तान अपने अमीरों अथवा सरदारों की सेना पर निर्भर करता था। सेना में कठोर अनुशासन अथवा नियन्त्रण नही रखा गया था। एक अवसर पर स्वय सुल्तान ने एक सैनिक को इसलिए एक टंका दिया कि वह उसे रिश्वत के रूप मे सैनिक विभाग के एक अधिकारी को देकर अपने घोड़े की स्वीकृति करा ले। ऐसी स्थिति मे सेना के शक्तिशाली होने का प्रश्न ही नही उठता।

9. धार्मिक नीति

दिल्ली के सुल्तानों में फीरोज पहला सुल्तान हुआ जिसने इस्लाम के कानूनों और उलेमा-वर्ग को राज्य के शासन में प्रधानता प्रदान की। अन्य शासकों ने इस्लाम धर्म का समर्थन किया और अपनी बहुसख्यक हिन्दू प्रजा के प्रति असहिष्णुता की नीति अपनायी परन्तु उन्होंने उसे स्पष्ट रूप से शासन के सिद्धान्त के रूप में स्वीकार नही किया। परन्तु फीरोज ने कट्टर सुन्नी-वर्ग का समर्थन प्राप्त करने के लिए इस्लाम के सिद्धान्तों को अपने राज्य की नीति का आधार बनाया तथा प्रत्येक अवसर पर उलेमा-वर्ग से सलाह और सहायता ली। इस दृष्टि से उसका सिद्धान्त बाद के मुगल बादशाह औरंगजेब की भाँति रहा। उनमे केवल एक अन्तर रहा कि जबकि औरंगजेब स्वयं अपने को इस्लामी कानूनों में पारगत मानता था, फीरोज इसके लिए उलेमा-वर्ग की सलाह पर निर्भर करता था। इस प्रकार **फीरोज की धार्मिक नीति धर्मान्धता और असहिष्णुता की रही।**

सुल्तान **शिया, सूफी, मुन्हीदियों, महदवियों आदि मुसलमान-वर्गों के प्रति असहिष्णु था** क्योंकि वे कट्टर सुन्नी मत के समर्थक न थे। शियाओं को उसने दण्डित किया था और उनकी धार्मिक पुस्तकों को जलवा दिया था, यह उसने स्वयं अपनी आत्म-कथा मे लिखा है।

फीरोज अपनी बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा के प्रति अत्यधिक कठोर रहा। उसने इस्लाम के प्रचार को अपना एक प्रमुख कर्तव्य माना और हिन्दुओं को मुसलमान बनने के लिए अनेक प्रोत्साहन दिये। अपनी आत्म-कथा 'फतूहात-ए-फीरोजशाही' मे जो कुछ भी उसने लिखा है उससे स्पष्ट होता है कि वह अपने को मुसलमानों का एकमात्र शासक मानता था और हिन्दुओं को 'जिम्मी' मानता था। उसने लिखा है कि "मैंने अपनी काफिर प्रजा को पैगम्बर का धर्म स्वीकार करने के लिए बाध्य किया और यह घोषणा की जो भी अपने धर्म को छोड़कर मुसलमान बन जायेगा उसे जजिया से मुक्त कर दिया जायेगा।"[1] अनेक स्थलों पर उसने हिन्दू मन्दिरो को नष्ट करने, हिन्दू मेलो को भंग करने, हिन्दुओं को मुसलमान बनाने अथवा उनका वध करने का वर्णन किया है। जाजनगर पर आक्रमण करने मे उसका मूल उद्देश्य वहाँ के हिन्दू मन्दिर को नष्ट करना था जिससे वह भी महमूद की भाँति मूर्तिभंजक कहलाने का यश पा सके। ज्वालामुखी के मन्दिर की मूर्तियों को भी उसने नष्ट किया, यह विश्वस-

---

1 "I encouraged my infidel subjects to embrace the religion of the Prophet, and I proclaimed that every one who repeated the creed and became a Musalman should be exempted from the Jizya" —Firuz Shah.

नीय है। उसने एक हिन्दू ब्राह्मण का वध कराया क्योंकि वह मुसलमानों को हिन्दू बनने के लिए प्रोत्साहित करता था। उसने हिन्दू ब्राह्मणों पर जजिया लगाया जिन्हे पिछले सुल्तानों ने इस कर से मुक्त कर रखा था अथवा व्यावहारिक रूप से उनसे यह कर वसूल करना वे टाल देते थे। जब दिल्ली और उसके निकट के क्षेत्रों के ब्राह्मणों ने सुल्तान के महल के सम्मुख आत्मदाह करने की धमकी दी तब भी फीरोज ने उन्हें इस कर से मुक्त नही किया। इस प्रकार यह सत्य है कि फीरोज ने हिन्दुओं के प्रति कठोर धार्मिक नीति का पालन किया। डॉ० आर. सी मजूमदार ने लिखा है कि "फीरोज इस युग का सबसे महान् धर्मान्ध (सुल्तान) और इस क्षेत्र मे सिकन्दर लोदी तथा औरगजेब का अग्रसर था।"[1]

फीरोज ने खलीफा से दो बार अपने सुल्तान के पद की स्वीकृति ली, अपने को खलीफा का नाइब पुकारा और अपने सिक्कों पर खलीफा का नाम अंकित कराया। इस सभी मे उसका मुख्य उद्देश्य कट्टर मुसलमानो और उलेमा-वर्ग की सहानुभूति प्राप्त करना था जिनके समर्थन से वह सुल्तान बना था।

फीरोज की धर्मान्धता की नीति राज्य के लिए हानिकारक और सिद्धान्त के आधार पर प्रतिक्रियावादी थी। बहुसख्यक हिन्दू प्रजा इससे असन्तुष्ट हुई और अलाउद्दीन तथा मुहम्मद तुगलक के समय मे आरम्भ की गयी धर्म और राज्य को पृथक करने की चेष्टा बेकार हो गयी। तुगलक-वश के पतन मे इसका योगदान रहा।

फीरोज एक शासक की दृष्टि से न कुशल था और न परिश्रमी। परन्तु उसके योग्य अधिकारियो ने उसकी इन कमियो की पूर्ति की और उसकी धार्मिक नीति ने उसे कट्टर इस्लामी समर्थकों का सहयोग प्रदान किया। उसकी दास-प्रथा और सैनिक-व्यवस्था दुर्बल और राज्य के लिए हानिकारक रही। परन्तु **फीरोज के आर्थिक, लोकहितकारी और सार्वजनिक निर्माण के कार्य सफल हुए।** उनसे प्रजा सम्पन्न और सुखी हुई और शासन की अव्यवस्था समाप्त हो गयी। मुहम्मद तुगलक ने राज्य की प्रजा को जो घाव लगाये थे, उनको फीरोज ने भर दिया। इस क्षेत्र मे वह सफल रहा। डॉ० आर. सी. मजूमदार ने लिखा है कि "उसके अनेक विचार उदार थे जो अपने युग से बहुत आगे थे और सम्भवतया वह भारत का पहला मुस्लिम शासक था जो युद्धो और विजयो की तुलना मे प्रजा की भौतिक उन्नति करना अपना अधिक महत्वपूर्ण कर्तव्य मानता था।"[2]

[2]
युद्ध, आक्रमण और विद्रोह

मुहम्मद तुगलक के समय मे बगाल और सम्पूर्ण दक्षिण भारत दिल्ली सल्तनत

---

1 "Firuz was the greatest bigot of this age and the precursor of Sikandar Lodi and Aurangzeb in this respect." —Dr R. C. Mazumdar.

2 "He held many liberal views, which were far in advance of his age, and was probably the first Muslim ruler in India, who regarded the promotion of material welfare of subjects as a more important duty of the king than wars and conquests." —Dr R. C Mazumdar.

की अधीनता से मुक्त हो गया था। फीरोज ने दक्षिण भारत को जीतने का प्रयत्न नही किया और सरदारों के आग्रह को यह कहकर टाल दिया कि वह मुसलमानों का रक्त बहाने के लिए तैयार नही है। उसने बगाल को जीतने का प्रयत्न किया परन्तु असफल हुआ। उसने राजस्थान को जीतने अथवा उसे अपने प्रभाव में लेने का प्रयत्न नही किया। **इस प्रकार फीरोज की नीति साम्राज्य-विस्तार की नहीं बल्कि राज्य के संगठन की थी।** इस दृष्टि से वह दिल्ली सुल्तान की प्रतिष्ठा के प्रति भी उदासीन रहा। फीरोज में सैनिक-प्रतिभा नही थी और न कभी वह एक योग्य सेनापति सिद्ध हुआ। मुहम्मद तुगलक के समय में दिल्ली की सेना की शक्ति दुर्बल हो गयी थी। फीरोज ने उसे पुन शक्तिशाली बनाने का प्रयत्न नहीं किया यद्यपि उसके पास धन का अभाव न रहा था। इस कारण फीरोज की बाह्य नीति दुर्बल रही। उसके समय में कोई भी महत्वपूर्ण विजय नही की गयी।

1. बंगाल

बंगाल में हाजी इलियास ने शमसुद्दीन इलियासशाह के नाम से अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर ली थी। उसने दिल्ली राज्य के अधीन तिरहुत पर आक्रमण किया। इस कारण 1353 ई० मे फीरोज ने बगाल पर आक्रमण किया। इलियास ने अपनी राजधानी पाँडुआ को छोड़कर इकदाला के किले मे शरण ली। फीरोज किले को जीतने में असमर्थ रहा और उसने वापिस लौटने का दिखावा किया। इलियास ने उसका पीछा किया परन्तु परास्त हुआ तथा फिर किले में शरण लेने हेतु बाध्य हुआ। अन्त में, फीरोज ने युद्ध बन्द कर दिया और एक सन्धि करके 1355 ई० मे वापिस आ गया।

1359 ई० मे फीरोज ने बगाल पर पुन. आक्रमण किया। पूर्वी बंगाल के एक दिवंगत सुल्तान के दामाद जफरखाँ ने उससे सहायता माँगी। फीरोज ने इसे आक्रमण का बहाना बना लिया। इस समय तक शमसुद्दीन इलियास की मृत्यु हो चुकी थी और उसका पुत्र सिकन्दर सुल्तान था। सिकन्दर ने भी इकदाला के किले मे सुरक्षा ली। फीरोज उस किले को जीतने मे असमर्थ रहा और दिल्ली वापिस आ गया। इस प्रकार **बंगाल को दिल्ली सल्तनत में सम्मिलित करने के दोनों प्रयत्न असफल हुए।**

2. उड़ीसा अथवा जाजनगर

1360 ई० के अन्तिम समय मे फीरोज ने जाजनगर पर आक्रमण किया। सुल्तान बंगाल से वापिस आकर जौनपुर मे ठहरा हुआ था। वहाँ से उसने अचानक जाजनगर पर आक्रमण करने की योजना बनायी। उसका मुख्य उद्देश्य पुरी के प्रसिद्ध जगन्नाथ मन्दिर को ध्वस्त करना था। मार्ग में जनता के विरोध को समाप्त करता हुआ फीरोज कटक तक पहुँच गया। उडीसा का शासक भानुदेव तृतीय भाग गया परन्तु उसके सैनिको ने सुल्तान का मुकाबला किया। उन्हें परास्त करके फीरोज ने पुरी के जगन्नाथ मन्दिर पर आक्रमण किया। सुल्तान ने मन्दिर और मूर्तियों को नष्ट कर दिया। तत्पश्चात राजा के आत्मसमर्पण करने और प्रति वर्ष कुछ हाथी भेंट-स्वरूप देने के आश्वासन पर फीरोज वापिस आ गया।

फीरोज ने 1361 ई० में *कांगड़ा में स्थित नगरकोट पर आक्रमण किया।* नगरकोट के राजा ने मुहम्मद तुगलक के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया था परन्तु उसके अन्तिम दिनों में वह पुनः स्वतन्त्र हो *गया था। परन्तु, सम्भवतया, सुल्तान का* उद्देश्य ज्वालामुखी के मन्दिर को ध्वस्त करना था। छ. माह के घेरे के पश्चात् राजा ने आत्मसमर्पण कर दिया। फरिश्ता के अनुसार "सुल्तान ने ज्वालामुखी की मूर्तियों को तोड़ दिया, उनके टुकड़ों को गाय के *मांस में मिलाया और उसके गन्ध के थैले* बनाकर ब्राह्मणों के गले में लटकवा दिये तथा मुख्य मूर्ति को विजय-चिह्न की भाँति मदीना भेज दिया।"[1]

3. नगरकोट

1362 ई० मे फीरोज ने सिन्ध पर आक्रमण किया। सिन्ध ने मुहम्मद तुगलक को तंग किया था और वहाँ पर विद्रोही उस समय भी क्रियाशील थे। 90,000 घुड़सवार और 480 हाथियों की एक विशाल सेना लेकर फीरोज ने उस पर आक्रमण किया। सिन्ध मे जाम वावनियाँ ने दृढतापूर्वक उसका मुकाबला किया, यहाँ तक कि सुल्तान को गुजरात की ओर वापिस लौटना पडा। मार्ग मे वह रन के रेगिस्तान मे फँस गया और छ. माह के कष्ट के पश्चात् वहाँ से निकल सका। 1363 ई० में सुल्तान गुजरात मे रहा और वहाँ शान्ति स्थापित की। यही पर उसे बहमनी-वंश के विरोधी सरदार बहराम का दक्षिण भारत पर आक्रमण करने का निमन्त्रण मिला। परन्तु फीरोज ने उसे अस्वीकृत कर दिया और सिन्ध पर पुनः आक्रमण किया। इस बार जाम बावनियाँ ने फीरोज के आधिपत्य को स्वीकार करके उसे वार्षिक कर देना स्वीकार कर लिया।

4. सिन्ध

फीरोज के आरम्भिक काल मे उसकी बहन खुदावन्दजादा ने उसका वध करने के लिए एक षड्यन्त्र रचा परन्तु वह प्रयत्न विफल रहा। पहला विद्रोह गुजरात के सूवेदार दामगानी ने किया क्योंकि वह सुल्तान को उतना राजस्व नही दे सका *जितने का उसने वायदा किया था। वह विद्रोह असफल हुआ और दामगानी का सिर* काटकर दिल्ली भेज दिया गया। दूसरा विद्रोह इटावा के जमींदारो ने किया परन्तु उसे भी दबा दिया गया। तीसरा विद्रोह कटेहर (रुहेलखण्ड) के शासक खड़कू ने किया। उसने बदायूँ के सूवेदार सैयद मुहम्मद और दो सैयद-बन्धुओं का धोखे से वध कर दिया। फीरोज स्वयं इस विद्रोह को दबाने के लिए गया। खड़कू कुमायूँ की पहाड़ियों में भाग गया। फीरोज ने उसके अपराध का बदला उसकी प्रजा से लिया। उसने हजारों हिन्दुओं का वध करा दिया और 23,000 हिन्दुओं को बन्दी बनाकर जबर्दस्ती मुसलमान बना लिया। इतने से भी सुल्तान सन्तुष्ट न हो सका। उसने

5. विद्रोह और उनका दमन

---

1 "(Sultan) broke the idols of Jvalamukhi, mixed their fragments with the flesh of cows, and hung them in nosebags round the neck of Brahmins, and that he sent the principal idol as a trophy to Medina." —Ferishta.

अगले पांच वर्ष तक प्रत्येक वर्ष कटेहर को इसी प्रकार बरबाद करते रहने के आदेश दिये। इस कार्य की पूर्ति के लिए उसने वहां एक अफगान अधिकारी की नियुक्ति की और वह स्वयं भी वहां प्रत्येक वर्ष यह देखने के लिए जाता रहा कि उसके आदेशों का यथोचित पालन किया जाता है अथवा नही।

इस प्रकार, सिन्ध के अतिरिक्त फीरोज ने किसी अन्य महत्वपूर्ण सूबे अथवा किले को जीतने में सफलता प्राप्त नही की। उसका बगाल-अभियान असफल हुआ तथा जाजनगर और नगरकोट की उसकी विजयें साधारण थी एव उनसे राज्य-विस्तार भी नही हुआ। इस प्रकार फीरोज ने एक शक्तिशाली और महत्वाकाक्षी शासक होने का परिचय नही दिया और वह दिल्ली सल्तनत की प्रतिष्ठा को गौरवपूर्ण नही बना सका।

[3]
अन्तिम दिन और मृत्यु

फीरोज के अन्तिम दिन कष्ट मे व्यतीत हुए। 1374 ई० में उसके सबसे बडे, योग्यतम और राज्य के उत्तराधिकारी पुत्र फतहखाँ की मृत्यु हो गयी थी। उसके दूसरे पुत्र जफरखाँ की मृत्यु भी उसके सामने हो गयी। उसके पश्चात् उसका तीसरा पुत्र मुहम्मदखाँ उसका उत्तराधिकारी था। परन्तु सुल्तान की आयु 80 वर्ष के निकट हो गयी थी, वह अपनी शक्ति और बुद्धि खो चुका था तथा उसके नये वजीर खानेजहाँ (खानेजहाँ मकबूल का पुत्र) ने उसे अत्यधिक प्रभावित कर लिया था। खानेजहाँ ने स्वयं सिंहासन की आकाक्षा की और शहजादा मुहम्मद को समाप्त करने का प्रयत्न किया। परन्तु उसकी योजना असफल हुई और वह मेवात के सरदार कोका चौहान के यहाँ भाग गया। बाद मे वह पकड़ा गया और उसका वध कर दिया गया। 1387 ई० से शहजादा मुहम्मद ने सुल्तान के साथ-साथ सत्ता का उपभोग करना आरम्भ कर दिया और उसे 'नासिरुद्दीन मुहम्मदशाह' की उपाधि दी गयी। परन्तु मुहम्मद विलासप्रिय था। गुजरात मे विद्रोह की सूचना पाकर भी वह उसे दबाने नही गया बल्कि भोग-विलास में लगा रहा। उसके व्यवहार से असन्तुष्ट होकर कुछ सरदारो ने विद्रोह कर दिया और दो दिन तक दिल्ली मे युद्ध होता रहा। तीसरे दिन विद्रोहियों ने महल पर अधिकार करने मे सफलता प्राप्त की और उन्होने वृद्ध सुल्तान फीरोज को पालकी मे बैठाकर युद्ध करने वालों के बीच में ले जाकर खड़ा कर दिया। शहजादे के सैनिक सुल्तान को देखकर उसके साथ हो गये और शहजादा मुहम्मद भाग गया। उसके पश्चात् फीरोज ने अपने बड़े पुत्र फतहखाँ के पुत्र तुगलक-शाह को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया। उसके थोडे समय पश्चात् सितम्बर 1388 ई० मे फीरोज की मृत्यु हो गयी।

[4]
चरित्र, मूल्यांकन और तुगलक-वंश के पतन में फीरोज का उत्तरदायित्व

तत्कालीन इतिहासकारों जैसे बरनी और अफीफ ने फीरोज के चरित्र और कार्यों की अत्यधिक प्रशंसा की है। वह उसे एक अत्यधिक उदार, दयालु और न्याय-

प्रिय शासक बताते हैं। आधुनिक इतिहासकारों में से हेनरी इलियट और एलफिंस्टन ने भी उसकी प्रशंसा की है और उन्होंने उसे 'सल्तनत-युग का अकबर' पुकारा है। सर वूल्जले हेग ने उसके शासन के विभिन्न दोषों पर दृष्टिपात करते हुए लिखा है कि "फीरोज के शासन-काल से भारत में अकबर से पहले के मुस्लिम शासन के इतिहास के एक गौरवपूर्ण युग का अन्त हो जाता है।"[1] **परन्तु सभी इतिहासकार इस मत से सहमत नहीं हैं।** वी. ए. स्मिथ फीरोज की तुलना अकबर से करना मूर्खता मानते हैं। डॉ० ईश्वरीप्रसाद का कहना है कि "फीरोज में उस विशाल हृदय और उदार बुद्धि वाले बादशाह (अकबर) की प्रतिभा का शतांश भी नहीं था।"[2] डॉ० आर. सी. मजूमदार फीरोज को दिल्ली सल्तनत के मुख्य शासकों में से अन्तिम शासक स्वीकार करने के लिए तो सहमत है, परन्तु उसे कोई गौरवपूर्ण स्थान प्रदान करने को तैयार नहीं है। निस्सन्देह फीरोज में ऐसा कोई गुण न था और न उसका ऐसा कोई कार्य था जिसके कारण उसके शासन-काल को महानता का स्थान दिया जाय।

फीरोज में व्यक्तिगत दृष्टि से कुछ गुण थे, यह माना जाता है। फीरोज स्वयं विद्वान था और विद्वानों का सम्मान करता था। वह धर्म-परायण था और साधारणतया अपने व्यक्तिगत जीवन में इस्लाम के सिद्धान्तों का पालन करता था। वह अपनी मुसलिम प्रजा की नैतिक उन्नति करना चाहता था। वह योग्य व्यक्तियों की खोज करता था और उनसे वफादारी प्राप्त करने की उसमें योग्यता थी। उसकी एक योग्यता परिस्थितियों को समझने और उनसे समझौता करने की भी थी। अपनी इसी योग्यता के कारण वह सरदारों का बहुमत प्राप्त करके सुल्तान बन सका और इसी कारण वह प्रायः 37 वर्ष तक शान्तिपूर्वक शासन कर सका। उलेमा-वर्ग के समर्थन की उसे आवश्यकता थी और उसने उसे प्राप्त भी किया। उसे राज्य-विस्तार की इच्छा न थी और न उसमें योग्यता ही थी अतः उसके लिए उसने प्रयत्न भी नहीं किये। उस समय की सबसे बड़ी आवश्यकता शासन-व्यवस्था को ठीक करके राज्य की आर्थिक स्थिति को सुधारने की थी। उसने उसी आवश्यकता की पूर्ति करने का प्रयत्न किया और इसमें वह सफल रहा। **इसके अतिरिक्त फीरोज न तो पूर्ण दयालु था, न पूर्ण उदार और न ही पूर्ण ईमानदार।** उसकी दयालुता और उदारता कट्टर सुन्नी मुसलमानों तक सीमित थी। अपनी बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा के प्रति वह क्रूर और अनुदार था, इसे सिद्ध करने के लिए अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। स्वयं उसकी आत्मकथा 'फतूहात-ए-फीरोजशाही' इस बात को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। जो सुल्तान अपने सैनिकों को बेईमानी करने और कराने के लिए स्वयं धन दे सकता था, उसे पूर्ण ईमानदार कहा भी कैसे जा सकता है? फीरोज शराब पीता था, यह भी इतिहासकार स्वीकार करते हैं। उपर्युक्त परिस्थितियों में उसके चरित्र को श्रेष्ठ अथवा

---

1 "The reign of Firuz closes the most brilliant epoch of Muslim rule in India before the reign of Akbar." —Sir Wolseley Haig

2 "Firuz had not even a hundredth part of the genius of that great-hearted and broad-minded monarch (Akbar)." —Dr. Ishwari Prasad.

उज्ज्वल स्वीकार नहीं किया जा सकता। सम्भवतया उसके चरित्र के विषय में डॉ० यू. एन. डे का कथन सत्यता के सबसे अधिक निकट है। वे लिखते हैं कि "वह अपने युग की एक विशेष उपज था। वह महत्वाकांक्षी होते हुए भी उदासीनता का दिखावा करने में पर्याप्त चतुर था। अपने वास्तविक चरित्र को छिपाकर सच्चरित्रता के गुण का झूठा दिखावा करने की क्षमता रखते हुए उसने निरन्तर तत्कालीन सुन्नी-मान्यताओं के समर्थन का दावा करते हुए एक धार्मिक जीवन व्यतीत करने का दिखावा किया।"[1] डॉ० ईश्वरीप्रसाद ने भी लिखा है कि "फीरोज अदृढ़ और अस्थिर चित्त का व्यक्ति था और सब प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त होने पर भी वह उन गुणों का विकास न कर सका था जिनके कारण एक सफल प्रतिभावान व्यक्ति किसी साधारण व्यक्ति से भिन्न होता है।" इसके अतिरिक्त उसमें साहस, शौर्य तथा सैनिक और सेनापति की प्रतिभा का अभाव था, इसे सभी इतिहासकार स्वीकार करते हैं।

एक शासक की दृष्टि से फीरोज की मुख्य सफलता अपने राज्य और प्रजा को सम्पन्न बनाने में थी। इस दृष्टिकोण से यह माना जाता है कि वह पहला सुल्तान था जिसने विजयों तथा युद्धों की तुलना में अपनी प्रजा की भौतिक उन्नति को श्रेष्ठ स्थान दिया। उसका यह सिद्धान्त माननीय है और उसे इसकी पूर्ति में सफलता मिली, यह सर्वस्वीकृत है। सभी इतिहासकार यह मानते हैं कि उसके समय में राज्य सम्पन्न था और प्रजा समृद्ध थी। उसके राजस्व-कार्यों, उसकी नहरों, उसके बागों और उसकी व्यापारिक सुविधाओं ने राज्य की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ किया तथा उसकी प्रजा, निस्सन्देह, मुहम्मद तुगलक के समय के दुर्दिनों को भूल गयी होगी और उसके प्रति आभारी होगी। डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी ने लिखा है कि "जनता एक शासक की अच्छाई और बुराई का निर्णय उस भौतिक समृद्धि के आधार पर करती है जिसे वह देख सकती है और अनुभव कर सकती है।"[2] इसके अतिरिक्त, **फीरोज के लोक-हितकारी कार्य भी प्रशंसनीय थे।** पुल, बाँध, कुएँ, नगरों और इमारतों का निर्माण, ऐतिहासिक इमारतों की मरम्मत आदि उसके कार्य शासक की दृष्टि से उपयुक्त थे। बेरोजगारों की सहायता, 'दीवान-ए-खैरात' और खैराती अस्पताल की स्थापना उसके मानवोचित कार्य थे। मदरसों की स्थापना और शिक्षा की वृद्धि के लिए प्रयत्न करना भी फीरोज का महत्वपूर्ण कार्य था। यह स्पष्ट होते हुए भी कि इन कार्यों का मुख्य उद्देश्य केवल अपनी मुस्लिम प्रजा की भलाई करना था, यह माना जाता है कि फीरोज दिल्ली सुल्तानों में पहला सुल्तान था जिसने शासक के कर्तव्यों को विस्तृत किया। विजय, शान्ति-स्थापना और राजस्व वसूल करने के अलावा प्रजा की भलाई के लिए प्रयत्न करने के उत्तरदायित्व को समझने और करने वाला वह

---

1 "He was a typical product of
a mask of disinterestedness
of goodness with dissimulati
gious life with constant pr
Sunni orthodoxy."

2 "The masses judge a ruler by the material prosperity that they can see and feel."
—Dr. R. P Tripathi.

पहला सुल्तान था। **परन्तु, इनके अतिरिक्त, फीरोज शासक की दृष्टि से भी सफल न था।** उसके शासन की सफलता का श्रेय उसके योग्य अधिकारियों को था। वह स्वय तो अपनी विवेक-रहित उदारता के कारण उसकी दुर्बलता का कारण ही बना था। बेईमान व्यक्तियों को भी माफ कर देना एक अच्छे शासन को स्थापित करना नही था। वह न तो स्वय परिश्रमी था और न स्वयं शासन की देखभाल करता था। इस कारण **उसने अपने सरदारों और अधिकारियों को विस्तृत अधिकार दे दिये थे जो राज्य के अन्तिम हित में न था।** सर वूल्जले हेग ने लिखा है कि "अच्छी से अच्छी भाँति निर्धारित की गयी नीति भी उसके दुर्बल उत्तराधिकारियो के हाथों में शक्ति को सुरक्षित नही रख सकती थी और न उस भयंकर धक्के को बर्दाश्त कर सकती थी जो उसकी मृत्यु के दस वर्षों के अन्तर्गत ही राज्य को लगा, परन्तु यह मानना पड़ेगा कि उसकी विकेन्द्रीकरण की व्यवस्था उसके योग्यतम उत्तराधिकारी को भी कठिनाई मे डालने के लिए सक्षम थी और उसने निस्सन्देह उसके वंश के पतन की प्रगति को तीव्र किया।"[1] **उलेमा-वर्ग को शासन में हस्तक्षेप करने का अधिकार देने और सुन्नी मुसलमान वर्ग को विशेष संरक्षण प्रदान करने से भी शासन की क्षमता पर कुप्रभाव पड़ा था।** फीरोज ने श्रेष्ठ शासन को अपना लक्ष्य नही बनाया था बल्कि शासन को एक विशेष वर्ग के सरक्षण और अपने लिए सार्वजनिक लोकप्रियता का साधन बनाया था। ऐसी स्थिति मे शासन मे दोष उत्पन्न होना स्वाभाविक था। डॉ० यू. एन. डे ने लिखा है कि "लेकिन यह सम्पूर्ण बाह्य शान्ति, आराम और समृद्धि कार्य-कुशलता की कीमत पर प्राप्त की गयी थी। इसने शासन की जड़ो को खोखला कर दिया। उसके उलेमा-वर्ग के समर्थन ने एक ऐसे सिद्धान्तहीन और स्वार्थी व्यक्तियों के वर्ग को प्रोत्साहन दिया जिन्होने दम्भपूर्ण व्यवहार किया और मुस्लिम आत्म-नैतिकता के संरक्षक होने का दिखावा किया। इन सभी ने मिलकर ऐसी परिस्थिति का निर्माण किया जिसमे (राज्य का) विघटन आवश्यक बन गया।"[2] इस प्रकार, **फीरोज ने शासन को सुसंगठित नहीं किया बल्कि उसे दुर्बल और भ्रष्टाचारपूर्ण बनाया जो तुगलक-वंश के पतन का कारण बना।** उसके चलाये हुए नवीन सिक्को मे कम मात्रा मे चाँदी मिलायी गयी। टकमाल-अधिकारी कजरखाँ इसके लिए जिम्मेदार था और वजीर मकबूल खानेजहाँ को इसका पता लग गया था तब भी कजरखाँ को सम्मानित किया गया और सुल्तान ने बाद मे कजरखाँ को स्थान-परिवर्तन के अतिरिक्त

---

1 "No policy, however well devised, could have sustained this power under [illegible] kingdom [illegible] ould have [illegible] downfall [illegible] eley Haig.

2 "But all this apparent peace, comfort and prosperity was at the cost of [illegible] to the [illegible] table."

कोई अन्य सजा नही दी। इस प्रकार का भ्रष्टाचार फीरोज के अन्य सभी शासन-विभागों मे रहा होगा, इसमे सन्देह नही किया जा सकता और इसका मूल उत्तरदायित्व सुल्तान की विवेकरहित उदारता पर था। **फीरोज की दास-प्रथा राज्य के अनावश्यक व्यय और शासन में अनुचित हस्तक्षेप का कारण बनी।** फीरोज की मृत्यु के पश्चात् उसके दासों ने सुल्तान को बनाने या हटाने की कुचेष्टा की। **अपनी बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा के प्रति फीरोज का व्यवहार अभी तक हुए सुल्तानों की तुलना में कठोर था।** वास्तव में वह पहला सुल्तान था जिसने इस्लाम धर्म को राज्य-शासन का आधार बनाया और उसका व्यावहारिक प्रयोग किया। इस प्रकार फीरोज ने दिल्ली सल्तनत की व्यवस्था को उदारता के स्थान पर प्रतिक्रिया की ओर मोड़ दिया जो राज्य के हित मे न था। हिन्दुओं का असन्तोष भी तुगलक-वंश के पतन मे सहयोग प्रदान करने वाला सिद्ध हुआ। डॉ० ईश्वरीप्रसाद ने लिखा है कि "फीरोज के सुधार हिन्दुओं का विश्वास प्राप्त करने मे असफल हुए जिनकी भावनाएँ उसकी धार्मिक असहिष्णुता के कारण कटु बन गयी थीं। उन सभी ने मिलकर उस प्रतिक्रिया को जन्म दिया जो उस वंश के लिए घातक सिद्ध हुई जिसका वह एक अयोग्य प्रतिनिधि था।"[1] परन्तु **फीरोज की सबसे बड़ी असफलता एक सुसंगठित सेना का निर्माण न करना और साम्राज्य तथा सुल्तान की खोई हुई प्रतिष्ठा को स्थापित करने में असफल होना था।** मध्य-युग मे एक शक्तिशाली सेना ही एक राज्य, एक शासन और एक सुल्तान तथा उसके वंश की सुरक्षा और सम्मान की स्थापना का आधार थी। फीरोज इसमें पूर्णतया असफल हुआ। उसके सैनिक-शासन की शिथिलता, पैतृक आधार पर सैनिको का भर्ती किया जाना, बूढ़े और दुर्बल व्यक्तियों को सैनिक-सेवा से न निकालना, सैनिको में जागीरों का वितरण और घुड़सवार-सेना का वार्षिक निरीक्षण न करना आदि ऐसे कार्य रहे जिससे दिल्ली सल्तनत की सैन्य-शक्ति नष्ट हो गयी। फीरोज एक भी खोये हुए सूबे को पुन. अपनी अधीनता मे न ले सका तथा बंगाल, जाजनगर और सिन्ध पर उसके आक्रमण उसकी सैनिक दुर्बलता तथा सैन्य-संचालन की अयोग्यता को सिद्ध करने वाले थे। 'मुसलमानो का रक्त न बहे', इस आधार पर उसने युद्ध के प्रति उदासीनता प्रकट की। परन्तु वास्तव मे यह उसकी अपनी अयोग्यता और सैनिक दुर्बलता को छिपाने का वहाना-मात्र था। वास्तविकता मे **फीरोज सुल्तान व दिल्ली सल्तनत की सैनिक और प्रशासकीय प्रतिष्ठा को स्थापित करने में असफल हुआ और इस कारण अपने वंश के पतन के लिए उत्तरदायी हुआ।** डॉ० आर. सी. मजूमदार ने ठीक लिखा है कि "फीरोजशाह के लम्बे शासन-काल मे शन्ति, समृद्धि और सन्तोष होते हुए भी कोई भी इस वात मे सन्देह नही कर सकता कि उसकी नीति और शासन-कार्यों ने दिल्ली सल्तनत के पतन मे वहुत बडी मात्रा में भाग लिया और

---

1 "[illegible] whose feelings [illegible] ey produced a [illegible] he was by no [illegible] Ishwari Prasad.

विघटन की उस क्रिया को तीव्र कर दिया जो उसके पूर्वाधिकारी के शासन-काल में ही आरम्भ हो चुकी थी।"[1] ऐसी स्थिति में फीरोज को सामान्यतया एक योग्य सुल्तान तो माना जा सकता है परन्तु उसे एक श्रेष्ठ अथवा महान् शासक स्वीकार नही किया जा सकता। मुगल बादशाह अकबर से उसकी तुलना करने का तो प्रश्न ही उपस्थित नही होता।

---

1 [illegible] that prevailed during the [illegible]

13

फीरोजशाह के उत्तराधिकारी और तुगलक-वंश का पतन

[1]

फीरोजशाह के उत्तराधिकारी (1388-1414 ई०)

सितम्बर, 1388 ई० में फीरोज की मृत्यु के पश्चात् उसके बड़े पुत्र फतहखाँ का पुत्र तुगलकशाह 'गियासुद्दीन तुगलक द्वितीय' के नाम से सुल्तान बना। फीरोज के तीसरे पुत्र शहजादा मुहम्मद ने जो सिरमौर की पहाड़ियों में भाग गया था, सिंहासन को प्राप्त करने का प्रयत्न किया परन्तु वह असफल हुआ और नगरकोट के किले में जा छिपा। गियासुद्दीन एक अयोग्य और विलासी शासक सिद्ध हुआ। उसके सरदार उससे असन्तुष्ट हो गये। फीरोज के दूसरे पुत्र जफरखाँ के पुत्र अबू बक्र ने इससे लाभ उठाया और कुछ अमीरों के साथ षड्यन्त्र करके गियासुद्दीन को सिंहासन से हटा दिया। गियासुद्दीन को मार दिया गया और फरवरी, 1389 ई० मे अबू बक्र सुल्तान बना। अबू बक्र को भी शहजादा मुहम्मद के विरोध का मुकाबला करना पड़ा। कुछ शक्तिशाली सरदार मुहम्मद के साथ हो गये और उसने अप्रैल, 1389 ई० मे स्वय को सुल्तान घोषित करके दिल्ली पर आक्रमण किया। दिल्ली के अमीरों और सूबेदारो ने खुले तौर से एक अथवा दूसरे पक्ष का साथ दिया। दो या तीन असफल प्रयत्नो के पश्चात् मुहम्मद ने अबू बक्र को दिल्ली छोड़ने के लिए बाध्य किया और अगस्त, 1390 ई० में नासिरुद्दीन मुहम्मदशाह के नाम से सुल्तान बन गया। बाद मे अबू बक्र को पकड़कर मिरात के किले में बन्द कर दिया गया और वहीं उसकी मृत्यु हुई। राजवंश के इन शहजादों के संघर्ष के कारण तुगलक-साम्राज्य का विघटन तीव्रता से आरम्भ हो गया और विभिन्न सरदार अपने-अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए राजनीति में हस्तक्षेप करने लगे। नासिरुद्दीन ने कुछ क्रियाशीलता का परिचय दिया परन्तु विलासिता के कारण उसका स्वास्थ्य खराब हो गया जिससे जनवरी, 1394 ई० मे उसकी मृत्यु हो गयी। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र हुमायूँ 'अलाउद्दीन सिकन्दरशाह' के नाम से गद्दी पर बैठा परन्तु छः सप्ताह के भीतर उसकी भी मृत्यु हो गयी। उसके पश्चात् सरदारों ने उसके छोटे भाई नासिरुद्दीन महमूदशाह (1394-1412 ई०) को सुल्तान बनाया। वह तुगलक-वंश का अन्तिम शासक हुआ।

उस समय तक दिल्ली सल्तनत का राज्य बहुत सीमित रह गया था। दक्षिण, खानदेश, बगाल, गुजरात, मालवा, राजस्थान, बुन्देलखण्ड आदि सभी सूबे दिल्ली सुल्तान के हाथो से निकल गये थे और विभिन्न स्थानो पर स्वतन्त्र राज्यो की स्थापना हो गयी थी। नासिरुद्दीन महमूद के समय में यह विघटन रोका न जा सका बल्कि उसके समय मे जौनपुर के स्वतन्त्र राज्य की स्थापना हुई, पंजाब का सूबेदार खिज्रखाँ स्वतन्त्र होकर दिल्ली को प्राप्त करने के प्रयत्न करने लगा और फीरोज के एक पुत्र नसरतशाह ने नासिरुद्दीन को चुनौती दी जिसके फलस्वरूप तुगलक-वश के दो शासको ने एक साथ ही दिल्ली के छोटे-से राज्य पर शासन किया। नासिरुद्दीन महमूद दिल्ली मे शासक रहा और नसरतशाह फीरोजाबाद मे तथा दोनो मे से कोई भी एक दूसरे को समाप्त न कर सका। विभिन्न सरदार कभी एक सुल्तान का पक्ष लेते थे और कभी दूसरे का। ऐसी ही परिस्थितियो में तिमूर का आक्रमण हुआ और दोनों सुल्तान भाग खडे हुए। तिमूर के वापिस चले जाने के पश्चात् नासिरुद्दीन महमूद ने अपने वजीर मल्लू इकबाल की सहायता से दिल्ली के सिंहासन पर अधिकार करने मे सफलता प्राप्त की। परन्तु उस अवसर पर वह दिल्ली और उसके कुछ निकटवर्ती जिलो का ही सुल्तान था तथा मल्लू इकबाल के हाथों में एक कठपुतला था। मल्लू इकबाल के भय के कारण सुल्तान महमूद कन्नौज भाग गया। परन्तु मल्लू इकबाल मुल्तान के सूबेदार खिज्रखाँ (तिमूर ने खिज्रखाँ को मुल्तान, लाहौर और दिपालपुर का सूबेदार नियुक्त किया था) से युद्ध करता हुआ मारा गया। उसकी मृत्यु के पश्चात् सुल्तान नासिरुद्दीन महमूद दिल्ली पहुँच गया। परन्तु इस बार उसने शासन-सत्ता एक अफगान सरदार दौलतखाँ लोदी को सौप दी। खिज्रखाँ दिल्ली को प्राप्त करने का प्रयत्न करता रहा परन्तु असफल रहा। 1412 ई० में नासिरुद्दीन महमूद की जिसने कभी स्वयं शासन नही किया था और जो कई बार राजधानी छोडने के लिए *वाध्य हुआ* था, मृत्यु हो गयी। उसकी मृत्यु से तुगलक-वंश का शासन समाप्त हो गया। 1413 ई० मे सरदारों की सम्मति से दौलतखाँ लोदी सुल्तान बना परन्तु खिज्रखाँ ने दिल्ली पर आक्रमण किया, दौलतखाँ को परास्त करके उसे हिसार के किले मे कैद कर दिया और 1414 ई० मे दिल्ली के सिंहासन पर बैठकर एक नवीन राजवश—सैय्यद-वंश—की नीव डाली।

[2]
तिमूर का आक्रमण (1398-1399 ई०)

तिमूर का जन्म 1336 ई० मे ट्रान्स-आक्सियाना के कैच उर्फ 'शहर-ए-सब्ज' मे हुआ। वह तुर्कों की बरलास नस्ल का था और उसका पिता कैच की छोटी जागीर का शासक था। अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् 1360 ई० मे वह उसको छोटी-सी जागीर का मालिक बना। उस समय से लेकर 1405 ई० मे अपनी मृत्यु के समय तक तिमूर निरन्तर युद्ध और सघर्षो मे लगा रहा। मगोलो का विस्तृत साम्राज्य इस समय तक छिन्न-भिन्न हो चुका था और मध्य-एशिया की राजनीति अस्थिर थी। अनेक कठिनाइयों और सघर्षों के पश्चात् उस राजनीति को उसने अपने काबू मे

किया और एक बड़े साम्राज्य को स्थापित करने में सफलता प्राप्त की। शक्ति और क्रूरता तिमूर के मुख्य साधन थे। परन्तु इसके अतिरिक्त वह एक महान् सेनापति, कट्टर सैनिक और कुशल राजनीतिज्ञ भी था जिसके कारण एक के बाद एक राज्य उसके सम्मुख घुटने टेकते गये। ट्रान्स-आक्सियाना, तुर्किस्तान का एक बड़ा भाग, अफगानिस्तान, पर्शिया, सीरिया, कुर्दिस्तान, एशिया माइनर का कुछ भाग, बगदाद, जार्जिया आदि उसके साम्राज्य में सम्मिलित कर लिये गये। सम्पूर्ण दक्षिणी रूस (Russia) को उसने लूटा, भारत में दिल्ली तक के प्रदेश को लूटने में उसने सफलता प्राप्त की और जब वह चीन पर आक्रमण करने जा रहा था, तो मार्ग में उसकी मृत्यु हो गयी। तिमूर एक नृशंस शासक था। वह जहाँ भी गया वहाँ उसने लूटमार, अग्निकाण्ड और कत्लेआम से नगर और गाँव ध्वस्त कर दिये। तबाही, आतंक और भय उसकी विजयों के साधन थे। उसने अपने जीवन में व्यवस्था और शासन की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। तिमूर सिर्फ विजेता था और एक महान् सेनापति की भाँति उसने विजयें कीं। एक प्रारम्भिक युद्ध के अवसर पर ही उसकी एक टाँग घायल हो गयी जिसकी वजह से वह जीवन भर लँगड़ाता रहा और तिमूरलंग के नाम से विख्यात हुआ, परन्तु तब भी वह एक महान् योद्धा और सेनापति सिद्ध हुआ। उसने तुर्कों के विशालतम साम्राज्य का निर्माण किया। तिमूर की विजयों का एक मुख्य कारण धन-लिप्सा रही थी। वह जहाँ-जहाँ भी गया वहाँ उसने लूट-मार की और इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने भारत पर भी आक्रमण किया।

भारत पर आक्रमण करने के उद्देश्यों को तिमूर ने स्वयं स्पष्ट किया था। उनमें से एक था काफिरों से युद्ध और उनका विनाश तथा दूसरा था धन की प्राप्ति। भारत में उसके व्यवहार ने यह स्पष्ट कर दिया कि धन प्राप्त करना उसका प्रमुख उद्देश्य रहा। उसके आक्रमण से पहले उसके पोते और काबुल के सूबेदार पीर मुहम्मद ने भारत पर आक्रमण कर दिया था और उच्छ को जीतकर मुल्तान का घेरा डाल रखा था। मार्च या अप्रैल, 1398 ई० में तिमूर अपनी राजधानी समरकन्द से भारत पर आक्रमण करने के लिए चला। सितम्बर, 1398 ई० मे सिन्ध नदी को पार करके वह झेलम नदी के किनारे-किनारे आगे बढा। झेलम को पार करके उसने तुलम्बा नामक स्थान पर अधिकार किया। पीर मुहम्मद भी मुल्तान को जीतकर उससे आ मिला। तिमूर ने दिपालपुर और समाना की तरफ अपनी सेना के कुछ दस्तों को रवाना किया और स्वयं भाटनेर के किले पर आक्रमण किया। वहाँ के किलेदार दुलचाद ने आत्मसमर्पण कर दिया परन्तु तब भी किले और उसके नगर को धूल में मिला दिया गया। मार्ग में लूट-मार और हत्याकाण्ड करता हुआ तिमूर दिसम्बर, 1398 ई० में दिल्ली के निकट पहुँच गया। सुल्तान नासिरुद्दीन महमूद ने तिमूर को रोकने का उस समय तक कोई प्रबन्ध नहीं किया था। अब उसने और उसके वजीर मल्लू इकबाल ने तिमूर की सेना के पृष्ठ-भाग पर एक आक्रमण किया परन्तु उनकी पराजय हुई और वे भाग खड़े हुए। तिमूर ने दिल्ली पर आक्रमण करने की तैयारी की और युद्ध से पहले प्राय. एक लाख हिन्दू कैदियों को नृशंसतापूर्वक कत्ल करा दिया

जिससे वे युद्ध के अवसर पर कोई सकट उपस्थित न कर सकें। 17 दिसम्बर, 1798 ई० को दिल्ली के बाहर एक युद्ध हुआ जिसमे नासिरुद्दीन महमूद और मल्लू इकबाल पुन पराजित हुए। नासिरुद्दीन महमूद गुजरात भाग गया और मल्लू इकबाल बुलन्दशहर। 18 दिसम्बर को तिमूर ने राजधानी में प्रवेश किया। नागरिको और सैनिको मे झगड़ा होने के कारण तिमूर ने कत्लेआम का आदेश दे दिया। कई दिन तक दिल्ली मे लूट-मार और कत्लेआम होता रहा। हजारों व्यक्तियों का वध किया गया, हजारों व्यक्ति दास बना लिये गये और दिल्ली को निर्दयतापूर्वक लूटा गया। तिमूर दिल्ली मे 15 दिन रहा तथा उसने और उसके सभी सरदारों ने यहाँ अतुल सम्पत्ति प्राप्त की। 1 जनवरी, 1789 ई० को तिमूर फीरोजाबाद, मेरठ, हरद्वार, कांगडा और जम्मू होता हुआ वापिस लौटा। मार्ग मे इन सभी स्थानों को वह लूटता और बरबाद करता हुआ गया। 19 मार्च, 1399 ई० को उसने सिन्ध नदी को पार किया और समरकन्द वापिस चला गया। जाने से पहले उसने खिज्रखाँ को मुल्तान, लाहौर और दिपालपुर का सूबेदार नियुक्त किया।

तिमूर ने एक आक्रमण में भारत मे जितनी बरबादी की वह सम्भवतया उस समय तक किसी भी विदेशी आक्रमणकारी ने नही की थी। वह जहाँ-जहाँ भी गया, फसलो, गाँवो और नगरो को नष्ट करता हुआ गया। उसने लाखो व्यक्तियो का वध किया और प्रत्येक स्थान से सम्पूर्ण सम्पत्ति लूट ले गया। दिल्ली महीनो तक उजाड पडी रही और मृतको की अत्यधिक सख्या के कारण वहाँ बीमारी फैल गयी। दिल्ली सल्तनत और तुगलक-वंश को भी तिमूर नष्ट करता गया। उसके आक्रमण से पहले दिल्ली सल्तनत का विनाश आरम्भ हो चुका था परन्तु उसके पश्चात् उसकी सम्पूर्ण शक्ति एव प्रतिष्ठा नष्ट हो गयी। दूरस्थ सूबे ही स्वतन्त्र नही हो गये बल्कि दिल्ली के निकट के कुछ जिलो को छोडकर दिल्ली सुल्तान के पास कुछ बाकी न रहा। लाहौर, मुल्तान तथा दिपालपुर पर तिमूर की ओर से खिज्रखाँ ने अधिकार कर लिया और अन्त मे दिल्ली को प्राप्त करने मे भी वह सफल हुआ। इस प्रकार, तिमूर का आक्रमण हत्याकाण्ड, लूट-मार, भुखमरी, तुगलक-वंश के पतन और दिल्ली सल्तनत की प्रतिष्ठा के नष्ट हो जाने का कारण बना।

[3]

तुगलक-वंश के पतन के कारण

दिल्ली सल्तनत के इतिहास में तुगलक-वश का साम्राज्य भारत मे सबसे अधिक विस्तृत था। अलाउद्दीन खलजी की दक्षिण-विजय का गियासुद्दीन तुगलक ने पूर्ण लाभ उठाया और उसने उसे दिल्ली सल्तनत के अधीन कर लिया। साम्राज्य के इस विस्तार में सबसे बडा योगदान मुहम्मद बिन तुगलक का रहा। शहजादा और बाद मे सुल्तान के रूप में उसने दक्षिण भारत को दिल्ली की अधीनता मे कर दिया। इस कारण उसका समय तुगलक-वश की शक्ति की पराकाष्ठा का रहा। परन्तु उसी के समय से तुगलक-वश का पतन और तुगलक-साम्राज्य का विघटन आरम्भ हुआ और अन्त में नासिरुद्दीन महमूद (जो इस वंश का अन्तिम शासक था) के समय में न

सुल्तान की प्रतिष्ठा शेष रही और न उसका साम्राज्य। उसके बारे में कहा गया कि "ससार के स्वामी का शासन दिल्ली से पालम तक फैला हुआ है।" (पालम दिल्ली शहर से सात मील दूर एक गाँव है जहाँ आधुनिक समय मे हवाई अड्डा है।) तुगलक-वश के पतन के विभिन्न कारण निम्नलिखित थे :

1. **तुगलक शासकों का दक्षिण भारत को अपने राज्य में सम्मिलित करना**—गियासुद्दीन तुगलक के समय से दक्षिण के राज्यो को जीतकर दिल्ली राज्य मे सम्मिलित करने की नीति अपनायी गयी थी। मुहम्मद बिन तुगलक ने इस नीति की पूर्ति की। परन्तु वह नीति उनके लिए घातक सिद्ध हुई। मध्य-युग मे इतने बडे साम्राज्य को एक शासक के अधीन रखना असम्भव था। यातायात और सन्देशवाहनों की कमी इसका मुख्य कारण थी। सम्पूर्ण भारत को एक साम्राज्य के अन्तर्गत रखने के प्रयत्न पहले भी असफल हुए थे और बाद में भी हुए जब तक कि अंग्रेजों के शासन-काल मे यातायात और सन्देशवाहनों मे प्रगति नही कर ली गयी। मुहम्मद तुगलक के समय मे ही दक्षिण भारत दिल्ली सल्तनत से पृथक हो गया। यही नही बल्कि दक्षिण ने सुल्तान के साधनो, शक्ति और प्रतिष्ठा को भी आघात पहुँचाया।

2. **मुहम्मद बिन तुगलक की असफलताएँ**—मुहम्मद तुगलक एक सफल शासक सिद्ध नही हुआ। उसकी विभिन्न योजनाएँ असफल रही तथा उन्होंने राज्य के सम्मान और आर्थिक शक्ति को दुर्बल कर दिया। उसकी कठोर नीति और व्यवहार ने उसके विरुद्ध असन्तोष और विद्रोहो को जन्म दिया। वह अपनी सैनिक शक्ति को दृढ न रख सका और अपने साम्राज्य की सुरक्षा करने मे असमर्थ रहा। जो साम्राज्य मुहम्मद तुगलक को अपने पिता से प्राप्त हुआ था वह न तो उसका निर्माण कर सका और न ही उसकी सीमाओ की रक्षा मे समर्थ रहा। उसने फीरोज को एक सकुचित होता हुआ दिवालिया राज्य सौंपा। उसके समय में ही दक्षिण भारत और बंगाल स्वतन्त्र हो गये, गुजरात और सिन्ध पर दिल्ली सल्तनत का अधिकार अस्थिर हो गया, राजस्थान दिल्ली सुल्तान के हस्तक्षेप से स्वतन्त्र रहा, राज्य आर्थिक दृष्टि से दुर्बल हो गया तथा नागरिकों मे असन्तोष और विद्रोह की भावना जाग्रत हो गयी। इस कारण मुहम्मद तुगलक अपने वश के पतन के लिए उत्तरदायी हुआ। (मुहम्मद तुगलक की असफलताओं के विस्तृत अध्ययन के लिए अध्याय 11 देखिए।)

3. **फीरोजशाह की दुर्बल और प्रतिक्रियावादी नीति**—फीरोज की आर्थिक नीति और उसके सार्वजनिक हित के कार्य प्रशमनीय रहे परन्तु उसकी विवेकरहित उदारता, शासन मे शिथिलता, सैनिक-शक्ति की पुनः स्थापना के प्रति उदासीनता, उलेमा-वर्ग को शासन में हस्तक्षेप करने का अधिकार देना, हिन्दुओं के प्रति असहिष्णुता का व्यवहार, शक्ति एवं विजय के द्वारा सुल्तान और दिल्ली सल्तनत की प्रतिष्ठा को स्थापित न करना तथा उसकी दास-प्रथा साम्राज्य की दुर्बलता और उसके पतन का कारण बनी। (तुगलक-वंश के पतन मे फीरोज के उत्तरदायित्व के विस्तृत अध्ययन के लिए अध्याय 12 देखिए।)

4. **फीरोज के अयोग्य उत्तराधिकारी**—फीरोज के उत्तराधिकारियों मे से

कोई भी सुल्तान बनने के योग्य न था। फीरोज की मृत्यु वृद्धावस्था में हुई और उसके दो बड़े तथा योग्य पुत्रों की मृत्यु उसके जीवन-काल में ही हो गयी। उसका तीसरा पुत्र मुहम्मद अयोग्य और विलासी निकला जिसके कारण फीरोज ने उसे सिंहासन के अधिकार से वंचित करके अपने सबसे बड़े (मृतक) पुत्र के पुत्र तुगलकशाह को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। शहजादा मुहम्मद ने अपने अधिकार को प्राप्त करने के लिए गियासुद्दीन तुगलक द्वितीय तथा अबू बक्र से संघर्ष किया। यद्यपि अन्त में वह सफल हुआ परन्तु राज्य-पुत्रों के इस संघर्ष ने विभिन्न सरदारों को महत्वाकांक्षी और स्वार्थी बनने का अवसर प्रदान किया और सुल्तान उनकी सहायता पर निर्भर हो गये। अन्तिम शासक नासिरुद्दीन महमूद अयोग्य था और वह अपने सरदारों के हाथों में खिलौना रहा। उसकी मृत्यु से तुगलक-वंश समाप्त हो गया। मध्य-युग में जब सभी कुछ सुल्तान की योग्यता और सैनिक-शक्ति पर निर्भर करता था, फीरोज के उत्तराधिकारियों का *अयोग्य और दुर्बल होना तुगलक-वंश के पतन का मुख्य कारण बना।*

5. सरदारों में योग्यता और नैतिकता का अभाव—तुगलक सुल्तानों के सरदारों ने फीरोज के उत्तराधिकारियों की अयोग्यता और दुर्बलता का लाभ उठाया। उनमें से जो योग्य थे उन्होंने सूबों में अपने-अपने राज्य स्थापित कर लिये और जो अयोग्य थे वे दरबार के निकट रहकर स्वार्थी और षड्यन्त्रकारी बन गये। उनमें से कोई योग्य नहीं हुआ और यदि योग्य हुआ तो वफादार नहीं हुआ जो दिल्ली सुल्तान के लिए शक्ति का साधन बन पाता।

6. तिमूर का आक्रमण—तिमूर के आक्रमण ने केवल उस कार्य की पूर्ति में सहायता दी जो उससे पहले ही आरम्भ हो चुका था। तुगलक-वंश की शक्ति उसके आक्रमण से पहले ही नष्ट हो चुकी थी। तिमूर ने उसके सम्मान और शक्ति को अन्तिम आघात पहुँचाया।

इस प्रकार, विभिन्न परिस्थितियों के कारण तुगलक-वंश का पतन हुआ। मुहम्मद तुगलक और फीरोज जैसे शासक भी इसके लिए उत्तरदायी थे परन्तु मूलत फीरोज के उत्तराधिकारियों की अयोग्यता ही इसकी जिम्मेदार थी।

14

विभिन्न सैय्यद सुल्तान

सैय्यद-वंश का शासन-काल केवल 37 वर्ष रहा। उनके समय मे न तो खलजी-वंश के शासको की भाँति साम्राज्य-विस्तार की साहसिक नीति अपनायी गयी और न तुगलक-वंश के शासको की भाँति प्रशासकीय सुधारो का प्रयत्न किया गया। सैय्यद शासक किसी भी आदर्श को अपने और अपनी प्रजा के सम्मुख रखने मे असमर्थ रहे जिसके कारण विभाजन और विघटन की जो प्रवृत्ति फीरोज के उत्तराधिकारियो के समय मे प्रबल रही थी वह उनके समय में भी बिना किसी बाधा के प्रोत्साहन प्राप्त करती रही। सैय्यद शासकों का राजनीतिक दृष्टिकोण दिल्ली के 200 मील के घेरे तक ही सीमित रहा और अन्त में वे उस घेरे की सुरक्षा करने मे भी असमर्थ रहे।

[1]

खिज्रखाँ (1414-1421 ई०)

खिज्रखाँ सैय्यद-राजवंश का संस्थापक था। उसने अपने को पैगम्बर मुहम्मद का वंशज बताया था परन्तु इसका कोई प्रमाण प्राप्त नही होता। सम्भवतया उसके पूर्वज अरब से मुल्तान मे आकर बस गये थे। मुल्तान के सूबेदार मलिक मर्दान दौलत ने खिज्रखाँ के पिता मलिक सुलेमान को पुत्रवत् माना था। बाद में सुल्तान फीरोज ने अपने समय मे खिज्रखाँ को मुल्तान का सूबेदार नियुक्त किया था। परन्तु 1395 ई० में मल्लू इकबाल के भाई सारंगखाँ ने उसे मुल्तान से भागने को बाध्य किया और वह मेवात चला गया। तिमूर के आक्रमण के अवसर पर वह उसके साथ हो गया और तिमूर ने भारत छोडने से पहले उसे मुल्तान, लाहौर और दिपालपुर की सूबेदारी प्रदान की। अन्त मे 1414 ई० मे दौलतखाँ लोदी से उसने दिल्ली को छीन लिया और वह दिल्ली का पहला सैय्यद सुल्तान बना। परन्तु खिज्रखाँ ने सुल्तान की उपाधि ग्रहण नही की बल्कि 'रैयत-ए-आला' की उपाधि से ही सन्तुष्ट रहा। वह तिमूर के पुत्र शाह रुख को निरन्तर भेंट और राजस्व भेजता रहता था और इस प्रकार एक तरह से अपने को उसके अधीन मानता था यद्यपि व्यावहारिक दृष्टि से ऐसी कोई बात नहीं थी। उसने कई वर्षों तक खुतबा भी शाह रुख के नाम से ही पढ़वाया। उसने अपने सिक्कों पर तुगलक शासकों के ही नाम रहने दिये। सम्भवतया इसका कारण सोने-चाँदी की कमी

थी। परन्तु उसका मूल उद्देश्य तुर्क और अफगान सरदारो को सन्तुष्ट रखना तथा अपनी प्रजा की सहानुभूति प्राप्त करना था।

खिज्रखाँ का दिल्ली पर अधिकार हो जाने से पजाब, मुल्तान और सिन्ध दिल्ली सल्तनत मे सम्मिलित हो गये थे। परन्तु इसके अतिरिक्त दिल्ली साम्राज्य दोआब और मेवात के कुछ प्रदेशों तक ही सीमित रह गया था। खिज्रखाँ ने इन सीमाओ को विस्तृत करने का कोई प्रयत्न नही किया, बल्कि उसने इक्ताओं (सूबो) को शिको (जिलो की भाँति) मे बाँटकर स्थानीय वफादारियो को बढने का अवसर दिया। खिज्रखाँ का मुख्य कार्य दिल्ली के निकट के उपजाऊ क्षेत्र को अपने अधीन करने और प्रत्येक वर्ष अपने जागीरदारों से सैनिक बल द्वारा राजस्व वसूल करने तक ही सीमित रहा। खिज्रखाँ ने तुर्की अमीरो को सन्तुष्ट करने की नीति अपनायी और उन्हें उनकी जागीरो से वंचित नही किया। परन्तु वे सन्तुष्ट नही हुए और इस सुविधा का उपयोग उन्होने निरन्तर विरोध और विद्रोह करने के लिए किया। खिज्रखाँ के सम्पूर्ण समय में यह स्थिति रही कि प्रत्येक वर्ष उसे या उसके सरदारो को राजस्व वसूल करने के लिए सैनिक-अभियानो पर जाना पडता था। विभिन्न जागीरदार या तो विरोध करने की स्थिति मे न होते हुए राजस्व दे दिया करते थे अथवा अपने किले मे बन्द हो जाते थे और पराजित होने के पश्चात् ही राजस्व देते थे। इस कार्य मे उसके मन्त्री ताज-उल-मुल्क ने उसकी बड़ी सहायता की। परन्तु खिज्रखाँ उस विद्रोही प्रवृत्ति और उन विद्रोही जागीरदारो को स्थायी रूप से समाप्त करने मे असफल हुआ और अपने जीवनपर्यन्त इन सैनिक-अभियानों मे लगा रहा। उसने कटेहर, इटावा, खोर, जलेसर, ग्वालियर, बयाना, मेवात, बदायूँ आदि स्थानो पर आक्रमण किये। दूरस्थ स्थानो में से केवल नागौर ऐसा था जहाँ के शासक की सहायता के लिए वह गया। एक विद्रोही ने अपने को सारंगखाँ बताया और पजाब मे उपद्रव किया परन्तु उसे परास्त कर दिया गया। पजाब मे खोक्खरो ने भी उसे परेशान किया। मेवात और बदायूँ पर भी उसे आक्रमण करने पड़े यद्यपि उनमे उसे आशातीत सफलता न मिली। उसके समय में गुजरात, मालवा और जौनपुर के शासक दिल्ली को प्राप्त करने के इच्छुक रहे परन्तु उन्होने कोई बड़ा आक्रमण नही किया।

अपने अन्तिम समय मे वह मेवात पर आक्रमण करने के लिया गया और उसने कोटला के किले को बरबाद कर दिया। उसके पश्चात् उसने ग्वालियर के कुछ क्षेत्रों को लूटा और फिर इटावा गया जहाँ के नवीन राजा ने उसके आधिपत्य को स्वीकार कर लिया। वहाँ से वापिस आते हुए वह बीमार हो गया और 20 मई, 1421 ई० को दिल्ली पहुँचकर उसकी मृत्यु हो गयी।

खिज्रखाँ बुद्धिमान, उदार और न्यायप्रिय शासक था। उसका व्यक्तिगत चरित्र भी अच्छा था। इसी कारण वह अपनी प्रजा का प्रेम प्राप्त कर सका। परन्तु वह बहुत सफल शासक नहीं हुआ। तुगलक-वश के पतन और तिमूर के आक्रमण के पश्चात् दिल्ली सल्तनत की जो दुर्बल स्थिति हो गयी थी, उसे वह ठीक न कर सका और उसका राज्य भारत के विभिन्न सूबों के अन्य राज्यों की तुलना मे श्रेष्ठ न बन सका।

[2]
मुबारकशाह (1421-1434 ई०)

खिज्रखाँ ने अपने पुत्र मुबारकखाँ को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया था और वह मुबारकशाह के नाम से सिंहासन पर बैठा। उसने शाह की उपाधि धारण की, अपने नाम से खुतबा पढ़वाया और अपने नाम के सिक्के चलवाये। इस प्रकार उसने विदेशी स्वामित्व को स्वीकार नही किया।

मुबारक को तीन मुख्य शत्रुओं से खतरा रहा। उत्तर-पश्चिम में खोक्खर नेता जसरथ, दक्षिण मे मालवा का शासक और पूर्व मे जौनपुर का शासक उसके मुख्य प्रतिद्वन्द्वी थे। इनमे से प्रत्येक दिल्ली को प्राप्त करने की लालसा करता था। परन्तु मुबारक अपने राज्य की सीमाओं की सुरक्षा करने में समर्थ रहा, यद्यपि वह राज्य-विस्तार न कर सका। झेलम और चिनाव नदी की घाटियों मे खोक्खर जाति बहुत पहले से प्रभावपूर्ण थी। उस अवसर पर उनके नेता जसरथ ने सैय्यद-वंश को नष्ट करने का प्रयत्न किया। जसरथ ने कश्मीर के राजा से सहायता प्राप्त की और काबुल के सूबेदार से भी सहायता लेने का प्रयत्न किया। उसने निरन्तर सरहिन्द, जलन्धर, लाहौर आदि विभिन्न स्थानों पर आक्रमण किये परन्तु उसे सफलता नही मिली। मुबारक ने जसरथ को दबाने हेतु अफगान सरदार बहलोल को नियुक्त किया परन्तु जसरथ ने उससे समझौता कर लिया। उसकी योजना बहलोल को साथ लेकर दिल्ली पर अधिकार करने की थी। परन्तु वह इस उद्देश्य में सफल न हो सका। मालवा के शासक हूसगशाह ने ग्वालियर को जीतने का प्रयत्न किया परन्तु वह असफल हुआ और ग्वालियर का शासक मुबारक की अधीनता को स्वीकार करता रहा यद्यपि उससे राजस्व वसूल करने के लिए मुबारक को उस पर कई बार आक्रमण करने पड़े। जौनपुर के शासक इब्राहीम से मुबारक का झगड़ा मुख्यतया बयाना, कालपी और मेवात के आधिपत्य के प्रश्न पर था। इब्राहीम निरन्तर इनको अपने आधिपत्य मे लेने का प्रयत्न करता रहा परन्तु सफल न हुआ। मार्च, 1428 ई० मे मुबारक और इब्राहीम मे बयाना के निकट एक बडा युद्ध हुआ परन्तु यह युद्ध निर्णयात्मक न हुआ। तब भी इब्राहीम वापिस चला गया और बयाना मुबारक के अधिकार मे रहा। परन्तु मुबारक का वध हो जाने पर मालवा के शासक हूसगशाह ने कालपी पर अपना अधिकार करने में सफलता प्राप्त की।

मुबारक को काबुल के नायब सूबेदार शेख अली के आक्रमणों का भी मुकाबला करना पड़ा। शेख अली ने सरसुती, अमरोहा और तबरहिन्द के विद्रोही सूबेदार पुलाद की सहायता की और जसरथ खोक्खर के उपद्रवों से भी लाभ उठाना चाहा। उसने जलन्धर, फीरोजपुर, लाहौर और मुल्तान के विभिन्न क्षेत्रों को लूटने मे सफलता पायी परन्तु बडे युद्धों मे वह परास्त हुआ और मुबारक की सीमाओं के अन्तर्गत किसी भी प्रदेश को अपने आधिपत्य मे न कर सका।

इनके अतिरिक्त, मुबारक को भी राजस्व वसूल करने के लिए अपने जागीर-दारो और सरदारो के विरुद्ध—मुख्यतया बदायूँ, इटावा, कटेहर, ग्वालियर आदि पर

आक्रमण करने पडे। इससे स्पष्ट होता है कि विद्रोही सरदारों और सामन्तो को स्थायी रूप से दबाने मे वह भी असफल रहा था।

19 फरवरी, 1434 ई० को उसके वजीर सरवर-उल-मुल्क ने धोखे से मुबारकशाह का वध करा दिया जबकि वह कालपी जाते हुए अपने नवीन नगर मुबारकाबाद के निरीक्षण के लिए रुक गया था। वजीर सरवर-उल-मुल्क पहले मलिक सरूप नाम का हिन्दू था और बाद मे मुसलमान बना था। खिज्रखाँ ने उसे दिल्ली का कोतवाल नियुक्त किया था परन्तु 1422 ई० मे वह वजीर बनने मे सफल हो गया। मुबारक उसके दम्भी व्यवहार से असन्तुष्ट था और वह उसकी कार्यक्षमता मे भी विश्वास न कर सका था। इस कारण उसने उससे राजस्व के अधिकार छीनकर नायब सेनापति कमाल-उल-मुल्क को दे दिये थे। इससे सरवर-उल-मुल्क असन्तुष्ट हो गया था। अन्त मे, वह कुछ हिन्दुओं की सहायता से मुबारकशाह का वध कराने में सफल हो गया।

सैय्यद सुल्तानों मे मुबारकशाह योग्यतम शासक सिद्ध हुआ। वह अपने राज्य का विस्तार न कर सका परन्तु शाह की उपाधि धारण करके उसने अपने को बाह्य आधिपत्य से स्वतन्त्र घोषित किया और अपने नाम के सिक्के चलाये। उसकी मुख्य सफलता अपने राज्य को खोक्खर और काबुल के मुगल आक्रमणो से बचाना तथा जौनपुर और मालवा के शक्तिशाली शासको के प्रभाव एवं अधिकार-क्षेत्र को बढने से रोकना था। उसका प्राय: 13 वर्ष का शासन-काल निरन्तर अपने राज्य के विदेशी शत्रुओं और आन्तरिक विद्रोहियो से संघर्ष का समय है। वह इस संघर्ष मे सफल हुआ। उसने इक्तादारो (सूबेदारो) के तबादले करके सुल्तान की प्रतिष्ठा को भी स्थापित करने का प्रयत्न किया जिससे यह सिद्ध हो सके कि उनकी जागीर या उनका 'इक्ता' उनकी पैतृक सम्पत्ति नही बल्कि सुल्तान द्वारा दिया गया अधिकार है। परन्तु इससे जागीरदार और इक्तादार असन्तुष्ट हुए क्योंकि फीरोज के उत्तराधिकारियो के समय से सुल्तानो की दुर्बलता से लाभ उठाकर वे अपनी जागीरों और इक्तादारो को अपनी पैतृक सम्पत्ति मानने लगे थे। मुबारक की मुख्य असफलता योग्य एव वफादार असैनिक अधिकारियो और दरबार के अमीरों को चुनने की रही जिसके कारण उसकी हत्या का षड्यन्त्र सफल हुआ। अन्य दृष्टिकोण से उसके प्रयत्न सराहनीय रहे। मुबारक ने यमुना नदी के तट पर एक नवीन नगर मुबारकाबाद बनवाया और उसमे एक अच्छी मस्जिद बनवायी। उसने तत्कालीन विद्वान यहिया सरहिन्दी को संरक्षण प्रदान किया जिसने उसके समय के इतिहास 'तारीख-ए-मुबारकशाही' को लिखा। इस प्रकार, मुबारकशाह सैय्यद शासको मे योग्यतम शासक सिद्ध हुआ।

[3]

मुहम्मदशाह (1434-1445 ई०)

मुबारकशाह के पश्चात् उसके भाई का पुत्र मुहम्मदखाँ बिन फरीदखाँ मुहम्मदशाह के नाम से गद्दी पर बैठा। वह अयोग्य और विलासी सिद्ध हुआ। उसने अपनी अयोग्यता से सैय्यद-वंश के पतन का मार्ग तैयार कर दिया। आरम्भ के छ

शाह वजीर सरवार-उल-मुल्क का शासन पर पूर्ण प्रभाव रहा। उसने अपने साथी सरदारों और मुबारक के वध मे भाग लेने वाले हिन्दू सामन्तों को प्रतिष्ठित पद प्रदान किये। परन्तु नायब सेनापति कमाल-उल-मुल्क सैय्यद-वश के प्रति वफादार रहा और उसने वजीर को समाप्त करने के लिए सरदारों का एक पृथक गुट बना लिया। वह चालाकी से अपनी भावनाओ को छिपाये रहा और वजीर ने उसे बयाना के विद्रोह को दबाने के लिए भेजा। सेना की शक्ति प्राप्त करके कमाल-उल-मुल्क ने अपनी योजना को सब के सामने रख दिया और अपनी सेना को लेकर दिल्ली वापिस आ गया। वजीर ने इस षड्यन्त्र को देखकर सुल्तान का वध करने का प्रयत्न किया। परन्तु सुल्तान स्वयं इस षड्यन्त्र में शामिल था और सावधान था। जब वजीर उसे कत्ल करने गया तब सुल्तान के अंगरक्षकों ने वजीर और उसके सहयोगियो का वध कर दिया।

मुहम्मदशाह वजीर के प्रभाव मे तो मुक्त हो गया परन्तु वह स्वय भी शासन की देखभाल न कर सका। नवीन वजीर कमाल-उल-मुल्क भी अधिक योग्य न था। इसके परिणामस्वरूप विद्रोहियों और बाह्य आक्रमणकारियों को अवसर मिला। मालवा के शासक महमूद ने दिल्ली पर आक्रमण किया। मुहम्मदशाह ने अपनी सहायता के लिए मुल्तान के सूबेदार बहलोल को बुलाया। दिल्ली से दस मील दूर तलपत नामक स्थान पर एक दिन युद्ध हुआ परन्तु निर्णय न हो सका। मुहम्मदशाह ने महमूद के पास सन्धि का प्रस्ताव भेजा और महमूद अपनी राजधानी पर गुजरात के शासक द्वारा आक्रमण का समाचार पाकर वापिस जाने को तैयार हो गया। वापिस जाते हुए महमूद पर बहलोल ने आक्रमण किया तथा कुछ सामान को लूटने और सैनिको को बन्दी बनाने मे सफलता प्राप्त की।

मुहम्मदशाह ने बहलोल का सम्मान किया, उसे अपना पुत्र कहकर पुकारा और 'खान-ए-खाना' की उपाधि से विभूषित किया। पंजाब के अधिकांश भाग पर बहलोल का स्वामित्व भी स्वीकार कर लिया गया। इससे लालायित होकर बहलोल ने स्वय 1443ई० मे दिल्ली पर आक्रमण किया। वह विफल रहा परन्तु इससे यह स्पष्ट हो गया कि सैय्यद शासको द्वारा उत्तर-पश्चिम और पजाब की सुरक्षा के लिए नियुक्त किये गये अफगान व लोदी सरदार शक्तिशाली और महत्वाकांक्षी बन गये थे तथा उनका नेता बहलोल लोदी दिल्ली को जीतकर स्वयं सुल्तान बनने के लिए उत्सुक हो उठा था।

अपने अन्तिम समय मे मुहम्मदशाह न तो आन्तरिक विद्रोहों को दबा सका और न ही अपने राज्य की सीमाओं की सुरक्षा कर सका। जौनपुर के शासक ने पूर्व मे उससे कुछ परगने छीन लिये, मुल्तान स्वतन्त्र हो गया, इक्तादारो ने राजस्व देना बन्द कर दिया और दिल्ली के बीस मील के दायरे में रहने वाले अमीर भी स्वतन्त्र प्रवृत्ति का परिचय देने लगे। इस प्रकार, मुहम्मदशाह असफल शासक सिद्ध हुआ और उसके समय से सैय्यद-वंश का पतन आरम्भ हो गया। 1445 ई० मे उसकी मृत्यु हो गयी।

[4]

अलाउद्दीन आलमशाह (1445-1450 ई०)

मुहम्मदशाह की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र अलाउद्दीन 'अलाउद्दीन आलमशाह'

के नाम से सिंहासन पर बैठा। वह सैय्यद शासकों में सबसे अधिक अयोग्य सिद्ध हुआ। वह आरामपसन्द और विलासी था तथा अपने प्रभुत्व को बढ़ाने में स्वयं को अयोग्य पाकर और अपने वजीर हमीदखाँ से झगड़ कर वह बदायूं चला गया और वहीं रहने लगा। 1447 ई० में बहलोल लोदी ने एक बार फिर दिल्ली पर आक्रमण किया परन्तु वह असफल रहा। अन्त में हमीदखाँ ने बहलोल और नागौर के सूबेदार कियामखाँ को दिल्ली आमन्त्रित किया। उसका विचार था कि उनमें से जो भी दिल्ली में रहेगा, वह उसके हाथ में कठपुतली बन जायेगा। बहलोल, जो निकट था, पहले दिल्ली पहुँच गया और कियामखाँ वापिस चला गया। बहलोल ने थोड़े समय पश्चात् हमीदखाँ को मरवा दिया और 1450 ई० में उसने सम्पूर्ण शासन अपने हाथों में ले लिया। उसने अलाउद्दीन आलमशाह को दिल्ली आने का निमन्त्रण दिया परन्तु अलाउद्दीन ने अपनी दुर्बल स्थिति को देखकर बदायूं में रहना ही ठीक समझा। उसने बहलोल को उत्तर दिया कि "क्योंकि मेरे पिता ने तुम्हें अपना पुत्र पुकारा था और मुझे अपनी थोड़ी-सी आवश्यकताओं की पूर्ति के बारे में विशेष चिन्ता नहीं है अतएव मैं बदायूं के एक परगने से ही सन्तुष्ट हूँ और साम्राज्य तुम्हें सौंप रहा हूँ।"[1] बहलोल ने भी अलाउद्दीन को बदायूं से अपदस्थ करने का प्रयत्न नहीं किया और अलाउद्दीन अपनी मृत्यु तक (1476 ई०) बदायूं पर शासन करता रहा। उसके पश्चात्, उसके दामाद और जौनपुर के शासक हुसैनशाह शर्की ने बदायूं को अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया। डॉ० के. ए. निजामी ने लिखा है कि "इस प्रकार 37 वर्ष के नगण्य शासन के पश्चात् सैय्यद-वंश समाप्त हो गया। मुल्तान के राज्य के रूप में उसका उत्थान हुआ और बदायूं के राज्य के रूप में वह समाप्त हुआ। भारत के मध्य-युग के इतिहास में राजनीतिक अथवा सांस्कृतिक दृष्टि से उसका कोई महत्वपूर्ण योगदान नहीं रहा यद्यपि वह दिल्ली साम्राज्य के विघटन और पुनर्निर्माण के क्रम में एक अनिवार्य कड़ी था।"[2] डॉ० के. एस. लाल ने लिखा है कि "खिज्रखाँ और मुबारकशाह ने अपने विद्रोही सरदारों को दबाने की आवश्यकता के कारण पंजाब को एक प्रकार से अफगानों को सौंप दिया था और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में भी वे प्रभावशाली हो गये थे।" वे लिखते हैं कि "प्रथम दोनों सैय्यद शासकों ने अनजाने में अपने वंश की कीमत पर लोदी शक्ति को बढ़ने में सहायता दी थी।"[3] वह पुनः लिखते हैं कि "सैय्यद (सुल्तान)

---

1 "Since my father called you his son, and I have no anxiety for the provision of my few wants, I am content with the one paragna of Badaun and am giving up the empire to you" —Alauddin Shah to Bahlul Lodi

2 "Thus ended the Saiyyad dynasty after an inconspicuous rule of 37 years. Emerging as the principality of Multan, it ended as the principality of Badaun. Neither politically nor culturally did it contribute anything worth while to the history of medieval India. It was, however, an inevitable stage in the process of dissolution and reconstruction of the Delhi empire" —Dr K. A. Nizami

3 "The first two Saiyyads had unconsciously helped in the rise of the Lodi power at the expense of their own dynasty." —D K S Lal.

राज्यतन्त्र अथवा असैनिक शासन व्यवस्था की पद्धति में कोई सक्रिय योगदान नहीं दे सके थे।"[1] इस प्रकार, सैय्यद शासक न तो दिल्ली सल्तनत को सुरक्षित रख सके और न उसे कोई प्रशासकीय व्यवस्था अथवा सिद्धान्त प्रदान कर सके और "बहलोल लोदी को वस्तुत न केवल नवीन राज्य का ही निर्माण करना पड़ा वलिक एक नवीन राजत्व-सिद्धान्त को भी जन्म देना पड़ा।"

1 "The Saiyyads could make no positive contribution to the kingship or to the system of civil administration." —Dr. K. S. Lal.

15

विभिन्न लोदी सुल्तान

सल्तनत-युग मे दिल्ली के सिंहासन पर राज्य करने वाले राजवंशो में लोदी-वंश अन्तिम था। बहलोल लोदी ने इस राजवंश की स्थापना की, सिकन्दर लोदी ने उसकी शक्ति और प्रतिष्ठा मे वृद्धि की तथा इब्राहीम लोदी जब इसी दिशा मे प्रगति करने के लिए प्रयत्नशील था, बाबर ने भारत पर आक्रमण किया और दिल्ली की लोदी-सत्ता को समाप्त करके मुगल-वंश की नीव डाली। लोदी-वंश के 75 वर्ष के शासन की मुख्य विशेषता कटु संघर्ष है। लोदी-वंश के शासकों के लिए यह संघर्ष त्रिमुखी था। उन्हें जौनपुर, मालवा, गुजरात और मेवाड के शक्तिशाली पडौसी राज्यों से अपने अस्तित्व की सुरक्षा और शक्ति के विस्तार के लिए संघर्ष करना पडा। सम्भवतया इनमें से प्रत्येक राज्य दिल्ली राज्य की तुलना मे अधिक समृद्धशाली और शक्तिशाली था। उनकी मुख्य कमी दिल्ली का उनके हाथो मे न होना था जिससे वे दिल्ली का सुल्तान होने का दावा कर पाते और उससे सम्बन्धित प्रतिष्ठा तथा प्रभाव का लाभ प्राप्त कर पाते। इस कारण उनमे से प्रत्येक अपने राज्य और प्रभाव का विस्तार करने के लिए उत्सुक था और प्रत्येक का अन्तिम लक्ष्य दिल्ली को प्राप्त करना था। लोदी शासकों का दूसरा संघर्ष उन जमीदारो और अमीरो से था जो दुर्बल सुल्तानो के समय मे प्राय अर्ध-स्वतन्त्र हो गये थे और जो केवल तलवार की शक्ति पर ही दिल्ली सुल्तान की आज्ञा का पालन करने और उसे राजस्व देने के लिए बाध्य किये जा सकते थे। फीरोज तुगलक के पश्चात् से दिल्ली सुल्तानो की दुर्बलता ने उस युग मे ऐसी विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति को जन्म दे दिया था जिसमे केन्द्रीय सत्ता का न कोई भय था और न सम्मान तथा जो एक शक्तिशाली राज्य के संगठन के पूर्ण विरोध मे थी। सैय्यद शासक इस प्रवृत्ति को समाप्त करने और दिल्ली सुल्तान की प्रतिष्ठा तथा शक्ति को स्थापित करने मे असफल रहे थे। इस कारण लोदी सुल्तानो को नये सिरे से एक बडे और केन्द्रीय राज्य के लिए प्रयत्न आरम्भ करना पडा और इस विकेन्द्रीकरण तथा स्वतन्त्रता की प्रवृत्ति के समर्थक अमीरो से संघर्ष करना पडा। परन्तु लोदी सुल्तानो का मुख्य संघर्ष अपने अफगान सरदारो से ही हुआ। वे अफगान सरदार जो उनकी शक्ति का मूल आधार थे, उनके साम्राज्य के संगठन और

एक केन्द्रीय राज्य की स्थापना के मुख्य शत्रु थे। अफगानों की स्वतन्त्रता, समानता और शौर्य की प्रवृत्ति उनका मुख्य गुण थी परन्तु उनकी वही प्रवृत्ति लोदी सुल्तानों के द्वारा एक केन्द्रीय राज्य की स्थापना हेतु किये जाने वाले प्रयत्नों के लिए सबसे अधिक घातक थी। अफगानों की स्वतन्त्र कबीलों की प्रवृत्ति उनके सुल्तानों की प्रतिष्ठा और शक्ति को सर्वोपरि स्थापित करने की नीति तथा राजनीतिक एकता की आवश्यकता के विरोध में थी। इस कारण लोदी सुल्तानों की मुख्य समस्या अपने अफगान सरदारों को अपने नियन्त्रण में रखने की थी और वही उनके पतन के लिए काफी मात्रा में उत्तरदायी हुई। अफगान सरदार एक शक्तिशाली केन्द्रीय राज्य की स्थापना को समझने और उसकी स्थापना में सहयोग प्रदान करने में असफल हुए और इसी कारण मुगल शासक बाबर को भारत में अपना साम्राज्य स्थापित करने का अवसर मिला।

[1]

बहलोल लोदी (1451-1489 ई०)

बहलोल लोदी ने दिल्ली में लोदी-राजवंश की स्थापना की। वह अफगानों की एक महत्वपूर्ण शाखा 'शाहूखेल' से सम्बन्धित था। लोदी-वंश के व्यक्ति सर्वप्रथम भारत में लमगान और मुल्तान के निकट बसे थे। उन्होंने तुर्की सुल्तानों की सेवा की और 1341 ई० में मलिक शाहू ने मुल्तान के सूबेदार का वध करके उस पर अधिकार किया परन्तु मुहम्मद तुगलक के शीघ्र आक्रमण के कारण उसकी यह सफलता बेकार हो गयी। शाहू के वंशज भारत से व्यापार करते रहे और उसका एक प्रपौत्र बहराम फीरोजशाह के समय में मुल्तान में बस गया। बहराम के सबसे बड़े पुत्र मलिक सुल्तान लोदी ने सुल्तान खिज्रखाँ की सेवा की और उसके मुख्य शत्रु मल्लू इकबालखाँ का वध करने में सफलता प्राप्त की। खिज्रखाँ ने उसे 'इस्लामखाँ' की उपाधि दी और सरहिन्द का सूबेदार नियुक्त किया। इस्लामखाँ ने मुबारकशाह के समय में खोक्खर तथा मुगलों के विरुद्ध युद्ध करने में अद्वितीय शौर्य प्रदर्शित किया। मुहम्मदशाह के समय में उसकी मृत्यु हुई और अपनी मृत्यु से पहले उसने अपने पुत्रों के स्थान पर अपने भतीजे और दामाद बहलोल लोदी को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। बहलोल ने सुल्तान मुहम्मदशाह को प्रसन्न करके अमीर का पद प्राप्त किया था। अपने चाचा की मृत्यु के पश्चात् उसे सरहिन्द की सूबेदारी भी प्राप्त हो गयी। उसने आस-पास के क्षेत्रों को जीतकर अपनी शक्ति में वृद्धि की और सुल्तान मुहम्मदशाह से भी अधिक शक्तिशाली हो गया। मुहम्मदशाह ने मालवा के शासक महमूद खलजी के आक्रमण के अवसर पर बहलोल से सहायता माँगी और महमूद खलजी के वापिस चले जाने के पश्चात् उसे अपना पुत्र पुकारा तथा उसे 'खानेजहाँ' की उपाधि दी। उसके पश्चात् बहलोल ने दो बार दिल्ली को जीतने का प्रयत्न किया परन्तु दोनों ही बार वह असफल रहा। जब सुल्तान अलाउद्दीन आलमशाह अपने वजीर हमीदखाँ से झगडकर बदायूँ चला गया तब हमीदखाँ ने बहलोल को दिल्ली बुलाया। हमीदखाँ का विचार था कि बहलोल उसका समर्थक और अनुयायी बना रहेगा। परन्तु बहलोल इसके लिए तत्पर न था। जो कार्य वह शक्ति से न कर सका था, वह अब स्वतः ही पूरा होने वाला था। हमीदखाँ

बहलोल और उसके अफगान सैनिकों पर पूर्ण विश्वास नही करता था। इस कारण वह उन्हे किले मे प्रवेश नही करने देता था। बहलोल ने अपने सरदारो को जान-बूझकर असभ्यता और मूर्खता का व्यवहार करने के आदेश दिये जिसमे हमीदखाँ को यह विश्वास हो गया कि अफगान मूर्ख है और ऐसी स्थिति मे शासन-शक्ति को प्राप्त करने की महत्वाकाक्षा के बारे मे सोच भी नही सकते। इस कारण उसने बहलोल और उसके सरदारो को दावत पर बुलाना आरम्भ किया। ऐसे ही एक अवसर पर अफगान सैनिक किले मे प्रवेश कर गये और बहलोल के चचेरे भाई कुतुबखाँ ने हमीदखाँ को जजीरो से बाँध दिया और कहा कि "राज्य की भलाई इसी मे है कि आप कुछ दिन विश्राम करें।" इस प्रकार वजीर हमीदखाँ को कैद कर दिया गया और बाद मे उसका वध कर दिया गया। बहलोल ने सुल्तान अलाउद्दीन आलमशाह को बदायूं से दिल्ली आने के लिए निमन्त्रण भेजा जिसे उसने अस्वीकार कर दिया। इस प्रकार बहलोल को दिल्ली का सिंहासन बिना किसी सघर्ष के प्राप्त हो गया और 19 अप्रैल, 1451 ई० को वह 'बहलोलशाह गाजी' के नाम से दिल्ली के सिंहासन पर बैठा और उसने अपने नाम से खुतबा पढवाया।

बहलोल को सुल्तान की प्रतिष्ठा स्थापित करनी थी, अफगानो की श्रेष्ठता को स्थापित करना था, विद्रोही जमीदारो और सरदारो को दबाना था तथा शासन को व्यवस्थित करना था। वास्तव में, दिल्ली के सिंहासन को प्राप्त करने से उसके राज्य की सीमाओ मे कोई विशेष वृद्धि नही हुई थी जबकि उसका उत्तरदायित्व बहुत बढ़ गया था। उसने अफगान सरदारो को सन्तुष्ट करने की नीति अपनायी, उन्हे बडी-बडी जागीरें दी और उनके प्रति सम्मानजनक व्यवहार किया क्योकि वे ही उसके राज्य और शासन का आधार थे। उसने अफगानो को भारत आने के लिए आमन्त्रित किया, मुख्यतया रोह से और उन सभी को उनकी योग्यतानुसार पद और जागीरें प्रदान की। परन्तु बहलोल सुल्तान की शक्ति और प्रतिष्ठा की सुरक्षा के लिए भी प्रयत्नशील था। उसने विद्रोही और उद्दण्ड सरदारो को दण्डित किया तथा उन पर सैनिक आक्रमण किये। उसने मेवात, सम्भल, कोल, इटावा, रपरी, भोंगाँव और ग्वालियर पर सैनिक आक्रमण किये और वहाँ के जागीरदारो तथा राजाओं को अपना आधिपत्य स्वीकार करने और राजस्व देने के लिए बाध्य किया। वह उनकी जागीरो में कमी करके भी उनकी शक्ति को दुर्बल बनाने मे सफल हुआ। परन्तु इनमें से कुछ ऐसे थे जो कभी जौनपुर के शासक के साथ और कभी उसके साथ मिल जाते थे तथा वे उसकी पूर्ण अधीनता मे तभी आये जबकि बहलोल ने जौनपुर राज्य को जीतने मे सफलता प्राप्त की। अपने अफगान सरदारों को भी वह अपने काबू मे रख सका। उस समय की परिस्थितियो मे बहलोल का उनके प्रति सम्मानित व्यवहार करना और उनकी आकाक्षाओं की पूर्ति के लिए उन्हे बडी-बड़ी जागीरें देना तो सम्भवतया आवश्यक था। परन्तु इसके साथ ही उसने उनमें अपनी श्रेष्ठता को बनाये रखने में भी सफलता प्राप्त की। बहलोल सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न सुल्तान के आदर्श को तो अपने सम्मुख न रख सका और उसे

कार्य

परिस्थितियों-वश अफगानों को बड़ी-बड़ी जागीरें देकर उन्हें शक्तिशाली बनने का अवसर भी प्रदान करना पड़ा जो लोदी-वंश की दुर्बलता का कारण बना, परन्तु बहलोल अफगान सरदारों का सुल्तान रहा और उनकी स्वतन्त्र प्रवृत्ति को अपने काबू में रख सका इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। अफगान सरदारो को अपनी स्वतन्त्र जागीरें या राज्य बनाने का अवसर बहलोल ने नहीं दिया।

बहलोल की एक मुख्य सफलता जौनपुर के राज्य को दिल्ली राज्य में सम्मिलित करने की थी। शर्की-वंश के जौनपुर के शासक महमूदशाह ने सैय्यद-वंश के अन्तिम शासक अलाउद्दीन आलमशाह की पुत्री से विवाह किया था। उसकी वह पत्नी अपने पति को दिल्ली पर आक्रमण करके बहलोल को अपदस्थ करने के लिए निरन्तर उत्तेजित करती रहती थी। महमूदशाह अलाउद्दीन आलमशाह का दामाद होने के कारण दिल्ली पर अपना अधिकार भी मानता था और बहलोल की शक्ति को दिल्ली मे जमने देने से पहले ही उखाड फेंकना चाहता था। इस कारण उसने बहलोल के शासन के पहले ही वर्ष मे दिल्ली पर आक्रमण किया। परन्तु युद्ध से पहले ही उसका सेनापति दरियाखाँ लोदी बहलोल के पक्ष मे हो गया। बहलोल जो मुल्तान की तरफ गया हुआ था, वापिस पहुँच गया और उसने दिल्ली के निकट नरेला मे महमूदशाह से युद्ध किया। महमूदशाह की पराजय हुई और उसे वापिस लौटना पडा। परन्तु महमूदशाह इस पराजय को न भूला और कुछ समय पश्चात् उसने इटावा पर आक्रमण किया। इस बार भी उसे सफलता न मिली और दोनो पक्षो मे सन्धि हो गयी। परन्तु शीघ्र ही दोनो मे शमशाबाद के आधिपत्य के प्रश्न पर युद्ध हुआ। इसके पश्चात् भी सन्धि हो गयी और कोई निर्णय न निकला। तत्पश्चात् बहलोल ने जौनपुर पर आक्रमण किया परन्तु उससे भी कोई लाभ न निकला। 1457 ई० मे महमूदशाह की मृत्यु हो गयी। महमूदशाह के पुत्र मुहम्मदशाह ने भी युद्ध को जारी रखा परन्तु मुहम्मदशाह को गृह-युद्ध के कारण युद्ध से हटना पड़ा। उसे शीघ्र ही उसके भाई हुसैन ने युद्ध मे परास्त करके मार दिया और स्वय हुसैनशाह के नाम से जौनपुर का शासक बन गया। इसके पश्चात् चार वर्षो के लिए दोनो राज्यों मे शान्ति रही। हुसैनशाह ने बहलोल के बहनोई कुतुबखाँ को मुक्त कर दिया और बहलोल ने हुसैनशाह के भाई जलालखाँ को मुक्त कर दिया। परन्तु यह एक अस्थायी समझौता था। हुसैनशाह साहसी और महत्वाकाक्षी था। उसने भी दिल्ली को जीतने का प्रयत्न किया और दिल्ली राज्य पर आक्रमण किया। इसके पश्चात् दिल्ली और जौनपुर राज्यों मे एक लम्बे समय तक संघर्ष चला। बीच-बीच में दोनो मे सन्धि भी हुई, परन्तु कभी कोई किसी पर आक्रमण करता रहा और कभी कोई किसी पर। दो बार बहलोल ने हुसैनशाह के रनिवास की स्त्रियो और उसकी पत्नी मलिका-ए-जहाँ को पकडने मे भी सफलता पायी यद्यपि दोनों बार उसे सम्मानपूर्वक वापिस कर दिया गया। अन्त मे हुसैनशाह की पराजय हुई और वह बिहार मे शरण लेने के लिए बाध्य हुआ। बहलोल ने जौनपुर राज्य को अपने अधीन कर लिया और अपने पुत्र बारबकशाह को वहाँ का शासक नियुक्त किया। जौनपुर की विजय बहलोल की सबसे महत्वपूर्ण विजय

थी। जौनपुर का राज्य उसके राज्य से अधिक समृद्धशाली और शक्तिशाली था। उसकी विजय का कारण केवल उसकी सैनिक-प्रतिभा और उसका योग्य सेनापतित्व था। इस विजय से उसके राज्य और सम्मान में वृद्धि हुई। इससे न केवल दोआब के विद्रोही सरदार ही उसके अधीन हो गये बल्कि कालपी, धौलपुर और बाड़ी के शासकों ने भी उसकी अधीनता स्वीकार कर ली।

बहलोल का अन्तिम आक्रमण ग्वालियर पर हुआ। ग्वालियर के राजा मानसिंह ने उसे 80 लाख टका दिये। ग्वालियर से वापिस आते हुए मार्ग मे बहलोल बीमार हो गया और जुलाई, 1489 ई० के मध्य मे उसकी मृत्यु हो गयी।

लोदी शासकों मे बहलोल लोदी एक योग्य शासक सिद्ध हुआ। यह उसके अथक परिश्रम और सैनिक-प्रतिभा का परिणाम था कि लोदी-वंश दिल्ली सल्तनत के इतिहास में एक स्थान पा सका और उसका पुत्र सिकन्दर लोदी लोदी शासकों में प्रमुख स्थान प्राप्त कर सका। उसका पिता जीवित न था और उसका लालन-पालन उसके चाचा ने किया था। उसने अपने जीवन का आरम्भ एक साधारण स्थिति से किया परन्तु अपनी सैनिक-प्रतिभा के कारण उसने सुल्तान मुहम्मदशाह से 'मलिक' की उपाधि प्राप्त की और अपने चाचा से सरहिन्द की सूबेदारी। जब उसने दिल्ली का सिंहासन प्राप्त किया तब दिल्ली सल्तनत का आधिपत्य 'केवल पालम तक सीमित था।' बहलोल ने उसे वास्तविक राज्य का स्वरूप प्रदान किया। अपनी 80 वर्ष की वृद्धावस्था मे जब उसकी मृत्यु हुई तब दिल्ली सल्तनत पंजाब से लेकर बिहार तक फैली हुई थी, दिल्ली, बदायूँ, बरन, सम्भल, रपरी आदि प्रमुख नगर उसके राज्य में सम्मिलित थे, राजस्थान का कुछ भाग उसकी अधीनता मे था तथा ग्वालियर, धौलपुर और बाडी के शासक उसे राजस्व देते थे। जब वह सिंहासन पर बैठा था तब तक दिल्ली के दुर्बल शासकों ने दिल्ली सल्तनत की शक्ति और प्रतिष्ठा का सर्वनाश कर दिया था, निकट के जागीरदार, मुख्यतया दोआब के विद्रोही उद्दण्ड बन चुके थे और जौनपुर के शर्की शासकों ने अन्तिम सैय्यद सुल्तानों को परास्त करके असम्मानित किया था तथा शमशाबाद और इटावा तक अपने अधिकार-क्षेत्र का विस्तार कर लिया था। बहलोल लोदी एक योग्य सेनापति साबित हुआ। **उसने विद्रोही जागीरदारों को दबाने में सफलता पायी तथा उसने उस जौनपुर राज्य को दिल्ली राज्य में सम्मिलित कर लिया** जो 85 वर्षों से दिल्ली सुल्तानों को चुनौती दे रहा था तथा शक्ति और साधनों मे दिल्ली सल्तनत की तुलना मे अधिक श्रेष्ठ था। दिल्ली राज्य को संगठित करने, उसका पुन विस्तार करने और उसकी प्रतिष्ठा को स्थापित करने मे बहलोल ने सफलता प्राप्त की।

मूल्यांकन

निस्सन्देह, **बहलोल एक कट्टर सैनिक और योग्य सेनापति था।** अब्दुल्ला ने लिखा है कि "जिस दिन से वह (बहलोल) सुल्तान बना, कोई भी उसके विरुद्ध विजय प्राप्त न कर सका और उसने युद्धस्थल को उस समय तक नही छोडा जब तक कि उसने युद्ध में विजय प्राप्त नही कर ली अथवा उसे घायल स्थिति मे उठाकर युद्ध-

क्षेत्र से बाहर नही ले जाया गया ।"[1] अब्दुल्ला के इस कथन में अतिशयोक्ति हो सकती है परन्तु तब भी इसमें सन्देह नही किया जा सकता कि बहलोल एक प्रतिभाशाली सेनापति था। परन्तु बहलोल जहाँ अत्यधिक साहसी था वहाँ अत्यधिक चालाक भी था। युद्ध को जीतना उसका एकमात्र लक्ष्य रहता था चाहे उसके साधन कुछ भी हों। वजीर हमीदखां और हुसैनशाह शर्की के प्रति उसका व्यवहार चालाकी का रहा था। अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए वह आवश्यकतानुसार धोखेबाजी और चालाकी का भी सहारा लेता था। परन्तु उसके चरित्र का यह पक्ष युद्ध तक ही सीमित था। युद्ध के पश्चात् वह विपक्षी के लिए भी उदार था। दो बार उसने हुसैनशाह की पत्नी को युद्ध में कैद किया परन्तु दोनों बार उसे सम्मान सहित उसके पति के पास भिजवा दिया यद्यपि वह जानता था कि वही स्त्री उसकी और हुसैनशाह की शत्रुता का एक मुख्य कारण थी। डॉ० के. एस लाल ने लिखा है कि "मध्य-युग के भारत मे विजयी मुसलमान सुल्तान का यह व्यवहार सर्वथा एकाकी था।"[2] पराजित हुसैनशाह को भी उसने कुछ परगनों की आय के उपभोग करने का अवसर दे दिया था।

बहलोल कूटनीतिज्ञ और परिस्थितियों को समझने वाला था। जौनपुर के अतिरिक्त उसने किसी अन्य राज्य को जीतने का प्रयत्न नही किया। इससे स्पष्ट है कि वह अपनी शक्ति की सीमाओं को समझता था। इससे भी अधिक व्यावहारिकता का परिचय उसने अपने अफगान सरदारो के प्रति व्यवहार करते हुए दिया। उसने उनमे विश्वास उत्पन्न किया, बडी मात्रा मे उन्हे अपनी सहायता के लिए एकत्रित किया, उन्हें सम्मान प्रदान किया, उन्हे बडी-बड़ी जागीरें दी, उन्हें दिल्ली से लूटी हुई सम्पत्ति मे से बराबर हिस्सा दिया, उनके साथ समानता एव मित्रता का व्यवहार किया, उनके साथ बैठकर भोजन किया, कालीन पर बैठकर दरबार किया, उनकी बीमारी अथवा उनके असन्तुष्ट होने पर उनके घर गया और इस प्रकार उन्हें सन्तुष्ट करके उन्हे अपनी शक्ति का आधार बनाया। निस्सन्देह उसकी इस नीति और व्यवहार से हानिकारक परिणाम भी निकले। इससे सुल्तान सरदारो मे से एक बड़ा सरदार मात्र रह गया। यह स्थिति अफगानों के राजत्व-सिद्धान्त के अनुकूल तो थी परन्तु इसके आधार पर एक केन्द्रीय राज्य और सुल्तान की प्रतिष्ठा का निर्माण नही किया जा सकता था। इससे स्वतन्त्र प्रकृति के अफगानो की महत्वाकांक्षाएँ बलवती हुई और उनकी बडी-बडी जागीरो ने उन्हें शक्तिशाली और साधन-सम्पन्न बनाया जिसके कारण उसके उत्तराधिकारियो को कठिनाई हुई जो सुल्तान और सरदारों के संघर्ष में परिवर्तित होकर लोदी-वश के पतन का एक मुख्य कारण बनी। परन्तु बहलोल लोदी के पास इसके अतिरिक्त और कोई मार्ग न था। उसका राज्य और उसकी शक्ति उसके समर्थक अफगान सरदारो के सहयोग पर निर्भर करती थी। इक्तादार हुसैन

---

1 "From the day he (Bahlul) became king, no one achieved a victory over him; nor did he once leave the field until he had gained the day, or been carried off wounded." —Abdulla.

2 "For a victorious Muslim Sultan in Medieval India, this treatment was unique." —Dr. K. S Lal.

सिद्दीकी के मतानुसार तो बहलोल का विश्वास तुर्कों की भाँति निरकुश राजतन्त्र मे ही था परन्तु उसे परिस्थितियोवश अफगानों की स्वतन्त्र प्रकृति से समझौता करना पड़ा था। वास्तविकता कुछ भी हो परन्तु इसमे सन्देह नही किया जा सकता कि बहलोल ने अपने अफगान सरदारो का सहयोग प्राप्त किया और उन्हें अपने नियन्त्रण मे भी रखने मे सफलता प्राप्त की। भविष्य की घटनाओ को न तो वह समझ सकता था और न उन पर नियन्त्रण ही रख सकता था। इस कारण भविष्य की घटनाओ के लिए उसे दोषी नही माना जा सकता। उसके समय मे उसके अफगान सरदारो ने उसे एक राज्य को स्थापित करने और उसकी प्रतिष्ठा को बनाये रखने मे पूर्ण सहयोग दिया। इसी मे बहलोल लोदी की मुख्य सफलता थी।

एक शासक की दृष्टि से बहलोल न तो योग्य था और न उसे एक व्यवस्थित शासन-व्यवस्था को स्थापित करने का अवकाश मिला। इस दृष्टि से उसका केवल एक कार्य उल्लेखनीय है। उसने 'बहलोली सिक्के' को चलाया जो अकबर से पहले तक उत्तर भारत मे विनिमय का एक मुख्य साधन बना रहा। परन्तु **शासक की दृष्टि से उसे न्यायप्रिय और उदार शासक माना गया है।** अपनी प्रजा के प्रति वह कठोर न था, उसके कष्टों को दूर करने के लिए सदैव तत्पर रहता था और राज्य के धन का अपव्यय अपनी शान-शौकत, व्यक्तिगत व्यसन अथवा बाह्य प्रतिष्ठा के प्रदर्शन हेतु नही करता था।

व्यक्ति की दृष्टि से बहलोल धार्मिक, उदार, साहसी, ईमानदार, परिश्रमी और दयावान था। उसके बारे मे कहा जाता है कि उसके दरवाजे से कोई भी निर्धन व्यक्ति खाली हाथ वापिस नही लौटता था। वह सभी से मित्रवत् और सहृदयता का व्यवहार करता था। उसने सर्वदा विद्वानों और धार्मिक व्यक्तियो का सम्मान किया। वह बहुत सादगी से रहता था। वह कुशाग्र बुद्धि और वाक्पटु भी था। एक बार जबकि मुल्ला फजील ने अफगानो के व्यवहार की कटु आलोचना करना आरम्भ किया तो बहलोल ने मुस्कराकर सिर्फ इतना कहा कि "मुल्ला फजील शान्त हो जाओ क्योकि हम सभी खुदा के बन्दे है।"[1] मुल्ला निरुत्तर होकर फौरन शान्त हो गया। बहलोल धर्म मे आस्था रखता था। वह इस्लाम के नियमो का विधिवत् पालन करता था और व्यक्तिगत दृष्टि से उसे कोई व्यसन न था। परन्तु बहलोल धर्मान्ध न था। उसने हिन्दुओ के प्रति धार्मिक कट्टरता का व्यवहार नही किया बल्कि उसके सरदारो मे कई प्रतिष्ठित हिन्दू सरदार थे जैसे कि राय प्रतापसिंह, राय करनसिंह, राय नरसिंह, राय त्रिलोकचन्द और राय दाँदू।

दिल्ली सल्तनत के इतिहास मे बहलोल का स्थान जौनपुर की विजय, विद्रोही सरदारो के दमन और दिल्ली सल्तनत की खोई हुई प्रतिष्ठा की पुन स्थापना करने के कारण है। वह स्वयं बहुत कुछ कर सका और उसने अपने पुत्र के लिए कुछ और अधिक करने के लिए मार्ग खोल दिया।

---

1 "Mulla Fazin, hold enough, for we are all servants of God."—Sultan Bahlul

आगे बढ़ाया। बहलोल ने विद्रोही सरदारों को दबाकर रखा था और अपने अफगान सरदारों से सुल्तान के अधिकारों के सम्बन्ध मे समझौता कर लिया था, सिकन्दर ने विद्रोही सरदारों की शक्ति को नष्ट कर दिया और अन्य सरदारों को सुल्तान की सत्ता को मानने के लिए बाध्य किया। इस प्रकार राज्य-विस्तार तथा सुल्तान की शक्ति और प्रतिष्ठा की स्थापना की दृष्टि से सिकन्दरशाह अपने पिता से आगे बढ गया और लोदी-वंश के शासकों मे श्रेष्ठ शासक कहलाने का अधिकारी बना।

सिकन्दरशाह ने **सर्वप्रथम अपने विरोधियों को समाप्त किया।** उसने अपने चाचा आलमखाँ को रपरी छोडने के लिए बाध्य किया और जब वह ईसाखाँ की शरण मे चला गया तो सिकन्दर ने उसे आश्वासन देकर अपनी ओर मिला लिया और उसे इटावा की जागीर दे दी, यद्यपि बाद मे वह वहाँ से गुजरात भाग गया। उसने ईसाखाँ को भी एक युद्ध में परास्त किया और युद्ध में घाव लग जाने के कारण ईसाखाँ की शीघ्र मृत्यु हो गयी। उसने अपने भतीजे आजम हुमायूँ को परास्त करके उससे कालपी को छीन लिया। झालरा के विरोधी सरदार तातारखाँ को भी उसने परास्त किया यद्यपि उसकी जागीर उसे वापिस दे दी गयी। इस प्रकार, एक वर्ष के अन्तर्गत ही सिकन्दरशाह ने अपने विरोधी सरदारों और गद्दी के दावेदारो को समाप्त कर दिया।

अपने बड़े भाई तथा जौनपुर के शासक बारबकशाह से उसने केवल यह माँग की वह उसकी अधीनता को मान ले जिससे राज्य का विभाजन न हो। परन्तु जब बारबकशाह ने इस बात को मानने से इन्कार कर दिया तो सिकन्दरशाह ने जौनपुर पर आक्रमण किया। युद्ध मे बारबकशाह की पराजय हुई। सिकन्दरशाह ने जौनपुर मे शासन करने का अधिकार बारबकशाह को ही दे दिया यद्यपि उसने उसके दरबार मे अपने व्यक्तियों की नियुक्ति करके और अपने सरदारो मे वहाँ जागीरें वितरित करके उसे अपने नियन्त्रण मे रखने का प्रबन्ध किया। परन्तु बारबकशाह अयोग्य सिद्ध हुआ। जौनपुर के हिन्दू जमीदारो ने जुगा के नेतृत्व मे एक विद्रोह कर दिया और वह भाग खड़ा हुआ। सिकन्दरशाह ने उस विद्रोह को दबाया, जुगा को बिहार में हुसैनशाह शर्की की शरण में भाग जाने के लिए बाध्य किया और जौनपुर मे एक बार फिर बारबकशाह को शासक नियुक्त किया। परन्तु बारबकशाह पुन: असफल हुआ और हिन्दू जमीदारो (जो शर्की-वंश के शासक हुसैनशाह के पक्ष में थे) ने उसे भागने के लिए बाध्य किया। सिकन्दरशाह ने विद्रोह को दबा दिया। इस बार **बारबकशाह को पकड़कर कारागार में डाल दिया गया और जौनपुर में एक सूबेदार की नियुक्ति कर दी गयी।**

जौनपुर के विद्रोहों ने सिकन्दरशाह को बिहार को जीतने का अवसर प्रदान किया। विद्रोही जमीदारो के नेता जुगा ने भागकर हुसैनशाह शर्की के पास शरण ली थी। उस अवसर पर सिकन्दरशाह ने हुसैनशाह को बिहार भागने के लिए बाध्य किया था। हिन्दुओं के दुवारा विद्रोह करने पर सिकन्दरशाह को बहुत क्षति उठानी पडी। उस अवसर को उपयुक्त समझकर हुसैनशाह ने आगे बढकर सिकन्दरशाह पर आक्रमण किया (1494 ई०)। परन्तु बनारस के निकट एक युद्ध में सिकन्दरशाह ने उसे परास्त

कर दिया । इस बार सिकन्दरशाह ने उसका पीछा किया और उसे बंगाल में शरण लेने के लिए बाध्य किया । बिहार को दिल्ली राज्य में सम्मिलित कर लिया गया ।

यहाँ से सिकन्दर ने तिरहुत पर आक्रमण किया । वहाँ के राजा ने उसके आधिपत्य को स्वीकार कर लिया ।

हुसैनशाह शर्की के बंगाल भाग जाने से दिल्ली की सेना ने बंगाल की सीमा तक उसका पीछा किया । बंगाल का शासक अलाउद्दीन हुसैनशाह बिहार पर दिल्ली के अधिकार को पसन्द नही करता था और उसने दिल्ली की सेना की प्रगति को रोकने के लिए अपने पुत्र दानियाल के नेतृत्व मे एक सेना भेजी । परन्तु बिना किसी युद्ध के दोनों पक्षों में एक समझौता हो गया जिसके अनुसार दोनो पक्षो ने एक दूसरे की सीमाओ पर आक्रमण न करने का वायदा किया, बिहार को सिकन्दर के राज्य की सीमाओ मे मान लिया गया और अलाउद्दीन हुसैनशाह ने यह भी वायदा किया कि वह दिल्ली सुल्तान के शत्रुओं को अपने राज्य मे शरण नही देगा ।

मालवा के आन्तरिक संघर्ष के कारण सिकन्दर को उस राज्य मे हस्तक्षेप करने का अवसर मिला परन्तु उसने मालवा पर आक्रमण नही किया । चन्देरी पर उसने अवश्य अधिकार कर लिया ।

राजपूत राज्यों के विरुद्ध भी सिकन्दर को कुछ सफलता मिली । उसने धौलपुर, मन्देल, उतगिर, नरवर और नागौर को जीतने में सफलता प्राप्त की परन्तु समय-समय पर ग्वालियर के राजा को परास्त करके और उससे राजस्व वसूल करके भी वह ग्वालियर को अपने राज्य में सम्मिलित नहीं कर सका । 1504 ई० में उसने राजस्थान के शासकों पर अपने अधिकार को सुरक्षित रखने के लिए आगरा का नवीन नगर बसाया ।

बिहार की विजय के अतिरिक्त सिकन्दर लोदी की अन्य कोई विजय राज्य के विस्तार की दृष्टि से महत्वपूर्ण न थी । परन्तु वह जौनपुर को दिल्ली के अधीन करने मे सफल हुआ और राजपूत शासको के विरुद्ध उसकी सफलताओ ने उसे सम्मान प्रदान किया । सम्भवतया सिकन्दर अपनी शक्ति की सीमाओं को समझता था और मुसलमान राज्यो से सघर्ष भी नही करना चाहता था । निकट के बगाल और मालवा के राज्यों के प्रति उसका व्यवहार उसकी इस नीति के प्रमाण थे ।

सिकन्दर लोदी की एक मुख्य समस्या अफगान सरदारों की स्वतन्त्र और विद्रोही प्रवृत्ति पर अंकुश लगाने की थी । उसने सभी सूबेदारो और जागीरदारो को अपनी आय और व्यय का विवरण देने की आज्ञा दी । जो भी सरदार राज्य के धन का गबन करता था, उसे उसने दण्ड दिया । जौनपुर के सूबेदार को इसी आधार पर दण्डित किया गया और उससे राज्य का धन वसूल किया गया । उसने सिंहासन पर बैठना आरम्भ किया और सभी अमीरो को दरबार मे अथवा दरबार के बाहर उसके और उसके आदेशो के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिए बाध्य किया । उसके आदेशो को प्राप्त करने के लिए उसके अमीर अपने स्थान से छ मील दूर आते थे । इसी प्रकार सुल्तान के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने के विभिन्न नियम बनाये गये थे और जो उन्हे

तोड़ता था, उसे कठोर दण्ड दिया जाता था। न्याय में वह छोटे और बड़े का कोई अन्तर नहीं करता था। इससे भी उसे सरदारों को अपने अनुशासन में रखने में सफलता मिली। परन्तु शासन और सरदारों को नियन्त्रण में रखने में उसकी सफलता का मुख्य श्रेय उसके गुप्तचर-विभाग को था। सभी स्थानों पर यहाँ तक कि सरदारों के निवास-स्थानों तक में शाही गुप्तचर और संवाददाता नियुक्त किये गये थे जो सुल्तान को प्रतिदिन की सूचना देते थे। उसका गुप्तचर-विभाग इतना श्रेष्ठ था कि जन-साधारण यह विश्वास करता था कि सुल्तान को विभिन्न सूचनाएँ भूत-प्रेतों से प्राप्त होती है। इस प्रकार सिकन्दरशाह ने अपने सरदारों पर अंकुश लगाया। परन्तु सिकन्दरशाह सरदारों से सम्मान तथा अनुशासन की आशा करते हुए भी उनके प्रति क्रूर नहीं था और न उनके साथ असम्मानजनक व्यवहार करता था। वह वृद्ध और अनुभवी सरदारों का सम्मान करता था तथा अन्य सरदारों की भी व्यक्तिगत भावनाओं की परवाह करता था। उसका उद्देश्य केवल सुल्तान की श्रेष्ठता को स्थापित करना था। वह यह भी चाहता था कि वे उसे अपना सुल्तान मानें और अपने को सुल्तान का पदाधिकारी। **अपने इस कार्य में वह सफल हुआ।** एक अवसर पर प्राय 22 सरदारों ने षड्यन्त्र करके सिकन्दर को गद्दी से हटाकर उसके छोटे भाई फतहखाँ को सिंहासन पर बैठाने का प्रयत्न किया परन्तु फतहखाँ ने अपनी माँ और अपने धार्मिक शिक्षक की सलाह पर इसकी सूचना सिकन्दरशाह को दे दी। वे सभी सरदार मार दिये गये अथवा राज्य से निष्कासित कर दिये गये। उसके पश्चात् सिकन्दरशाह के समय में न कोई षड्यन्त्र हुआ और न कोई खुला विद्रोह।

सिकन्दरशाह अत्यधिक परिश्रमी, उदार, न्यायप्रिय और अपनी प्रजा की भलाई चाहने वाला सुल्तान था। वह प्रात.काल से लेकर मध्य-रात्रि तक कार्य करता था। वह न्याय में पूर्णतया निष्पक्ष था और न्यायालयों में उसके प्रतिनिधि रहते थे जो यह देखते थे कि सभी व्यक्तियों को न्याय प्राप्त होता है अथवा नहीं। उसने कृषि और व्यापार की उन्नति का प्रयत्न किया। नाप के लिए एक पैमाना 'गजे सिकन्दरी' उसी के समय में आरम्भ किया गया। वस्तुओं के मूल्य की सूचना उसे प्रति-दिन दी जाती थी जिससे वह जान सके कि जन-साधारण का जीवन किस प्रकार का है। उसने आन्तरिक व्यापारिक करों को समाप्त कर दिया। उसके राज्य में शान्ति और व्यवस्था रही जिसके कारण कृषि और व्यापार की उन्नति हुई। उसने निर्धनों के लिए मुफ्त भोजन की व्यवस्था की। उसके समय में योग्य व्यक्तियों के नामों की सूची बनाकर प्रत्येक छः माह के पश्चात् उसके सामने प्रस्तुत की जाती थी जिसके अनुसार विभिन्न व्यक्तियों को उनकी योग्यतानुसार आर्थिक सहायता प्रदान की जाती थी। इस प्रकार, उसका शासन शान्ति, सम्पन्नता, अनुशासन और प्रगति का रहा। **फीरोज तुगलक के समय के पश्चात् से शासन में उसके समय तक जो दुर्व्यवस्था थी, उसे ठीक करने में सिकन्दर लोदी ने सफलता प्राप्त की।**

धार्मिक दृष्टि से सिकन्दर लोदी असहिष्णु सिद्ध हुआ। तत्कालीन इतिहास-कारों ने भी उसकी नीति को धर्मान्धता की बताया। निजामुद्दीन अहमद ने लिखा

सिकन्दर लोदी का साम्राज्य
भारत 1517 A.D
अफ़गानिस्तान
काश्मीर
पेशावर
लाहौर
मुल्तान
दिल्ली
जैसलमेर
नागौर
बयाना
जोधपुर
अजमेर
राजस्थान
चित्तौर
अन्हिलवाड़ा
चंदेरी
कालपी
कालिंजर
गुजरात
मालवा
लखनऊ
जौनपुर
चुनार
पटना
बिहार
गया
लखनौती
कामरूप
सोनारगाँव
बंगाल
गौंडवाना
बरार
उड़ीसा
अहमदनगर
बीदर
गोलकुण्डा
बीजापुर
विजयनगर
विजयनगर साम्राज्य
अरब सागर
बंगाल की खाड़ी
----राज्य की सीमा
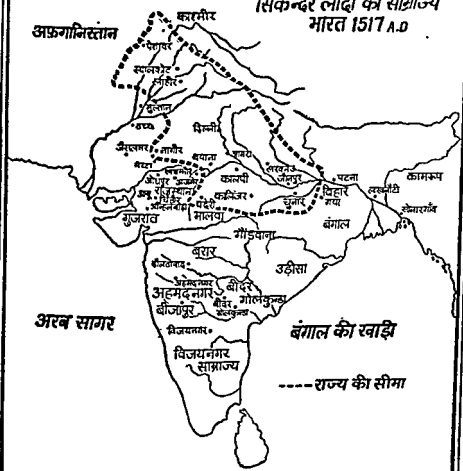
स्थिति मे अपने युग के सहिष्णुता के वातावरण में धार्मिक कट्टरता का परिचय देना एक वडी भूल ही नही थी वलिक एक दुराग्रह भी था। इस कारण **सिकन्दरशाह को धर्मान्धिता के दोष से मुक्त नहीं किया जा सकता।**

परन्तु तब भी सिकन्दरशाह एक सफल शासक माना गया है। अपने अन्तिम दिनो मे वह वयाना गया था। वही उसके गले में बीमारी हो गयी। वह दिल्ली वापिस आ गया परन्तु उसके पश्चात् वह ठीक न हो सका और **21 नवम्बर, 1517 ई० को उसकी मृत्यु हो गयी।**

मूल्यांकन

सिकन्दर लोदी लोदी-वंश का श्रेष्ठ शासक था। तत्कालीन इतिहासकारों ने उसे एक आदर्श शासक माना था और आधुनिक इतिहासकार भी उसे लोदी-वंश के शासको मे महानतम शासक स्वीकार करते है। डॉ० के. एस. लाल ने लिखा है कि "सिकन्दरशाह ने ऐश्वर्य और सफलता से 29 वर्ष शासन किया था। वह लोदी-वंश का सर्वश्रेष्ठ शासक था और उसने अपने को अपने पिता वहलोल तथा अपने पुत्र इब्राहीम से अधिक सफल सिद्ध किया।"[1]

सिकन्दर **सुन्दर, सुडौल और शक्तिशाली** था। सम्भवतया अपने व्यक्तित्व को सुन्दर बनाये रखने के कारण ही वह दाढी नही रखता था। बचपन मे सिकन्दर इतना अधिक सुन्दर था कि उसका शिक्षक शेख हसन मौलवी उससे इतना अधिक प्रेम करने लगा कि शहजादे को उसका महल मे आना पसन्द न रहा। सिकन्दर **शिक्षित और विद्वान था।** वह फारसी भाषा का ज्ञाता था और स्वय कविताओं की रचना करता था। वह **शिक्षा को प्रोत्साहन** देता था और **विद्वानो का सम्मान** करता था। उसने अफगान सरदारों के बच्चो की शिक्षा पर बहुत बल दिया जिससे वह सुसभ्य बनें। प्रति छः माह पश्चात् योग्य व्यक्तियो की सूची बनाकर उसके सम्मुख प्रस्तुत की जाती थी तथा वह उनके लिए इनाम, जागीर और आर्थिक सहायता की व्यवस्था करता था। उसने अनेक मस्जिदें वनवायी थी तथा प्रत्येक मे एक धर्म-प्रचारक, एक शिक्षक और एक मेहतर की नियुक्ति की थी। इस प्रकार उसने मस्जिदों को सरकारी संस्थाओ का स्वरूप प्रदान करके उन्हें शिक्षा के केन्द्र बनाने का प्रयत्न किया था। विद्वानों को संरक्षण देने के कारण उसका दरवार विद्वानो का केन्द्र-स्थल वन गया था। प्रत्येक रात्रि को 70 विद्वान उसके पलग के पास बैठकर विभिन्न प्रकार की चर्चाएँ करते थे। उसने मुस्लिम शिक्षा में सुधार करने के लिए तुलम्बा से विद्वान शेख अब्दुल्ला और शेख अजीजुल्ला को बुलाया था। उसके समय मे सस्कृत के कई ग्रन्थो का फारसी मे अनुवाद किया गया। उसके स्वयं के आदेश से एक आयुर्वेदिक ग्रन्थ का फारसी मे अनुवाद किया गया जिसका नाम 'फरहगे सिकन्दरी' रखा गया। अनेक प्राचीन ग्रन्थों का सग्रह और नवीन ग्रन्थों की रचना भी उसके समय की विशेषता रही। चाहे सिकन्दर इसके लिए

1 "Sikandar Shah had ruled for twenty-nine years, full of glory and distinction. He was the greatest ruler of the Lodi dynasty, and far outshone both his father Bahlul and his son Ibrahim." —Dr. K. S. Lal.

जिम्मेदार न हो परन्तु तब भी यह स्वीकार किया जाता है कि उस समय मे हिन्दू और मुसलमानों में एक दूसरे के साहित्य को पढ़ने का शौक उत्पन्न हुआ था। सम्भवतया यह उस युग का प्रभाव था। सिकन्दर को ललित-कलाओं का भी शौक था। गान-विद्या में उसकी बड़ी रुचि थी और शहनाई सुनने का वह बहुत शौकीन था। उसके समय में गान-विद्या के एक श्रेष्ठ ग्रन्थ 'लज्जत-ए-सिकन्दरशाही' की रचना हुई। स्थापत्य-कला की दृष्टि से उसने अनेक मस्जिदें बनवायी, दिल्ली में अपने पिता का एक स्मारक बनवाया और आगरा शहर को बसाया।

सिकन्दर चरित्रवान, दानी और साधारणतया धर्मपरायण व्यक्ति था। उसके चरित्र में स्त्री-प्रसंग का दोष न था, वह शराब चुपके-चुपके पीता था और उसकी कार्यक्षमता पर उसका कोई प्रभाव नहीं आया था। उसके समय में निर्धनों के लिए राज्य की ओर से खाने-कपड़े की व्यवस्था की जाती थी। एक मुसलमान की दृष्टि से वह इस्लाम के नियमों का पालन करता था यद्यपि वह इनमे बहुत कट्टर न था। इस कारण उसने अपनी मृत्यु के अवसर पर अपनी दाढ़ी न बनवाने और कभी-कभी रोजा और नमाज का विधिवत् पालन न करने के दोष से मुक्ति पाने के लिए बहुत-सा धन दान किया। परन्तु सिकन्दर ने अपनी बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा के प्रति धर्मान्धता का व्यवहार किया। हिन्दू मन्दिरों और मूर्तियों को नष्ट करना, हिन्दुओं को मुसलमान बनने का प्रोत्साहन देना और उन्हे उनके तीर्थस्थानों पर अपने धार्मिक कृत्यों को करने से रोकना उसकी नीति में सम्मिलित थे। वह मूर्ति-पूजा के इतने विरोध मे था कि उसने उससे किसी प्रकार से भी सम्बन्धित मुसलमानो के कार्यों में भी बाधा डाली। ताजियों को निकालना और मुस्लिम स्त्रियों का पीरो की मजारो पर जाना इसी कारण रोका गया था। एक हिन्दू माँ से उत्पन्न और एक हिन्दू स्त्री से विवाह करने के लिए उत्सुक सुल्तान के यह कार्य अस्वाभाविक थे। परन्तु इससे इन्कार नही किया जा सकता कि सिकन्दर ने धर्मान्धता का परिचय दिया और अपने युग की धार्मिक सहिष्णुता की प्रवृत्ति के विरुद्ध कार्य किया जिसके कारण तत्कालीन मुसलमान इतिहासकारों तक ने उसे धर्मान्ध पुकारा।

एक शासक की दृष्टि से सिकन्दर परिश्रमी, न्यायप्रिय और प्रजा की भलाई चाहने वाला सुल्तान था। वह प्रातःकाल से मध्य-रात्रि तक शासन-कार्य में व्यस्त रहता था और उसने अपने सभी व्यक्तिगत शौक त्याग दिये थे। वह अपने व्यक्तिगत शौकों पर राज्य का धन व्यय करना पसन्द नही करता था और साधारणतया उसका जीवन सादगी का था। न्याय मे उसका इतना विश्वास था कि उसके महल मे एक काजी और बारह उलेमा प्रत्येक अवसर पर न्याय करने के लिए उपस्थित रहते थे और यदि सुल्तान को मार्ग मे भी कोई फरियादी मिल जाता था तो वह उसका तुरन्त न्याय करता था। न्याय करने मे वह देर करना पसन्द नहीं करता था। उसका न्याय कठोर था परन्तु प्रतिहिंसा पर आधारित न था। अब्दुल्ला ने लिखा है कि "सुल्तान सिकन्दर का न्याय इतना महान् था कि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की तरफ कठोरता से

देख भी नही सकता था ।"[1] अपनी प्रजा की भलाई के लिए सुल्तान ने व्यापारिक करों और गल्ले के करों मे कमी कर दी थी । उसके समय में सभी वस्तुओं के मूल्य कम रहे । डॉ० एस. ए. हलीम ने लिखा है कि "वस्तुओ के मूल्य मे कमी होने का कारण सोने-चाँदी की कमी और साम्राज्य मे किसी समुद्र-तट के सम्मिलित न होने के कारण विदेशी व्यापार तथा विनिमय की कठिनाई थी ।" परन्तु तब भी यह मानना पड़ता है कि सिकन्दर के समय में जन-साधारण सुखी और सम्पन्न था तथा इसका श्रेय सुल्तान का कृषि और व्यापार को प्रोत्साहन प्रदान करना था। इस प्रकार **सिकन्दर अपनी प्रजा को शान्ति, सम्पन्नता और न्याय प्रदान करने में सफल हुआ था।**

सिकन्दर एक **कट्टर सैनिक, योग्य सेनापति और कुशल सैनिक-संगठन करने वाला था।** वह साहसी और युद्धप्रिय था, यह उसके सैनिक-अभियानों से स्पष्ट होता है। वह सफल सेनापति था, यह उसके साम्राज्य-विस्तार से स्पष्ट होता है। उसने बिहार को विजय किया, तिरहुत के राजा ने उसके आधिपत्य को स्वीकार किया तथा बगाल और उड़ीसा के शासकों ने उसे अपना मित्र मान लिया। उसने राजस्थान मे बयाना, धौलपुर, इटावा, चाँदवार और चन्देरी को जीता तथा नागौर और ग्वालियर के शासकों से उसने राजस्व प्राप्त किया । इसके अतिरिक्त, उसने दोआब के हिन्दू विद्रोहियो को समाप्त कर दिया । इन विजयों के कारण उसे महान् सेनापति तो नही माना जा सकता परन्तु इन्होंने उसके राज्य का विस्तार किया और **सुल्तान की खोई हुई प्रतिष्ठा को स्थापित कर दिया ।**

सिकन्दरशाह की एक मुख्य सफलता अफगान सरदारों को अपने नियन्त्रण में रखने की थी । अपने न्याय, अनुशासन, राज-दरबार के नियम, कठोरता और उदारता के समन्वय की नीति आदि से वह उनमे सुल्तान के प्रति सम्मान की भावना जाग्रत कर सका । उसने आरम्भ मे ही अपने विरोधी सरदारो को समाप्त करने मे सफलता प्राप्त की थी । न्याय मे वह उनके साथ पक्षपात नही करता था। दरबार और दरबार से बाहर भी सुल्तान के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिए उसने नियम बनाये थे जिनका पालन करना अनिवार्य था । उसने 22 षड्यन्त्रकारी सरदारो का वध करा दिया अथवा राज्य से निष्कासित कर दिया । परन्तु सिकन्दर अपने अफगान सरदारो के प्रति कठोर ही न था, वह उनकी व्यक्तिगत भावनाओं का सम्मान करता था, वृद्ध और अनुभवी सरदारो का आदर करता था तथा उन्हे कभी भी अनावश्यक दण्ड नही देता था । उसने कभी भी किसी सरदार को उसकी जागीर से वंचित नही किया जब तक कि उसका अपराध सिद्ध नही हो गया । यदि किसी को कोई गुप्त खजाना प्राप्त हो जाता था तो वह उसे उस खजाने से वंचित नही करता था । इसके अतिरिक्त उसने उन्हें और उनके बच्चो को शिक्षा प्रदान करके सुसभ्य बनाने का प्रयत्न किया जिससे उनकी कबाइली प्रवृत्तियाँ दब जायँ । वह उन्हे परस्पर झगड़े

---

1 "So great was Sultan Sikandar's justice that no man could even look sternly at another." —Abdulla

और द्वन्द्व-युद्ध भी नहीं करने देता था बल्कि ऐसा करने वाले को दण्ड देता था। इन कार्यों से उसने अफगान सरदारों को अनुशासन मे रखने मे सफलता प्राप्त की। जो अफगान सरदार बहलोल लोदी के समय मे सुल्तान को अपने मे से ही एक सरदार मानते थे, वे अब सुल्तान को अपना सुल्तान मानने के लिए बाध्य हो गये। सिकन्दर लोदी ने स्वयं कहा था कि "यदि मैं अपने एक गुलाम को पालकी मे बैठा दूँ तब भी मेरे आदेश पर मेरे सभी सरदार उसे अपने कन्धों पर उठाकर ले जायेंगे।"[1] सिकन्दर लोदी का यह कहना तो अतिशयोक्ति थी क्योंकि यह तो स्वीकार ही नही किया जा सकता कि सिकन्दर लोदी ने अफगान सरदारो की स्वतन्त्र प्रकृति को नष्ट कर दिया था, परन्तु यह अवश्य माना जा सकता है कि वह अपने समय में अफगानो की स्वतन्त्र व कबाइली प्रकृति पर अंकुश लगाने मे सफल हुआ था और इस दृष्टि से सुल्तान की प्रतिष्ठा को स्थापित करने मे वह अपने पिता बहलोल लोदी से अधिक सफल रहा था।

इस प्रकार, सिकन्दर लोदी एक सफल सुल्तान था। उसने अपने पिता द्वारा आरम्भ किये गये कार्य को आगे बढाने मे सफलता प्राप्त की। यदि बहलोल लोदी ने लोदी-वश के दिल्ली राज्य की स्थापना की थी तो सिकन्दर लोदी ने उसे पहले की तुलना में अधिक विस्तृत और दृढ किया था।

[3]

इब्राहीम लोदी (1517-1526 ई०)

सिकन्दर लोदी की मृत्यु के अवसर पर उसके प्राय: सभी महत्वपूर्ण सरदार और पुत्र राजधानी में उपस्थित थे। सरदारो की सम्मति से यह निश्चय किया गया कि दिल्ली का सुल्तान इब्राहीम होगा और जौनपुर का सुल्तान उसका भाई (वह दोनों एक माँ के पुत्र थे) जलालखाँ होगा। इस योजना के अनुसार सिकन्दर का सबसे बडा पुत्र इब्राहीम लोदी दिल्ली का सुल्तान बना। इब्राहीम लोदी-वश का अन्तिम शासक हुआ। उसका समय अपने भाई जलालखाँ के सघर्ष से आरम्भ हुआ, ग्वालियर की विजय उसके समय की एकमात्र और यशस्वी विजय रही और मेवाड से सघर्ष उसके अपमान और उसकी दुर्बलता का कारण बना। परन्तु उसके समय की मुख्य विशेषता उसका अपने अफगान सरदारों से सघर्ष था। सम्भवतया बाबर का भारत पर आक्रमण लोदी-वंश के पतन का मुख्य कारण था क्योंकि इब्राहीम लोदी का बाबर से युद्ध में जीतना असम्भव नही तो अत्यन्त कठिन अवश्य था। परन्तु इब्राहीम का अपने अफगान सरदारो से संघर्ष भी लोदी-वश के पतन के लिए अत्यधिक मात्रा में उत्तरदायी था जिसने बाबर के आक्रमण से पहले ही अफगानों की सैनिक-शक्ति को दुर्बल कर दिया था।

सुल्तान बनने के अवसर पर इब्राहीम ने सरदारो की सलाह से अपने भाई

---

1 "I If order one of my slaves to be seated in a palanquin the entire body of nobility would carry him on their shoulders at my bidding." —Sikandar Lodi.

देख भी नहीं सकता था ।"[1] अपनी प्रजा की भलाई के लिए सुल्तान ने व्यापारिक करो और गल्ले के करो मे कमी कर दी थी । उसके समय मे सभी वस्तुओं के मूल्य कम रहे । डॉ० एस ए हलीम ने लिखा है कि "वस्तुओं के मूल्य में कमी होने का कारण सोने-चाँदी की कमी और साम्राज्य में किसी समुद्र-तट के सम्मिलित न होने के कारण विदेशी व्यापार तथा विनिमय की कठिनाई थी ।" परन्तु तब भी यह मानना पडता है कि सिकन्दर के समय में जन-साधारण सुखी और सम्पन्न था तथा इसका श्रेय सुल्तान का कृषि और व्यापार को प्रोत्साहन प्रदान करना था। इस प्रकार **सिकन्दर अपनी प्रजा को शान्ति, सम्पन्नता और न्याय प्रदान करने में सफल हुआ था।**

सिकन्दर एक **कट्टर सैनिक, योग्य सेनापति और कुशल सैनिक-संगठन करने वाला था।** वह साहसी और युद्धप्रिय था, यह उसके सैनिक-अभियानो से स्पष्ट होता है। वह सफल सेनापति था, यह उसके साम्राज्य-विस्तार मे स्पष्ट होता है। उसने बिहार को विजय किया, तिरहुत के राजा ने उसके आधिपत्य को स्वीकार किया तथा बगाल और उडीसा के शासकों ने उसे अपना मित्र मान लिया। उसने राजस्थान में बयाना, धौलपुर, इटावा, चाँदवार और चन्देरी को जीता तथा नागौर और ग्वालियर के शासकों से उसने राजस्व प्राप्त किया । इसके अतिरिक्त, उसने दोआब के हिन्दू विद्रोहियो को समाप्त कर दिया । इन विजयों के कारण उसे महान् सेनापति तो नही माना जा सकता परन्तु इन्होने उसके राज्य का विस्तार किया और **सुल्तान की खोई हुई प्रतिष्ठा को स्थापित कर दिया ।**

सिकन्दरशाह की एक मुख्य सफलता अफगान सरदारों को अपने नियन्त्रण में रखने की थी। अपने न्याय, अनुशासन, राज-दरबार के नियम, कठोरता और उदारता के समन्वय की नीति आदि से वह उनमें सुल्तान के प्रति सम्मान की भावना जाग्रत कर सका । उसने आरम्भ मे ही अपने विरोधी सरदारों को समाप्त करने मे सफलता प्राप्त की थी । न्याय मे वह उनके साथ पक्षपात नही करता था। दरबार और दरबार से बाहर भी सुल्तान के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिए उसने नियम बनाये थे जिनका पालन करना अनिवार्य था । उसने 22 षड्यन्त्रकारी सरदारो का वध करा दिया अथवा राज्य से निष्कासित कर दिया । परन्तु सिकन्दर अपने अफगान सरदारो के प्रति कठोर हो न था, वह उनकी व्यक्तिगत भावनाओ का सम्मान करता था, वृद्ध और अनुभवी सरदारो का आदर करता था तथा उन्हें कभी भी अनावश्यक दण्ड नही देता था । उसने कभी भी किसी सरदार को उसकी जागीर से वंचित नहीं किया जब तक कि उसका अपराध सिद्ध नही हो गया । यदि किसी को कोई गुप्त खजाना प्राप्त हो जाता था तो वह उसे उस खजाने से वचित नहो करता था । इसके अतिरिक्त उसने उन्हें और उनके बच्चो को शिक्षा प्रदान करके सुसभ्य बनाने का प्रयत्न किया जिससे उनकी कबाइली प्रवृत्तियाँ दब जायँ । वह उन्हे परस्पर झगडे

---

1 "So great was Sultan Sikandar's justice that no man could even look sternly at another." —*Abdulla.*

और द्वन्द्व-युद्ध भी नही करने देता था बल्कि ऐसा करने वाले को दण्ड देता था। इन कार्यों से उसने अफगान सरदारों को अनुशासन मे रखने मे सफलता प्राप्त की। जो अफगान सरदार बहलोल लोदी के समय में सुल्तान को अपने मे से ही एक सरदार मानते थे, वे अब सुल्तान को अपना सुल्तान मानने के लिए बाध्य हो गये। सिकन्दर लोदी ने स्वयं कहा था कि "यदि मै अपने एक गुलाम को पालकी मे बैठा दूं तब भी मेरे आदेश पर मेरे सभी सरदार उसे अपने कन्धो पर उठाकर ले जायेंगे।"[1] सिकन्दर लोदी का यह कहना तो अतिशयोक्ति थी क्योकि यह तो स्वीकार ही नही किया जा सकता कि सिकन्दर लोदी ने अफगान सरदारो की स्वतन्त्र प्रकृति को नष्ट कर दिया था, परन्तु यह अवश्य माना जा सकता है कि वह अपने समय मे अफगानो की स्वतन्त्र व कबाइली प्रकृति पर अंकुश लगाने मे सफल हुआ था और इस दृष्टि से सुल्तान की प्रतिष्ठा को स्थापित करने मे वह अपने पिता बहलोल लोदी से अधिक सफल रहा था।

इस प्रकार, सिकन्दर लोदी एक सफल सुल्तान था। उसने अपने पिता द्वारा आरम्भ किये गये कार्य को आगे बढाने मे सफलता प्राप्त की। यदि बहलोल लोदी ने लोदी-वंश के दिल्ली राज्य की स्थापना की थी तो सिकन्दर लोदी ने उसे पहले की तुलना मे अधिक विस्तृत और दृढ किया था।

[3]

इब्राहीम लोदी (1517-1526 ई०)

सिकन्दर लोदी की मृत्यु के अवसर पर उसके प्राय. सभी महत्वपूर्ण सरदार और पुत्र राजधानी मे उपस्थित थे। सरदारो की सम्मति से यह निश्चय किया गया कि दिल्ली का सुल्तान इब्राहीम होगा और जौनपुर का सुल्तान उसका भाई (वह दोनों एक माँ के पुत्र थे) जलालखाँ होगा। इस योजना के अनुसार सिकन्दर का सबसे बड़ा पुत्र इब्राहीम लोदी दिल्ली का सुल्तान बना। इब्राहीम लोदी-वंश का अन्तिम शासक हुआ। उसका समय अपने भाई जलालखाँ के संघर्ष से आरम्भ हुआ, ग्वालियर की विजय उसके समय की एकमात्र और यशस्वी विजय रही और मेवाड से संघर्ष उसके अपमान और उसकी दुर्बलता का कारण बना। परन्तु उसके समय की मुख्य विशेषता उसका अपने अफगान सरदारों से संघर्ष था। सम्भवतया बाबर का भारत पर आक्रमण लोदी-वंश के पतन का मुख्य कारण था क्योकि इब्राहीम लोदी का बाबर से युद्ध में जीतना असम्भव नही तो अत्यन्त कठिन अवश्य था। परन्तु इब्राहीम का अपने अफगान सरदारों से संघर्ष भी लोदी-वंश के पतन के लिए अत्यधिक मात्रा में उत्तरदायी था जिसने बाबर के आक्रमण से पहले ही अफगानो की सैनिक-शक्ति को दुर्बल कर दिया था।

सुल्तान बनने के अवसर पर इब्राहीम ने सरदारो की सलाह से अपने भाई

---

1 "I If order one of my slaves to be seated in a palanquin, the entire body of nobility would carry him on their shoulders at my bidding" —Sikandar Lodi.

देख भी नही सकता था ।"[1] अपनी प्रजा की भलाई के लिए सुल्तान ने व्यापारिक करो और गल्ले के करो मे कमी कर दी थी। उसके समय मे सभी वस्तुओं के मूल्य कम रहे। डॉ० एस ए हलीम ने लिखा है कि "वस्तुओ के मूल्य में कमी होने का कारण सोने-चाँदी की कमी और साम्राज्य मे किसी समुद्र-तट के सम्मिलित न होने के कारण विदेशी व्यापार तथा विनिमय की कठिनाई थी।" परन्तु तब भी यह मानना पडता है कि सिकन्दर के समय मे जन-साधारण सुखी और सम्पन्न था तथा इसका श्रेय सुल्तान का कृषि और व्यापार को प्रोत्साहन प्रदान करना था। इस प्रकार सिकन्दर अपनी प्रजा को शान्ति, सम्पन्नता और न्याय प्रदान करने में सफल हुआ था।

सिकन्दर एक कट्टर सैनिक, योग्य सेनापति और कुशल सैनिक-संगठन करने वाला था। वह साहसी और युद्धप्रिय था, यह उसके सैनिक-अभियानो से स्पष्ट होता है। वह सफल सेनापति था, यह उसके साम्राज्य-विस्तार से स्पष्ट होता है। उसने बिहार को विजय किया, तिरहुत के राजा ने उसके आधिपत्य को स्वीकार किया तथा बगाल और उडीसा के शासकों ने उसे अपना मित्र मान लिया। उसने राजस्थान मे बयाना, धौलपुर, इटावा, चाँदवार और चन्देरी को जीता तथा नागौर और ग्वालियर के शासको से उसने राजस्व प्राप्त किया। इसके अतिरिक्त, उसने दोआब के हिन्दू विद्रोहियो को समाप्त कर दिया। इन विजयो के कारण उसे महान् सेनापति तो नही माना जा सकता परन्तु इन्होंने उसके राज्य का विस्तार किया और सुल्तान की खोई हुई प्रतिष्ठा को स्थापित कर दिया।

सिकन्दरशाह की एक मुख्य सफलता अफगान सरदारों को अपने नियन्त्रण में रखने की थी। अपने न्याय, अनुशासन, राज-दरबार के नियम, कठोरता और उदारता के समन्वय की नीति आदि से वह उनमें सुल्तान के प्रति सम्मान की भावना जाग्रत कर सका। उसने आरम्भ में ही अपने विरोधी सरदारो को समाप्त करने मे सफलता प्राप्त की थी। न्याय मे वह उनके साथ पक्षपात नही करता था। दरबार और दरबार से बाहर भी सुल्तान के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिए उसने नियम बनाये थे जिनका पालन करना अनिवार्य था। उसने 22 षड्यन्त्रकारी सरदारो का वध करा दिया अथवा राज्य से निष्कासित कर दिया। परन्तु सिकन्दर अपने अफगान सरदारो के प्रति कठोर ही न था, वह उनकी व्यक्तिगत भावनाओं का सम्मान करता था, वृद्ध और अनुभवी सरदारो का आदर करता था तथा उन्हे कभी भी अनावश्यक दण्ड नहीं देता था। उसने कभी भी किसी सरदार को उसकी जागीर से वंचित नहीं किया जब तक कि उसका अपराध सिद्ध नहीं हो गया। यदि किसी को कोई गुप्त खजाना प्राप्त हो जाता था तो वह उसे उस खजाने से वंचित नही करता था। इसके अतिरिक्त उसने उन्हें और उनके बच्चों को शिक्षा प्रदान करके सुसभ्य बनाने का प्रयत्न किया जिससे उनकी कबाइली प्रवृत्तियाँ दब जायें। वह उन्हें परस्पर लगाई

---

1 "So great was Sultan Sikandar's justice that no man could even look sternly at another." —Abdulla

और द्वन्द्व-युद्ध भी नही करने देता था बल्कि ऐसा करने वाले को दण्ड देता था। इन कार्यों से उसने अफगान सरदारो को अनुशासन मे रखने में सफलता प्राप्त की। जो अफगान सरदार बहलोल लोदी के समय मे सुल्तान को अपने मे से ही एक सरदार मानते थे, वे अब सुल्तान को अपना सुल्तान मानने के लिए बाध्य हो गये। सिकन्दर लोदी ने स्वय कहा था कि "यदि मैं अपने एक गुलाम को पालकी में बैठा दूं तब भी मेरे आदेश पर मेरे सभी सरदार उसे अपने कन्धों पर उठाकर ले जायेंगे।"[1] सिकन्दर लोदी का यह कहना तो अतिशयोक्ति थी क्योकि यह तो स्वीकार ही नही किया जा सकता कि सिकन्दर लोदी ने अफगान सरदारो की स्वतन्त्र प्रकृति को नष्ट कर दिया था, परन्तु यह अवश्य माना जा सकता है कि वह अपने समय मे अफगानो की स्वतन्त्र व कबाइली प्रकृति पर अकुश लगाने मे सफल हुआ था और इस दृष्टि से सुल्तान की प्रतिष्ठा को स्थापित करने में वह अपने पिता बहलोल लोदी से अधिक सफल रहा था।

इस प्रकार, सिकन्दर लोदी एक सफल सुल्तान था। उसने अपने पिता द्वारा आरम्भ किये गये कार्य को आगे बढाने मे सफलता प्राप्त की। यदि बहलोल लोदी ने लोदी-वश के दिल्ली राज्य की स्थापना की थी तो सिकन्दर लोदी ने उसे पहले की तुलना मे अधिक विस्तृत और दृढ किया था।

[3]
इब्राहीम लोदी (1517-1526 ई०)

सिकन्दर लोदी की मृत्यु के अवसर पर उसके प्राय सभी महत्वपूर्ण सरदार और पुत्र राजधानी मे उपस्थित थे। सरदारों की सम्मति से यह निश्चय किया गया कि दिल्ली का सुल्तान इब्राहीम होगा और जौनपुर का सुल्तान उसका भाई (वह दोनो एक माँ के पुत्र थे) जलालखाँ होगा। इस योजना के अनुसार सिकन्दर का सबसे बड़ा पुत्र इब्राहीम लोदी दिल्ली का सुल्तान बना। इब्राहीम लोदी-वश का अन्तिम शासक हुआ। उसका समय अपने भाई जलालखाँ के सघर्ष से आरम्भ हुआ, ग्वालियर की विजय उसके समय की एकमात्र और यशस्वी विजय रही और मेवाड से सघर्ष उसके अपमान और उसकी दुर्बलता का कारण बना। परन्तु उसके समय की मुख्य विशेषता उसका अपने अफगान सरदारो से संघर्ष था। सम्भवतया बाबर का भारत पर आक्रमण लोदी-वंश के पतन का मुख्य कारण था क्योकि इब्राहीम लोदी का बाबर से युद्ध मे जीतना असम्भव नही तो अत्यन्त कठिन अवश्य था। परन्तु इब्राहीम का अपने अफगान सरदारों से संघर्ष भी लोदी-वंश के पतन के लिए अत्यधिक मात्रा मे उत्तरदायी था जिसने बाबर के आक्रमण से पहले ही अफगानो की सैनिक-शक्ति को दुर्बल कर दिया था।

सुल्तान बनने के अवसर पर इब्राहीम ने सरदारों की सलाह मे अपने भाई

---

1 "I If order one of my slaves to be seated in a palanquin, the entire body of nobility would carry him on their shoulders at my bidding." —Sikandar Lodi.

जलालखाँ को जौनपुर का शासक स्वीकार कर लिया था। जलालखाँ अपने सहयोगी सरदारों को लेकर कालपी की ओर चल दिया। इतने में ही रपरी का सूबेदार

कार्य या घटनाएँ

खान-ए-जहाँ नूहानी दिल्ली पहुँचा तथा उसने सरदारों और सुल्तान को साम्राज्य के इस विभाजन से होने वाले दोषों को समझाया। निस्सन्देह, साम्राज्य का विभाजन राज्य के हित में न था और सम्भवतया अफगान सरदारों ने सुल्तान की शक्ति को सीमित रखने के लिए ही इस विभाजन की योजना बनायी थी। इस कारण इब्राहीम और दिल्ली के सरदार साम्राज्य-विभाजन के विरोधी हो गये। इब्राहीम ने आरम्भ में निश्चित किये गये समझौते को भंग करके एकमात्र सुल्तान रहने का निश्चय कर लिया। जलालखाँ कालपी ही पहुँच पाया था कि इब्राहीम ने हैबतखाँ के हाथों एक सन्देश भेजकर उसे दिल्ली बुलाया। उसने जौनपुर और बिहार के सरदारों को यह आदेश भेज दिये कि वह जलालखाँ की आज्ञाओं का पालन न करें और सुरक्षा की दृष्टि से उसने अपने अन्य भाइयों को कारागार में डाल दिया। जलालखाँ ने दिल्ली आने से इन्कार कर दिया और जब उसे यह पता लगा कि जौनपुर के सरदारों को उसे पकड़ने के आदेश दिये गये हैं तो उसने **कालपी में स्वयं को 'जलालुद्दीन' के नाम से सुल्तान घोषित कर दिया।** इब्राहीम ने बड़ी शान-शौकत से दिसम्बर, 1517 ई० में अपना पुनः राज्याभिषेक किया और तत्पश्चात् आजम हुमायूँ सरवानी को जलालखाँ (सुल्तान जलालुद्दीन) के विरुद्ध भेजा। आजम हुमायूँ सरवानी का पुत्र फतहखाँ जलालखाँ का वजीर था और जब जलालखाँ ने उससे भी सहायता का आग्रह किया तो वह उसके साथ मिल गया। उनकी सम्मिलित सेनाओं ने अवध पर आक्रमण किया और वहाँ के सूबेदार सईदखाँ को लखनऊ भागने के लिए वाध्य किया। जनवरी, 1518 ई० में इब्राहीम जलालखाँ के विरुद्ध स्वयं गया। आजम हुमायूँ सरवानी और उसका पुत्र फतहखाँ भी जलालखाँ का साथ छोड़कर उसके साथ आ मिले। इससे जलालखाँ का पक्ष दुर्बल हो गया परन्तु तब भी उसने आगरा पर आक्रमण किया। शाही सेना ने कालपी पर सरलता से विजय प्राप्त कर ली परन्तु इब्राहीम की अनुपस्थिति में आगरा पर जलालखाँ का आक्रमण संकटपूर्ण बन गया। उस अवसर पर मलिक आदम काकर ने जलालखाँ को कालपी देने का आश्वासन देकर इब्राहीम को सुल्तान मानने के लिए तैयार कर लिया। जलालखाँ ने अपने सरदारों के विरोध के बावजूद भी अपना राजदण्ड और छत्र इब्राहीम के पास भेज दिये और अपनी सेना को भी भंग कर दिया। परन्तु इब्राहीम किसी भी शर्त को मानने के लिए तैयार न हुआ। वह जलालखाँ के पूर्ण दमन पर अड़ा रहा। जलालखाँ निराश होकर ग्वालियर भाग गया और जब इब्राहीम ने ग्वालियर पर आक्रमण किया तो वह मालवा भाग गया। जलालखाँ मालवा से गोंड राजा की शरण में चला गया जहाँ के शासक ने उसे कैद करके इब्राहीम के पास भिजवा दिया। इब्राहीम ने उसे हाँसी के किले में कैद करने के लिए भेजा परन्तु मार्ग में उसे जहर देकर मरवा दिया। **इस प्रकार इब्राहीम ने अपने भाई को समाप्त करके राज्य के विभाजन को तो बचा लिया परन्तु**

इस संघर्ष से अनेक सरदारों में यह भावना उत्पन्न हो गयी कि इब्राहीम पर विश्वास नहीं किया जा सकता क्योंकि दो बार इब्राहीम ने सरदारो द्वारा अपने भाई से कराये गये समझौते को ठुकरा दिया था, अपने सभी भाइयों को कैद कर दिया था और जलालखाँ को जहर देकर मरवा दिया था।

इसके पश्चात् **इब्राहीम ने ग्वालियर को जीतने की योजना बनायी।** ग्वालियर ने समय-समय पर दिल्ली सुल्तानों का विरोध किया था और उसे जीतने के सिकन्दर-शाह के प्रयत्न असफल हुए थे। इस कारण ग्वालियर की विजय इब्राहीम की प्रतिष्ठा में वृद्धि कर सकती थी। ग्वालियर के राजा द्वारा जलालखाँ को शरण देना इस अवसर पर एक उपयुक्त बहाना भी था। आजम हुमायूँ सरवानी के नेतृत्व में एक बड़ी सेना ने ग्वालियर पर आक्रमण किया। उस समय तक ग्वालियर के राजा मानसिंह की मृत्यु हो चुकी थी और उसका पुत्र विक्रमाजीत वहाँ का राजा था। उसने साहसपूर्वक किले की सुरक्षा का प्रबन्ध किया परन्तु वह असफल हुआ और अन्त मे उसने आत्म-समर्पण कर दिया। **ग्वालियर पर इब्राहीम का अधिकार हो गया।** परन्तु इब्राहीम ने उदारता से विक्रमाजीत को शमशाबाद की जागीर दे दी।

ग्वालियर की विजय से प्रोत्साहित होकर **इब्राहीम ने मेवाड़ को जीतने की योजना बनायी।** राजस्थान मे मेवाड़ सबसे शक्तिशाली राज्य था और उसका शासक सग्रामसिंह (राणा साँगा) एक महान् योद्धा था। दिल्ली सल्तनत और मेवाड का झगड़ा मालवा के अधिकार को लेकर था। मालवा में प्रधानमन्त्री मेदिनीराय की शक्ति प्रबल हो गयी थी तथा मालवा के सुल्तान ने असहाय होकर गुजरात और दिल्ली के शासको से सहायता माँगी थी। सिकन्दर लोदी ने उसकी सहायता के लिए अपने समय में एक सेना भेजी थी। परन्तु राणा संग्रामसिंह से सहायता प्राप्त करके मेदिनीराय ने गुजरात के शासक और सिकन्दरशाह के मालवा में हस्तक्षेप करने के प्रयत्नो को असफल कर दिया। इस प्रकार राणा संग्रामसिंह धीरे-धीरे मालवा मे राजपूत प्रभाव को बढ़ाने का प्रयत्न कर रहा था जबकि दिल्ली सुल्तान स्वय मालवा की प्राप्त करने के लिए उत्सुक होने लगे थे। अतः इब्राहीम लोदी ने मेवाड़ को विजय करके अपने राज्य और सम्मान मे वृद्धि करने का प्रयत्न किया। जलालखाँ के विद्रोह के अवसर पर राणा संग्रामसिंह ने दिल्ली सल्तनत के कुछ क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया। इब्राहीम एक सेना लेकर उसके विरुद्ध गया। ग्वालियर के निकट खतौली नामक स्थान पर एक युद्ध (1517-18 ई०) हुआ जिसमे पराजित होकर इब्राहीम को वापिस लौटना पड़ा। राणा सग्रामसिंह ने अपना बायाँ हाथ खो दिया और उसकी एक टाँग घायल हो गयी परन्तु विजय उसी को प्राप्त हुई। एक वर्ष पश्चात् 1518-19 ई० मे इब्राहीम ने पुनः आक्रमण किया। धौलपुर के निकट हुए उस युद्ध में भी दिल्ली की सेना की पराजय हुई। उसके पश्चात् भी मेवाड़ और दिल्ली में विभिन्न युद्ध हुए परन्तु उनमे अधिकांशतया दिल्ली की सेना को ही पराजित होना पडा। इस प्रकार इब्राहीम के समय में दिल्ली और मेवाड में निरन्तर संघर्ष चलता रहा जिसमे लाभ राजपूतों को मिला और राणा ने बयाना तक अपने राज्य

का विस्तार करने मे सफलता प्राप्त की। इस प्रकार **मेवाड़ से युद्ध करने में इब्राहीम को असफलता और असम्मान प्राप्त हुआ तथा उसकी सैनिक-शक्ति दुर्बल हुई।**

इब्राहीम के शासन-काल की मुख्य घटना सुल्तान और उसके अफगान सरदारों का संघर्ष था। इसके लिए एक तरफ सुल्तान इब्राहीम का निरकुश राज्यतन्त्र की स्थापना का प्रयत्न और उसकी सन्देही प्रकृति तथा दूसरी तरफ अफगान सरदारो की स्वतन्त्रता और समानता की भावना एव अपनी सुरक्षा के लिए सुल्तान की तरफ से आशकित होना था। इब्राहीम ने स्वेच्छाचारी तुर्की सुल्तानों के समान व्यवहार करना आरम्भ किया। उसका विश्वास था कि सुल्तान का कोई सम्बन्धी नही होता और राज्य के सरदार उसके सेवक मात्र होते है। उसने दरबार के अमीरो को अपने सम्मुख हाथ बाँधकर खडे होने की आज्ञा दी। जलालखाँ के विद्रोह के कारण वह अमीरों की तरफ से शकित हो गया और उसे समाप्त करने मे सफल होने के कारण वह दम्भी हो गया। उसने अपने पिता के समय के सभी सरदारो को समाप्त करने का निश्चय किया। वास्तव मे इब्राहीम ने उन्ही अफगान सरदारों को समाप्त करने का प्रयत्न किया जिन पर उसके राज्य की शक्ति निर्भर करती थी। सुल्तान सिकन्दर ने सरदारो को अपने नियन्त्रण मे रखने मे सफलता प्राप्त की थी। उसका एक मुख्य कारण यह भी रहा था कि उसने उन्हें अपमानित नही किया था, उनकी व्यक्तिगत भावनाओं का सम्मान किया था और उनकी शक्ति को नष्ट करने के स्थान पर उसको अपने हित की पूर्ति मे लगाया था। इब्राहीम ने अपने अफगान सरदारो को नष्ट करके अपने निरकुश शासन की स्थापना का प्रयत्न किया। यह अफगान सरदारो की प्रकृति और सुरक्षा के विरुद्ध था जिसके कारण इब्राहीम का सम्पूर्ण समय अफगान सरदारो के विद्रोह मे भरपूर रहा।

जलालखाँ के विद्रोह के अवसर पर सुल्तान और उसके अफगान सरदारों में सन्देह के कारण उपस्थित हो गये थे। इब्राहीम ने आरम्भ मे हुए साम्राज्य के विभाजन को ठुकरा दिया था। निस्सन्देह जो सरदार इस विभाजन के पक्ष मे थे और जलालखाँ के साथ चले गये थे, वे असन्तुष्ट हुए। दूसरी बार इब्राहीम ने मलिक आदम काकर द्वारा जलालखाँ से किये गये समझौते को ठुकरा दिया था। इससे यह स्पष्ट हो गया कि सुल्तान का व्यवहार विश्वसनीय न था। सुल्तान भी अपने सरदारों के प्रति शका करने लगा। ग्वालियर के किले से जलालखाँ को मालवा भागने का अवसर मिल सका था। इब्राहीम ने इसके लिए आजम हुमायूँ सरवानी को दोषी समझा क्योंकि उसने एक बार पहले भी जलालखाँ का साथ दिया था। इब्राहीम ने ग्वालियर के किले की विजय से पहले ही आजम हुमायूँ और उसके पुत्र फतहखाँ को आगरा बुलाया और उन्हे कारागार मे डाल दिया। वास्तव मे जलालखाँ के विद्रोह करने के पश्चात् इब्राहीम अपने पिता के समय के सभी सरदारो के प्रति शंकालु हो गया और उस विद्रोह की समाप्ति के पश्चात् उन सभी को समाप्त करने के लिए तत्पर हो गया। उसने अपने वजीर मियाँ भुआ को भी कारागार मे डाल दिया। मियाँ भुआ सिकन्दर लोदी का वजीर रहा था और 28 वर्ष से वफादारी एव योग्यता से लोदी सुल्तानों की सेवा

कर रहा था। उसका अपराध, सम्भवतया, सिर्फ यह था कि वह वृद्ध हो गया था और अधिक परिश्रम से राज्य की सेवा करने मे असमर्थ था। इब्राहीम ने उस जैसे प्रतिष्ठित सरदार को कारागार मे बन्द करके ठीक नही किया और उससे भी अधिक भूल यह की कि उसी के पुत्र को अपना वजीर बना दिया। जिसका वृद्ध पिता कारागार मे हो, उससे वफादारी की आशा करना व्यर्थ था। अपने भाइयो के प्रति भी इब्राहीम का व्यवहार क्रूरता का रहा। जलालखाँ को जहर देकर मरवा दिया गया और सम्भवतया महमूद के अतिरिक्त उसके सभी भाई कारागार मे मर गये। इसके अतिरिक्त, इब्राहीम ने पुराने सरदारो के स्थान पर अपने प्रति वफादार नवीन और छोटे सरदारो को बड़े-बड़े पद प्रदान आरम्भ कर दिया था। उसके इन कार्यों ने अनेक सरदारो को असन्तुष्ट कर दिया। आजम हुमायूँ को कारागार में बन्द करने से यह असन्तोष फूट पड़ा। आजम हुमायूँ के दूसरे पुत्र इस्लामखाँ ने कड़ा में विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। उसने सुल्तान द्वारा भेजे गये अहमदखाँ को परास्त कर दिया। आजम हुमायूँ लोदी और सईदखाँ लोदी भी सुल्तान का साथ छोडकर इस्लामखाँ के साथ जा मिले और यह विद्रोह कड़ा से कन्नौज तक के सम्पूर्ण अवध प्रदेश मे फैल गया। विद्रोहियो ने सुल्तान द्वारा भेजी गयी एक सेना पर धोखे से आक्रमण करके उसे परास्त कर दिया। इब्राहीम ने अपने सरदारो को आदेश दिये कि वे विद्रोहियों को दण्ड दिये बिना वापिस न लौटें। उसने अपने सरदारो की सहायता के लिए और अधिक सेना भेजी और फिर स्वयं भी युद्ध करने के लिए गया। विद्रोहियो ने प्राय 40 हजार घुड़सवार और 500 हाथियो की एक सम्मिलित सेना एकत्र कर ली थी। दोनो ओर की सेनाओं मे प्रमुख अफगान सरदार थे, यहाँ तक कि बाप-बेटे एक दूसरे के विरुद्ध खडे हुए थे। स्पष्ट था कि युद्ध भयंकर होगा और अफगान परस्पर युद्ध करके अपने निकट सम्बन्धियो तक का वध करेंगे। इस कारण तत्कालीन प्रतिष्ठित सन्त शेख यूसुफ कत्ताल ने बीच मे पडकर समझौता कराने का प्रयत्न किया। विद्रोहियो ने आजम हुमायूँ सरवानी को मुक्त कर देने की शर्त रखी जिसके लिए इब्राहीम तैयार न हुआ। परिणामस्वरूप भयंकर युद्ध हुआ। निआमतउल्ला ने लिखा है कि "हिन्दुस्तान में इतना अधिक रक्तरंजित युद्ध वर्षों से नही लड़ा गया था—लाशो के ढेरो से युद्ध-स्थल भर गया और मैदान मे रक्त की नदियाँ बहने लगी। पारस्परिक प्रतिस्पर्धा और प्रकृतिदत्त शौर्य के कारण भाई ने भाई और पिता ने पुत्र से युद्ध किया। उन्होने तीर-कमान और भालों को त्याग कर छुरा, चाकू और तलवार से युद्ध किया।"[1] दोनो पक्षो को मिलाकर 10,000 बहादुर अफगान मारे गये। **इब्राहीम की विजय हुई।** इस्लामखाँ मारा गया। सईदखाँ और अनेक सरदार कैद कर लिये गये। इब्राहीम ने सरदारों की

---

1 'Fc[illegible]
Dea[illegible]
ove[illegible]
mu[illegible]
the[illegible]
sword and knife." —Niamatullah.

शक्ति को नष्ट करने में सफलता प्राप्त की परन्तु इस युद्ध में सेना के सर्वाधिक साहसी शूरवीर मारे गये और अफगानों की शक्ति दुर्बल हो गयी। **इब्राहीम के एक हठ ने अपने शक्ति-स्तम्भों की जड़ों को खोखला कर दिया।**

इस युद्ध के पश्चात् इब्राहीम और भी अधिक उद्दण्ड हो गया। आजम हुमायूँ और मियाँ भुआ की कारागार में मृत्यु हो गयी। इससे सरदारों में इब्राहीम के प्रति शंका हुई। इसी समय इब्राहीम ने हुसैनखाँ फरमूली का चन्देरी में धोखे से वध करा दिया और उसके हत्यारे को 700 सोने के सिक्के और 10 गाँव प्रदान किये। इससे अनेक अफगान सरदारों को यह विश्वास हो गया कि सुल्तान उनमें से प्रत्येक को कष्ट करने पर तुला हुआ है। जो सरदार अभी तक सुल्तान इब्राहीम की वफादारी से सेवा कर रहे थे, वे भी अब उसके प्रति शंकालु हो गये। इस कारण बिहार के सूबेदार दरियाखाँ नूहानी, खान-ए-जहाँ लोदी आदि ने पूर्व में विद्रोह कर दिया। दरियाखाँ नूहानी की शीघ्र मृत्यु हो गयी और उसके पुत्र बहादुरखाँ (बहारखाँ) ने बिहार में स्वयं को स्वतन्त्र शासक घोषित करके 'सुल्तान मुहम्मद' की उपाधि ग्रहण कर ली। गाजीपुर का सूबेदार नसीरखाँ नूहानी और अनेक असन्तुष्ट सरदार मुहम्मद से जा मिले। उसकी सेना में एक लाख घुड़सवार हो गये और उसने बिहार से लेकर सम्भल तक के सम्पूर्ण क्षेत्र पर अपना अधिकार कर लिया। उसने कई बार इब्राहीम द्वारा भेजी गयी सेनाओं को परास्त करने में सफलता प्राप्त की। इब्राहीम ने पंजाब के सूबेदार दौलतखाँ लोदी को अपनी सहायता के लिए आगरा बुलाया। परन्तु शंकावश उसने अपने पुत्र दिलावरखाँ को आगरा भेज दिया। इब्राहीम अभी तक अपनी कठोरता और निर्ममता की नीति के दोषों से अनभिज्ञ रहा। उसने दिलावरखाँ को आतंकित करने का प्रयत्न किया जिसके कारण उसने चुपके से अपने पिता के पास पहुँचकर उसे सावधान कर दिया कि इब्राहीम पर विश्वास नहीं किया जा सकता। इस कारण दौलतखाँ लोदी ने सुल्तान इब्राहीम की सहायता के लिए जाने की बजाय काबुल के शासक बाबर को भारत पर आक्रमण करने के लिए निमन्त्रण दिया।

इसी समय जबकि इब्राहीम की शक्ति को तोड़ने के लिए दौलतखाँ लोदी ने बाबर को निमन्त्रण दिया, इब्राहीम के चाचा आलमखाँ लोदी ने जो सिकन्दरशाह के विरुद्ध विद्रोह करने के पश्चात् से गुजरात के शासक की शरण में था, बाबर से सहायता माँगी और काबुल गया। बाबर ने जो पहले से ही भारत पर आक्रमण करने के लिए इच्छुक था, इसे एक सुअवसर समझा और 1524 ई० में उसने लाहौर तक आक्रमण किया तथा इब्राहीम की एक सेना को परास्त करने में सफलता पायी। परन्तु इस बार लाहौर में अपने सरदारों की नियुक्ति करके बाबर भारत से वापिस चला गया। दौलतखाँ लोदी ने जो बाबर की ओर से शंकित हो गया था, आलमखाँ लोदी से एक समझौता करके 1525 ई० में दिल्ली पर आक्रमण किया परन्तु इब्राहीम ने उन दोनों को परास्त कर दिया।

नवम्बर, 1525 ई० में बाबर अपने भारत-विजय के अभियान पर काबुल से चला। दौलतखाँ लोदी और आलमखाँ लोदी इब्राहीम से परास्त हो चुके थे। अत.

पंजाब को जीतने में उसे कोई कठिनाई नहीं हुई। दौलतखाँ, उसका पुत्र दिलावरखाँ और आलमखाँ उससे मिल गये। 12 अप्रैल, 1526 ई० को बाबर पानीपत के मैदान में पहुँचा। इब्राहीम लोदी की शक्ति इस समय तक काफी दुर्बल हो गयी थी। उसका सम्पूर्ण पूर्वी भारत का राज्य उसके हाथ से निकल चुका था, मेवाड के शासक राणा संग्रामसिंह ने उसकी शक्ति को हानि पहुँचायी थी और सम्भवतया उसने भी इस अवसर पर बाबर को निमन्त्रण भेजा था तथा सम्पूर्ण पंजाब को उसने खो दिया था। इसके अतिरिक्त मालवा और गुजरात के शासक भी इब्राहीम की पराजय के इच्छुक थे। यहाँ तक कि गुजरात का भगोडा शहजादा बहादुरशाह अपने 3000 घुडसवारों के साथ एक दर्शक की भाँति पानीपत के युद्ध-स्थल के निकट उपस्थित था। इन परिस्थितियों में 21 अप्रैल, 1526 ई० को बाबर और इब्राहीम में पानीपत का प्रथम युद्ध हुआ। इब्राहीम ने साहस और बहादुरी से युद्ध किया परन्तु बाबर के योग्य सेनापतित्व, श्रेष्ठ युद्ध-नीति और तोपखाने के कारण इब्राहीम की पराजय हुई और वह युद्ध-स्थल में ही मारा गया। इब्राहीम की मृत्यु से लोदी-वंश ही समाप्त नहीं हुआ वरन् दिल्ली सल्तनत का इतिहास भी समाप्त हो गया।

मूल्यांकन

सुल्तान इब्राहीम एक योग्य, परिश्रमी, चरित्रवान, न्यायप्रिय और प्रजा की भलाई चाहने वाला सुल्तान था। इस दृष्टि से वह अपने पिता और पितामह से किसी भी मात्रा में कम न था तथा उसकी प्रजा प्रसन्न, सुखी और समृद्धशाली थी। **वह अत्यधिक साहसी, कट्टर सैनिक और कुशल सेनापति था।** 1525 ई० में दौलतखाँ और आलमखाँ लोदी ने दिल्ली पर आक्रमण करने के अवसर पर उसकी सेना पर आक्रमण किया और उसे नष्ट कर दिया। परन्तु सुल्तान इब्राहीम अपने अग्र-रक्षक सैनिकों को लेकर युद्ध-स्थल पर डटा रहा तथा प्रातःकाल होते ही जबकि उसके शत्रु लूट-मार में व्यस्त थे, उसने आलमखाँ लोदी पर आक्रमण किया और उसे युद्ध-स्थल से भागने पर बाध्य किया जिससे अन्त में विजय उसी की हुई। सुल्तान के लिए यह एक असाधारण बात मानी जा सकती है। इसी प्रकार पानीपत के युद्ध में अपनी पराजय को पूर्ण मानकर भी वह युद्ध-स्थल से भागा नहीं बल्कि युद्ध करता हुआ मारा गया। फरिश्ता ने लिखा है कि "वह मृत्यु-पर्यन्त लड़ा और एक सैनिक की भाँति मारा गया।"[1] निआमतउल्ला (निमातउल्ला) ने लिखा है कि "सुल्तान इब्राहीम के अतिरिक्त भारत का अन्य कोई सुल्तान युद्ध-स्थल में नहीं मारा गया।"[2] इस प्रकार साहस, शौर्य और दृढ़ निश्चय की दृष्टि से इब्राहीम अद्वितीय था। वह एक योग्य सेनापति भी था और उसने अनेक युद्धों में सफलता पायी थी यद्यपि यह निश्चय है कि मुगल-वंश का संस्थापक बाबर इस दृष्टि से उससे श्रेष्ठ था।

---

1 "He fought to the bitter end and died like a soldier" —Ferishta.

2 "No Sultan of India except Sultan Ibrahim, has been killed on the battle-field." —Niamatullah.

('तारीख-ए-खान-ए-जहानी' का रचयिता)

परन्तु इब्राहीम की सबसे बड़ी दुर्बलता उसका हठी स्वभाव था। उसने अपने अफगान सरदारों की शक्ति को तोड़ने का निश्चय किया और अन्त तक इसके लिए कटिबद्ध रहा। वह यह न समझ सका कि उसके अफगान सरदार तो सुल्तान की शक्ति और सम्मान के साथ धीरे-धीरे समझौता कर सकते थे परन्तु अपनी स्वतन्त्र प्रकृति और आत्मसम्मान के कारण तुरन्त समझौता नहीं कर सकते थे। सुल्तान को अमीरों में से ही एक अमीर मानने वाले अफगान सरदार सुल्तान सिकन्दरशाह की कुशल नीति के कारण दब गये थे और सुल्तान का सम्मान करना सीख रहे थे। परन्तु इब्राहीम ने अपनी शंका, कठोरता और हठ से उनके सम्मान और प्रकृति को खुली चुनौती दे दी और वह समय-समय पर समझौते के अवसरों को खोता गया जिसके कारण सुल्तान और उसके अफगान सरदारों में प्रत्यक्ष टक्कर हो गयी। निस्सन्देह, बाबर की योग्यता, रणनीति और तोपखाना पानीपत के युद्ध में अफगानों के एक होने पर भी उसकी सफलता के लिए पर्याप्त थे परन्तु पंजाब से लेकर बिहार तक के शक्तिशाली और समृद्धशाली सुल्तान इब्राहीम को परास्त करना बाबर के लिए सरल न होता। परन्तु ऐसा न हो सका, इब्राहीम अपने सरदारों से लड़कर अपनी शक्ति के आधार को खो चुका था, अपने राज्य को संकुचित कर चुका था और इस कारण अपनी युद्ध-क्षमता को दुर्बल कर चुका था। ऐसी स्थिति में पानीपत का युद्ध दो असमान शत्रुओं का युद्ध था जिसमें इब्राहीम की पराजय प्राय: निश्चित थी।

[4]

अफगानों का राजत्व-सिद्धान्त (Theory of Kingship) और लोदी सुल्तान

अफगानों का राजत्व-सिद्धान्त तुर्कों के राजत्व-सिद्धान्त से भिन्न था। तुर्की सुल्तान निरंकुश और स्वेच्छाचारी होने का दावा करते थे। उनके सरदार उनके कर्मचारी, सलाहकार, समर्थक और अनुयायी थे परन्तु उनमें से कोई भी सुल्तान की बराबरी या राज्य के शासन में साझेदारी का दावा नहीं कर सकता था। सुल्तान इल्तुतमिश से लेकर सैय्यद-वंश के शासकों तक ने इस श्रेष्ठता का दावा किया था और बलबन तथा अलाउद्दीन खलजी जैसे शक्तिशाली शासक अपने में देवत्व के अंश का दावा करते थे। यह ईसाई राजाओं तथा हिन्दू राजाओं के राजत्व के सिद्धान्त (Divine Right of Kings) के निकट था। इसके विपरीत, **अफगान सरदार सुल्तान को अपने में से ही एक बड़ा सरदार मानते थे।** वे सुल्तान में देवत्व का अंश मानने के लिए तैयार न थे। वे शक्ति, प्रभाव और राज्य के शासन में अपना हिस्सा समझते थे। अखुन्द दरवेज ने लिखा है कि "प्राचीन समय से ही अफगानों ने किसी को भी सुल्तान मानना ठीक नहीं समझा क्योंकि उनका अभिमान और दम्भ उन्हें अपने ही एक सम्बन्धी अथवा परिवार के सदस्य के सम्मुख झुकने और भूमि पर लेटकर नमस्कार करने से रोकता था। इसके अतिरिक्त वह इससे भी भयभीत थे कि यदि उन्होंने किसी एक को सुल्तान मान लिया तो उनकी स्थिति उसके सेवकों की भाँति हो जायेगी। इसकी अपेक्षा वह यह पसन्द करते थे कि उन सभी के साथ समानता का व्यवहार किया जाय और इस कारण सभी अफगान सरदारों को समान

रूप से 'मलिक' पुकारा जाता था।"[1] इस प्रकार अफगानों का राजत्व-सिद्धान्त सरदारो की समानता पर आधारित था और ऐसी स्थिति में उनकी शासन-व्यवस्था राजतन्त्रीय न होकर कुलीनतन्त्रीय थी और भारत में उस समय तक मान्य हिन्दू अथवा तुर्की शासन-व्यवस्था के प्रतिकूल थी। अफगानो की इस व्यवस्था की निम्न-लिखित मुख्य विशेषताएँ मानी जा सकती थीं

(1) उत्तराधिकार के विषय मे अफगान पैतृक अधिकार अथवा उत्तराधिकारी को नामजद किये जाने के अधिकार को स्वीकार नही करते थे बल्कि योग्यता के आधार पर सरदारो के द्वारा सुल्तान को चुने जाने के अधिकार को मानते थे।

(2) प्रत्येक अफगान सरदार अपनी सेना का प्रधान होने का दावा करता था और वे अपनी सेनाओ को सुल्तान की सेना का अविभाज्य अंग नही मानते थे।

(3) सुल्तान के किसी भी अधिकार को वे विशेषाधिकार के रूप में मानने को तैयार न थे बल्कि स्वय भी ऐसे सभी अधिकारों का उपभोग करना अपना अधिकार मानते थे।

अफगानो की इन प्रमुख विशेषताओ के कारण अफगान सरदार सुल्तान को अपनी शक्ति पर निर्भर करने के लिए मजबूर कर सकते थे, सभी सुविधाओ और अधिकारों का उपभोग कर सकते थे तथा स्वय की बडी-बड़ी जागीरें और सेनाएँ रख सकते थे जिसमे असख्य घुडसवार और हाथी भी हो सकते थे। इसी कारण लोदी शासकों के समय मे अफगान सरदारों की स्वय की बड़ी-बडी जागीरें और सेनाएँ थी जिन्हे वे सुल्तान के विरुद्ध युद्धो मे प्रयोग में ला सके। विद्रोही सरदारों की इतनी शक्तिशाली सेनाएँ तुर्की शासको के समय मे प्राप्त नही होती।

बहलोल लोदी प्रथम लोदी सुल्तान था। उसके सिहासन पर बैठने तक अफगान मुल्तान, पजाब और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में प्रभावशाली हो गये थे। बहलोल अफगान सरदारो का नेता था और वह सफलतापूर्वक उनका नेतृत्व कर सका। परन्तु उसकी शक्ति अफगान सरदारो के समर्थन और सहयोग पर निर्भर करती थी। इस कारण उसने अफगान सरदारो के स्वतन्त्रता और समानता के विचारो के साथ समझौता कर लिया। उसका कहना था कि वह अमीरों मे से ही एक अमीर है। वह अपने मुख्य सरदारो के साथ कालीन पर बैठता था, अपने अमीरो को 'मसनद-ए-अली' पुकारता था, अपने किसी भी अमीर के बीमार अथवा अप्रसन्न हो जाने पर उसके निवास-स्थान पर जाता था, विजय मे लूटी हुई सम्पत्ति में उन्हे बराबर हिस्सा देता था, अफगान परम्परा के अनुसार व्यक्तिगत अगरक्षक नही रखता था, उसका भोजन

---

1 "Afghans had since ancient times never considered it proper to have a king as their pride and arrogance would not let them bow and prostrate before one of their own kith and kin Further, if they agreed to call one a king, they feared that they would thereby reduce themselves to the level of servants. They would rather like all of them to be treated as equals and it was, therefore, that all Afghans were addressed as maliks." —Akhund Darweza

प्रत्येक दिन किसी न किसी अमीर के यहाँ से आता था और घोड़े पर सवार होते समय उसका कोई न कोई अमीर उसे अपना घोडा देता था। फरिश्ता के अनुसार उसका कहना था कि "इतना ही पर्याप्त है कि मेरा नाम राज्य के साथ जुडा हुआ है।"[1] मुश्ताकी ने लिखा है कि "वह दरबार-मे सिंहासन पर नहीं बैठा और उसने अमीरों को खडा रहने से मना कर दिया।"[2] मुश्ताकी ने पुन: लिखा है कि "यदि कोई (अमीर) सुल्तान से अप्रसन्न हो जाता था तो सुल्तान उसके घर जाता था, अपनी तलवार निकालकर उसके सामने रख देता था—यही नही बल्कि अपनी पगडी उतारकर उससे क्षमा-याचना करता था।"[3] इस प्रकार बहलोल नें अपने सरदारो के साथ सुल्तान की भाँति व्यवहार न करके उन्हे बड़ी-बडी जागीरे एवं सम्मान प्रदान किये तथा उनकी प्रकृति एव अफगान परम्परा के अनुसार व्यवहार करके उन्हे प्रसन्न किया और उन्हे अपना समर्थक बनाये रखने में सफलता प्राप्त की। इस कारण डॉ० के ए. निजामी ने लिखा है कि "बहलोल का शासन 'बिरादरी' पर आधारित था और उसी आधार पर चलाया जाता था।"[4] डॉ० आर. पी. त्रिपाठी ने लिखा है कि "अफगानों की भावनाओ और अपने पिता की परम्पराओ के अनुकूल कार्य करते हुए बहलोल ने अमीरो मे से ही एक अमीर होने से अधिक का दावा नही किया। वह सुल्तान की उपाधि और अफगानो का नेता होने से पर्याप्त सन्तुष्ट था। उसके समय का अफगान साम्राज्य लोदी शासक के नेतृत्व में विभिन्न जातियो का एक प्रकार का सघ-राज्य था।"[5] उसी प्रकार प्रो० हमीदउद्दीन ने भी लिखा है कि अपनी मृत्यु से पहले बहलोल ने अपने राज्य को अपने सम्बन्धियों और अमीरो मे बाँट दिया। वह लिखते है कि "इस प्रकार एक प्रकार से एक अफगान सघ-राज्य को बनाकर जुलाई, 1489 ई० के मध्य में 'सकित' परगने में 'जलाली' नगर के निकट 'मलावली' नामक स्थान पर बहलोल की मृत्यु हो गयी।"[6]

परन्तु बहलोल के सम्बन्ध मे व्यक्त किये गये उपर्युक्त विचारो से प्रो० इक्तिदार हुसैन सिद्दीकी का गम्भीर मतभेद है। वह यह तो स्वीकार करते है कि

---

1 'It is enough if my name is associated with the kingdom" —Ferishta.

2 "He did not sit on the throne in the assembly and forbade the noblers to stand." —Mushtaqi.

3 "If any one got angry with the Sultan, he went to his house, unsheathed his sword and placed it before him, nay, he untied his turban and stood for apology" —Mushtaqi.

('वाकियात-ए-मुश्ताकी' का रचयिता)

4 "The government of Bahlul was based and carried on in the spirit of a 'biradari'(clan)" —Dr. K. A. Nizami.

5 [illegible] in keeping with the sentiments of the Afghans and the tradi- [illegible] thing more than one among the peers [illegible] of Sultan and the leadership of the [illegible] mpire was a sort of confederation of [illegible]" —Dr. R. P. Tripathi.

6 "Having thus created a sort of Afghan confederacy, Bahlul died about the middle of July 1849, at a place known as Malawali near the township of Jalali in the pargana of Sakit." —Prof. Hammed-ud-din.

बहलोल का व्यवहार अपने सरदारों के प्रति उदारता तथा शिष्टता का था, परन्तु उनके अनुसार बहलोल का यह व्यवहार समय और परिस्थितियो के कारण था। उस समय अफगान सरदारो का समर्थन उसकी शक्ति की स्थापना के लिए परम आवश्यक था। परन्तु साथ ही साथ वह कहते है कि पर्शियन स्रोत-ग्रन्थो के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि बहलोल निरकुश शासक था और उसने एक कठिन समय मे अपनी स्थिति को दृढ़ करने मे सफलता पायी थी। उन्होने लिखा है कि "ऐतिहासिक तथ्यो के आधार पर यह मत सिद्ध नही होता कि उसके समय में दिल्ली सल्तनत अफगान जातियों का एक सघ-राज्य था और इस कारण इस मत को इतिहास को गलत पढने का प्रयत्न समझकर त्याग देना चाहिए।"[1] उनका कहना है कि बहलोल ने अपनी कठिन परिस्थितियो के कारण अपने सरदारो, उलेमाओं और अन्य प्रभावशाली व्यक्तियों का समर्थन प्राप्त करने का प्रयत्न किया। वह आरम्भ मे अपने सरदारो को सन्तुष्ट करने के अलावा कुछ कर भी नही सकता था। परन्तु साथ ही साथ उसने अपने विरोधी सरदारों को चाहे वे अफगान ही क्यों न हो, समाप्त करने का प्रयत्न भी किया, जैसा कि सियालकोट, लाहौर और दिपालपुर के शक्तिशाली सरदार तातारखाँ के दमन मे स्पष्ट होता है। बहलोल अपने सरदारो के इक्ताओ मे भी परिवर्तन करता था। इस कारण, प्रो० सिद्दीकी के मतानुसार बहलोल ने अपने सरदारो के प्रति कूटनीतिज्ञता से व्यवहार किया तथा उसने उन्हे विभिन्न जातियो के सदस्य होने की बजाय एक 'बिरादरी' के सदस्य होने की भावना दी और सफलतापूर्वक उन्हें अपनी शक्ति की स्थापना का साधन बनाया।

प्रो० सिद्दीकी का मत तर्कसगत है। यह माना जा सकता है कि बहलोल का अपने सरदारो के प्रति सद्-व्यवहार का कारण उस समय की राजनीति था। परन्तु कारण कुछ भी हो, प्रो० सिद्दीकी भी यह मानते है कि बहलोल की नीति अपने सरदारो को सन्तुष्ट करने की थी। जहाँ तक इस बात का प्रश्न है कि बहलोल का साम्राज्य एक अफगान संघ-राज्य था अथवा नही, यह चाहे विवाद का प्रश्न रहे परन्तु यह स्वीकार करना पड़ता है कि बहलोल ने अफगान सरदारों की स्वतन्त्र प्रकृति पर इतना अकुश लगाने मे अवश्य सफलता प्राप्त की थी कि उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके सरदारो ने उसी के पुत्रो मे से एक को सुल्तान चुनने का निश्चय किया और अपने मे से किसी को भी सुल्तान बनाने का विचार तक उनके मस्तिष्क मे नही आया। अपने अफगान सरदारों के प्रति बहलोल की यह सफलता अत्यन्त महत्वपूर्ण थी।

सिकन्दर लोदी अपने सरदारों के प्रति व्यवहार करने में अपने पिता को अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र था। लोदी-वंश का राज्य विस्तृत और सुरक्षित हो गया था। अपने शासन-काल के प्रथम वर्ष मे ही अपने विरोधियो को समाप्त करने में उसने जो

---

1 "The view that the Sultanate of Delhi under him was a confederacy of the Afghan tribes is not borne out by historical facts and may be dismissed as an attempt to misread the history of his reign." —Iqtidar Hussain Siddiqi

सफलता प्राप्त की, उससे उसे अपने सरदारो को अपने अधिक नियन्त्रण मे रखने के लिए प्रोत्साहन मिला। सिकन्दर लोदी की नीति कठोरता, अनुशासन और सुल्तान के विशेषाधिकारो पर बल देने की थी। उसकी नीति का उद्देश्य सुल्तान की प्रतिष्ठा और उसकी श्रेष्ठता को स्थापित करना था। परन्तु इसके लिए उसने सरदारो को अनावश्यक रूप से असम्मानित करने अथवा उन्हे नष्ट करने का विचार नही किया। इस प्रकार उसकी नीति मे कठोरता के साथ-साथ उदारता और व्यावहारिकता सम्मिलित रही। सिकन्दर लोदी ने सिंहासन पर बैठना आरम्भ किया, सरदारो को नतमस्तक होकर नमस्कार करने के लिए बाध्य किया, दरबार और दरबार से बाहर सुल्तान के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने के नियम बनाये, प्रान्तीय अमीरो को अपनी राजधानियो से छ: मील दूर तक आकर सुल्तान के आदेशो को सम्मानपूर्वक प्राप्त करने की परम्परा प्रचलित की, न्याय मे छोटे और बडे का कोई ध्यान नही रखा, सरदारों के इक्ताओं और जागीरो में परिवर्तन किये, सरदारो को द्वन्द्व-युद्ध और परस्पर झगड़े करने से रोका तथा सभी को अपने आदेशो तथा नियमो का पालन करने के लिए बाध्य किया। जो सुल्तान की आज्ञा की अवहेलना करते थे, उन्हे कठोर दण्ड दिया जाता था। मुश्ताकी ने लिखा है कि "जिस किसी ने भी उसकी आज्ञा का विरोध करने का साहस किया उसका उसने (सुल्तान ने) सिर कटवा दिया अथवा उसे अपने साम्राज्य से निष्कासित कर दिया।"[1] जिन 22 सरदारों ने उसे सिंहासन से हटाकर उसके छोटे भाई फतहखां को सुल्तान बनाने का षड्यन्त्र किया, उन सभी का उसने वध करा दिया अथवा उन्हे साम्राज्य से निष्कासित कर दिया। अपनी सहायता के लिए सिकन्दर लोदी ने एक श्रेष्ठ गुप्तचर-विभाग का संगठन किया। इसके अतिरिक्त, उसकी नीति उदारता की भी रही। सुल्तान ने अफगान सरदारो तथा उनके बच्चो को शिक्षित और सुसभ्य बनाने का प्रयत्न किया। उसने किसी को तब तक दण्डित नही किया जब तक कि उसका अपराध सिद्ध नही हो गया। अनेक अवसरो पर उसने छोटे सरदारों की जागीर मे कमी करने के बाद उन्हे माफ कर दिया। उसने वृद्ध अमीरो का सम्मान किया और केवल विरोधी अमीरों को हटाकर अपने प्रति वफादार अमीरो को सम्मानित पद प्रदान किये। इस प्रकार अपनी इस अनुशासनपूर्ण परन्तु व्यावहारिक नीति से सिकन्दर लोदी अपने अफगान सरदारो की स्वतन्त्र प्रकृति पर अकुश लगाकर सुल्तान की प्रतिष्ठा को स्थापित करने मे सफल रहा। प्रो० सिद्दीकी ने लिखा है कि "*सुल्तान सिकन्दर पहला अफगान सुल्तान था जिसने एक सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न बादशाह* की भाँति व्यवहार किया और जिसने अपने सरदारो से पूर्ण आज्ञापालन और अविचलित वफादारी की माँग की।...... उसकी चतुरता, मानवता, उदारता, उच्च आदर्श, व्यक्तिगत आकर्षण और युद्ध-क्षेत्र की निरन्तर सफलताओं ने उसके सरदारों

---

1 "Anyone who turned from the path of obedience, he (the Sultan) either got his head severed off the body or expelled him from the Empire." —Mushtaqi.

को पूर्ण वफादार और सुल्तान के प्रति आज्ञाकारी बना दिया। इससे उनकी सुल्तान से समानता करने की भावना भी दब गयी।"[1]

परन्तु इब्राहीम लोदी के सुल्तान बनते ही सुल्तान और उसके अफगान सरदारों में संघर्ष आरम्भ हो गया। सिकन्दर लोदी ने अफगान अमीरों को अनुशासन और आज्ञा-पालन अवश्य सिखा दिया था परन्तु वह उनकी समानता व स्वतन्त्रता की भावना को पूर्णतया नष्ट नहीं कर सका था। इसके अतिरिक्त, अफगान परम्परा के अनुकूल अभी तक ऐसे भी अमीर थे जिनके पास बड़े-बड़े इक्ता अथवा जागीरें थीं और जिनकी बड़ी-बड़ी सेनाएँ थीं। इस परिस्थिति में इब्राहीम लोदी को सावधानी से आगे बढ़ना चाहिए था। सिकन्दर लोदी ने सरदारों को अनुशासन में रखने में बहलोल लोदी की अपेक्षा अधिक सफलता प्राप्त की थी। इब्राहीम लोदी उससे कुछ आगे बढ़ सकता था और इस प्रकार अफगानों के राजत्व-सिद्धान्त को नष्ट करके तुर्की राजत्व-सिद्धान्त की स्थापना करने में कुछ और अधिक सफल हो सकता था। परन्तु कुछ परिस्थितियों-वश और अधिकांश अपनी हठी और शकालु प्रवृत्ति के कारण वह बहुत शीघ्र ही अपने अफगान अमीरों के साथ प्रत्यक्ष संघर्ष में फँस गया। जलालखाँ को जौनपुर का शासक मानने से ही उसकी भूलें आरम्भ हो गयी। उस सम्बन्ध में हुए संघर्ष ने सुल्तान और उसके अमीरों में शंका व तनाव का वातावरण उत्पन्न कर दिया जो समय के साथ बढ़ता गया। सुल्तान का अमीरों से अत्यधिक कठोर व्यवहार, उसकी अपने भाइयों के प्रति क्रूरता, आजम हुमायूँ, फतहखाँ और मियाँ भुआ को कारागार में बन्द करना तथा सभी पुराने सरदारों पर शंका करके अपने नवीन सरदारों को श्रेष्ठ पद प्रदान करने की नीति आदि ने इस्लामखाँ के विद्रोह को जन्म दिया। इस विद्रोह को दबाने के लिए जो युद्ध हुआ उसमें इब्राहीम को सफलता अवश्य मिली परन्तु 10,000 श्रेष्ठ अफगान सैनिक और सरदार इस युद्ध में मारे गये। इस विजय ने इब्राहीम को और उद्दण्ड बना दिया। कारागार में आजम हुमायूँ और मियाँ भुआ की सन्देहास्पद परिस्थितियों में मृत्यु तथा चन्देरी के सूबेदार हुसैनखाँ फरमूली की हत्या ने बिहार में दरियाखाँ और उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र बहादुरखाँ के विद्रोह को जन्म दिया जिससे बिहार से सम्भल तक का सम्पूर्ण प्रदेश इब्राहीम के हाथों से निकल गया। पंजाब में दौलतखाँ लोदी ने उसकी सहायता करने के बजाय बाबर को भारत पर आक्रमण करने के लिए निमन्त्रण दिया और तत्पश्चात् आलमखाँ लोदी की सहायता की। इन्हीं परिस्थितियों में इब्राहीम ने बाबर से युद्ध किया और मारा गया। इस प्रकार, इब्राहीम लोदी अपने अफगान अमीरों को दबाने अथवा नष्ट करने में ही

---

1 "Sultan Sikandar was the first Afghan king who behaved like an all-powerful monarch and demanded complete obedience as well as unwavering loyalty from his nobles .... His tactfulness, humanism and generosity, high sense of purpose and personal magnetism, coupled with his unfailing success in the battlefield, made the nobility completely loyal and subservient to the sovereign and also suppressed its sentiments of equality with the Sultan."
—Iqtidar Hussain Siddiqi.

16

प्रान्तीय राज्य

[1]

कश्मीर

1301 ई० मे सूहादेव ने कश्मीर मे एक सुदृढ हिन्दू राज्य की स्थापना की। परन्तु उसकी पूर्वी एवं उत्तरी सीमाओ पर शत्रुओ ने आक्रमण किये तथा 1320 ई० मे पश्चिमी तिब्बत के एक सरदार के पुत्र रिनचन ने उससे कश्मीर छीन लिया। रिनचन ने अपनी सेवा मे शाहमीर नामक एक मुसलमान को रखा तथा उसकी योग्यता से प्रसन्न होकर उसे अपने बच्चो और पत्नी की शिक्षा के लिए नियुक्त किया। रिनचन के पश्चात् उदयनदेव कश्मीर का शासक बना। 1338 ई० मे उदयनदेव की मृत्यु के पश्चात् उसकी पत्नी कोटा ने अपने बच्चों के अल्पायु होने के कारण शासन-सत्ता अपने हाथो मे ले ली। परन्तु शाहमीर ने, जो अभी तक काफी प्रभावशाली बन चुका था, उसे और उसके बच्चो को कैद करके 1339 ई० मे राज्य पर अपना अधिकार कर लिया तथा 'शमसुद्दीनशाह' के नाम से कश्मीर का प्रथम मुस्लिम शासक बना।

शमसुद्दीन ने केवल तीन वर्ष शासन किया। 1342 ई० में उसका सबसे बड़ा पुत्र जमसेद शासक बना। परन्तु उसके भाई अलाउद्दीन ने कुछ माह पश्चात् सिंहासन पर अधिकार कर लिया। अलाउद्दीन ने प्रायः 12 वर्ष शासन किया। तत्पश्चात् उसका भाई शिहाबुद्दीन सिंहासन पर बैठा। शिहाबुद्दीन ने 19 वर्ष शासन किया। *उसने सभी दिशाओं में युद्ध किये और सफलता प्राप्त की। पश्चिम में उसने पेशावर* तक आक्रमण किया तथा गजनी और कन्धार तक उसका नाम विख्यात हो गया। दक्षिण मे उसने सतलज नदी तक आक्रमण किया। इसके अतिरिक्त तिब्बत के राजा ने उससे मित्रता कर ली थी। परन्तु उसने यह आक्रमण लूट-मार के लिए किये, साम्राज्य-विस्तार नही किया। वह धार्मिक दृष्टि से उदार रहा और उसने कश्मीर राज्य के सम्मान में वृद्धि की। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका भाई कुतुबुद्दीन सिंहासन पर बैठा। 1389 ई० मे कुतुबुद्दीन की मृत्यु हो गयी और उसका अल्पायु पुत्र सिकन्दर सिंहासन पर बैठा। सिकन्दर के समय मे ही भारत पर तिमूर का आक्रमण हुआ था। सिकन्दर का शासन सामाजिक एवं धार्मिक दृष्टियों से गम्भीर परिवर्तनो का

सिद्ध हुआ। उसके समय तक कश्मीर की बहुसंख्यक प्रजा हिन्दू थी तथा हिन्दू और मुसलमानों के सम्बन्ध अत्यधिक सहिष्णुता के थे। परन्तु सिकन्दर धर्मान्ध सिद्ध हुआ। उसने सभी हिन्दुओं को मुसलमान बनाने का प्रयत्न किया और सबसे प्रबल आक्रमण ब्राह्मणों पर किया। अनेक हिन्दुओं ने जहर खा लिया, कुछ कश्मीर छोड़कर भाग गये और बहुत बड़ी संख्या में मुसलमान हो गये। हिन्दू मन्दिरों और मूर्तियों को इतनी अधिक मात्रा में नष्ट किया गया कि सिकन्दर को 'बुतशिकन' की उपाधि दी गयी। जोनराजा ने लिखा है कि "सुल्तान अपने सुल्तान के कर्तव्यों को भूल गया और दिन-रात उसे मूर्तियों को नष्ट करने में आनन्द आने लगा"......उसने मार्तण्ड, विश्य, इमाना, चक्रव्रत और त्रिपुरेश्वर की मूर्तियों को तोड़ दिया".... "ऐसा कोई शहर, नगर, गाँव या जंगल बाकी न रहा जहाँ तुरुष्क सूहा (सिकन्दर) ने ईश्वर के मन्दिरों को न तोड़ा हो।"[1] इस प्रकार सिकन्दर ने कश्मीर की बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा को इस्लाम स्वीकार करने के लिए बाध्य किया और उसके समय में बाहर से भी बहुत बड़ी संख्या में मुसलमान कश्मीर गये। 1413 ई० में सिकन्दर की मृत्यु हो गयी। उसके पश्चात् उसका पुत्र अलीशाह सिंहासन पर बैठा। उसके समय में उसके वजीर ने धार्मिक कट्टरता की नीति को पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया और सिकन्दर के बचे हुए कार्य की पूर्ति कर दी। अलीशाह अपने भाई से संघर्ष करते हुए खोक्खरों द्वारा पकड़ लिया गया और चदुरा नामक स्थान पर उसकी मृत्यु हुई।

1420 ई० में अलीशाह का भाई शाहीखाँ 'जैन-उल-अबीदीन' के नाम से सिंहासन पर बैठा। वह कश्मीर का सबसे महान् शासक हुआ और उसकी धार्मिक उदारता के कारण बहुत-से इतिहासकारों ने उसकी तुलना मुगल बादशाह अकबर से की। उसके समय में कश्मीर राज्य का अधिकतम विस्तार हुआ। गान्धार, सिन्ध, राजपुरी, लद्दाख, लेह आदि स्थान उसके अधिकार में हो गये और उसने खोक्खर नेता जसरथ की सहायता करते हुए जम्मू के मुसलमान शासक को भी परास्त किया। उसके समय में कश्मीर की भौतिक और सांस्कृतिक उन्नति हुई। वह उदार और सुसभ्य शासक था। वह विद्वान था तथा फारसी, संस्कृत, तिब्बती और अन्य कई भाषाओं का ज्ञाता था। उसने हिन्दुओं को धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान की, भागे हुए हिन्दुओं को कश्मीर बुलाया, मन्दिरों के निर्माण की आज्ञा दी, ब्राह्मणों को पुरस्कार देने आरम्भ किये और इस प्रकार पूर्ण धार्मिक सहिष्णुता की नीति अपनायी। उसने विभिन्न करों को हटाया, हिन्दुओं को जजिया से मुक्त किया, व्यापारियों को उचित मूल्यों पर वस्तुएँ बेचने के लिए बाध्य किया, चोरी-डकैती को बन्द किया तथा निष्पक्ष न्याय-व्यवस्था स्थापित की। उसने 'महाभारत' और 'राजतरंगिनी' का फारसी में अनुवाद कराया, अनेक फारसी और अरबी के ग्रन्थों का स्थानीय भाषाओं में अनुवाद कराया

---

1 [illegible] break- [illegible] abhrit [illegible] where [illegible] araja [illegible]

तथा अनेक विद्वानो को अपने दरबार मे आश्रय दिया। वह विदेशो मे भी प्रख्यात हुआ। दिल्ली, गुजरात, ग्वालियर, मक्का, मिस्र, खुरासान आदि के शासको से उसके सम्बन्ध रहे। 1470 ई० मे उसकी मृत्यु हो गयी।

उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र हाजीखाँ 'हैदरशाह' के नाम से सिंहासन पर बैठा। उसका शासन प्राय. एक वर्ष का रहा। वह अयोग्य था और उसने एक बार फिर धार्मिक असहिष्णुता की नीति की पुनरावृत्ति की। हैदरशाह की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र हसनशाह सिंहासन पर बैठा। उसने धार्मिक सहिष्णुता की नीति अपनायी परन्तु वह अपने सरदारो को काबू मे न रख सका और कश्मीर राज्य का पतन आरम्भ हो गया।

दिल्ली सल्तनत के समय में कश्मीर पर किसी भी दिल्ली सुल्तान ने अधिकार नही किया। मुगल बादशाह अकबर ने उसे दिल्ली राज्य में सम्मिलित किया।

[2]
जौनपुर

बनारस के उत्तर-पश्चिम में उससे 34 मील दूर जौनपुर नगर को फीरोज तुगलक ने बसाया था। जौनपुर राज्य का संस्थापक मलिक सरदार फीरोज तुगलक के पुत्र सुल्तान मुहम्मद का दास था जो अपनी योग्यता से 1389 ई० मे वजीर बना। सुल्तान महमूद ने उसे 'मलिक-उस-शर्क' की उपाधि दी। 1394 ई० मे उसे दोआब के विद्रोह को दबाने के लिए भेजा गया। उसने उस विद्रोह को ही नही दबाया वल्कि अलीगढ से लेकर बिहार में तिरहुत तक के सम्पूर्ण प्रदेश पर अपना अधिकार कर लिया। वह एक स्वतन्त्र शासक की भाँति व्यवहार करता था यद्यपि उसने कभी सुल्तान का पद ग्रहण नही किया। तिमूर के आक्रमण के अवसर पर उसने दिल्ली सुल्तान को कोई सहायता नही भेजी। 1399 ई० मे उसकी मृत्यु हो गयी। उसके पद के कारण उसका वंश शर्की-वश कहलाया।

उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका गोद लिया हुआ पुत्र मुबारकशाह सिंहासन पर बैठा। उसने सुल्तान की उपाधि धारण की और अपने नाम का खुतबा पढ़वाया। सुल्तान महमूद तुगलक के शक्तिशाली वजीर मल्लू इकबालखाँ ने जौनपुर को जीतने का प्रयत्न किया परन्तु असफल हुआ। 1402 ई० मे मुबारकशाह की मृत्यु हो गयी।

उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका भाई इब्राहीम 'शमसुद्दीन इब्राहीमशाह' के नाम से सिंहासन पर बैठा। उसके समय में दिल्ली और जौनपुर के सम्बन्धों मे कटुता आ गयी। उसके सम्बन्ध महमूद तुगलक से ही नही वरन् सैय्यद शासक खिज्रखाँ और मुबारकशाह से भी खराब रहे जिसका मुख्य कारण दोनो राज्यो की विस्तारवादी नीति थी। परन्तु इस सघर्ष का कोई परिणाम न निकला। इब्राहीमशाह ने बगाल को भी जीतने का प्रयत्न किया परन्तु असफल हुआ। सांस्कृतिक दृष्टि से उसका समय महत्वपूर्ण रहा। उसके समय में जौनपुर उत्तर भारत का एक महान् सांस्कृतिक केन्द्र बन गया। उसके दरबार मे अनेक विद्वान आश्रय पाते थे और उन्होने अनेक ग्रन्थों की रचना की। उसने जौनपुर को एक सुन्दर नगर बनाया तथा उसके समय

मे स्थापत्य-कला मे एक नवीन शैली—जौनपुरी अथवा शर्की-शैली—का जन्म हुआ। 1440 ई० मे उसकी मृत्यु हो गयी।

उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र महमूदशाह सुल्तान बना। महमूदशाह ने चुनार के किले को जीता परन्तु कालपी के किले को जीतने मे असफल रहा। उसने एक आक्रमण दिल्ली राज्य पर भी किया परन्तु बहलोल लोदी ने उसे परास्त कर दिया। सुल्तान इब्राहीम के समय से चली आ रही दिल्ली तथा जौनपुर राज्यो की प्रतिद्वन्द्विता अब तीव्र हो गयी। उसके पुत्र मुहम्मदशाह ने भी बहलोल लोदी से सघर्ष किया परन्तु कुछ लाभ न हुआ। इसी समय उसके भाई ने उसका वध कर दिया जो हुसैनशाह के नाम मे सिंहासन पर बैठा। हुसैनशाह के समय मे दिल्ली व जौनपुर मे मृत्यु और जीवन का सघर्ष चला जिसमे अन्त में हुसैनशाह की पराजय (1479 ई०) हुई। वह पहले बिहार भाग गया और बाद मे सिकन्दर लोदी के समय मे उसे बगाल मे शरण लेने के लिए बाध्य होना पडा।

इस प्रकार जौनपुर का राज्य दिल्ली सल्तनत की दुर्बलता का लाभ उठाकर एक स्वतन्त्र राज्य बना था और प्राय 75 वर्ष की स्वतन्त्र सत्ता के पश्चात् पुनः दिल्ली सल्तनत का भाग बन गया।

[3]
बंगाल

बगाल और बिहार को दिल्ली सल्तनत मे सम्मिलित करने का श्रेय इख्तियारुद्दीन मुहम्मद बिन बख्तियार खलजी को था। परन्तु बगाल दिल्ली से इतनी अधिक दूर था कि वहाँ के शासक प्राय स्वतन्त्र रहे। बलबन के समय मे तुगरिलखाँ ने विद्रोह किया परन्तु उसे दबा दिया गया और बंगाल दिल्ली सल्तनत के अधीन हो गया। बलबन के पुत्र बुगराखाँ को वहाँ का सूबेदार बनाया गया। परन्तु बलबन की मृत्यु के पश्चात् उसके उत्तराधिकारी और बुगराखाँ के पुत्र कैकुबाद ने अपने पिता को बंगाल मे प्रायः स्वतन्त्र शासक मान लिया और बुगराखाँ ने सुल्तान नासिरुद्दीन की उपाधि ग्रहण कर ली। परन्तु दिल्ली मे खलजी-वंश की स्थापना हो जाने पर उसने 1291 ई० मे अपने पुत्र रुकनुद्दीन कैकौस को सिंहासन सौंप दिया। रुकनुद्दीन ने 1301 ई० तक बंगाल और बिहार पर एक स्वतन्त्र शासक की भाँति राज्य किया परन्तु बाद मे उसी के बिहार के सूबेदार शमसुद्दीन फीरोजशाह ने उसे गद्दी से हटा दिया और इन सूबो पर अपना आधिपत्य कर लिया। फीरोज ने इस राज्य का विस्तार किया और असम में सिलहट तक को जीत लिया। 1322 ई० मे उसकी मृत्यु हो गयी। उसके जीवन-काल मे ही उसके पुत्र उसमे सघर्ष कर रहे थे और जब उसकी मृत्यु हो गयी तो उसके पुत्र गियासुद्दीन बहादुरशाह ने नासिरुद्दीन और शिहाबुद्दीन को छोडकर अपने सभी भाइयो का वध करा दिया। नासिरुद्दीन और शिहाबुद्दीन ने दिल्ली सुल्तान गियासुद्दीन तुगलक मे सहायता माँगी। गियासुद्दीन तुगलक ने बगाल पर आक्रमण किया और गियासुद्दीन बहादुर को कैद करके दिल्ली ले गया। उत्तरी बंगाल को नासिरुद्दीन को दे दिया गया जिसकी राजधानी लखनौती थी तथा दक्षिणी

और पूर्वी बगाल को दिल्ली साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। सुल्तान मुहम्मद तुगलक ने गियासुद्दीन बहादुर को अपने शासन-काल के आरम्भ मे छोड़ दिया और उसे अपने सूबेदार के साथ पूर्वी बगाल का शासन करने के लिए नियुक्त कर दिया। परन्तु कुछ वर्षों के पश्चात् उसने विद्रोह किया और सम्पूर्ण बगाल को दिल्ली राज्य मे सम्मिलित कर लिया गया। कुछ वर्षो तक बगाल मे शान्ति रही। परन्तु 1337-38 ई० मे वहाँ पुन विद्रोह हो गया। उस विद्रोह को फखरुद्दीन ने दबाया परन्तु जब मुहम्मद तुगलक से उसे कोई सहायता प्राप्त नही हुई तो उसने अपने को 'फखरुद्दीन मुबारकशाह' के नाम से सुल्तान घोषित कर दिया। इस प्रकार मुहम्मद तुगलक के समय मे बगाल पुन एक स्वतन्त्र राज्य बन गया। उसके पश्चात् बंगाल दिल्ली सल्तनत की अधीनता मे न आ सका। 1345-46 ई० मे शमसुद्दीन इलियासशाह ने सम्पूर्ण बंगाल को अपने अधीन कर लिया फीरोज तुगलक ने दो बार बंगाल को जीतने का प्रयत्न किया परन्तु असफल हुआ। इसके बाद शेरशाह सूर ने बगाल को दिल्ली साम्राज्य का भाग बनाया और तत्पश्चात् अकबर ने उसे मुगल साम्राज्य का अग बनाया।

[4]
गुजरात

अलाउद्दीन खलजी ने राजा कर्ण (रायकरन) को गुजरात से हटाकर 1297 ई० मे उसे दिल्ली सल्तनत के अधीन किया। उसके पश्चात् 1401 ई० तक वह दिल्ली सल्तनत का एक इक्ता (सूबा) रहा। 1391 ई० में मुहम्मदशाह तुगलक ने जफरखाँ को गुजरात का सूबेदार नियुक्त किया। उसने तिमूर के आक्रमण के पश्चात् उत्पन्न हुई दिल्ली सल्तनत की दुर्बलता से लाभ उठाकर अपने को स्वतन्त्र शासक मान लिया यहाँ तक कि जब सुल्तान महमूद तुगलक गुजरात मे शरण प्राप्त करने के लिए गया तो उसने उसका यथोचित सत्कार भी नही किया। जफरखाँ (उसे 'मुजफ्फरखाँ' की उपाधि दी गयी थी) को उसके पुत्र तातारखाँ ने कुछ समय के लिए कारागार मे डाल दिया परन्तु शीघ्र ही उसके चाचा शम्सखाँ ने उसे जहर देकर मार दिया और जफरखाँ को मुक्त कर लिया। उसके पश्चात् 1407 ई० मे जफरखाँ ने अपने को 'सुल्तान मुजफ्फरशाह' के नाम से सुल्तान घोषित कर दिया। मुजफ्फरशाह ने मालवा के शासक हुसगशाह को परास्त करके उसकी राजधानी धार पर अधिकार किया यद्यपि बाद मे उसने उसे उसका राज्य वापिस कर दिया। 1411 ई० में उसकी मृत्यु हो गयी।

उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र तातारखाँ का पुत्र अहमद 'अहमदशाह' के नाम से सुल्तान बना। उसने प्राय. 32 वर्ष शासन किया और गुजरात के अधीन राजाओं तथा राजपूताना, मालवा और दक्षिणी भारत के पड़ौसी राज्यो से निरन्तर सघर्ष किया। वह एक सफल शासक था और उसने नव-स्थापित अहमदाबाद नगर को अपनी राजधानी बनाया। 1443 ई० में उसकी मृत्यु हो गयी। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका सबसे बड़ा पुत्र मुहम्मदशाह द्वितीय गद्दी पर बैठा। 1451 ई० में

उसकी मृत्यु के पश्चात् क्रमश. कुतुबुद्दीन अहमदशाह और दाऊदखां शासक हुए। परन्तु वे दोनों दुर्बल सिद्ध हुए। कुतुबुद्दीन ने 1451-1458 ई० तक शासन किया परन्तु दाऊदखां का शासन केवल कुछ दिनों का ही रहा। उसकी अयोग्यता के कारण उसके सरदारों ने उसे गद्दी से उतारकर 1458 ई० में फतहखां को सिंहासन पर बैठा दिया। उसने 'अबुल-फतह महमूद' की उपाधि ग्रहण की यद्यपि इतिहास मे वह महमूद बेगड़ा के नाम से विख्यात हुआ।

महमूद वेगडा (1458-1511 ई०) अपने वंश का महानतम शासक माना गया है। उसने उन विद्रोही अमीरों का दमन किया जो उसके भाई हसनखां को गद्दी पर बैठाने के लिए उत्सुक थे। महमूद ने गुजरात के स्वतन्त्र और विरोधी हिन्दू राजाओं को परास्त किया, मालवा के विरुद्ध बहमनी राज्य की सहायता की, सिन्ध के हिन्दू विद्रोहियो को दबाने मे अपने नाना जामनन्दा की सहायता की, द्वारिकापुरी पर आक्रमण किया तथा अन्य अनेक विभिन्न प्रकार के सैनिक-युद्ध किये। परन्तु उसकी मुख्य विजयें चम्पानीर और गिरनार के दृढ किलों की थी जिसके कारण ही वह बेगडा के नाम से पुकारा जाने लगा। महमूद वेगडा एक योद्धा, विजेता और कुशल शासक सिद्ध हुआ। उसके समय मे गुजरात एक शक्तिशाली, ऐश्वर्यपूर्ण और सम्पन्न राज्य बना। उसके समय में ललित-कलाओं और साहित्य की प्रगति हुई। महमूद का केवल एक दोष रहा। वह धर्मान्ध था और अपनी हिन्दू प्रजा के प्रति उसका व्यवहार असहिष्णुता का रहा। महमूद ने मिस्र के शासक के जल-बेडे की सहायता लेकर पुर्तगालियों से युद्ध किया। परन्तु वह सफल न हुआ तथा पुर्तगाली समुद्र और उसके समुद्र-तट पर प्रभावशाली रहे।

महमूद वेगडा की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र खलीलखां 'मुजफ्फरशाह द्वितीय' के नाम से गद्दी पर बैठा। उसने मेदिनीराय के विरुद्ध मालवा के शासक महमूद खलजी की सहायता की और उसकी शक्ति को मांडू में स्थापित करने मे सफलता पायी यद्यपि चन्देरी पर मेदिनीराय का अधिकार हो गया। उसका मुख्य झगडा मेवाड के शासक राणा संग्रामसिंह से रहा जो मेदिनीराय और निकट के राजपूत राजाओं की सहायता कर रहा था। परन्तु उसे राणा संग्रामसिंह के विरुद्ध कोई सफलता न मिल सकी। अप्रैल, 1526 ई० मे उसकी मृत्यु हो गयी। उसके पश्चात् सिकन्दर और महमूद द्वितीय नाम के दो अयोग्य शासक हुए परन्तु उन्होंने केवल कुछ माह शासन किया। जुलाई, 1526 ई० में बहादुरशाह शासक बना। उसने 1531 ई० मे मालवा को जीतकर गुजरात मे सम्मिलित कर लिया और चित्तौड को लूटा। इस प्रकार उसका समय गुजरात की शक्ति की पराकाष्ठा का रहा। परन्तु उसका झगड़ा मुगल बादशाह हुमायूं से हुआ जिसने एक बार मालवा और गुजरात को जीतने मे सफलता प्राप्त की। हुमायूं के वापिस लौट जाने पर मालवा और गुजरात को वह एक बार फिर जीत सका परन्तु 1537 ई० मे पुर्तगालियों ने उसे धोखे से मार डाला। उसके पश्चात् गुजरात में दुर्बल शासक हुए। अन्त में 1572 ई० में मुगल बादशाह अकबर ने गुजरात को जीतकर मुगल साम्राज्य मे सम्मिलित कर लिया।

[5]
मालवा

अलाउद्दीन खलजी ने मालवा को जीतकर दिल्ली सल्तनत का अंग बनाया था। 1390 ई० मे फीरोज ने दिलावरखाँ को मालवा का सूबेदार नियुक्त किया था। तिमूर के आक्रमण के अवसर पर सुल्तान महमूद तुगलक ने पहले गुजरात में और उसके पश्चात् मालवा मे शरण ली। उसके वापिस जाने के पश्चात् 1401 ई० मे दिलावर ने अपने को पूर्ण स्वतन्त्र शासक बना लिया यद्यपि उसने सुल्तान की उपाधि ग्रहण नही की। 1405 ई० मे उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र अलपखाँ ने 'हूसगशाह' की उपाधि धारण की और अपने को सुल्तान घोषित किया। गुजरात के शासक मुजफ्फरशाह ने मालवा पर आक्रमण किया और हूसंगशाह को कैद कर लिया। परन्तु मालवा मे विद्रोह हो जाने पर उसने हूसगशाह को ही उस विद्रोह को दबाने के लिए भेजा। हूसगशाह ने एक बार फिर मालवा पर अधिकार कर लिया और मॉडू को अपनी राजधानी बनाया जिस नगर को उसने स्वयं बसाया था। हूसंगशाह ने निरन्तर गुजरात के शासक अहमदशाह (जो मुजफ्फरशाह की मृत्यु के पश्चात सुल्तान बना) से युद्ध किया और गुजरात पर कई आक्रमण किये। अहमदशाह ने भी अवसर पाकर मालवा पर आक्रमण किये। परन्तु मालवा और गुजरात के इन युद्धो का कोई विशेप लाभ न निकला। उसका ग्वालियर को जीतने का प्रयत्न सैय्यद-शासक मुबारकशाह के कारण असफल रहा, उसने कालपी को जीता और उडीसा के हिन्दू राज्यों मे भी उसने लूट-मार की यद्यपि वह उन्हे जीत न सका। इस प्रकार, हूसंगशाह ने अपने समय मे निरन्तर युद्ध किये। वह एक महत्वाकाक्षी शासक था परन्तु पड़ौस के शक्तिशाली राज्यों के कारण वह राज्य-विस्तार करने मे असफल रहा। 1435 ई० में उसकी मृत्यु हो गयी तथा उसका पुत्र गाजीखाँ 'मुहम्मदशाह' के नाम से गद्दी पर बैठा। वह एक अयोग्य शासक था और एक वर्ष पश्चात् उसके वजीर महमूदखाँ ने उसे हटाकर सिंहासन पर अपना अधिकार कर लिया तथा 'महमूदशाह' की उपाधि ग्रहण की।

महमूदशाह (1436-1469 ई०) ने मालवा मे खलजी-वंश की नीव डाली और वह मालवा के शासकों में योग्यतम शासक सिद्ध हुआ। उसने गुजरात, दिल्ली, बहमनी राज्य और मेवाड के राज्यो से युद्ध किये। उसने अपने राज्य का विस्तार करने मे सफलता प्राप्त की और मिस्र के खलीफा ने उसे सुल्तान स्वीकार किया। महमूदशाह एक उदार, न्यायप्रिय और विद्वान शासक था परन्तु वह धर्मान्ध था और उसने हिन्दुओ के प्रति असहिष्णुता की नीति अपनायी।

1469 ई० में महमूदशाह की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र गियासुद्दीन सिंहासन पर बैठा। वह आरामपसन्द शासक था और उसने अपने पडौसी राज्यो के साथ शान्ति की नीति अपनायी। यद्यपि मेवाड पर उसने दो बार आक्रमण किये परन्तु दोनो ही बार वह असफल रहा। उसके समय मे गुजरात ने चम्पानीर को जीत लिया और वह कुछ न कर सका। वह धर्म-परायण और धर्मान्ध शासक सिद्ध हुआ। सम्भवतया 1500 ई० मे उसके पुत्र ने उसको जहर देकर मरवा दिया और स्वयं 'नासिरुद्दीनशाह'

के नाम से गद्दी पर बैठा। नासिरुद्दीन एक क्रूर शासक था। 1511 ई० मे उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका छोटा पुत्र आजम हुमायूँ 'महमूदशाह द्वितीय' के नाम से गद्दी पर बैठा। महमूदशाह द्वितीय के समय में हिन्दू और मुसलमान सरदारों में सत्ता के लिए सघर्ष हुआ तथा मेदिनीराय उनमें सबसे अधिक सफल रहा। उसे वर्जार का पद प्रदान किया गया। मेदिनीराय के प्रभाव को नष्ट करने के लिए उसने गुजरात के शासक मुजफ्फर द्वितीय की सहायता ली परन्तु मेदिनीराय ने मेवाड़ के शासक राणा संग्रामसिंह से सहायता प्राप्त कर उसके प्रयत्न को असफल कर दिया। महमूद ने गुजरात के शासक बहादुरशाह से भी शत्रुता की जिसके कारण बहादुरशाह ने 1531 ई० मे मालवा पर आक्रमण किया और उसे जीत लिया। बाद मे महमूदशाह मारा गया। उस समय से मालवा गुजरात राज्य का भाग बना रहा। अन्त में अकबर ने इसे मुगल-साम्राज्य मे सम्मिलित किया।

[6]
मेवाड़ (आधुनिक उदयपुर)

अलाउद्दीन खलजी ने मेवाड़ को जीतकर दिल्ली सल्तनत के अधीन किया। राणा रतनसिंह गुहिलौत राजपूत-वंश का था। उसके पश्चात् उसी वश की एक शाखा सीसोदिया-वंश के शासक लक्ष्मणसिंह ने अपने सात पुत्रो सहित चित्तौड की रक्षा मे जान गँवा दी। उसका केवल एक पुत्र अजयसिंह राजवश की सुरक्षा के लिए अरावली की पहाडियो मे जा छिपा। 1314 ई० में उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके बडे भाई का पुत्र हम्मीरदेव उसका उत्तराधिकारी हुआ। हम्मीरदेव ने अपने साहस और कौशल से मेवाड़ राज्य की पुनः स्थापना की। हम्मीर ने अलाउद्दीन के समय मे ही मेवाड को जीतने का प्रयत्न किया परन्तु सफल न हुआ। परन्तु उसके आक्रमणों के कारण शहजादा खिज्रखाँ मेवाड को छोड़ने पर बाध्य हुआ और मालदेव को मेवाड का सूबेदार नियुक्त किया गया। सम्भवतया मुहम्मद तुगलक के बाद के समय मे हम्मीरदेव ने चित्तौड को जीत लिया और एक प्रकार से सम्पूर्ण मेवाड स्वतन्त्र हो गया। इतिहासकारों के बहुमत के अनुसार हम्मीर ने 64 वर्ष शासन किया। हम्मीरदेव के पश्चात् उसका पुत्र क्षेत्रसिंह (1378-1405 ई०) मेवाड़ का शासक बना। वह अपने पिता की भाँति ही योग्य था और उसने मेवाड राज्य का विस्तार किया। उसके पश्चात् उसका पुत्र लक्खा गद्दी पर बैठा। उसने मारवाड के राठौर-राजवश की पुत्री से विवाह करके अपनी शक्ति को दृढ़ किया। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र मोकल (1420 ई०) गद्दी पर बैठा। उसके समय में उसके मामा रानमल ने मारवाड को अपने आधिपत्य मे किया और नागौर को जीता। 1433 ई० में मोकल जब गुजरात के शासक के विरुद्ध युद्ध करने गया तो उसका वध कर दिया गया।

इस आन्तरिक फूट के अवसर पर मालवा और गुजरात के शासकों ने मेवाड़ पर आक्रमण किया परन्तु रानमल ने मेवाड मे हस्तक्षेप किया, अपने प्रपौत्र और मोकल के पुत्र कुम्भकरण (राणा कुम्भा) को गद्दी पर बैठाया, मालवा और गुजरात के शासकों को वापिस जाने के लिए बाध्य किया तथा विद्रोही सरदारों को दबाने मे सफलता प्राप्त की।

परन्तु मेवाड मे रानमल के प्रभुत्व से कुछ राजपूत सरदार ईर्ष्या करने लगे और उन्होने राणा लक्खा के पुत्र चूंडा (जो बहुत पहले मालवा चला गया था) के साथ मिलकर 1438 ई० मे रानमल का वध कर दिया जिसके कारण मारवाड़ और मेवाड की शत्रुता आरम्भ हुई। इस प्रकार राणा कुम्भा के प्रारम्भिक वर्ष बडी कठिनाई से गुजरे। परन्तु राणा कुम्भा यशस्वी राणा साबित हुआ। उसने अधिकाश मारवाड को अपने राज्य मे सम्मिलित कर लिया और अपने प्रमुख शत्रु मालवा राज्य को भी कई युद्धों मे परास्त किया। मालवा के विरुद्ध सफलता प्राप्त करने के उपलक्ष मे उसने 1448 ई० मे चित्तौड के कीर्ति-स्तम्भ का निर्माण किया। इसके अतिरिक्त उसने मेवाड मे अनेक महल, मन्दिर और किलो का निर्माण कराया। राणा कुम्भा को अनेक युद्ध करने पडे। मारवाड के राठौरो के अतिरिक्त उसके मुख्य शत्रु मालवा और गुजरात के शासक थे जिन्होने सम्मिलित होकर उसकी शक्ति को नष्ट करने का प्रयत्न किया परन्तु वे असफल रहे। मध्य-युग के शासकों मे राणा कुम्भा एक महान् शासक था। अनेक युद्धो मे व्यस्त रहते हुए भी उसने साहित्य, ललित-कलाओ आदि की उन्नति की। वह स्वय विद्वान था तथा वेद, स्मृति, मीमासा, उपनिषद, व्याकरण, राजनीति और साहित्य का ज्ञाता था। उसने चार स्थानीय भाषाओ मे चार नाटकों की रचना की थी और जयदेव कृत 'गीत-गोविन्द' की टीका लिखी थी। उसे सगीत से प्रेम था और उसने उस पर तीन पुस्तके लिखी थी। उसके समय मे स्थापत्य-कला की अद्वितीय उन्नति हुई। उसने मेवाड के 84 किलो मे से 32 किलो को बनवाया, चित्तौड के किले को दृढ किया तथा कुम्भलगढ के नवीन नगर और किले मे अनेक शानदार इमारतें बनवायी। जब उसके समय की पूर्ण जानकारी उपलब्ध हो जायेगी तो सम्भवतया उसे मध्य-युग के महानतम शासको में स्थान प्रदान करने में इतिहासकारो को कोई कठिनाई नही होगी। परन्तु राज्य के लोभ-वश उसके पुत्र उदय ने राणा कुम्भा का वध कर दिया (1473 ई०)।

सरदारो के विरोध के कारण उदय अधिक समय तक शासन न कर सका और उसके छोटे भाई रायमल ने सिंहासन पर अधिकार कर लिया। रायमल को मुख्यतया अपने विद्रोही सरदारों, मालवा के शासको और आदि-जातियों से संघर्ष करना पड़ा। रायमल ने 36 वर्ष (1473-1509 ई०) शासन किया। वह एक सफल शासक रहा परन्तु उसके अन्तिम समय मे उसके पुत्रों मे राजसिंहासन के लिए सघर्ष हुआ जिसके कारण वह पागल हो गया और बाद मे मर गया। उसके सबसे बडे पुत्र पृथ्वीराज को जहर देकर मारा गया था, दूसरा पुत्र जयमल एक सम्बन्धी से द्वन्द्व-युद्ध करते हुए वीरगति को प्राप्त हुआ था तथा तीसरे पुत्र जयसिंह को सरदारो ने राणा मानने से इन्कार कर दिया। तब राणा सग्रामसिंह (राणा सांगा जो अपने भाइयो से लड़कर मालवा चला गया था) को सिंहासन पर बैठाया गया। राणा सांगा (1509-1528 ई०) एक महत्वाकाक्षी और युद्धप्रिय शासक साबित हुआ। उसने पड़ौस के दिल्ली, मालवा और गुजरात के राज्यों से युद्ध किये, अपने राज्य का विस्तार किया तथा राजस्थान के प्रायः सभी राज्यो को अपनी अधीनता मे कर लिया अथवा उनका समर्थन प्राप्त कर

लिया। वह दिल्ली को जीतने के लिए भी उत्सुक था। उसने मुगल बादशाह बाबर से 1527 ई० में खानुआ का युद्ध किया जिसमें उसकी पराजय हुई और थोड़े समय के पश्चात् उसकी मृत्यु हो गयी। उसके पश्चात् मेवाड़ की शक्ति दुर्बल हो गयी और अन्त में जहाँगीर के समय मे मेवाड़ ने मुगल आधिपत्य को स्वीकार कर लिया।

[7]

मारवाड़ (आधुनिक जोधपुर)

मारवाड के राठौर प्राचीन राष्ट्रकूटो के वंशज थे। निकट के मुसलमान और राजपूत शासकों से युद्ध करते हुए अन्त मे चुन्द (1394-1421 ई०) ने आधुनिक मारवाड राज्य की नीव डाली और आधुनिक जोधपुर को अपनी राजधानी बनाया। चुन्द ने अपनी पुत्री का विवाह मेवाड के वृद्ध शासक लक्खा से करके अपने प्रभाव मे वृद्धि की। चुन्द का सबसे बडा पुत्र रानमल था परन्तु वह अपने पिता की आज्ञा मानकर अपने राज्य को छोड़कर मेवाड़ चला गया। चुन्द के पश्चात् कान्हा और कान्हा के पश्चात् सता मारवाड़ का शासक बना। सता प्राय: अन्धा था। रानमल ने सता को हटाकर मारवाड़ पर अपना अधिकार कर लिया। रानमल ने राणा कुम्भा की उसके प्रारम्भिक वर्षों में बहुत सहायता की परन्तु मेवाड के सरदारो ने उसका वध कर दिया। उस समय से मेवाड़ और मारवाड़ मे शत्रुता प्रारम्भ हो गयी। रानमल के पुत्र जोधा को मेवाड़ से संघर्ष करना पड़ा। बाद मे मालवा और गुजरात के शासको से युद्ध करते हुए राणा कुम्भा ने भी जोधा के साथ समझौता करना उपयुक्त समझा और जोधा ने मारवाड़ पर अधिकार कर लिया। जोधा के 17 पुत्र थे। 1488 ई० मे उसकी मृत्यु के पश्चात् उनमें संघर्ष हुआ। उसके जीवित रहते हुए भी उसके पुत्रों ने सातल, बीकानेर, मेड़ता आदि मे अपने अर्ध-स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना की थी। परन्तु अन्त मे सरदारो की सम्मति से सुजा मारवाड़ का शासक बना। परन्तु जोधा के पुत्र विका ने बीकानेर मे अपने स्वतन्त्र राज्य की नींव डाली और मेडता भी मारवाड़ के अधीन न रहा। मेवाड़ के पतन के पश्चात् मारवाड़ को प्रगति का अवसर प्राप्त हुआ और वह राजपूताने का प्रमुख राज्य बन गया। शेरशाह के समय मे मारवाड का शक्तिशाली शासक मालदेव था। अकबर के समय में मारवाड ने मुगलों की अधीनता स्वीकार कर ली।

[8]

खानदेश (दक्षिण भारत)

खानदेश के स्वतन्त्र राज्य की स्थापना फीरोज तुगलक की मृत्यु के पश्चात् सूबेदार मलिक राजा ने की। ताप्ती नदी की घाटी में स्थित खानदेश राज्य कभी भी बहुत शक्तिशाली राज्य न बन सका। निकट के बहमनी राज्य से उसका निरन्तर संघर्ष रहता था और समय-समय पर उसे मालवा अथवा गुजरात के शासकों की सहायता लेनी पडती थी। अधिकांश समय खानदेश के शासकों ने गुजरात के शासकों की अधीनता को माना जिनमें उसके विवाह-सम्बन्ध भी थे। 1601 ई० में मुगल बादशाह अकबर ने उसे मुगल-साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया।

[9]

बहमनी राज्य (दक्षिण भारत)

मुहम्मद तुगलक के समय में दक्षिण के विदेशी अमीरों ने विद्रोह किया और दौलताबाद पर अधिकार करके हसन नामक एक सरदार को सुल्तान चुना। वह 1347 ई० में 'अबुल हसन मुजफ्फर अलाउद्दीन बहमनशाह' के नाम से सिंहासन पर बैठा और उसने बहमनी राज्य की नींव डाली। बहमनशाह ने अपने को ईरान के इस्फन्दियार के बहादुर पुत्र बहमन का वंशज बताया था जबकि फरिश्ता के अनुसार वह आरम्भ में एक ब्राह्मण गंगू का नौकर था और अपने कृपालु मालिक का सम्मान करने के हेतु उसने शासक होने पर 'बहमनशाह' की उपाधि ग्रहण की थी। बहमनी राज्य दक्षिण का एक महत्वपूर्ण राज्य हुआ। दक्षिण भारत के काफी बड़े भाग पर प्राय. 200 वर्ष तक उसकी सत्ता रही।

बहमनशाह एक योग्य शासक हुआ और उसने गुलबर्गा को अपनी राजधानी बनाया। उसने न केवल अपने साम्राज्य को दृढ़ किया बल्कि उसका विस्तार भी किया। उसका राज्य उत्तर में बानगंगा से लेकर दक्षिण में कृष्णा नदी तक और पश्चिम में दौलताबाद से लेकर भोंगिरी तक फैला हुआ था। उसके समय में उसके राज्य के दक्षिण-पूर्व में वारंगल और दक्षिण-पश्चिम में विजयनगर के हिन्दू राज्यों की स्थापना हुई थी। उसने वारंगल के शासक कापय नायक को वार्षिक कर देने और कौलास का किला देने के लिए बाध्य किया। बहमनशाह एक अच्छा शासन-प्रबन्धक भी था। उसने अपने राज्य को चार सूबों (तरफों) में बाँटा। गुलबर्गा, दौलताबाद, बरार और बीदर उसकी प्रान्तीय राजधानियाँ थीं। एक सुसंगठित राज्य स्थापित करने के पश्चात् 1358 ई० में बहमनशाह की मृत्यु हो गयी।

बहमनशाह की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र मुहम्मदशाह प्रथम (1358-1375 ई०) गद्दी पर बैठा। मुहम्मदशाह के समय की मुख्य घटना वारंगल और विजयनगर के हिन्दू राजाओं से युद्ध है। सम्भवतया वारंगल के शासक कापय नायक और विजयनगर के शासक बुक्का ने परस्पर कोई समझौता कर लिया था जिसके कारण कापय ने मुहम्मद से कौलास के किले की और बुक्का ने उससे कृष्णा तथा तुंगभद्रा नदियों के दोआब (रायचूर) की माँग की। मुहम्मद ने उन दोनों से युद्ध किया। वह कापय नायक के विरुद्ध अधिक सफल रहा, गोलकुण्डा का किला उससे छीन लिया और उस किले को दोनों राज्यों की सीमा मान लिया गया। परन्तु विजयनगर राज्य से एक समझौता हुआ जिसके अनुसार सम्भवतया यह मान लिया गया कि दोनों राज्य एक-दूसरे के युद्धबन्दियों का कत्ल नहीं करेंगे और एक-दूसरे की नि शस्त्र प्रजा को नहीं मारेंगे। मुहम्मदशाह की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र अलाउद्दीन मुजाहिद गद्दी पर बैठा। उसने निरन्तर तीन वर्ष तक विजयनगर राज्य से युद्ध किया और वहाँ से वापिस आते हुए एक अवसर पर उसके चचेरे भाई दाऊदखाँ ने उसका वध कर दिया (1378 ई०)। परन्तु विरोधी अमीरों ने एक माह में ही दाऊदखाँ का वध कर दिया और उसके एक भाई को 'मुहम्मद द्वितीय' के नाम से सिंहासन पर

बैठाया। आन्तरिक संघर्ष के इस समय में विजयनगर राज्य ने बहमनी राज्य के पश्चिमी तट की कुछ सीमाओं पर अधिकार कर लिया। परन्तु मुहम्मद द्वितीय ने विजयनगर से युद्ध नही किया। वह शान्तिप्रिय शासक था। वह विद्वान था और उसने विद्वानो को आश्रय दिया। 1397 मे उसकी मृत्यु हो गयी। उसके पश्चात् गियासुद्दीन और शमसुद्दीन शासक हुए परन्तु उन दोनों ने बहुत थोड़े समय ही राज्य किया। 1397 ई० मे ताजुद्दीन फीरोजशाह गद्दी पर बैठा। उसने तीन बार विजयनगर से युद्ध किया। दो युद्धों मे उसे आंशिक सफलता मिली परन्तु तीसरे युद्ध मे उसकी पराजय हुई। इससे उसका सम्मान कम हो गया जिसके कारण उसके भाई अहमदशाह ने उसे गद्दी से हटा दिया और 1422 ई० में स्वयं सुल्तान बन गया। फीरोजशाह एक विद्वान शासक था। उसने फीरोजाबाद नामक एक नवीन शहर बसाया और चौल तथा दभौल के बन्दरगाहो की उन्नति की।

अहमदशाह (1422-1436 ई०) ने वारंगल पर आक्रमण करके उसे जीत लिया, विजयनगर राज्य मे उसने लूट-मार की और मालवा पर सफल आक्रमण किया। परन्तु गुजरात के विरुद्ध उसे सफलता न मिली। 1425 ई० मे उसने बीदर को अपनी राजधानी बनाया जहाँ उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र ने उसकी कब्र पर एक शानदार मकबरा बनवाया। उसके समय मे दक्षिण भारतीय मुसलमान अमीरो और विदेशी मुसलमान अमीरो मे झगड़े आरम्भ हुए। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र अलाउद्दीन अहमदशाह (1436-1458 ई०) गद्दी पर बैठा। अलाउद्दीन अहमदशाह ने कोंकण के हिन्दू राज्य को जीता, खानदेश के आक्रमण को विफल किया, संगमेश्वर के हिन्दू राजा की पुत्री से विवाह किया तथा विजयनगर राज्य से युद्ध किया। उसके समय मे महमूद गवाँ (जो बाद मे बहमनी राज्य का विख्यात वजीर हुआ) को राज्य की सेवा मे लिया गया। अलाउद्दीन की मृत्यु के पश्चात् हुमायूँ ने तीन वर्ष शासन किया। वह बहुत क्रूर शासक था जिसके कारण उसे 'जालिम' पुकारा गया। हुमायूँ की मृत्यु के पश्चात् उसका आठ वर्षीय पुत्र निजामशाह शासक बना। उसकी माता ने महमूद गवाँ और ख्वाजा-जहाँ तुर्क की सहायता से शासन-कार्य सँभाला और उड़ीसा तथा मालवा के आक्रमणो को विफल किया। 1463 ई० में निजामशाह की मृत्यु हो गयी और उसका भाई मुहम्मदशाह तृतीय गद्दी पर बैठा। इस समय मे ख्वाजा-जहाँ तुर्क का वध करा दिया गया क्योंकि राजमाता उस पर सन्देह करने लगी थी और महमूद गवाँ को प्रधानमन्त्री अथवा वजीर बनाया गया। महमूद गवाँ ने पूरी योग्यता से राज्य की सेवा की। उसके समय मे कोंकण के हिन्दू राजा का दमन किया गया, संगमेश्वर के राजा से खेलना का किला छीन लिया गया, विजयनगर राज्य को लूटा गया तथा उससे गोआ का बन्दरगाह छीन लिया गया। राजमहेन्द्री तथा कोंडवीर के किलो को जीतने तथा उड़ीसा पर आक्रमण करके वहाँ से बहुत-सा धन लूटने मे भी सफलता पायी गयी। परन्तु महमूद गवाँ की शक्ति से भारतीय मुसलमान अमीर ईर्ष्या करने लगे जिसके कारण उन्होंने सुल्तान से जबकि वह शराब के नशे मे था, महमूद गवाँ के वध की आज्ञा ले ली और उसका वध कर दिया। महमूद गवाँ अपने समय का

योग्यतम व्यक्ति था। उसने बीदर में एक विद्यालय की स्थापना की। उसने बहमनी राज्य की तीन पीढ़ियों तक सेवा की। उसके पश्चात् बहमनी राज्य की एकता नष्ट होने लगी तथा भारतीय और विदेशी मुसलमानों का संघर्ष तीव्र हो गया। 1482 ई० में मुहम्मदशाह तृतीय की मृत्यु हो गयी।

उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र महमूदशाह सुल्तान बना। परन्तु अल्पवयस्क होने के कारण शासन-सत्ता हसन निजाम-उल-मुल्क (मलिक नाइब) के हाथों में रही। परन्तु महमूद गवाँ की हत्या ने विदेशी मुसलमानों को काफी असन्तुष्ट कर दिया था और वे अब सुल्तान की आज्ञा को मानने के लिए तैयार न थे। भारतीय मुसलमानों के साथ अबीसीनियन हब्शी भी शामिल थे जबकि विदेशी (परदेसी) मुसलमानों में तुर्क, मुगल, ईरानी और अरब सम्मिलित थे। इनमें मुख्य झगड़ा नस्ल अथवा जाति का न था वरन् शक्ति और धर्म का था। विदेशी मुसलमान बहुत बड़ी संख्या में बहमनी राज्य में आये थे और प्रतिष्ठित पद प्राप्त कर रहे थे। दक्षिण भारतीय मुसलमान उनसे ईर्ष्या करते थे। इसके अतिरिक्त जबकि दक्षिणी मुसलमान सुन्नी थे, अधिकांश विदेशी मुसलमान शिया थे। इस कारण दरबार में दो दल बन गये थे जो एक दूसरे को नष्ट करने पर तुले हुए थे। निजामशाह (जो अल्पायु था) के समय से कोई भी बहमनी शासक योग्य न हुआ था। इस कारण उनकी पारस्परिक प्रतिस्पर्धा को बढ़ावा मिला था। महमूद गवाँ (जो परदेसी मुसलमान था) इन दो दलों में शक्ति-सन्तुलन बनाये हुए था परन्तु नाइब मलिक (जो दक्षिणी मुसलमान था) के षड्यन्त्र के कारण वह मारा गया। उसके वध के कारण दोनों दलों में खुला झगडा हो गया जिसे सुल्तान महमूदशाह समाप्त न कर सका। मलिक नाइब को अपनी जान बचाने के लिए भागना पड़ा परन्तु बीदर के सूबेदार ने उसका वध कर दिया। दक्षिणी मुसलमानों ने महल पर आक्रमण करके सुल्तान को कैद करने का प्रयत्न किया परन्तु वे सफल न हुए और उन्हें बहुत बडी संख्या में कत्ल कर दिया गया। उसके पश्चात् महमूदशाह शासन से उदासीन हो गया और उसने अपना शासन एक तुर्की अमीर कासिम बरीद के हाथों में सौंप दिया। परन्तु विभिन्न सूबेदार कासिम बरीद की सत्ता को मानने के लिए तत्पर न हुए। सर्वप्रथम मृतक नाइब मलिक के पुत्र मलिक अहमद निजाम-उल-मुल्क ने राज्य की आज्ञाओं को मानना बन्द किया। उसके पश्चात् 1490 ई० में अहमद ने अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर ली। बीजापुर के आदिलखाँ और बीदर के इमाद-उल-मुल्क ने भी यही किया। इस प्रकार बहमनी राज्य के शक्तिशाली सूबेदार प्राय. स्वतन्त्र हो गये यद्यपि महमूद के समय में किसी ने भी सुल्तान की उपाधि ग्रहण नहीं की। उनकी एकता का एकमात्र आधार प्रति वर्ष विजयनगर के शासकों के विरुद्ध जिहाद (धर्म-युद्ध) करना था। 1518 ई० में महमूद की मृत्यु हो गयी। उसके पश्चात् चार दुर्बल सुल्तान हुए परन्तु वे कासिम बरीद के हाथों में कठपुतले बने रहे। वास्तव में बहमनी राज्य नष्ट हो चुका था। उसका नाममात्र का अन्तिम शासक खलीमुल्ला हुआ जिसकी मृत्यु 1538 ई० में हुई। उसकी मृत्यु के पश्चात् नाममात्र का बहमनी राज्य भी नष्ट हो गया और उसका स्थान पाँच

स्वतन्त्र राज्यों ने ले लिया। बहमनी राज्य के खण्डों से बीजापुर के आदिलशाही राज्य, गोलकुण्डा के कुतुबशाही राज्य, अहमदनगर के निजामशाही राज्य, बीदर के बरीदशाही राज्य और बरार के इमादशाही राज्य की स्थापना हुई।

दक्षिण भारत के इन पाँच मुसलमान राज्यों मे परस्पर सघर्ष रहा परन्तु उनका मुख्य शत्रु विजयनगर राज्य रहा। 1574 ई० मे बरार राज्य को अहमदनगर ने जीत लिया और 1618-19 ई० मे बीदर राज्य को बीजापुर ने जीत लिया। मुगल बादशाह अकबर ने अहमदनगर के कुछ भाग पर अधिकार कर लिया और शाहजहाँ के समय मे इस राज्य का अस्तित्व नष्ट हो गया। बीजापुर और गोलकुण्डा के स्वतन्त्र अस्तित्व को मुगल बादशाह औरंगजेब ने नष्ट किया।

[10]

विजयनगर राज्य (दक्षिण भारत)

राजनीतिक इतिहास—भारत के दक्षिण-पश्चिमी तट पर विजयनगर राज्य की स्थापना करने का श्रेय हरीहर और बुक्का नाम के दो भाइयों को था। ये कम्पिली राज्य मे मन्त्री थे। मुहम्मद तुगलक ने जब कम्पिली को विजय किया तो हरीहर और बुक्का को पकडकर दिल्ली ले जाया गया और उन्हे मुसलमान बना लिया गया। कम्पिली मे विद्रोह होने के समय मुहम्मद तुगलक ने उन्हे वहाँ दिल्ली की सत्ता को स्थापित करने के लिए भेजा। वे उस कार्य में सफल न हुए और अन्त में एक सन्त विद्यारण्य के प्रभाव मे आकर वे मुसलमान से हिन्दू बनने के लिए तैयार हो गये। कापय नायक और वीर वल्लाल तृतीय की मुसलमानो के विरुद्ध सफलता को देखकर उन्होने भी हिन्दू-आन्दोलन का नेतृत्व करने का निश्चय किया। विद्यारण्य ने अपने गुरु और श्रृंगेरी के मठाधीश विद्यातीर्थ को इन्हे हिन्दू बनाने के लिए तैयार कर लिया और वे हिन्दू हो गये। 1336 ई० में हरीहर ने हम्पी-हस्तिनावती राज्य की नीव डाली। उसी वर्ष उसने विजयनगर का नवीन नगर बसाया। यही राज्य बाद मे विशाल विजयनगर राज्य बना और विजयनगर (विद्यानगर) उसकी राजधानी बना।

हरीहर प्रथम (1336-1356 ई०) इस राज्य का प्रथम शासक हुआ। उसकी पहली राजधानी अनेगोन्दी थी। सात वर्ष के पश्चात् उसने विजयनगर को अपनी राजधानी बनाया। पडौस के वारंगल राज्य का संस्थापक कापय नायक, उसका मित्र प्रोलय वेम और वीर वल्लाल तृतीय उसके विरुद्ध थे तथा देवगिरि का सूबेदार कुतुलुगखाँ भी उसके राज्य की स्थापना को पसन्द नही करता था। परन्तु हरीहर एक योग्य शासक सिद्ध हुआ। उसने बादामी, उदयगिरि और गूटी के दुर्गों को मजबूत किया, कृषि की उन्नति का प्रयत्न किया तथा एक व्यवस्थित शासन स्थापित किया। उसके राज्य के निकट बल्लाल तृतीय का राज्य था परन्तु बल्लाल मदुरा को जीतने के प्रयत्न मे लगा हुआ था जिसके कारण हरीहर ने उसकी पूर्वी सीमाओ के क्षेत्रों को जीत लिया। 1342 ई० में वीर बल्लाल को मदुरा के सुल्तान ने धोखे से मार दिया और उसका पुत्र विरुपाक्ष अथवा बल्लाल चतुर्थ अयोग्य निकला जिसके कारण

में संघर्ष हुआ तथा विरुपाक्ष प्रथम और बुक्का द्वितीय ने क्रमश. सिंहासन को प्राप्त किया परन्तु अन्त मे 1406 ई० मे देवराय प्रथम शासक बना। देवराय प्रथम के समय मे बहमनी शासक फीरोजशाह ने विजयनगर पर आक्रमण किया परन्तु कोई विशेष लाभ प्राप्त न कर सका। देवराय ने अपनी घुड़सवार-सेना को शक्तिशाली बनाया और तुर्की धनुर्धरों को अपनी सेना मे भर्ती किया। उसके अन्तिम दिन शान्ति से व्यतीत हुए और विजयनगर दक्षिण भारत मे विद्या का केन्द्र बन गया। उसकी मृत्यु के पश्चात् 1422 ई० मे उसका पुत्र रामचन्द्र सिंहासन पर बैठा परन्तु उसने केवल कुछ माह शासन किया। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका भाई विजय गद्दी पर बैठा। उसने 1422-1430 ई० तक शासन किया परन्तु उसके समय में शासन का उत्तरदायित्व उसके पुत्र देवराय पर था जो अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् शासक बना। देवराज द्वितीय ने 1446 ई० तक राज्य किया। उसके समय मे भी बहमनी राज्य से दो बार कठिन संघर्ष हुआ परन्तु उसका कोई लाभ न निकला। परन्तु उसने आन्ध्र और उडीसा के शासकों को परास्त करने मे सफलता प्राप्त की। उसने भी तुर्की धनुर्धरो को अपनी सेना मे भर्ती किया। उसी के समय में इटली का एक यात्री निकोली कोण्टी तथा ईरान का राजदूत अब्दुर रज्जाक विजयनगर आये जिन्होंने उस राज्य के वैभव और ऐश्वर्य के बारे में बहुत कुछ लिखा। देवराय द्वितीय के पश्चात् उसका भाई विजय द्वितीय (1446-1447 ई०) शासक बना परन्तु उसने शीघ्र अपने भतीजे और देवराय द्वितीय के पुत्र मल्लिकार्जुन (1446-1465 ई०) के पक्ष मे सिंहासन छोड़ दिया। उसके समय में उडीसा और बहमनी राज्यों ने विजयनगर पर आक्रमण किया। यद्यपि मल्लिकार्जुन ने साहसपूर्वक उनका मुकाबला किया परन्तु उड़ीसा ने उससे कोण्डावीडू और उदयगिरि नामक दो महत्वपूर्ण किले छीनने मे सफलता प्राप्त की। सम्भवतया 1465 ई० मे उसके चचेरे भाई वीरुपाक्ष ने उसका और राजवंश के अन्य अनेक व्यक्तियों का वध करके सिंहासन पर अधिकार कर लिया। वीरुपाक्ष द्वितीय ने नाजायज तरीके से सिंहासन पर अधिकार किया था। इस कारण कई प्रान्तीय सरदारों ने उसके आधिपत्य को मानने से इन्कार कर दिया और विजयनगर राज्य दुर्बल हो गया। बहमनी राज्य ने इस समय मे विजयनगर से गोआ, कोंकण और उत्तरी कर्नाटक छीन लिया। उडीसा के शासक ने भी उसके राज्य के कुछ भाग पर अधिकार कर लिया। इन परिस्थितियों में चन्द्रगिरि के सरदार नरसिंह सालुव ने राज्य की रक्षा की। वीरुपाक्ष द्वितीय की अयोग्यता उसके वंश के पतन का कारण बनी। 1485 ई० मे उसके एक पुत्र ने उसका वध कर दिया परन्तु सिंहासन उसने अपने छोटे भाई प्रोधा देवराय को दिया। परन्तु शीघ्र ही नरसिंह सालुव ने उसे हटाकर 1485 ई० मे सिंहासन पर अधिकार कर लिया और सालुव-वंश के राज्य की नींव डाली।

नरसिंह सालुव अपने वंश का एकमात्र शासक हुआ। यद्यपि वह रायचूर-दोआब को बहमनी राज्य से और विजयगिरि को उड़ीसा राज्य से न छीन सका परन्तु उसने प्रान्तीय सूबेदारों को अपने अधीन करके राज्य को खण्डित होने से बचा

लिया। 1490 ई० मे उसकी मृत्यु के अवसर पर उसके दोनों पुत्र अल्पायु थे। इस कारण उसने नरस नायक को उनका संरक्षक नियुक्त किया। नरस नायक ने उसके बड़े पुत्र तिम्मा को सिंहासन पर बिठा दिया परन्तु शासन-सत्ता का स्वयं उपभोग करता रहा। 1503 ई० मे नरस नायक की मृत्यु हो गयी। उसके पुत्र नरसिंह ने तिम्मा को मरवा दिया और 1305 ई० मे स्वय सिंहासन पर अधिकार करके तुलुव-राजवंश की नीव डाली।

वीर नरसिंह तुलुव ने 1509 ई० तक शासन किया। यद्यपि उसका शासन-काल काफी कम रहा परन्तु तब भी उसने सेना को सुसंगठित किया, अपने नागरिको को युद्धप्रिय बनाया, पुर्तगाली गवर्नर आलमीडिया से उसके द्वारा लाये गये सभी घोडो को खरीदने के लिए एक समझौता किया, विवाह-कर को हटाकर एक उदार नीति का आरम्भ किया और सफलतापूर्वक बहमनी राज्य के आक्रमणो का मुकाबला किया। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका भाई कृष्णदेवराय (1509-1529 ई०) सिंहासन पर बैठा। उसके समय में विजयनगर राज्य ऐश्वर्य और शक्ति की चरम सीमा पर पहुँच गया। उस समय तक बहमनी राज्य पाँच राज्यों मे विभाजित हो गया था परन्तु ये सभी मुसलमान शासक विजयनगर के शत्रु थे। इस कारण उसका मुख्य सघर्ष इन राज्यों से हुआ। वह एक महान् योद्धा और सेनानायक था। उसके सिंहासन पर बैठते ही बहमनी शासक महमूदशाह (बहमनी-वंश का वंशज जिसका राज्य छोटा हो गया था परन्तु तब भी जो बहमनी सुल्तान माना जाता था) ने विजयनगर के विरुद्ध जिहाद (धर्म-युद्ध) घोषित किया और विजयनगर पर आक्रमण किया। कृष्णदेवराय ने उस सेना को परास्त ही नहीं किया बल्कि उसका पीछा किया। बीजापुर का शासक युसुफ आदिलखाँ इस युद्ध में मारा गया, रायचूर के किले तथा कृष्णा-तुगभद्रा दोआब पर विजयनगर का अधिकार हो गया और बीदर के किले को भी जीत लिया गया: यद्यपि महमूदशाह को पुन. बहमनी शासक बनाकर कृष्णदेवराय वापिस आ गया। कृष्ण-देवराय का बीदर में महमूदशाह को सुल्तान बनाने का आशय मुसलमानी राज्यो को विभाजित करना था। उसके पश्चात् कृष्णदेवराय ने वारगल पर अधिकार किया और उड़ीसा के राजा से उदयगिरि और कोण्डावीडू के किलो को जीत लिया। उसने गोलकुण्डा की आक्रमणकारी सेना को परास्त किया और बीजापुर की आक्रमणकारी सेना को उसने परास्त ही नही किया बल्कि उसका पीछा करके उसकी राजधानी गुलबर्गा पर अधिकार कर लिया यद्यपि मुहम्मदशाह द्वितीय के सबसे बड़े पुत्र को सिंहासन देकर वह वापिस आ गया। इस प्रकार अपने सभी शत्रुओं को उसने परास्त किया। उनके द्वारा छीनी गयी विजयनगर की भूमि और किलों को उसने पुनः जीता तथा साम्राज्य का विस्तार किया। कृष्णदेवराय ने जिस युद्ध मे भाग लिया उसे उसने विजय किया। उसने नागल्लपुर का एक नवीन नगर बसाया, राज्य मे अनेक 'मण्डप' और 'गोपुरम' बनवाये तथा विजयनगर को सुन्दर बनाया। उसके समय में ललित-कलाओं तथा साहित्य—मुख्यतया तेलुगु साहित्य—की प्रगति हुई। वह कलाकारों और विद्वानों को संरक्षण प्रदान करता था। उसके समय मे विजयनगर शान्ति, व्यवस्था,

शक्ति और समृद्धि की चरम सीमा पर पहुँच गया। बाबर ने भी अपनी आत्मकथा में कृष्णदेवराय को भारत का सर्वाधिक शक्तिशाली शासक बताया था।

कृष्णदेवराय की मृत्यु के पश्चात् उसका भाई अच्युतराय (1530-1542 ई०) सिंहासन पर बैठा परन्तु वह एक दुर्बल शासक सिद्ध हुआ। उसके पश्चात् उसका भतीजा सदाशिवराय सिंहासन पर बैठा। वह भी अयोग्य था और उसके समय मे शासन-सत्ता का वास्तविक प्रयोग उसका मन्त्री रामराय करता था। रामराय एक योग्य कूटनीतिज्ञ था। उसने बहमनी राज्य के खण्डों से बने हुए पाँच मुसलमानी राज्यों मे परस्पर फूट डालने और एक को दूसरे के विरुद्ध सहायता देने की नीति अपनायी। परन्तु अन्त में इन मुसलमानी राज्यों ने धर्म के आधार पर एक संयुक्त मोर्चा बना लिया तथा बीजापुर, अहमदनगर, गोलकुण्डा और बीदर की सम्मिलित सेनाओं ने विजयनगर पर आक्रमण किया। 23 जनवरी, 1565 ई० को **तालीकोटा का युद्ध** हुआ। इसमें विजयनगर की सेना परास्त हुई और मुसलमानों ने विजयनगर शहर को बरबाद कर दिया।

तालीकोटा का युद्ध और विजयनगर का विध्वस विजयनगर राज्य के लिए बहुत हानिकारक सिद्ध हुआ परन्तु तब भी रामराय के भाई तिरुमाल ने वेनुगोंडा को अपनी राजधानी बनाकर विजयनगर के अस्तित्व को बनाकर रखा। 1570 ई० मे उसने सदाशिव को सिंहासन से हटाकर अपने अरविदु-वंश के शासन की नीव डाली। तिरुमाल के पश्चात् उसका पुत्र रंग द्वितीय शासक हुआ और तत्पश्चात् उसका भाई वेंकट। उसके समय मे विजयनगर का राज्य नष्ट होने लगा। उसका अन्तिम शासक रंग तृतीय हुआ जिसके समय मे मैसूर, वेदनूर, मदुरा, तंजौर आदि स्वतन्त्र राज्यों का निर्माण हुआ और विजयनगर राज्य नष्ट हो गया।

विजयनगर राज्य दक्षिण भारत मे मुसलमान-आक्रमणो के विरुद्ध हिन्दुओ के राजनीतिक संघर्ष का एक सफल परिणाम था। इस राज्य के सस्थापक हरीहर और

मूल्यांकन

बुक्का ने सन्त विद्यारण्य के प्रोत्साहन से हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए उसकी स्थापना की थी। इस उद्देश्य की पूर्ति में उन्हे सफलता भी मिली। निस्सन्देह, विजयनगर के शासकों ने उडीसा, वारंगल आदि के हिन्दू शासकों से भी युद्ध किये और इन युद्धो मे उनका उद्देश्य राजनीतिक था परन्तु उनके मुख्य शत्रु बहमनी राज्य अथवा उसके खण्डो से बने अन्य मुसलमान राज्य ही रहे। इससे यह स्पष्ट है कि धर्म और राजनीति के आधार पर बहमनी और विजयनगर राज्यों के लम्बे सघर्ष का कारण जहाँ एक तरफ मुसलमान राज्यो का हिन्दू सत्ता को दक्षिण भारत से नष्ट कर देने का प्रयत्न था वहाँ दूसरी तरफ विजयनगर के शासकों का हिन्दू राज्य और हिन्दू सस्कृति की रक्षा करने का प्रयत्न था और इसमे सन्देह नही कि एक लम्बे समय तक विजयनगर राज्य ने इस कार्य की पूर्ति करने मे सफलता प्राप्त की।

शासन की दृष्टि से विजयनगर-शासको की व्यवस्था हिन्दू परम्परा के अनुसार थी। इसमें राजा शासन का प्रधान होता था और उसमें देवत्व का अश माना जाता

था। कानून-निर्माण, शासन-व्यवस्था, न्याय, सैन्य-संचालन आदि सभी में वह प्रधान था। परन्तु विजयनगर के शासक न निरंकुश थे और न स्वेच्छाचारी। उनकी सहायता के लिए एक मन्त्रि-परिषद होती थी और अनेक अवसरों पर राजा के लिए मन्त्रि-परिषद की राय मान्य होती थी। सभी शासक धर्म के अनुसार अपनी प्रजा की भलाई करना अपना प्रमुख उद्देश्य मानते थे। राजा की सहायता के लिए अन्य अनेक पदाधिकारी और शासन के विभिन्न विभाग होते थे जहाँ हजारों असैनिक अधिकारी कार्य करते थे। विजयनगर राज्य छ. प्रान्तों मे बँटा हुआ था जहाँ प्रान्तपति *अथवा नायक प्रधान होता था। ये अधिकाशतया राजा के सम्बन्धी होते थे और* इनके अधिकार विस्तृत थे। प्रान्त अन्य छोटी इकाइयों में विभक्त होते थे। शासन की सबसे छोटी इकाई गाँव थे जहाँ पचायतें प्रायः स्वशासन के आधार पर कार्य करती थीं। लगान, सिचाई-कर, चरागाह-कर, व्यापारिक कर आदि राज्य की आय के मुख्य साधन थे। किसानों से पैदावार का $\frac{1}{6}$ भाग अथवा उससे कुछ अधिक लगान के रूप मे लिया जाता था। विजयनगर राज्य मे एक विशाल सेना थी। घुडसवार, पैदल और हाथी उसके मुख्य अंग थे। तुर्की धनुर्धरो का प्रयोग भी उन्होंने किया था। राजाओ ने तोपखाना भी रखा था परन्तु वह बहुत श्रेष्ठ न था। विजयनगर के शासको का दण्ड-विधान कठोर था। मृत्यु-दण्ड, अग-विच्छेद और सम्पत्ति का जब्त कर लिया जाना मुख्य दण्ड थे। विजयनगर के शासक हिन्दू धर्म के वैष्णव सम्प्रदाय को मानने वाले थे परन्तु उन सभी ने धार्मिक सहिष्णुता की नीति का पालन किया। उनके राज्य मे हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, यहूदी आदि सभी के प्रति समान व्यवहार किया जाता था। इस प्रकार विजयनगर के शासकों ने एक व्यवस्थित शासन की स्थापना की थी। परन्तु उनके सैनिक सगठन मे दुर्बलता रही। मुख्यतया उनका तोपखाना दुर्बल रहा। इसके अतिरिक्त उनके प्रान्तीय सूबेदारो को बहुत अधिक विस्तृत अधिकार थे जिसके कारण वे केन्द्रीय शासन के दुर्बल होने पर स्वतन्त्र हो गये।

विजयनगर राज्य मे सामाजिक व्यवस्था सुगठित थी। स्त्रियों का समाज में सम्मान था। वे सभी प्रकार की शिक्षा प्राप्त करती थी और राज्य-सेवा मे उनको स्थान प्राप्त होता था। वे सगीत, नृत्य जैसी ललित-कलाओ के अतिरिक्त शस्त्र-विद्या मे भी भाग लेती थी। स्त्री-अंगरक्षक भी रखे जाते थे। अनेक विदुषी स्त्रियो को दरबार में स्थान प्राप्त था। परन्तु अल्पायु-विवाह, धनी व्यक्तियों मे बहु-विवाह, दहेज-प्रथा, सती-प्रथा आदि प्रथाएँ समाज में प्रचलित थी। ब्राह्मणों का समाज मे सम्मान था। वे माँस नही खाते थे। अन्य जातियो और जन-साधारण मे माँस खाना प्रचलित था। यज्ञों मे बकरों और भैंसों की बलि दी जाती थी। केवल गो-माँस का निषेध था।

आर्थिक दृष्टि से विजयनगर एक समृद्धशाली राज्य था। विभिन्न विदेशी यात्रियों ने उसकी धन-सम्पत्ति की बढाई की थी। इटली-निवासी यात्री निकोली कोण्टी, पुर्तगाल-निवासी यात्री डोमिगोस पेइज और ईरानी यात्री अब्दुर रज्जाक

ने उसकी समृद्धि की अत्यधिक प्रशंसा की। उनके अनुसार केवल राजा ही धनवान न थे बल्कि उनकी प्रजा भी धनवान थी। जन-साधारण भी कानों, गलों, हाथों और उँगलियों मे जेवरात पहनते थे। सोने के अतिरिक्त हीरा, मोती जैसे जवाहरातों तथा कीमती पत्थरों के प्रयोग का बहुत अधिक प्रचलन था। खाद्य-पदार्थों के गोदाम भरे रहते थे, किसी वस्तु की कमी न थी और सभी वस्तुओ के मूल्य कम थे। विजयनगर शहर की प्रशसा सभी यात्रियो ने की थी। निकोली कोण्टी के अनुसार "नगर का घेरा 60 मील का था जिसमें प्राय: 90 हजार व्यक्ति शस्त्र धारण करने के योग्य थे।" बारबोसा ने नगर की प्रशसा करते हुए लिखा था कि "नगर बहुत विस्तृत और सघन बसा हुआ है तथा भारतीय हीरों, पेगू के लाल, चीन और एलेक्जेण्ड्रिया की रेशम, सिन्दूर, कपूर, कस्तूरी तथा मलाबार की काली मिर्च और चन्दन के व्यापार का मुख्य केन्द्र-स्थान है।"[1] साम्राज्य की इस समृद्धि के लिए विजयनगर के शासक भी उत्तरदायी थे। कृषि, व्यापार तथा उद्योग सभी में उन्नति हुई थी। सिंचाई के साधन उपलब्ध थे और कृषि-योग्य भूमि मे विस्तार किया गया था। आन्तरिक व्यापार के अतिरिक्त विजयनगर का व्यापार मलाया, बर्मा, चीन, अरब, ईरान, अफ्रीका, अबीसीनिया और पुर्तगाल से होता था। कपडा, चावल, शोरा, चीनी, मसाले, इत्र आदि विदेशों को भेजे जाते थे तथा घोड़े, मोती, ताँबा, कोयला, पारा, रेशम आदि विदेशो से मँगाये जाते थे। व्यापार स्थल और जल (समुद्र) दोनों ही मार्गों से होता था और भारतीय पानी के जहाजो का निर्माण करते थे। विजयनगर राज्य का अपना एक छोटा जल-बेडा भी था। वस्त्र, इत्र और धातुओ के बर्तन आदि बनाना वहाँ के मुख्य उद्योग थे। व्यापार और उद्योगों की देखभाल के लिए व्यापारिक सघ बने हुए थे। इन सभी से राज्य तथा प्रजा सुखी और समृद्ध थी।

साहित्य और कला की दृष्टि से भी विजयनगर राज्य प्रगतिशील रहा। विभिन्न शासको ने सस्कृत, तेलुगु, तामिल और कन्नड भाषाओं के साहित्य मे रुचि ली। इसके आरम्भिक काल मे ही वेदो के प्रख्यात टीकाकार सायण और उनके भाई माधव विद्यारण्य हुए थे। कृष्णदेवराय के समय में साहित्यिक प्रगति अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गयी। विभिन्न विद्वानों को राज्य-दरबार मे सम्मान दिया गया। स्वयं कृष्णदेवराय भी विद्वान था। इस सम्पूर्ण समय मे सगीत, नृत्यकला, नाटक, व्याकरण, दर्शन, धर्म आदि सभी पर अनेक ग्रन्थ लिखे गये। ललित-कलाओ की दृष्टि से चित्रकला, संगीत, नृत्यकला और स्थापत्य-कला की अद्वितीय प्रगति हुई। विट्ठलस्वामी का मन्दिर तथा कृष्णदेवराय के द्वारा बनवाया गया हजार स्तम्भो वाला मन्दिर हिन्दू स्थापत्य-कला के अद्वितीय नमूने माने गये हैं।

इस प्रकार विजयनगर राज्य विस्तार, शक्ति, शासन, सम्पन्नता, साहित्य और

---

1 "(The city is) of great extent, highly populous and the seat of an active commerce in country diamonds, rubies from Pegu, silk of China and Alexandria, and cinnabar, camphor, musk, pepper and sandal from Malabar."
—Barbosa.

ललित-कला आदि की प्रगति की दृष्टि से भारतीय इतिहास में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। उसका महत्व इस दृष्टि से और भी अधिक हो जाता है कि उसने दक्षिण भारत में हिन्दू धर्म, सभ्यता और समाज को एक लम्बे समय तक सुरक्षित एवं पल्लवित होने देने में सफलता प्राप्त की। डॉ० ए. एल श्रीवास्तव के शब्दों में "विजय-नगर साम्राज्य ने दक्षिण में मुसलमानों के आक्रमणों के विरुद्ध हिन्दू धर्म तथा संस्कृति की रक्षा करके एक महान् ऐतिहासिक उद्देश्य को पूरा किया।"[1]

1 "The Vijaynagar empire served a high historical purpose by acting as a champion of Hindu religion and culture against the aggressions of the Muslims in southern India." —Dr. A. L. Srivastava.

चतुर्थ खण्ड

मंगोल-आक्रमण और दिल्ली सुल्तानों की उत्तर-पश्चिम सीमा-नीति

17

उत्तर-पश्चिम सीमा-नीति

जब तक यूरोपियन जातियो ने समुद्री मार्ग से भारत में प्रवेश नही किया तब तक भारत की सीमाओ मे प्रवेश करने के मार्ग उत्तर-पूर्व अथवा उत्तर-पश्चिम से ही थे। उत्तर-पूर्व मे हिमालय, असम के पहाड और जंगल तथा भारी वर्षाग्रस्त क्षेत्र ने भारतीय सीमाओं को बडी मात्रा मे सुरक्षा प्रदान की। इसके अतिरिक्त तिब्बत, चीन अथवा बर्मा में किसी शक्तिशाली विस्तारवादी साम्राज्य की अनुपस्थिति ने भी सम्पूर्ण मध्य-युग मे भारत की उत्तर-पूर्वी सीमाओ को विदेशी आक्रमणों से मुक्त रखा। परन्तु भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर स्थिति इससे पृथक रही। उत्तर-पश्चिम मे हिन्दूकुश के पहाड़ो मे खैबर, बोलन, कुर्रम, तोची और गोमल के दर्रे भारत को अफगानिस्तान, मध्य-एशिया तथा ईरान जैसे दूरस्थ प्रदेशो से सम्पर्क की सुविधा प्रदान करते थे। भारत के स्थल मार्ग से विदेशो से व्यापार करने के मार्ग भी यही थे और भारत पर विदेशी आक्रमणकारियों को भी यही मार्ग प्रदान करते थे। मध्य-युग तक भारत पर इसी दिशा से आक्रमण हुए। मध्य-एशिया और उससे भी दूरस्थ प्रदेशों मे हुई राजनीतिक हलचलें भी इन आक्रमणो का कारण बनी। इन प्रदेशो मे समय-समय पर बर्बर, अर्ध-सभ्य अथवा सभ्य जातियों के शक्तिशाली साम्राज्यो का निर्माण एव उत्थान हुआ। उनकी बढ़ती हुई शक्ति भारत की सीमाओ से भी टकरायी, उन्होने भारत पर आक्रमण किये और यहाँ की राजनीति को प्रभावित किया। ईरानी, यूनानी, हूण, शक, यूची, कुषाण, अरब, तुर्क, मगोल, मुगल आदि सभी विदेशी आक्रमणकारियो ने भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा से ही भारत मे प्रवेश किया और भारतीय राजनीति को प्रभावित किया।

इन्ही में से एक जाति मगोल थी जिसने दिल्ली सल्तनत के युग मे भारत पर निरन्तर आक्रमण किये और दिल्ली सुल्तानो की राजनीति को प्रभावित किया। मगोल चीन के उत्तर मे गोबी के रेगिस्तान के निवासी थे। यह एक घूमने-फिरने वाली अर्ध-सभ्य जाति थी तथा इसका मुख्य पेशा घोड़ो और अन्य पशुओ का पालन था। वे बहुत गन्दे रहते थे और सभी प्रकार का मांस खाते थे। साधारणतया एक मंगोल अत्यधिक आलसी होता था परन्तु आवश्यकता होने पर वह कठिन परिश्रम कर

सकता था। एक मंगोल निरन्तर 40 घण्टे तक घोड़े की पीठ पर बैठकर यात्रा कर सकता था। उनमे स्त्री-सम्बन्धी नैतिकता का सर्वथा अभाव था यद्यपि वे माँ का सम्मान करते थे। उनके मुख्य शौक घुड़सवारी, शिकार और शस्त्र-द्वन्द्व थे। वे विभिन्न कबीलो मे बँटे हुए थे जिनमें परस्पर शत्रुता रहती थी। इन्ही मे से एक कबीले में 1163 ई० मे तेमूचिन उर्फ चगेजखाँ का जन्म हुआ जिसे 'महान्' (Chengiz, the Great) और 'श्रापित' (The Accused) भी पुकारा गया। इसके पिता येसूगाई बहादुर ने तेमूचिन की माँ और अपनी पत्नी को एक अन्य सरदार से छीन लिया था और मंगोल परम्परा के अनुसार भी वह उसकी जायज पत्नी न थी। तेमूचिन जबकि बहुत छोटा ही था, तभी उसके पिता की मृत्यु हो गयी और उसे, उसकी माँ, भाई और एकमात्र बहिन को प्रतिदिन मजदूरी करके अपना भरण-पोषण करना पड़ा। यही तेमूचिन जिसके बारे मे यह विश्वास किया गया था कि वह रक्तरंजित हाथो को लेकर पैदा हुआ था, इतिहास में चगेजखाँ के नाम से विख्यात हुआ और उसने ससार मे सबसे बडे मगोल-साम्राज्य की नीव डाली। चगेजखाँ ने आलसी और असभ्य मगोल जाति को एक राष्ट्र मे संगठित कर दिया। उसने उन्हे एक शक्तिशाली सैनिक अभ्युदल मे परिवर्तित किया और पहली बार उनके समाज, न्याय, दण्ड-व्यवस्था आदि के नियम बनाये। अपने समय मे ही उसने चीन के अधिकाश भाग, रूस के दक्षिणी भाग, मध्य-एशिया, टर्की, पर्शिया और अफगानिस्तान के प्रदेशो को जीतकर एक महान् साम्राज्य स्थापित किया। तुर्किस्तान का ख्वारिज्म साम्राज्य तथा बगदाद के खलीफा का राज्य और सम्मान उसके सम्मुख धूल में मिल गया। चंगेजखाँ अपने जीवन मे अपराजित रहा और जहाँ-जहाँ भी वह गया, शक्तिशाली से शक्तिशाली शासक एवं राज्य उसकी शक्ति, भय और आतंक के एक झटके से ही खण्डित होते चले गये। जहाँ-जहाँ भी मगोल गये, उन्होने सम्पूर्ण जनता और सभ्यता के सभी चिह्नो को नष्ट कर दिया। साइक ने लिखा है कि "इतिहास मे भयकरता और गम्भीर परिणामो की दृष्टि से मगोल-आक्रमण की तुलना किसी आक्रमण से नही की जा सकती।"[1] सदियो तक सम्पूर्ण एशिया और यूरोप मे मगोल-आक्रमणो का भय व आतंक व्याप्त रहा। मगोलो की शक्ति का मुख्य आधार उनकी घुड़सवार-सेना थी। अकस्मात् आक्रमण करना, द्रुतगति से पीछे हटना, फिर पलटकर आक्रमण करना और भागते हुए घोड़ों की पीठ पर बैठे रहकर पीछा करते हुए शत्रुओ पर पीठ के पीछे भी तीव्रता से तीर चलाते रहना उनकी मुख्य विशेषता थी। मगोलों की एक मुख्य विशेषता उनकी गतिशीलता थी। उनके साथ अधिक सामान नही होता था और सम्पूर्ण सेना एक-एक दिन या रात्रि मे 20-20 मील या उससे भी अधिक आगे या पीछे हो जाती थी। उनके मुख्य शस्त्र एक भाला, घुड़सवारो को घोडो की पीठ से खींचने का एक काँटा, तीर-कमान और तलवार थे। चगेजखाँ के नेतृत्व ने उन्हे बहुत अच्छा सगठन और नेतृत्व प्रदान किया तथा विभिन्न जातियों से युद्ध करते हुए

1 "No invasion in historical times can compare in its accumulated horrors or in its far reaching consequence with that of Mongols." —*Sykes.*

उन्होने विभिन्न युद्ध-शैलियों का अनुभव प्राप्त कर लिया जिसके कारण चंगेजखाँ के समय में मगोल अजेय बन गये और उसके पश्चात् भी 14वी सदी तक एशिया और यूरोप मे आतक का कारण बने रहे। ऐसी कट्टर, युद्धप्रिय, क्रूर और विश्व-विजेता जाति से दिल्ली सल्तनत को भय हुआ। भाग्य से भारत पर मगोलो के आक्रमण उस समय में नही हुए जबकि वे अपनी शक्ति की चरम सीमा पर थे अन्यथा सम्भवतया दिल्ली सल्तनत और भारत पर तुर्कों की विजय नष्ट हो जाती।

मंगोल-आक्रमण का भय सबसे पहले सुल्तान इल्तुतमिश के समय मे उत्पन्न हुआ जबकि ईरान के युवराज जलालुद्दीन मगवर्नी का पीछा करता हुआ स्वय चगेजखाँ सिन्ध नदी के तट तक पहुँच गया। इल्तुतमिश ने कूटनीति से काम लिया। उसने जलालुद्दीन मगबर्नी द्वारा भेजे गये राजदूत का वध करा दिया तथा जलालुद्दीन को सहायता और शरण देने से इन्कार कर दिया। ऐसी स्थिति मे चगेजखाँ ने सिन्ध नदी को पार करके दिल्ली सल्तनत की सीमाओ मे प्रवेश करने की इच्छा नही की और वह अपनी सेना के एक भाग को जलालुद्दीन की गतिविधियों पर नजर रखने के लिए छोडकर वापिस चला गया। सुल्ताना रजिया ने भी मंगोलो के प्रति अपने पिता द्वारा अपनायी गयी नीति का पालन किया। जलालुद्दीन द्वारा छोडे गये गजनी और बनियान के सूबेदार मलिक हसन कार्लूग को उसने मगोलों के विरुद्ध सहायता देने से इन्कार कर दिया और इस प्रकार मंगोलो की शत्रुता से अपने राज्य को बचाकर रखा। रजिया की मृत्यु के पश्चात्, सम्भवतया, मंगोलों और दिल्ली सल्तनत का व्यावहारिक समझौता नष्ट हो गया तथा मंगोलो ने सिन्ध नदी को पार करके पजाब में प्रवेश किया। 1241 ई० मे बहादुर ताइर के नेतृत्व में मगोलों ने लाहौर को लूटा और ध्वस्त किया। 1247 ई० मे सली बहादुर के नेतृत्व मे मगोलों ने एक आक्रमण मुल्तान पर किया। वहाँ से बहुत-सा धन लेकर उन्होने लाहौर पर आक्रमण किया और वहाँ से भी पर्याप्त धन लूटकर वे वापिस चले गये। सुल्तान नासिरुद्दीन के समय मे भी मंगोलो ने विभिन्न आक्रमण किये। उ॰ समय तक सम्पूर्ण मुल्तान, सिन्ध और पश्चिमी पजाब मगोलो के हाथों में चला गया था और नासिरुद्दीन अथवा उसके नाइब बलबन ने इन प्रदेशों को मगोलो से छीनने का प्रयत्न नही किया बल्कि मगोल नेता हलाकू से अच्छे सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया और राजदूतों का आदान-प्रदान किया।

जब बलबन स्वय सुल्तान बना तो उसने अपनी उत्तर-पश्चिम सीमा की सुरक्षा के लिए कुछ ठोस कदम उठाये। इसी समय मे मिस्र मे हलाकू की पराजय ने मगोल-शक्ति को एक बडा धक्का पहुँचाया जिसके कारण उनके आक्रमणो की भीषणता कम हो गयी। इससे भी बलबन को लाभ हुआ और उसने लाहौर को जीतने में सफलता प्राप्त की। इसके अतिरिक्त, उसने सीमा पर किलों की एक कतार बनायी, प्रत्येक किले में स्थायी रूप से एक बड़ी सेना रखी और योग्य सरदारों को सीमारक्षक के रूप में नियुक्त किया। आरम्भ मे कुछ वर्षों तक उसकी सीमा की सुरक्षा का भार उसके चचेरे भाई शेरखाँ को दिया गया जिसे कुछ इतिहासकारो ने एक महान् योद्धा बताया है और उसे मगोलों के आक्रमणों के विरुद्ध कई युद्धों में सफलता प्राप्त करने का श्रेय

प्रदान किया है। परन्तु डॉ० के. ए. निजामी के अनुसार उसका नाम किसी भी महत्वपूर्ण युद्ध मे नही आया और उसकी वफादारी सन्देहजनक थी जिसके कारण बलबन ने उसे जहर देकर मरवा दिया। शेरखाँ की मृत्यु के पश्चात् उत्तर-पश्चिमी सीमा को दो भागों मे बाँट दिया गया। लाहौर, मुल्तान और दिपालपुर का क्षेत्र शहजादा मुहम्मद को और सुनम, समाना तथा उच्छ का क्षेत्र शहजादा बुगराखाँ की सरक्षकता में दिया गया तथा प्रत्येक शहजादे के साथ 18 हजार घुडसवारों को एक शक्तिशाली सेना रखी गयी। जब बुगराखाँ को बगाल का सूबेदार बना दिया गया तब शहजादा मुहम्मद ने सम्पूर्ण सीमा की सुरक्षा का उत्तरदायित्व लिया। शहजादा मुहम्मद ने कई मगोल-आक्रमणो को विफल किया परन्तु अन्त में 1286 ई० मे अचानक मगोल सेना द्वारा घिर जाने के कारण वह मारा गया। उसके पश्चात् कैकुबाद को सीमारक्षक नियुक्त किया गया। कैकुबाद योग्य न था परन्तु तब भी दो बार मंगोलो के हुए आक्रमण ने लूट-मार के अतिरिक्त दिल्ली सल्तनत को अधिक क्षति पहुँचाने मे सफलता नही पायी। बलबन के अन्तिम समय मे जलालुद्दीन खलजी को सीमारक्षक का पद दिया गया था जो मगोलो के साधारण आक्रमणो को रोकने में सफल रहा।

इस प्रकार, बलबन ने मगोल-आक्रमणों के विरुद्ध कुछ ठोस कदम उठाये और सफलता प्राप्त की। सम्भवतया इसका एक कारण मगोलों की स्वय की दुर्बलता थी जो मिस्र में हलाकू की पराजय के कारण उत्पन्न हुई थी। इसके अतिरिक्त, इस समय मे मगोलों के आक्रमण लूट-मार तक ही सीमित रहे। इनका उद्देश्य दिल्ली राज्य की सीमाओं को जीतने का न था। **तब भी सम्पूर्ण तथाकथित गुलाम शासकों के समय में अधिकांशतया व्यास नदी मंगोल और दिल्ली सल्तनत के राज्य की सीमा-रेखा रही।** बलबन भी लाहौर को अपने अधीन करने के अतिरिक्त मगोल क्षेत्र मे बढने का साहस नही कर सका।

1292 ई० मे **जलालुद्दीन खलजी** के समय मे हलाकूखाँ के एक प्रपौत्र अब्दुल्ला के नेतृत्व मे मगोलों की एक बडी सेना ने पंजाब पर आक्रमण किया और वह सुनम तक पहुँच गया। स्वय जलालुद्दीन उसका मुकाबला करने के लिए सिन्ध नदी के तट तक गया। बरनी के कथनानुसार जलालुद्दीन ने मगोलों को परास्त करके वापिस जाने के लिए बाध्य किया। परन्तु ऐसा कुछ नही हुआ था। छुटपुट के आक्रमणो मे जलालुद्दीन को सफलता मिली और जब मंगोलों की एक बडी टुकडी ने सिन्ध नदी को पार करके जलालुद्दीन पर आक्रमण किया तो उसे विफल कर दिया गया और बहुत-से मगोल पदाधिकारी कैद कर लिये गये। उसके पश्चात् सन्धि की बातचीत हुई जो जलालुद्दीन के लिए अधिक सम्मानजनक न थी। जलालुद्दीन ने मंगोलों को अपने देश मे बसने की आज्ञा दे दी। चंगेजखाँ के एक वशज उलगू ने अपने 4000 समर्थकों के साथ भारत मे रहने का निश्चय किया और उन्होने इस्लाम धर्म को स्वीकार कर लिया। मगोल सेना वापिस चली गयी। जलालुद्दीन ने अपनी एक पुत्री का विवाह उलगूखाँ के साथ कर दिया और उसे तथा उसके साथियों को दिल्ली के निकट बसने की आज्ञा दे दी। ये मगोल 'नवीन मुसलमान' कहलाये।

सुल्तान अलाउद्दीन खलजी के समय में भारत पर मगोलों के भीषणतम आक्रमण हुए। यद्यपि चगेजखाँ की मृत्यु के पश्चात् उसके साम्राज्य का बँटवारा हो गया था और पारस्परिक युद्धो के कारण मगोलो को शक्ति पहले की तुलना मे बहुत दुर्बल हो गयी थी परन्तु तब भी मगोल एशिया में एक बडी शक्ति थे। उस समय गजनी और काबुल उनके अधीन थे जिनको आधार बनाकर वे भारत पर सुविधा से आक्रमण कर सकते थे। इस समय मे भारत पर विभिन्न मगोल-आक्रमणो का कारण केवल लूट-मार तक सीमित नही रहा बल्कि उन्होंने भारत-विजय अथवा बदले की भावना से आक्रमण किये। 1297-1298 ई० मे कादर के नेतृत्व मे एक लाख की संख्या मे मगोल सेना ने पजाब पर आक्रमण करके लाहौर के निकटवर्ती क्षेत्रो को लूटना आरम्भ किया। परन्तु अलाउद्दीन के द्वारा भेजी गयी दिल्ली की सेना ने जफरखाँ और उलुगखाँ के नेतृत्व में मगोलों को जलन्धर के निकट परास्त किया। प्राय 20,000 मगोल युद्ध में मारे गये तथा अनेक पदाधिकारी, सैनिक, स्त्री और बच्चे पकडकर दिल्ली भेज दिये गये। 1299 ई० मे सलदी के नेतृत्व मे मगोलो ने दूसरा आक्रमण किया परन्तु जफरखाँ ने उन्हे परास्त कर दिया और सलदी तथा अनेक मगोलो को बन्दी बनाकर दिल्ली [illegible] दिया। 1299 ई० मे ट्रान्स-आविसयाना के मगोल शासक दवा ने अपने पुत्र [illegible] ख्वाजा के नेतृत्व में दो लाख मगोलो की सेना को सलदी की पराजय और [illegible] बदला लेने के लिए भारत पर आक्रमण करने के लिए भेजा। इस [illegible] अलाउद्दीन से युद्ध करने के लिए कटिबद्ध होकर आये थे। इस [illegible] समय नष्ट किये हुए वे दिल्ली के निकट पहुँच गये। कीली के मैदान [illegible]

जाती हुई मगोल सेना पर आक्रमण किया। तार्गी एक युद्ध में पहले ही मारा जा चुका था और इस अवसर पर अली बेग और तार्ताक को वन्दी बना लिया गया तथा उनके सिरो को काटकर सीरी के किले की दीवार मे चिनवा दिया गया। इस युद्ध के पश्चात् गाजी मलिक को सीमारक्षक बनाया गया। 1306 ई० मे अली बेग और तार्ताक की मृत्यु का बदला लेने के लिए मगोलो ने पुनः आक्रमण किया। उनकी एक सेना कबक के नेतृत्व मे मुल्तान होती हुई रावी नदी की ओर बढी तथा एक अन्य सेना इकबालमन्द और तई-बू के नेतृत्व मे नागौर की ओर बढी। मलिक काफूर ने कबक को रावी तट पर परास्त करके कैद कर लिया और उसके पश्चात् नागौर की ओर बढती हुई सेना पर आक्रमण किया। मगोलो की वहाँ पर भी हार हुई और वे भाग गये। कबक के साथ-साथ प्राय. 50 हजार मगोलो को पकडकर दिल्ली लाया गया जहाँ पुरुषो को मरवा दिया गया तथा स्त्री और बच्चों को गुलाम बनाकर बेच दिया गया। अलाउद्दीन के समय मे मगोलो का यह अन्तिम आक्रमण था। इस प्रकार, अलाउद्दीन ने मगोल-आक्रमणो के विरुद्ध सफलता प्राप्त की। 1307 ई० मे दवाखाँ की मृत्यु हो जाने के कारण मगोलो की आक्रमणकारी शक्ति दुर्बल हो गयी और अलाउद्दीन के अन्तिम वर्षों मे भारत पर मगोलों के आक्रमण नही हुए। अलाउद्दीन का सैन्य-सगठन और सीमा की सुरक्षा के लिए किये गये प्रयत्न इसके लिए बहुत बडी मात्रा मे उत्तरदायी थे। फरिश्ता तथा बरनी के कथनानुसार सीमा-रक्षक मलिक गाजी ने काबुल, गजनी और कन्धार तक आक्रमण किये तथा मगोलों की सीमा के अन्तर्गत क्षेत्र मे लूट-मार की और कर वसूल किया जिसके कारण मगोलों की आक्रमणकारी शक्ति नष्ट हो गयी।

अलाउद्दीन के पश्चात् मंगोलो के आक्रमण बहुत गम्भीर नही हुए। गियासुद्दीन तुगलक के समय मे हुए एक आक्रमण को विफल कर दिया गया। मुहम्मद तुगलक के समय मे 1327 ई० मे मगोल नेता तार्माशीरीन ने मुल्तान तथा लाहौर मे लेकर बदायूँ और मेरठ तक लूट-मार की। इसामी के अनुसार मगोलो को मेरठ के निकट परास्त करके वापिस जाने को बाध्य किया गया परन्तु फरिश्ता के अनुसार मुहम्मद तुगलक ने मगोलों को बहुमूल्य भेंटें देकर वापिस कर दिया। उसके पश्चात् भारत पर मंगोलो के आक्रमण नही हुए। मध्य-एशिया के मगोलों ने इस्लाम धर्म को स्वीकार कर लिया और तुर्कों के नेता तिमूर ने वहाँ एक शक्तिशाली राज्य स्थापित करके मगोल-प्रभाव को नष्ट कर दिया। इस कारण जबकि 14वी सदी मे दिल्ली सल्तनत की स्थिति बहुत दुर्बल थी, तब भी भारत मगोल-आक्रमणों के भय से मुक्त रहा।

इस प्रकार, दिल्ली सल्तनत के समय मे हुए सभी मगोल-आक्रमण असफल हुए और वे लूट-मार के अतिरिक्त भारत को अधिक हानि नही पहुँचा सके। भारत के किसी भी भाग पर स्थायी अधिकार करने में वे सर्वथा असफल रहे। **मगोलों की इस असफलता के विभिन्न कारण रहे।** चगेजखाँ ने भारत पर आक्रमण नही किया और उसके पश्चात् मगोलो की एकता नष्ट हो गयी। मध्य-एशिया के मगोलो ने चीन के मगोल शासको के विरुद्ध विद्रोह किया और अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिये।

ऐसी स्थिति में भारत पर मगोलों के आक्रमण उनके महान् खानो (शासकों) के द्वारा नही हुए वल्कि मुख्यतया ईरान के इल-खानों द्वारा अथवा ट्रान्स-आक्सियाना के चगताई खानों के द्वारा भेजी गयी सेनाओ के द्वारा हुए। इसके अतिरिक्त, इल-खानों और चगताई-खानो में भी पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता थी। दवाखाँ ने, जिसने भारत पर आक्रमण करने के लिए निरन्तर सेनाएँ भेजी थी, मध्य-एशिया मे प्राय 40 युद्ध किये। इस कारण मगोलो की शक्ति के विभक्त हो जाने और उनकी पारस्परिक शत्रुता ने उन्हें दुर्बल बनाया तथा भारत जैसे दूरस्थ प्रदेश मे उन्हें सफलता के योग्य नही छोडा। बाद के समय मे मगोल अपनी गतिशीलता और दृढता को भी खो बैठे थे। अलाउद्दीन के समय मे अनेक स्त्रियो और बच्चो का युद्ध मे पकडा जाना इस बात का सबूत था कि मगोलों ने उन्हे अपने साथ युद्ध मे लाना आरम्भ कर दिया था जिससे उनकी सैनिक-शक्ति पर अवश्य कुप्रभाव पडा होगा। इसके अतिरिक्त, भारत पर मंगोलो के सबसे अधिक भयकर आक्रमण उस समय मे हुए जबकि अलाउद्दीन खलजी यहाँ का सुल्तान था जो स्वय एक योग्य सेनापति और सैनिक प्रबन्धक था तथा जिसने केन्द्र पर एक विशाल सेना रखी हुई थी।

मगोल-आक्रमणो ने दिल्ली सुल्तानो की राजनीति को प्रभावित किया। उनमें से योग्य सुल्तानो जैसे बलबन और अलाउद्दीन ने बडी-बडी सेनाएँ रखी और शक्ति के आधार पर स्वेच्छाचारी एव निरकुश शासन की स्थापना का प्रयत्न किया। सुल्तानो की विस्तारवादी नीति पर भी एक गम्भीर प्रभाव पडा। अलाउद्दीन के अतिरिक्त दिल्ली का अन्य कोई भी सुल्तान निश्चिन्त होकर भारत के विस्तृत प्रदेश को जीतकर अपनी सत्ता के अधीन करने का प्रयत्न नही कर सका। इस प्रकार, अप्रत्यक्ष रीति से मगोल-आक्रमणो ने इस युग की राजनीति को प्रभावित किया।

18

शासन-व्यवस्था

इस्लाम धर्म के अनुसार 'शरीयत' प्रधान है। खलीफा भी उसके अधीन होता है। इस कारण सभी मुसलमान शासक शरीयत के अधीन होते हैं और उसके कानूनों के अनुसार कार्य करना उनका प्रमुख कर्तव्य होता है। इस दृष्टि से खलीफा और सुल्तान धर्म के प्रधान नहीं थे बल्कि शरीयत के कानून के अधीन राजनीतिक प्रधान मात्र थे जिनका कर्तव्य धर्म के कानूनों के अनुसार शासन करने का था। दिल्ली सुल्तान भी इसी प्रकार के शासक थे। वे सभी राजनीतिक प्रधान थे। परन्तु उनका कर्तव्य इस्लाम धर्म और कुरान के कानूनों के अनुसार शासन करना था। अतएव दिल्ली सुल्तानों की नीति पर धर्म का प्रभाव रहा और कम या अधिक मात्रा मे इस्लाम धर्म के कानूनों का पालन करना उनका प्रमुख कर्तव्य रहा। इसी कारण उनके शासन मे (कतिपय शासकों को छोड़कर) उलेमा-वर्ग का भी प्रभाव रहा तथा इस्लाम धर्म एक राज्य-धर्म की तरह से माना जाता रहा।

दिल्ली सुल्तानों मे से अधिकाश शासकों ने अपने को खलीफा का 'नाइब' पुकारा। इस दृष्टि से वे अपने को अब्बासी खलीफाओं के अधीन मानते थे। केवल अलाउद्दीन ने यह कार्य नही किया जबकि कुतुबुद्दीन मुबारक खलजी ने स्वयं खलीफा की उपाधि ग्रहण की। मुहम्मद तुगलक ने अपने आरम्भिक काल में खलीफा को कोई मान्यता नही दी परन्तु बाद के समय मे अपने उलेमा-वर्ग को सन्तुष्ट करने के लिए उसने खलीफा को अपना प्रधान मान लिया। परन्तु दिल्ली सुल्तानों ने खलीफा को केवल नाममात्र का ही प्रधान माना था। अपने को खलीफा का नाइब पुकारने अथवा अपने सिक्कों पर खलीफाओं के नाम अंकित कराने से उनकी व्यावहारिक स्थिति मे कोई अन्तर नही आया था और वे वास्तविकता में स्वतन्त्र शासकों की भाँति व्यवहार करते थे। खलीफा को नाममात्र का प्रधान मानने में उनका मुख्य आशय अपनी सुन्नी प्रजा और जनता में प्रभावशाली उलेमा-वर्ग का विश्वास एवं वफादारी प्राप्त करना था।

[1]

केन्द्रीय शासन

केन्द्रीय शासन का प्रधान सुल्तान था। दिल्ली सल्तनत के युग में उत्तरा-

धिकार का कोई निश्चित नियम न था जैसा कि हम मुगल काल में पाते हैं जिसमें उत्तराधिकार पैतृक आधार पर निश्चित था अर्थात् पिता की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्रों का ही सिंहासन पर अधिकार हो सकता था। परन्तु तब भी सुल्तान इल्तुतमिश के समय से एक ऐसी परम्परा बनी थी जिसके अनुसार सबसे पहले सुल्तान के पुत्र अथवा पुत्री तक को सिंहासन प्राप्त करने का अधिकार था। सुल्तान को अपने बच्चों में से किसी को भी अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करने का अधिकार था चाहे वह स्त्री हो अथवा पुरुष, वयस्क हो अथवा अल्पायु। इस आधार पर **पैतृक और सुल्तान के द्वारा नामजद किये जाने के अधिकार को मान्यता थी।** इस आधार पर रजिया, शिहाबुद्दीन खलजी और तुगलकशाह को सिंहासन प्राप्त हुआ। परन्तु इसमें स्त्री और अल्पायु शहजादों के सिंहासन पर बैठने और शासन करने के प्रयोग असफल हुए। इससे यह निर्णय निकला कि पैतृक अधिकार को उसी समय स्वीकार किया जाय जबकि उत्तराधिकारी योग्य हो। **अयोग्य उत्तराधिकारी के होने के अवसर पर सरदारों ने सुल्तान को चुनने की प्रणाली का प्रयोग किया।** सुल्तान इल्तुतमिश, रजिया के सभी भाई, कुतुबुद्दीन मुबारक खलजी और फीरोज तुगलक सरदारों की सम्मति से चुने गये सुल्तान थे। **इसके अतिरिक्त, तलवार की शक्ति भी सिंहासन के अधिकार को निश्चित करती थी।** अलाउद्दीन खलजी, ख़िज्रखाँ और बहलोल लोदी ऐसे ही शासक थे।

1. सुल्तान

दिल्ली सुल्तानों ने अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार स्वेच्छाचारी और निरंकुश शासन-व्यवस्था को स्थापित किया। सुल्तान कानून बनाने, उन्हें लागू करने और न्याय करने में प्रधान था। राज्य की सेना का सबसे बड़ा सेनापति भी वही था। उसकी आज्ञा सर्वोपरि थी। सभी पदाधिकारियों की नियुक्ति करने, हटाने, उपाधियों का वितरण करने आदि के अधिकार उसी के थे। परन्तु ये उसके कानूनी अधिकार थे। इन अधिकारों का व्यावहारिक प्रयोग उसकी सैनिक-शक्ति पर निर्भर करता था। सुल्तान के दुर्बल होने की स्थिति में सरदारों का शासन में प्रभाव बढ़ जाता था। उलेमा-वर्ग का प्रभाव भी शासन में था। केवल अलाउद्दीन खलजी और मुबारकशाह खलजी जैसे शासक ही उसके प्रभाव से मुक्त रह सके थे। **शासन-व्यवस्था, शान्ति की स्थापना और बाह्य आक्रमणों से सुरक्षा के अतिरिक्त सुल्तान का एक महत्त्वपूर्ण कार्य इस्लाम धर्म की सुरक्षा और उसका विस्तार करना भी था।**

2. मन्त्री और अन्य अधिकारी

शासन में सुल्तान की सहायता के लिए *विभिन्न मन्त्री और अन्य अधिकारी होते थे।* ये निम्नलिखित थे :

(i) **नाइब (नाइब-ए-मामलिकात)**—इस पद को रजिया के पश्चात् सुल्तान बहरामशाह के समय में आरम्भ किया गया था। बहरामशाह के सरदारों ने शासन-शक्ति को अपने हाथों में रखने के लिए अपने में से एक को 'नाइब' का पद दिया था। इस कारण दुर्बल सुल्तानों के समय में ही इस पद का महत्त्व रहा। ऐसी स्थिति में नाइब का पद सुल्तान के बाद माना जाता था और राज्य के वजीर से भी श्रेष्ठ

समझा जाता था। परन्तु शक्तिशाली सुल्तानों ने इस पद को या तो रखा ही नहीं अथवा अलाउद्दीन जैसे शासकों ने इसे अपने किसी योग्य सरदार को केवल सम्मान प्रदान करने की दृष्टि से दिया।

(ii) **वजीर**—राज्य का प्रधानमन्त्री वजीर कहलाता था। वजीर मुख्यतया राजस्व-विभाग (दीवान-ए-वजारत) का प्रधान था। इस दृष्टि से वह लगान, कर-व्यवस्था, दान, सैनिक-व्यय आदि सभी की देखभाल करता था। यदि राज्य में 'नाइब' का पद नहीं होता था तो वही सुल्तान के पश्चात् राज्य का सबसे बड़ा अधिकारी होता था। ऐसी स्थिति में सम्पूर्ण शासन पर नजर रखना, सुल्तान की बीमारी अथवा राजधानी से अनुपस्थित होने पर शासन का प्रबन्ध करना, विभिन्न पदाधिकारियों की नियुक्ति करना आदि अधिकार उसे प्राप्त थे। वजीर की सहायता के लिए अनेक छोटे अधिकारियों के अतिरिक्त नाइब-वजीर, मुश्रिफ-ए-मुमालिक, मुस्तौफी-ए-मुमालिक आदि बड़े अधिकारी भी होते थे।

(iii) **अरीज-ए-मुमालिक**—यह सेना-विभाग (दीवान-ए-अर्ज) का प्रधान था। वह सैनिकों की भर्ती, उनकी रसद की व्यवस्था, उनके निरीक्षण की व्यवस्था, घोड़ों पर दाग और सैनिकों की हुलिया रखे जाने की व्यवस्था आदि करता था। वह राज्य का सेनापति नहीं था और समय-समय पर विभिन्न युद्धों के लिए अपनी इच्छानुसार सेनापति नियुक्त किया करता था।

(iv) **दबीर-ए-खास (अमीर-मुन्शी)**—यह शाही पत्र-व्यवहार विभाग (दीवान-ए-इन्शा) का प्रधान था। सुल्तान के आदेशों को राज्य के विभिन्न भागों में भेजना और सुल्तान की सभी प्रकार की डाक को देखना, उसके उत्तर तैयार करना, उसे भेजना आदि इसी का कार्य था। इसकी सहायता के लिए अनेक दबीर (लेखक) होते थे।

(v) **दीवाने-रसालत**—यह सुल्तानों की विदेश-वार्ता और कूटनीतिक सम्बन्धों की देखभाल करता था। विदेशी पत्र-व्यवहार और राजदूतों का आवागमन तथा उनकी देखभाल इसका उत्तरदायित्व था।

(vi) **सद्र-उस-सुदूर**—यह धर्म-विभाग का प्रधान था। इस्लाम धर्म के कानूनों का प्रजा में प्रसार करना, उनका पालन कराना और मुसलमानों के विशेष हितों की सुरक्षा करना उसका उत्तरदायित्व था। 'जकात' कर से वसूल किये धन पर उसका अधिकार होता था। योग्य और धार्मिक व्यक्तियों को आर्थिक सहायता तथा जागीरें उनकी सलाह पर दी जाती थीं। मस्जिदों, मकतबों और मदरसों को आर्थिक सहायता भी वही देता था। शाही खैरात (दान) की व्यवस्था भी वही करता था।

(vii) **काजी-उल-कूजात**—यह न्याय-विभाग का प्रधान था यद्यपि इससे भी बड़ा न्यायालय सुल्तान का था। परन्तु राज्य का मुख्य काजी होने के नाते मुकदमे उसकी अदालत में आरम्भ भी किये जाते थे और निम्न काजियों के निर्णयों पर भी वह पुन. विचार कर सकता था। अधिकांशतया काजी-उल-कूजात और सद्र-उस-सुदूर के पद एक ही व्यक्ति को प्रदान किये जाते थे।

(viii) **बरीद-ए-मुमालिक**—जिन सुल्तानों ने गुप्तचर-विभाग का सगठन किया था उसका प्रधान यह अधिकारी होता था। विभिन्न गुप्तचर, सन्देशवाहक और डाक-चौकियाँ इसके अधीन होती थीं।

समय-समय पर सुल्तान अपनी इच्छा से अन्य विभागों और उनके पदाधिकारियों की नियुक्ति भी करते थे जैसे मुहम्मद तुगलक ने दीवाने-अमीर-कोही (कृषि-विभाग का प्रधान) की नियुक्ति की थी। इनके अतिरिक्त, सुल्तान के व्यक्तिगत अगरक्षक और महल के अधिकारी होते थे। इनमे से वकील-ए-दर महल और शाही कर्मचारियों की देखभाल करता था, बारबक दरबार की शान-शौकत और रस्मों की देख-भाल करता था, अमीर-ए-हाजिब सुल्तान से मिलने वालों की देखभाल करता था, अमीर-ए-शिकार शाही शिकार का प्रबन्ध करता था, अमीर-ए-मजलिस शाही उत्सवों और दावतों का प्रबन्ध करता था तथा सर-ए-जाँदार सुल्तान के अगरक्षकों का प्रधान होता था। ये पद मन्त्रियों के पद की तुलना के तो न थे परन्तु इनमें से प्रत्येक सुल्तान की व्यक्तिगत सुरक्षा, सम्मान अथवा आराम से सम्बन्धित था। इस कारण इन पदों पर अत्यधिक विश्वासपात्र व्यक्तियों की ही नियुक्ति की जाती थी और कभी-कभी इनमें से कोई पदाधिकारी सुल्तान से व्यक्तिगत सम्पर्क होने के कारण मन्त्रियों से भी अधिक प्रभावपूर्ण हो जाता था।

[2]

इक्ताओं (प्रान्तों) का शासन

शासन की सुविधा और परिस्थितियों की आवश्यकता के कारण राज्य को छोटी इकाइयों में बाँटा गया था। **उस समय में प्रान्तों को 'इक्ता' पुकारते थे।** इस युग मे इक्ताओं की न तो सख्या निश्चित की जा सकी थी और न ही उनका शासन-प्रबन्ध समान हो सका था। प्रत्येक इक्ता का प्रधान मुक्ती, नाजिम, नाइब-सुल्तान अथवा वली के नाम से पुकारा जाता था। अलाउद्दीन के समय मे यह इक्ता दो प्रकार के हो गये। प्रथम वह इक्ता थे जो पहले से ही दिल्ली सल्तनत के अधीन चले आ रहे थे और द्वितीय वह इक्ता थे जिनको जीतकर उसी के समय मे दिल्ली सल्तनत के अधीन किया गया था। दूसरे प्रकार के इक्ताओं मे मुक्ती अथवा वली को कुछ अधिक सैनिक अधिकार थे जिससे वह अपने इक्ता को दिल्ली सल्तनत के पूर्ण प्रभाव मे ला सकें। इसके अतिरिक्त, हिन्दुओं (दक्षिण भारत) के वे राज्य थे जिन्होंने सुल्तान की अधीनता को स्वीकार करके उसे वार्षिक कर देना आरम्भ किया था यद्यपि अपने आन्तरिक शासन मे वे स्वतन्त्र थे। अपने-अपने इक्ताओं मे मुक्ती अथवा वली को वे सम्पूर्ण अधिकार प्राप्त थे जो सुल्तान को केन्द्र पर प्राप्त थे और उसी प्रकार शासन का उत्तरदायित्व भी उन पर था। वे प्रत्येक वर्ष अपनी आय और व्यय की सूचना सुल्तान को देते थे और बचे हुए धन को केन्द्रीय खजाने मे जमा करते थे। वे शक्तिशाली सेनाएँ रखते थे और आवश्यकता होने पर वे सुल्तान की सहायता के लिए उपस्थित होते थे। सुल्तान की आज्ञा के बिना वे राज्य-विस्तार के लिए युद्ध नहीं कर सकते थे और जब वे सुल्तान की आज्ञा के पश्चात् युद्ध करते भी थे तो लूटे हुए माल

मे से केन्द्रीय सरकार को हिस्सा देते थे। लूटे हुए हाथियो और राज्य-परिवार की स्त्रियों पर सुल्तान का एकाधिपत्य होता था। कोई भी मुक्ती राजदण्ड, छत्र और सुल्तान की उपाधि ग्रहण नही कर सकता था। वे सुल्तान की भाँति दरवार नही कर सकते थे, अपने नाम से खुतवा नही पढवा सकते थे और सिक्के नही चला सकते थे। परन्तु दुर्बल शासको के समय में मुक्ती अथवा वली स्वच्छन्दता से व्यवहार कर पाते थे और लोदी शासको के समय मे तो उनके पास वडी-वडी सेनाएँ तथा हाथी भी थे जिन पर अधिकांश समय मे सुल्तान का एकाधिपत्य रहा था। इस सम्पूर्ण युग मे मुक्ती अथवा वली काफी शक्तिशाली रहे थे। समय-समय पर हुए विद्रोहों और राजवशों में परिवर्तन होने का यह एक वडा कारण रहा। मुक्ती और वली के नीचे प्रान्तो मे एक प्रान्तीय वजीर, एक प्रान्तीय अरीज और एक प्रान्तीय काजी भी होता था। प्रत्येक इक्ता मे राजस्व वसूल करने के लिए अनेक अधिकारी रहते थे। इनके अतिरिक्त केन्द्र के गुप्तचर तथा अन्य अधिकारी भी इक्ताओ मे कार्य करते थे। इक्ताओ के शासन की व्यवस्था वहुत कुछ मुक्ती अथवा वली की योग्यता और सुल्तान की शक्ति पर निर्भर करती थी।

13वीं सदी तक इक्ता मे छोटी शासन की कोई इकाई न थी। परन्तु उसके पश्चात् **इक्ताओं को शिकों में विभाजित किया गया** जहाँ का प्रमुख अधिकारी शिकदार होता था जो एक सैनिक अधिकारी था। **शिकों को परगनों में** विभाजित किया गया जहाँ एक आमिल, एक मुशरिफ (उसे अमीन अथवा मुन्सिफ भी पुकारा जाता था), एक खजान्ची और दो क्लर्क मुख्य अधिकारी होते थे। आमिल परगने का मुख्य अधिकारी था और मुशरिफ लगान को निश्चित करने वाला अधिकारी था। परगना शासन की एक महत्वपूर्ण इकाई समझा जाता था क्योकि यही पर राज्य का प्रत्यक्ष सम्पर्क किसानो से होता था। **शासन की सबसे छोटी इकाई गाँव थे** जो स्वशासन और पैतृक अधिकारियों की व्यवस्था के अन्तर्गत थे। गाँव में चौकीदार, पटवारी, चौधरी, खूत, मुकद्दम आदि पैतृक अधिकारी थे जो राज्य को लगान वसूल करने मे सहायता देते थे तथा जिन्हे अलाउद्दीन के शासन-काल के अतिरिक्त सम्पूर्ण समय मे कुछ विशेष सुविधाएँ प्राप्त थी। इनके अतिरिक्त, गाँव में पचायतें होती थीं जो शिक्ष[illegible]च्छता, न्याय आदि सभी स्थानीय कार्यों को करती थी।

[3]
राजस्व (कर)-व्यवस्था

दिल्ली सुल्तानो के समय मे कुछ विशेष करो के अतिरिक्त पाँच निम्नलिखित प्रकार के मुख्य कर थे :

I. उश्र

यह मुसलमानो से लिया जाने वाला भूमि-कर था। जिस भूमि पर प्राकृतिक साधनो से सिंचाई होती थी वहाँ से पैदावार का 10% भाग और जिस भूमि पर मनुष्य-कृत साधनों से सिंचाई होती थी वहाँ से पैदावार का 5% भाग भूमि-कर के रूप में लिया जाता था।

अन्वेषण कृषि-फार्म भी खोला। परन्तु उसके इन प्रयत्नों से कोई लाभ नही निकला क्योंकि वे शीघ्र त्याग दिये गये। फीरोज तुगलक ने सम्पूर्ण राज्य के लगान का अनुमान लगाकर उसे अपने सम्पूर्ण काल के लिए निश्चित कर दिया, किसानो को तकावी कर्ज से मुक्त कर दिया, राजस्व-विभाग के अधिकारियों के वेतन मे वृद्धि की, प्रायः 24 करो से प्रजा को मुक्त कर दिया, फलों के बाग लगवाये, सिंचाई की व्यवस्था की, सिचाई-कर लगाया और सरकारी अधिकारियों अथवा सूबेदारो को यातना देकर अधिक से अधिक धन वसूल करने की नीति को त्याग दिया जिसका भार अन्ततोगत्वा किसानो पर ही पडता था। फीरोज ने, निस्सन्देह, किसानो की भलाई करने में सफलता प्राप्त की। लोदी सुल्तानों ने अफगान सरदारो को बडी-बडी जागीरें दी थी जिससे खालसा भूमि का क्षेत्र कम हो गया था और सिकन्दर लोदी के द्वारा भूमि की पैमाइश करके लगान को निश्चित करने के प्रयत्न असफल हुए।

दिल्ली सल्तनत के युग की लगान-व्यवस्था मे सिद्धान्तत कुछ दोष रहे। भूमि की पैमाइश न करना बल्कि अनुमान के आधार पर पैदावार का अन्दाज करके लगान निश्चित करना किसानो के लिए लाभदायक नही हो सकता था। इससे लगान-अधिकारियों को मनमानी करने का अवसर मिलता था। इसके अतिरिक्त साधारणतया भूमि ठेके पर दे दी जाती थी। इसमें अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करने वाले भूमि के ठेकेदार वर्ग का जन्म हुआ था जो किसानो से अधिक से अधिक लगान वसूल करते थे। लगान के अतिरिक्त किसानों को अन्य कर भी देने पडते थे। इस कारण किसानो पर कर का भार अधिक था।

[4]
सैनिक-संगठन

सुल्तानो की शक्ति उनके सैनिक-बल पर निर्भर करती थी। यह सम्पूर्ण समय ऐसा था जबकि मुसलमान सुल्तान भारत मे इस्लामी सत्ता को स्थापित और विस्तृत करने के लिए प्रयत्नशील रहे। इसी कारण, हिन्दू राजाओ से संघर्ष और आन्तरिक विद्रोहों का दमन सम्पूर्ण सल्तनत-युग मे चलता रहा। इसके अतिरिक्त एक लम्बे समय तक मंगोल-आक्रमणों का भय भी रहा। ऐसी परिस्थितियों में प्रत्येक सुल्तान को एक बडी सेना रखना आवश्यक था। मुसलमानो ने भारत मे युद्ध-शैली और सैनिक-संगठन मे परिवर्तन किये यद्यपि बाद में वे भी समय के साथ प्रगति करने मे असफल रहे।

इस समय **सेना में चार प्रकार के सैनिक होते थे।** प्रथम, वे सैनिक जो **सुल्तान के सैनिकों** के रूप मे भर्ती किये जाते थे। इनमें शाही अंगरक्षक, शाही गुलाम और कुछ अन्य सैनिक सम्मिलित होते थे। इस सेना को 'खास-खेल' पुकारते थे। अलाउद्दीन खलजी ने केन्द्र पर एक विशाल स्थायी सेना रखी थी जिसमें पैदलो के अतिरिक्त 4,75,000 घुडसवार थे। गियासुद्दीन तुगलक और मुहम्मद तुगलक के समय मे भी केन्द्र पर बड़ी सेना स्थायी रूप से रखी गयी परन्तु उनसे पहले और बाद के सुल्तान कभी भी केन्द्र पर बहुत बडी सेना न रख सके। यह सेना 'दीवान-ए-अरीज'

की देखभाल में रहती थी जो उसकी भर्ती, सगठन, वेतन-वितरण आदि के लिए उत्तरदायी होता था। इस सेना के प्रशिक्षण के लिए कोई निश्चित व्यवस्था न थी। बलबन जैसे शासक इस सेना को शिकार के लिए ले जाकर शिक्षण प्रदान करते थे अन्यथा प्रत्येक सैनिक की कुशलता स्वय अपने परिश्रम और कौशल पर निर्भर करती था। द्वितीय, **वे सैनिक होते थे जो दरबार के सरदारो और प्रान्तीय मुक्ताओं, सूबेदारो आदि के द्वारा भर्ती किये जाते थे।** उनके सैनिको की भर्ती, प्रशिक्षण, वेतन आदि के लिए वे ही जिम्मेदार होते थे। इसके लिए उन्हें अपने इक्ता मे आय होती थी अथवा उन्हें जागीरे दी जाती थी। प्रान्तो में 'प्रान्तीय-अरीज' होते थे जो इस सेना के सगठन के लिए उत्तरदायी थे परन्तु मुख्य उत्तरदायित्व सूबेदार का ही होता था। वर्ष मे एक बार उनकी सेनाएँ सुल्तान के निरीक्षण के लिए उपस्थित की जाती थीं परन्तु साधारणतया इस नियम का विधिवत् पालन नहीं किया जाता था। आवश्यकता होने पर यह दरबारी सरदार और सूबेदार अपनी सेनाओ को लेकर सुल्तान की सेवा मे उपस्थित होते थे। तृतीय, **वे सैनिक थे जो केवल अस्थायी रूप से युद्ध के अवसर पर ही भर्ती किये जाते थे** और उसी समय मे उनको वेतन व रसद प्राप्त होती थी। चतुर्थ, **वे मुसलमान स्वयंसेवक थे** जो हिन्दुओ के विरुद्ध युद्ध करने के लिए युद्ध मे सम्मिलित होते थे। वे उसे जिहाद (धर्म की रक्षा के लिए युद्ध) मानते थे। उन्हे केवल युद्ध मे लूटी हुई सम्पत्ति में से हिस्सा मिलता था।

सेना के **मुख्य भाग तीन थे।** प्रथम, **घुड़सवार-सेना** जो सेना का मुख्य भाग समझा जाता था। घुडसवार दो प्रकार के होते थे—सवार, जिसके पास एक घोड़ा होता था और दो-अस्पा जिसके पास दो घोडे होते थे। घोडो को अरब, तुर्किस्तान और अन्य दूरस्थ प्रदेशों से मँगाया जाता था। अलाउद्दीन खलजी ने घोडो को दागने की प्रथा और सैनिको का हुलिया रखे जाने की प्रथाएँ आरम्भ की थी जिससे घोडो और सैनिको की अदला-बदली न हो सके। सिकन्दर लोदी जैसे शासकों ने इन प्रथाओ को लागू करने का प्रयत्न किया था। परन्तु अन्य सुल्तान इस व्यवस्था को लागू नही कर सके थे। फीरोज तुगलक जैसे शासकों ने तो अपनी उदारता के कारण इस व्यवस्था मे भ्रष्टाचार को जन्म दिया था। प्रत्येक घुडसवार के पास दो तलवारे, एक भाला और धनुष-वाण होते थे। रक्षा के लिए वे कवच, ढाल और शिरस्त्राण का प्रयोग करते थे। घोड़ों की सुरक्षा के लिए उन्हे भी लोहे के बन्तर पहनाये जाते थे। घुडसवार-सेना की शक्ति और गतिशीलता पर सेना की सफलता काफी बडी मात्रा मे निर्भर करती थी। द्वितीय, **गज-सेना थी।** भारत मे आने के पश्चात् दिल्ली सुल्तानों ने भी युद्ध मे हाथियो का प्रयोग करना आवश्यक मान लिया था। हाथियों का रखना सुल्तानो का विशेष अधिकार था। लोदी सुल्तानों के समय के अतिरिक्त अन्य किसी सुल्तान ने अमीरों और सूबेदारो को हाथियों की सेना रखने की आज्ञा नही दी थी यद्यपि कभी-कभी किसी बड़े सरदार को सम्मान-स्वरूप हाथी रखने की आज्ञा दे दी जाती थी। हाथियों की देखभाल के लिए एक पृथक विभाग होता था और हाथियो को युद्ध करने की शिक्षा दी जाती थी। हाथियो को बन्तर से सुरक्षित किया जाता था और उनकी

सूँडों में तलवार तथा हँसिये दिये जाते थे। हाथी की पीठ पर हौदा रखा जाता था जिसमें सैनिक बैठते थे। तृतीय, **पैदल-सेना** थी। पैदल-सैनिक पायक कहलाते थे। वे तलवार, बरछा, कटार, धनुष-बाण, ढाल आदि का प्रयोग करते थे। दिल्ली सुल्तानों मे से किसी ने भी **बारूद गोले के तोपखाने का निर्माण नहीं किया।** उनके पास तोपें थी परन्तु वे तोपें पत्थर, जलने वाले पदार्थ, जहरीले साँप, लोहे के गोले आदि फेंकने के लिए प्रयोग में आती थी। उनके फेंकने के लिए बारूद का प्रयोग भी होता था परन्तु बारूद के गोले उस समय मे तैयार नही किये गये थे। सुल्तान नावों का बेडा भी रखते थे परन्तु उनका प्रयोग युद्ध की अपेक्षा सामान ढोने के लिए अधिक किया जाता था।

दिल्ली सुल्तानो की **सेना में सभी धर्म और नस्लो के व्यक्ति थे।** तुर्क, ईरानी, मगोल, अफगान, हब्शी, भारतीय मुसलमान, हिन्दू आदि सभी सेना मे भर्ती किये गये थे यद्यपि उच्च पदों पर विदेशी मुसलमानो की ही नियुक्ति की जाती थी। विभिन्न तत्वों से मिलकर बनी हुई ऐसी सेना की शक्ति मूलतया उसके सेनापति अथवा सुल्तान के सेनापतित्व और योग्यता पर निर्भर करती थी। परन्तु क्योकि सेना मे अधिकाशत. मुसलमान होते थे, अतएव इस्लाम धर्म उनको एकता प्रदान करने और भावनात्मक जोश प्रदान करने में समर्थ था।

सेना का संगठन और पदों का विभाजन मुख्यतया दशमलव प्रणाली के आधार पर किया गया था। घुड़सवार-सेना मे दस घुडसवारों की एक टुकडी मानी जाती थी जिसका प्रधान 'सरेखेल' कहलाता था। दस सरेखेलों के ऊपर एक सिपहसालार, दस सिपहसालारो के ऊपर एक अमीर, दस अमीरों के ऊपर एक मलिक और दस मलिकों के ऊपर एक खान होता था। सम्भवतया पैदल-सेना का विभक्तीकरण भी इसी प्रकार किया गया होगा। परन्तु किसी भी सुल्तान ने इस पद्धति का प्रयोग विधिवत् नही किया। प्रत्येक अधिकारी की नियुक्ति और पदोन्नति सुल्तान की व्यक्तिगत इच्छा पर निर्भर करती थी। बहुत-से पद वशानुगत भी बन गये थे और दुर्बल सुल्तानो के समय मे तो योग्यता पद प्राप्त करने का आधार रह ही नही जाती थी।

दिल्ली सुल्तानों की **युद्ध-पद्धति** प्रायः समान रही। शत्रुओं की गतिविधि का पता लगाने के लिए गुप्तचर नियुक्त किये जाते थे और सेना का एक अग्रगामी भाग आगे भेजा जाता था। युद्ध के अवसर पर सेना को मुख्यतया चार भागो मे बाँटा जाता था—केन्द्र, वाम-पक्ष, दक्षिण-पक्ष और सुरक्षित दल। हाथियो को केन्द्र मे सबसे आगे रखा जाता था और उनके बीच मे पैदल सैनिक होते थे। घुडसवारों के आक्रमण करने के लिए भी मार्ग छोड़ दिया जाता था।

राज्य के सभी महत्वपूर्ण भागो और किलों मे स्थायी रूप से सेना रखी जाती थी। किलों को सुरक्षा-पंक्ति का एक मुख्य भाग समझा जाता था और उनकी सुरक्षा के लिए सभी आवश्यक प्रबन्ध किये जाते थे।

सुल्तान सेना का मुख्य सेनापति होता था। समय-समय पर वह विभिन्न आक्रमणों के लिए विभिन्न सेनापति स्वयं नियुक्त करता था। सेना की शक्ति और

संगठन बहुत कुछ सुल्तान की व्यक्तिगत योग्यता पर निर्भर करता था। इल्तुतमिश, अलाउद्दीन खलजी, गियासुद्दीन तुगलक तथा मुहम्मद तुगलक जैसे योग्य सुल्तानों के समय में सेना की शक्ति बहुत मजबूत रही और दुर्बल शासकों के नेतृत्व में वही सेना दुर्बल हो गयी।

दिल्ली सुल्तानों की सेना बहुत श्रेष्ठ नहीं मानी जा सकती थी। उसमें एकता, सैनिक-शिक्षण और अनुशासन की समानता का अभाव था। सरदारों द्वारा संगठित की गयी सेना अपने सरदार के प्रति अधिक वफादार होती थी। तोपखाने का निर्माण न करना उनकी एक बड़ी दुर्बलता रही; मुख्यतया उस समय जबकि विदेशों में इसका प्रयोग आरम्भ हो चुका था। परन्तु तब भी राजपूत शासकों के विरुद्ध इस सेना ने सफलता प्राप्त की।

[5]
न्याय तथा दण्ड-व्यवस्था

राज्य का सबसे बड़ा न्यायाधीश स्वयं सुल्तान होता था। सुल्तान का निर्णय अन्तिम निर्णय होता था। प्रत्येक सुल्तान सप्ताह में प्रायः दो दिन अपने न्यायालय में उपस्थित होता था और स्वयं सभी प्रकार के मुकदमों का निर्णय करता था। धार्मिक मामलों में मुख्य सद्र अथवा मुफ्ती उसकी सहायता करता था और अन्य मुकदमों में काजी। परन्तु क्योंकि सद्र और काजी अधिकांशतया एक ही व्यक्ति होता था अतः वह एक व्यक्ति ही न्याय में सुल्तान का मुख्य सलाहकार था। सद्र, मुख्य काजी, प्रान्तीय काजी अथवा नगरों के काजियों की नियुक्ति सुल्तान ही करता था। अधिकांश सुल्तान न्यायप्रिय हुए परन्तु क्योंकि वे इस्लाम धर्म के कानूनों के अनुसार न्याय करते थे और काजी से जो एक धार्मिक व्यक्ति होता था, सलाह लेते थे, इस कारण गैर-मुसलमानों को निष्पक्ष न्याय प्राप्त होता था, इसमें सन्देह किया जा सकता है। सुल्तान के पश्चात सद्र और मुख्य काजी तथा उसके पश्चात प्रान्तीय काजी और मुख्य नगरों के काजी हुआ करते थे। गाँवों में ग्राम-पंचायतें न्याय करती थीं।

सुल्तानों का दण्ड-विधान कठोर था। सामान्यतया अंग-विच्छेद, मृत्यु और सम्पत्ति-अपहरण दण्ड के रूप में प्रदान किये जाते थे। सम्पत्ति सम्बन्धी और असैनिक मुकदमों में भी इस्लाम धर्म के कानूनों को मान्यता दी जाती थी।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह निर्णय किया जाता है कि सुल्तानों की न्याय और दण्ड-व्यवस्था मध्य-युग की परिस्थितियों के अनुसार सामान्य थी और उसमें कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन किसी भी सुल्तान ने नहीं किया था। न्याय का रूप सुल्तान के व्यक्तित्व और उसके धार्मिक विचारों पर निर्भर करता था। न्यायप्रिय शासकों के समय में न्याय की व्यवस्था ठीक रही अन्यथा अन्य सुल्तान इसे एक सामान्य परन्तु आवश्यक कार्य मानकर किया करते थे। इसका मुख्य दोष यह था कि किसी भी सुल्तान ने धर्म-निरपेक्ष न्याय, कानून अथवा दण्ड-व्यवस्था को लागू करने का प्रयत्न नहीं किया जबकि उनकी बहुसंख्यक प्रजा उनसे भिन्न धर्म को मानने वाली थी। ऐसी स्थिति में सुल्तानों की बहुसंख्यक प्रजा निष्पक्ष न्याय की आशा नहीं कर सकती थी।

पुलिस-व्यवस्था के लिए सुल्तानों ने कोई पृथक् कार्य नहीं किया था। सैनिक-अधिकारी ही अपने-अपने क्षेत्रों में पुलिस के कार्यों की पूर्ति करते थे। बड़े नगरों में एक अधिकारी कोतवाल अवश्य होता था परन्तु वह भी मुख्यतया एक सैनिक-अधिकारी था।

[6]
धार्मिक नीति

सम्पूर्ण सल्तनत-युग में इस्लाम धर्म राज्य-धर्म रहा। इस कारण, प्रत्येक सुल्तान का एक मुख्य कर्तव्य दारुल-हर्ब (काफिरों का देश) को दारुल-इस्लाम (इस्लाम का देश) में परिवर्तित करना रहा। अपने राजनीतिक उद्देश्य की पूर्ति के साथ-साथ प्रत्येक सुल्तान ने अपने इस धार्मिक उद्देश्य की पूर्ति करने का भी प्रयत्न किया। एक सुल्तान किस मात्रा में इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रयत्न कर सका, यह उसकी सैनिक-क्षमता और परिस्थितियों पर निर्भर रहा और एक सुल्तान किस सीमा तक इस उद्देश्य की पूर्ति करने मे लगनशील रहा, यह उसके व्यक्तिगत धार्मिक विचारों की कट्टरता पर निर्भर रहा। परन्तु इसमे सन्देह नही कि प्रत्येक सुल्तान ने अपनी-अपनी क्षमता और विचारो की सीमा के अनुसार इस कार्य की पूर्ति करने का प्रयत्न किया। अलाउद्दीन खलजी और मुहम्मद तुगलक जैसे शासकों के लिए राजनीतिक उद्देश्य प्रधान रहा जबकि फीरोज तुगलक और सिकन्दर लोदी जैसे शासकों ने राज्य की शक्ति को इस्लाम धर्म की श्रेष्ठता को स्थापित करने का साधन बनाने मे कोई संकोच नही किया।

सभी सुल्तानों के समय मे मुसलमानों और बहुसंख्यक हिन्दुओं में अन्तर किया जाता था। हिन्दू किसानों को मुसलमान किसानों (यद्यपि उनकी संख्या नगण्य थी) की तुलना में अधिक लगान देना पड़ता था, हिन्दू व्यापारियों को मुसलमान व्यापारियों की तुलना में दुगुना व्यापारिक कर देना पड़ता था। हिन्दुओं को तो क्या हिन्दू धर्म से परिवर्तित मुसलमानों को भी राज्य में अच्छे पद नही दिये जाते थे। हिन्दुओ को मुसलमान बन जाने हेतु विभिन्न प्रलोभन दिये जाते थे। न्याय मे मुसलमानो के साथ पक्षपात होता था। हिन्दुओं को उनके तीर्थ-स्थानों पर जाने से रोका जाता था और उन्हे जजिया देना पड़ता था। सुल्तानों की दान-व्यवस्था और अस्पतालो के निर्माण से हिन्दुओं को कोई लाभ न था जबकि मुसलमान मदरसों, मकतबों और मौलवियो को धन और जागीरें दी जाती थी। हिन्दू पाठशालाओ और विद्यालयों को नष्ट किया जाता था तथा हिन्दू मन्दिरों और देवी-देवताओ की मूर्तियो को नष्ट करना और उन्हे अपमानित करने के लिए उनके खण्डो को मस्जिदो की सीढ़ियों पर लगाना और मन्दिरों के स्थान पर ही मस्जिदों का निर्माण करना प्रायः सभी सुल्तानो के समय में रहा। निस्सन्देह, हिन्दुओं को शब्द और व्यवहार दोनों ही प्रकार से 'जिम्मी' और 'काफिर' समझा जाता था।

अधिकाश दिल्ली सुल्तान सुन्नी थे, इस कारण शियाओं और अन्य मुसलमान धर्मावलम्बियो के प्रति भी उनका व्यवहार कटुतापूर्ण रहा।

आधुनिक समय मे विभिन्न इतिहासकारो ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि सुल्तानों की नीति धार्मिक सकीर्णता और पक्षपात पर आधारित नही थी। अपने इस मत के समर्थन मे वे विभिन्न तर्क भी देते है; जैसे—मन्दिरो के नष्ट किये जाने का कारण धन था, मूर्तियो को नष्ट करने का उद्देश्य हिन्दुओ को एक ईश्वर मे विश्वास करना सिखाना था, तत्कालीन इतिहासकारों ने केवल प्रतिष्ठा और प्रचार के कारण सुल्तानों के धार्मिक कार्यों को बढ़ा-चढाकर लिखा था, आदि। सम्भवतया ऐसे विद्वानो का इस मत को प्रकट करने का उद्देश्य सद्भावनापूर्ण है। आधुनिक युग की परिस्थितियो मे जबकि धार्मिक सहनशीलता, हिन्दू-मुसलमानों के अच्छे सम्बन्धो और धर्म-निरपेक्ष राज्य के निर्माण की आवश्यकता है, तब धार्मिक कट्टरता पर, चाहे वह आधुनिक युग की हो अथवा मध्य-युग की, बल देने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु इतिहास तथ्यों पर आधारित सत्य है, न कि किसी युग की विशेष प्रवृत्ति के प्रचार का साधन। इसके अतिरिक्त, सत्य के द्वारा ही भविष्य का निर्माण करना तर्कसंगत है और उसी के आधार पर किसी भी परिस्थिति या प्रवृत्ति का ठोस आधार बनाया जा सकता है। ऐसी स्थिति मे यह कहना अधिक उपयुक्त है कि तथ्य यह प्रमाणित करते है कि प्राय: सभी दिल्ली सुल्तानों की धार्मिक नीति सकीर्णता और साम्प्रदायिकता पर आधारित थी। तत्कालीन सभी इतिहासकारों ने इस्लाम धर्म की रक्षा और प्रचार के हेतु सुल्तानो द्वारा किये गये कार्यों की प्रशंसा की थी और यह सभी इतिहासकार मुसलमान थे। भविष्य से अनभिज्ञ जो भी उन्होंने लिखा उसमें अतिशयोक्ति तो हो सकती है परन्तु उनके कथन का आधार सत्य है। इस्लाम मे धर्म की मान्यता थी और यदि सुल्तानों ने उस मान्यता के अनुकूल कार्य किये तो उन पर न तो सन्देह करने की आवश्यकता है, न आश्चर्य करने की और न उन सुल्तानों पर लाछन लगाने की। उन सुल्तानों ने अपने युग की प्रवृत्ति के अनुसार कार्य किया। यह स्वाभाविक भी था। इसके अतिरिक्त, उनके लिए यह भी कहा जा सकता है कि केवल धर्म-प्रचार ही उनका लक्ष्य न था। सत्य है उन्होंने अपना राज्य स्थापित किया था। उस राज्य की रक्षा करना भी उनका प्रमुख [illegible]

अथवा आश्चर्य की बात न थी। परन्तु एक बात अवश्य कही जा सकती है कि दिल्ली सुल्तानो मे से कोई भी सुल्तान महान् न हो सका और इसका एक मुख्य कारण यह भी रहा कि उनमे से कोई भी अपने समय से आगे की न सोच सका और न उसके अनुकूल कार्य कर सका अन्यथा अलाउद्दीन जैसे योग्य शासक और महान् योद्धा को भी आधुनिक इतिहासकार महान् मानने मे क्यों संकोच कर गये हैं ? दिल्ली सुल्तानों में से कोई भी सुल्तान यह न समझ सका कि सम्पूर्ण हिन्दू प्रजा को मुसलमान बनाना असम्भव है और न हिन्दू धर्म को शक्ति के आधार पर नष्ट ही किया जा सकता है। यदि वे यह समझ सके होते तो वे धार्मिक कट्टरता के अपवाद से बच जाते और हिन्दू-मुसलमानो में वह पारस्परिक सद्भावना अधिक तीव्र गति से स्थापित होती जो जनता में स्वाभाविक दृष्टि से उत्पन्न हो रही थी। मुगल शासक इस बात को समझ सके और अकबर इसको समझकर महान् कहलाने का अधिकारी बन सका। इसी कारण मुगल-वंश भारत में अधिक स्थिर, अधिक लाभप्रद और अधिक उन्नतिशील बन सका। दिल्ली सुल्तानो की धार्मिक कट्टरता उनकी एक बडी भूल रही।

दिल्ली सुल्तानों का शासन पूर्णतया दोषरहित न था परन्तु तब भी वह समय की आवश्यकता की पूर्ति करने मे समर्थ रहा। उनके मूल दोष उनकी धार्मिक कट्टरता की नीति और अपने सैनिक-सगठन को समय के अनुकूल न बनाने के रहे। एक ने उनको बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा के सहयोग से वंचित रखा और दूसरे ने उनके हाथों से भारत की सत्ता छीन ली।

षष्ठ खण्ड

सल्तनत-युग की सभ्यता तथा सस्कृति

19

सभ्यता तथा संस्कृति

[1]
समाज

1. विभिन्न वर्ग

मुसलमानों के भारत मे आने से पहले भी भारतीय समाज विभिन्न वर्गों मे बँटा हुआ था। मुसलमानों के आने से उसका और विभक्तीकरण हो गया। समाज का सबसे अधिक सम्मानित वर्ग विदेशी मुसलमानों का था। यह भारत का शासक-वर्ग था। इस कारण यह वर्ग सबसे अधिक प्रभावशाली और विशेष अधिकारों से युक्त था। राज्य के सभी बड़े-बड़े पद इस वर्ग के व्यक्तियो के लिए सुरक्षित रखे जाते थे, बड़ी-बड़ी जागीरें उन्हे प्राप्त होती थी तथा शासन और समाज में उनका स्थान श्रेष्ठ था। परन्तु विदेशी मुसलमान भी विभिन्न वर्गों में बँटे हुए थे। तुर्क, ईरानी, अरब, अफगान, अबीसीनियन आदि ऐसे ही वर्ग थे। 13वी सदी में तुर्कों ने अपनी श्रेष्ठता को कायम रखा और उन्होने अन्य विदेशी मुसलमानों को भी समानता का दावा नही करने दिया, परन्तु 14वी सदी के आरम्भ से इस स्थिति में परिवर्तन हो गया। खलजियों द्वारा शासन-सत्ता प्राप्त करते ही तुर्कों की श्रेष्ठता समाप्त हो गयी तथा परस्पर विवाह-सम्बन्धो और बदलती हुई परिस्थितियों ने सभी विदेशी मुसलमानों को समान स्तर पर कर दिया।

समाज का दूसरा वर्ग **भारतीय मुसलमानों** का था। यह वे मुसलमान थे जो हिन्दू से मुसलमान बने थे अथवा ऐसे परिवर्तित मुसलमानों की सन्तान थे। विदेशी मुसलमानों ने भारतीय मुसलमानों को कभी भी समान नही समझा। इसका कारण यह था कि उन्हें न तो भारत का विजेता माना गया और न श्रेष्ठ नस्ल का बल्कि क्योंकि अधिकांश भारतीय मुसलमान निम्न हिन्दू जातियों मे से मुसलमान बने थे इस कारण विदेशी मुसलमान उन्हें हेय दृष्टि से देखते थे। भारतीय मुसलमानो को शासन और समाज में बराबर का स्थान नही दिया गया। सम्पूर्ण सल्तनत-युग मे कतिपय भारतीय मुसलमान ही ऐसे हुए जिन्हें राज्य में विशिष्ट पद प्राप्त हुए। 14वी सदी मे खलजी शासन के आरम्भ होने से इस स्थिति में कुछ सुधार हुआ परन्तु तब भी सामाजिक

दृष्टि से भारतीय मुसलमान निम्न स्तर पर ही रहे । हिन्दू जाति-व्यवस्था का प्रभाव भी मुसलमानो पर आया, मुख्यतया धर्म-परिवर्तित मुसलमान अपनी हिन्दू जाति के प्रभाव से मुक्त न रहे । मुसलमान बनने के पश्चात भी उन्होंने अपने जाति-विभेद को कायम रखा जिसके कारण वे विभिन्न वर्गों मे बँट गये । इस कारण विदेशी और भारतीय मुसलमान नस्ल और उत्पत्ति के आधार पर विभिन्न वर्गों में बँटे हुए थे । धर्म, शिक्षा और जीविका के आधार पर भी मुसलमानों के विभिन्न वर्ग थे । शिया और सुन्नियों में अन्तर था, सैनिक और विद्वानों में अन्तर था तथा धार्मिक कृत्यों को करने वाला उलेमा-वर्ग इन सब से पृथक था । सैनिकों को अपने पदों के आधार पर सम्मान मिलता था, विद्वानों को अपनी योग्यता के आधार पर और उलेमा-वर्ग धार्मिक पदाधिकारी होने के नाते सभी से श्रेष्ठता का दावा करते थे तथा शासन मे प्रभावपूर्ण थे । अलाउद्दीन और मुहम्मद तुगलक के कुछ समय को छोडकर उलेमा-वर्ग का प्रभाव राज्य के शासन पर भी रहा क्योंकि इस्लाम धर्म के सिद्धान्तों को जानने और उनकी व्याख्या करने मे उनका एकाधिकार था । मुस्लिम समाज का निम्नतर स्तर शिल्वी, दूकानदार, क्लर्क तथा छोटे व्यापारियो से मिलकर बना था ।

भारतीय समाज का बहुसख्यक वर्ग हिन्दुओं का था । हिन्दू समाज जाति-व्यवस्था के कारण पहले से ही विभिन्न वर्गों मे बँटा हुआ था । मुसलमानो के आने से अपने समाज की सुरक्षा के लिए हिन्दुओं ने जाति-बन्धन और भी अधिक कठोर कर दिये जिसके कारण विभिन्न नवीन उप-जातियो का निर्माण हुआ । ऊँच-नीच की भावना और व्यवसाय व निवास-स्थान के आधार को लेकर विभिन्न उप-जातियाँ बन गयी जिनमें परस्पर खान-पान और विवाह-सम्बन्ध सम्भव न थे । अन्तर्जातीय विवाहों को अपवाद माना जाता था । आरम्भिक काल में कोई हिन्दू यदि एक बार अपने धर्म को छोड देता था अथवा बाध्य होकर मुसलमानों के साथ वन्दी रूप में भी रह लेता था तो उसे पुनः हिन्दू धर्म में स्थान प्राप्त नही हो सकता था, परन्तु बाद के समय मे यह बन्धन कुछ शिथिल हो गया । फीरोज तुगलक और सिकन्दर लोदी ने कुछ ब्राह्मणों को इसलिए दण्ड दिया था कि वे मुसलमानों को हिन्दू बनने के लिए प्रोत्साहन देते थे । विजयनगर राज्य के संस्थापक हरीहर और बुक्का को पुनः हिन्दू बना लिया गया था । परन्तु हिन्दुओ मे अस्पृश्यता, बलि-प्रथा, धर्म के लिए आत्मघात करना आदि कुरीतियाँ थी । साधारणतया हिन्दू धर्म-परायण, सच्चरित्र और सात्विक विचारधारा के थे । परन्तु सम्पूर्ण दिल्ली सल्तनत के युग मे हिन्दुओ के साथ जिम्मियो जैसा व्यवहार किया गया । उन्हे कोई उच्च पद प्राप्त नही होता था, उन्हें हेय दृष्टि से देखा जाता था, मुसलमान उनकी स्त्रियों को प्राप्त करने का अवसर तलाशते रहते थे, उन पर कर का भार अधिक था और उन्हें सर्वदा अपने सम्मान की सुरक्षा के लिए जागरूक रहना पडता था । परन्तु कुछ पदो से—मुख्यतया लगान-विभाग से—हिन्दुओं को हटाना सम्भव न था । उसी प्रकार, हिन्दू व्यापारी, कारीगर, कृषक आदि भी राज्य के लिए महत्वपूर्ण बने रहे । आवश्यकता के अनुसार हिन्दुओ को सैनिक रूप में भी भर्ती किया गया । परन्तु हिन्दू समाज की स्थिति अपनी स्वयं की दुर्बलताओं

और मुसलमानों के व्यवहार के कारण सन्तोषजनक न थी और जो कुछ भी हिन्दू सुरक्षित रख सके वह अपने कौशल और शक्ति के आधार पर ही रख सके।

2 दास-प्रथा

उस समय समाज मे हिन्दू और मुसलमान दोनो मे ही दास-प्रथा प्रचलित थी तथा गुलाम बाजार मे बेचे और खरीदे जाते थे। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही अपने गुलामो के साथ बहुत अच्छा व्यवहार करते थे, यद्यपि उनके जीवन और सम्पत्ति पर उनके मालिको का पूर्ण अधिकार होता था। मुसलमान दासो की स्थिति हिन्दू दासो की अपेक्षा अधिक अच्छी थी। सुल्तान स्वय योग्य दासो को वडी सख्या मे रखते थे और उनमें से अनेक ने राज्य के बड़े से बडे पद को प्राप्त किया था।

3 स्त्रियों की स्थिति

हिन्दुओ मे स्त्रियो की स्थिति पहले की तुलना मे गिर गयी थी। यद्यपि हिन्दू स्त्रियो का परिवार मे सम्मान था, वे शिक्षा प्राप्त करती थी, धार्मिक कार्यों मे भाग लेती थी और उनमें से अनेक स्त्रियाँ शस्त्र-विद्या और विद्वत्ता मे भी कुशल हुई परन्तु उनकी व्यावहारिक स्थिति निम्न हो गयी और वे कई नवीन कुप्रथाओ से पीड़ित हो गयीं। यद्यपि जन-साधारण मे एक स्त्री और एक पुरुष के विवाह की प्रथा थी परन्तु धनवान और सम्मानित व्यक्तियो मे बहु-विवाह प्रचलित था। विधवाओं को विवाह का अधिकार न था। उन्हे या तो अपने पति की लाश के साथ जल जाना पड़ता था अथवा मृत्युपर्यन्त सन्यासिनी का जीवन व्यतीत करना पड़ता था। ऐसी स्थिति में सती-प्रथा का प्रचलन स्वाभाविक था। मुसलमान सुन्दर हिन्दू स्त्रियों को प्राप्त करने के लिए लालायित रहते थे और वे उनका अपहरण करने के लिए सर्वदा तत्पर रहते थे। इस कारण हिन्दुओं मे अल्पायु विवाह और पर्दा-प्रथा भी आरम्भ हुई। स्त्रियों की शिक्षा पर भी इसका प्रभाव पडा क्योंकि वे स्वतन्त्रतापूर्वक अपने घरों से बाहर नही जा सकती थी। इस कारण उनकी शिक्षा का प्रबन्ध घर पर ही किया जाता था और यह सुविधा केवल धनवान व्यक्तियो की पुत्रियों को ही प्राप्त हो सकती थी। उस समय मे लडकी का जन्म होना शोक का कारण माना जाता था और परिणामस्वरूप बाल-हत्याएँ भी की जाती थी। परन्तु निम्न-वर्ग इन कुप्रथाओं से काफी मात्रा में बचा रहा। उनमे पर्दा-प्रथा न थी तथा बहुत-सी निम्न जातियो में तलाक और विधवा-विवाह सम्भव थे। हिन्दुओ मे एक कुप्रथा देवदासी-प्रथा भी थी, जिसके कारण मन्दिरों मे सुन्दर अविवाहित लड़कियों को देवदासी के रूप मे रखा जाता था। परन्तु हिन्दू समाज मे मुसलमानो के कारण कुछ अन्य परिवर्तन भी हुए। एक मुख्य परिवर्तन हिन्दू धर्म को छोड़े हुए व्यक्तियों को पुनः हिन्दू धर्म में ले लेने का था। इसके अतिरिक्त हिन्दुओ ने अपने एकाकीपन को छोडकर परिस्थितियो के अनुसार अपने वस्त्रों, खान-पान, व्यवहार और रीति-रिवाजों मे भी परिवर्तन किया।

मुस्लिम समाज में भी स्त्रियों की स्थिति अच्छी न थी। मुसलमानो में बहु-विवाह का प्रचलन जन-साधारण मे भी था और एक मुसलमान कम से कम चार स्त्रियों से विवाह कर सकता था। धनवान और राजपुरुष तो सैंकड़ों और हजारो की संख्या में

स्त्रियाँ और दासियाँ रखते थे। मुसलमानों मे पर्दा-प्रथा अत्यधिक कठोर थी और उनमे शिक्षा का प्रसार भी कम था। परन्तु मुसलमान स्त्रियाँ कुछ अन्य प्रकार से अच्छी स्थिति में थी। वे विधवा होने पर पुर्नविवाह कर सकती थी, तलाक दे सकती थी, उनमे सती की प्रथा न थी और उन्हे अपने माँ-बाप की सम्पत्ति में हिस्सा लेने का अधिकार था।

परन्तु सभी कुछ मिलाकर यह कहा जा सकता है कि इस युग मे स्त्रियो की स्थिति खराब थी और स्त्रियो का स्थान 'भोग्या' की भाँति होता जा रहा था।

4. जन-जीवन

भोजन की दृष्टि से हिन्दू प्रायः माँस का प्रयोग नही करते थे जबकि मुसलमान माँसाहारी थे। अधिकाश हिन्दू दूध और दूध से बनी हुई अन्य वस्तुओं को प्रधानता देते थे परन्तु युद्ध-प्रिय जातियों और शूद्रो में माँसाहार प्रचलित था। मुसलमानो मे सूफी और उनसे प्रभावित व्यक्ति माँस नही खाते थे अन्यथा सभी मुसलमान माँसाहारी थे। कुरान के अनुसार शराब पीना वर्जित है परन्तु हिन्दू और मुसलमान दोनों में शराब और अफीम दोनों का प्रयोग स्वच्छन्दता से किया जाता था। अलाउद्दीन जैसा शासक भी शराब पीना बन्द नही करा सका था।

हिन्दू और मुसलमान दोनो ही नगरों में अच्छे भवनों का निर्माण करते थे और उनके यहाँ जीवन की सभी सुविधाएँ उपलब्ध थी। ग्राम-जीवन मे कोई विशेष अन्तर नहीं आया था और जन-साधारण कच्चे मकानों अथवा झोंपड़ियों मे रहते थे। हिन्दू और मुसलमान दोनो ही आतिथ्य-सत्कार मे विश्वास करते थे।

वस्त्र, वेश-भूषा और गहने पहनने में प्रगति हुई थी। इस क्षेत्र में हिन्दू और मुसलमानो ने एक-दूसरे से बहुत कुछ सीखा। धोती, अंगिया, पेटीकोट चुनरी आदि के प्रयोग के साथ-साथ कुर्ता, चोली, पजामा, अंगरखा आदि का प्रयोग भी होता था। व्यक्ति विभिन्न रगों के कपड़ो का प्रयोग करते थे और सूती, रेशमी तथा ऊनी सभी प्रकार के वस्त्र प्रयोग मे आते थे। वस्त्र और वेश-भूपा की दृष्टि से पहले की अपेक्षा अच्छी स्थिति थी। जेवर पहनने का शौक हिन्दू और मुसलमान दोनों में था। सिर से लेकर पैर की उँगलियों तक के लिए विभिन्न प्रकार के जेवर बनने लगे थे तथा स्त्री और पुरुष दोनों ही जेवरों का प्रयोग करते थे। सोना, चाँदी, जवाहरात आदि सभी का प्रयोग जेवर बनाने के लिए किया जाता था।

मनोरंजन के लिए खेल-कूद, द्वन्द्व-युद्ध, शिकार, चौपड, पशु-पक्षियों के युद्ध, चौगान (पोलो) आदि थे। इसके अतिरिक्त हिन्दू और मुसलमानों के विभिन्न त्यौहार और उत्सव भी मनोरजन का साधन थे। हिन्दू होली, दीवाली, वसन्त आदि त्यौहारों को मनाते थे और मुसलमान ईद, शब्बेरात, नौरोज आदि मनाते थे।

साधारणतया हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरे को समझने का प्रयत्न कर रहे थे और परस्पर निकट आकर एक-दूसरे से कुछ न कुछ सीख रहे थे। अधिकांश सुल्तानो तथा उलेमाओ की धार्मिक असहिष्णुता के होते हुए भी हिन्दू और मुसलमान परिस्थितियो और व्यावहारिकता के कारण एक-दूसरे के सम्पर्क में आ रहे थे। इससे समाज में कुछ परिवर्तन हो रहे थे और मुख्यतया खान-पान, वेश-भूषा तथा जन-

प्रचलित रीतियों में कुछ सुधार हो रहा था। परन्तु समाज का नैतिक स्तर गिर गया था। हिन्दू राजनीतिक पराजय और समाज में असम्मानित होने के कारण आत्म-गौरव, उदारता और प्रगति की चेष्टा से विमुख हो गये थे। हिन्दू समाज अपनी स्वरक्षा मात्र मे लगा रहने के कारण जो कुछ भी अपने में अच्छा अथवा बुरा था, उसी से चिपक गया जिससे उसकी प्रगति रुक गयी और मुसलमान समाज विशेष अधिकारो का उपभोग करने के कारण अहकारी और अकर्मण्य वन गया। ऐसी स्थिति में आचार-विचार और नैतिकता में गिरावट स्वाभाविक थी। हिन्दू अथवा मुसलमान कोई भी इस गिरावट से मुक्त न रहा। सामाजिक परिवर्तन और हिन्दू-मुसलमानों का आदान-प्रदान तो स्वाभाविक था परन्तु केवल यही प्रगति के मापदण्ड न थे। इस कारण दिल्ली सल्तनत का युग सामाजिक परिवर्तनों का तो था परन्तु प्रगति का नही बल्कि गिरावट का था।

हिन्दू और मुसलमानो के परस्पर सम्बन्ध

दिल्ली सल्तनत के युग में हिन्दू और मुसलमानो के परस्पर क्या सम्बन्ध थे, इस विषय पर विभिन्न विद्वान इतिहासकारो में मतभेद है। एक वर्ग ऐसे इतिहासकारों का है जो इस युग को धार्मिक असहिष्णुता का युग नही मानता। वे दिल्ली सुल्तानो के राजनीतिक उद्देश्यो पर अधिक वल देते हैं तथा जिस प्रकार हिन्दू और मुसलमानो ने एक-दूसरे के विचारों, रीति-रिवाजो, रहन-सहन आदि को प्रभावित करना आरम्भ किया था उसके आधार पर यह निर्णय करते हैं कि इस युग मे हिन्दू और मुसलमानो के सम्वन्ध खराब नही रहे थे। सम्भवतया उनका यह विचार आधुनिक समय में हिन्दू और मुसलमानों के सम्वन्धो को ठीक रखने के विचार से तथा आधुनिक युग की धार्मिक उदारता की प्रवृत्ति और उसकी आवश्यकता के कारण भी है। डॉ० ए. रशीद ने इस आवश्यकता को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है। वह लिखते हैं कि "इस प्रकार, धार्मिक और सामाजिक मिश्रण तथा भाषा सम्बन्धी आदान-प्रदान की ऐसी प्रवृत्तियाँ थी जो एक सूत्र में बँधे हुए एक राष्ट्र के निर्माण का मार्ग तैयार कर रही थी। राष्ट्रीय एकीकरण के इस समय में एक व्यक्ति को विवादपूर्ण प्रश्नों में नही जाना चाहिए। हमे झगड़े और संघर्ष तथा पारस्परिक ईर्ष्या और विरोधो के विवरणों से भी वचना चाहिए।"[1] डॉ० ए. रशीद का विचार पूर्ण व्यावहारिक और सम्भवतया समय के अनुकूल है। परन्तु अन्य इतिहासकार ऐसे भी हैं जो इस युग को धार्मिक असहिष्णुता का युग मानते हैं। उनके अनुसार इस युग में हिन्दू-वर्ग प्रत्येक प्रकार से पीडित-वर्ग था। ऐसी स्थिति में हिन्दू-मुसलमानों के अच्छे सम्बन्धो का प्रश्न ही नही उठता। डॉ० ए. एल. श्रीवास्तव ने लिखा है कि "सम-

---

1 "Thus there were tendencies towards religious and social synthesis and linguistic assimilation which could not but have the way for the evolution of a homogenous nation In these days of national integration one need not enter into the controversial questions We should also avoid playing too much upon the records of clash and conflicts, mutual jealousy and antagonism." —Dr. A. Rashid. *Society and Culture in Medieval India.*

कालीन अकाट्य प्रमाणो के अतिरिक्त सैकड़ों वर्ष से ऐसी अविच्छिन्न परम्पराएँ चली आयी हैं जिनसे प्रमाणित होता है कि तुर्की-शासन अत्याचारणपूर्ण था।"[1] डॉ० आर. सी मजूमदार लिखते हैं कि "यह सत्य है कि हिन्दुओं को शासन में बहुत बड़ी सख्या मे छोटे पद प्राप्त थे और इस युग के अन्तिम समय मे कुछ बड़े असैनिक पद और बहुत ही कम सैनिक पद भी प्राप्त हुए लेकिन उनका कोई राजनीतिक स्तर न था और वे अपनी जन्मभूमि मे, जिसे एक मुस्लिम राज्य और देश समझा गया तथा सार्वजनिक दृष्टि से घोषित भी किया गया, पीडितो की भाँति रहते थे।"[2]

उपर्युक्त दोनों ही विचारों के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वान इतिहासकारों ने अपने-अपने तर्क और प्रमाणित तथ्य प्रस्तुत किये हैं। इसी सम्बन्ध में डॉ० के. एस. लाल ने इस समस्या के तीन कारण बताये हैं [3] प्रथम, मुसलमानो द्वारा भारत-विजय की विशेष प्रकृति; द्वितीय, विजेता और पराजित की स्वाभाविक कटुता; तथा तृतीय, गैर-मुसलमानी देश मे लागू किये जाने वाले मुस्लिम कानून की प्रकृति। डॉ० के. एस. लाल के बताये हुए कारण इस समस्या के सम्बन्ध मे निर्णय लेने मे कुछ सहायता प्रदान करते हैं। यह निश्चय रूप से माना जा सकता है कि मुसलमान शासकों ने भारत में अपने साम्राज्य की स्थापना और उसके विस्तार में धर्म का सहारा लिया। इस कारण उनके राजनीतिक उद्देश्य के साथ धार्मिक उद्देश्य सर्वदा सम्मिलित रहा। इसी प्रकार, विजेता और पराजितो के सम्बन्धो मे कटुता होना आवश्यक था, मुख्यतया ऐसी स्थिति में जबकि धर्म, विचार और संस्कृति के आधार पर उन दोनों मे पर्याप्त अन्तर थे। यह भी निश्चय है कि मुसलमान शासकों ने भारत की अपनी हिन्दू प्रजा पर मुस्लिम कानूनों के आधार पर ही शासन किया था और किसी धर्म-निरपेक्ष शासन-व्यवस्था अथवा न्याय-व्यवस्था को आरम्भ करने का प्रयत्न नही किया था। ऐसी स्थिति मे हिन्दुओं के लिए न्याय और समानता प्राप्त होने का कोई प्रश्न ही न था। इसके अतिरिक्त, यह भी निश्चित है कि अलाउद्दीन खलजी के अतिरिक्त सभी सुल्तानों ने उलेमा-वर्ग की शक्ति और प्रभाव को स्वीकार करके उन्हें शासन मे सलाह देने तथा हस्तक्षेप करने का अधिकार दिया था। इन परिस्थितियो में सुल्तान और शासक-वर्ग से हिन्दुओ के प्रति सद्व्यवहार करने की आशा करना व्यर्थ था। इस प्रकार हिन्दू जनता न तो शासन से उदारता की आशा कर सकती थी और न ही किसी प्रकार शासन में भाग ले सकती थी। इसके फलस्वरूप वह जीवन के किसी भी क्षेत्र में न्याय और सुविधाएँ प्राप्त नही कर सकती थी। इस कारण विशेष अधिकार प्राप्त

---

1 "Besides unimpeachable contemporary evidence, we have unbroken tradition coming down from hundreds of years that the Turkish rule was oppressive." —*Dr. A. L. Srivastava.*

2 "It is true that the Hindus occupied a large number of junior posts and, towards the close of the period, occasionally a few high offices, in civil administration, and more rarely, in the army. But they had no political status and lived on sufferance in the land of their birth, which was regarded as, and publicly declared to be, a Muslim state and country." —*Dr. R. C. Mazumdar.*

3 Dr. K. S. Lal : *Studies in Medieval Indian History.*

मुसलमानों और अधिकार-रहित हिन्दुओं में शत्रुता के अतिरिक्त कोई अन्य सम्बन्ध नही हो सकता था—चाहे वह शत्रुता खुली हुई हो अथवा छिपी हुई।

परन्तु यह माना जा सकता है कि जन-साधारण—चाहे वह हिन्दू हो अथवा मुसलमान—साधारणतया शान्ति से रहना पसन्द करता है और उसकी राजनीतिक तथा धार्मिक महत्वाकांक्षाएँ या तो होती ही नही और यदि होती भी है तो वे अन्य व्यक्तियों को प्रभावित करने मे असमर्थ होती हैं। इस कारण, वह अपने पड़ोसियों के साथ मिलकर रहना पसन्द करता है—चाहे वे पडोसी हिन्दू हो अथवा मुसलमान। इसी आधार पर हिन्दू और मुसलमानो का जन-साधारण-वर्ग एक-दूसरे के साथ रह सका, एक-दूसरे से कुछ सीख सका अथवा एक-दूसरे को कुछ सिखा सका। सूफी सन्त और भक्ति आन्दोलनो के प्रचारक जो धार्मिक सहिष्णुता मे विश्वास कर सके और अन्यो को समझा सके, जन-साधारण-वर्ग से थे। शासक-वर्ग की ओर से कभी ऐसा प्रयत्न नही किया गया। इस कारण यह माना जा सकता है कि साधारणतया तो हिन्दू और मुसलमानो के सम्बन्ध आपस में कटुता के थे जिसका मुख्य उत्तरदायित्व शासक और मुस्लिम उलेमा-वर्ग पर था परन्तु जन-साधारण, सन्तों, दार्शनिकों और कतिपय विद्वानों ने हिन्दू-मुसलमानो को एक-दूसरे के साथ रहने की आवश्यकता को बताया और परिस्थितियों ने उन्हे इसके लिए मजबूर किया। उच्च वर्ग मे भी राजनीतिक आवश्यकता के कारण हिन्दू और मुसलमानो का सम्पर्क हुआ ही। इन सभी ने मिलकर उन परिवर्तनों को जन्म दिया जो हमें सल्तनत-युग मे वेश-भूषा, रहन-सहन, रीति-रिवाज, खान-पान, साहित्य और धार्मिक प्रवृत्तियों मे दिखाई देते हैं। परन्तु ये परिवर्तन बहुत गम्भीर न थे। शासक और विशेष अधिकार प्राप्त मुस्लिम-वर्ग की धार्मिक असहिष्णुता ने इस सम्पूर्ण काल मे हिन्दू और मुसलमानों के सम्बन्धों को ठीक नही होने दिया। इसके अतिरिक्त, जबकि हिन्दू धार्मिक दृष्टि से उदार परन्तु सामाजिक दृष्टि से पूर्ण अनुदार थे, मुसलमान सामाजिक दृष्टि से उदार परन्तु धार्मिक दृष्टि से पूर्ण धर्मान्ध थे। धर्म और समाज के प्रति हिन्दू और मुसलमानो की ये विरोधी धारणाएँ भी दोनो को एक-दूसरे के निकट लाने के विरुद्ध थी। इन सभी कारणो से हिन्दू और मुसलमानों के सम्बन्ध इस युग मे कटुता के रहे। इस सत्य को छिपाने की भी आवश्यकता नही है क्योकि व्यावहारिकता का लाभ सत्य को छिपाने मे नही बल्कि उसे जानकर अपने पूर्वजों की भूलों मे सुधार करते हुए भविष्य का निर्माण करने में है।

[2]
आर्थिक दशा

आर्थिक दृष्टि से भारत एक समृद्धिशाली देश था। महमूद गजनवी ने भारत की सम्पत्ति के लालच में भारत पर आक्रमण किया और यहाँ से अतुल सम्पत्ति लूटकर ले गया। 14वी सदी के अन्त में भी भारत के एक भाग से ही तिमूर को अतुल सम्पत्ति प्राप्त हुई। अलाउद्दीन और मलिक काफूर ने दक्षिण भारत से इतनी अधिक सम्पत्ति लूटी थी कि उत्तर भारत में मुद्रा का मूल्य कम हो गया था। इसके

अतिरिक्त, भारत के विभिन्न भागों मे अनेक बडे-बडे नगरो और बन्दरगाहो का होना, सभी स्थानो पर सूबेदारो और दिल्ली सल्तनत के पश्चात प्रान्तीय सुल्तानों अथवा हिन्दू राजाओ के पास अतुल सम्पत्ति का होना, समाज के उच्च-वर्ग का शान शौकत और विलासिता से जीवन व्यतीत कर पाना, सभी स्थानो पर कलात्मक दृष्टि से प्रगति होना और मुख्यतया शानदार मकबरों, मन्दिरों, महलों और किलों का निर्माण होना तथा विभिन्न विदेशी यात्रियो द्वारा सोना, चाँदी, हीरे, जवाहरात और मोतियो आदि का प्रयोग भारत में प्रचुर मात्रा मे बताया जाना आदि इस बात के प्रमाण हैं कि इस युग मे भारत आर्थिक दृष्टि से अत्यधिक सम्पन्न था।

भारत की इस सम्पत्ति का एक मुख्य कारण भारत की उर्वरा भूमि, पर्याप्त प्राकृतिक और मनुष्यकृत सिंचाई के साधन, भारतीय किसानो का परिश्रम और इन सुविधाओ के होने से कृषि की अच्छी स्थिति थी। परन्तु कृषि मात्र ही इस अतुल सम्पत्ति का कारण नही हो सकती थी। **भारत एक कृषि-प्रधान देश रहा है परन्तु आधुनिक मशीनों के युग के आरम्भ होने से पहले भारत एक उद्योग-प्रधान और व्यावसायिक देश भी रहा था।** भारत की बनी हुई वस्तुएँ प्राचीन काल से दक्षिण-पूर्व, पश्चिम, मध्य-एशिया और यूरोप तक विख्यात थी। इस कारण, भारत के उद्योग और उसका व्यापार सर्वदा से भारत के पक्ष में रहा और वही उसकी अतुल समृद्धि का कारण था। इस युग में भी यही स्थिति थी। कृषि-उत्पादन के साथ-साथ भारत के उद्योग और उसका व्यापार भी बहुत अच्छी स्थिति में थे।

भारत मे प्राय. सभी स्थानो पर विभिन्न प्रकार का अन्न, दालें, फल आदि उत्पन्न किये जाते थे। अधिकाश फसले वर्ष में दो बार उत्पन्न की जाती थी परन्तु कही-कही फसले वर्ष में तीन बार भी उत्पन्न की जाती थी। गेहूं, चावल, कपास, गन्ना, तिलहन, नील, जौ, मक्का, बाजरा, पान, अदरक, गर्म-मसाला और विभिन्न प्रकार के फल बहुत बड़ी मात्रा में उत्पन्न किये जाते थे। सरमुती का चावल, कन्नौज की शक्कर, मालवा का गेहूँ और पान, ग्वालियर का गेहूँ, मलाबार के गर्म-मसाले और अदरक, दौलताबाद के अंगूर और नासपाती, विभिन्न प्रकार के सन्तरे, दक्षिण भारत की सुपाडी आदि प्रख्यात थीं। बारबोसा ने लिखा है कि बहमनी राज्य मे कृषि, पशु-पालन और फलों के बाग बहुत अच्छी स्थिति मे थे और शहर ही नहीं बल्कि गांव भी समृद्ध थे। तुलू-नाद (तमिलनाडु) मे चावल बहुत अच्छा उत्पन्न होता था और गुजरात में सभी वस्तुओ के मूल्य बहुत सस्ते थे। विजयनगर की समृद्धि के बारे मे तो सभी यात्रियो ने विशद वर्णन किया है। उडीसा मे बाग और पशु-पालन इतना अधिक था कि पशुओ के लिए खरीददार नही मिलते थे और वस्तुएँ इतनी सस्ती थी कि कोई भी व्यक्ति एक बार वहाँ जाकर वापिस आना नहीं चाहता था। बारबोसा के अनुसार बगाल मे कपास, गन्ना, चावल, अदरक आदि अत्यधिक मात्रा मे उत्पन्न किया जाता था। दोआब का सम्पूर्ण क्षेत्र अपनी उर्वरा-शक्ति के लिए प्रसिद्ध था। इस प्रकार भारत के सभी क्षेत्रों मे कृषि की स्थिति बहुत अच्छी थी। कृषि के साथ-साथ दूध देने वाले पशुओ का पालन भी किसानों का एक मुख्य पेशा था। उसमे

भी अनेक खाद्य वस्तुएँ बनती थी। इस समय में जगल और चरागाह भी प्रचुर मात्रा में थे। यह सभी कुछ मिलाकर इतना अधिक था कि भारत अपने खाने और उद्योगों की आवश्यकता की पूर्ति के पश्चात भी अनेक वस्तुओ का निर्यात कर पाता था।

उद्योगो की दृष्टि से भी भारत अच्छी स्थिति मे था। कपडे का उद्योग भारत का एक प्रमुख उद्योग था। सूती, रेशमी और ऊनी सभी प्रकार और सभी रगो के वस्त्र भारत मे बनाये जाते थे। मलमल, आरकण्डी, छीट, रेशमी रूमाल आदि प्रचुर मात्रा में तैयार किये जाते थे। कपड़ो को सोना, चाँदी और हीरे-जवाहरातो से भी जड़ा जाता था। इसके अतिरिक्त शक्कर, कागज, विभिन्न पत्थरो की कटाई, बर्तन बनाना, चन्दन की लकड़ी और हाथी-दाँत की वस्तुओं का निर्माण, समुद्री मोतियो को निकलना आदि विभिन्न प्रकार के उद्योग थे। व्यक्तिगत प्रयत्नों के अतिरिक्त सुल्तानो ने भी शाही कारखानों का निर्माण किया था जहाँ सुल्तान और अमीरों की आवश्यकताओ की पूर्ति हेतु श्रेष्ठतम वस्तुएँ तैयार की जाती थी। नगरों और गाँवों में श्रमसघ बने हुए थे जो उद्योगो की उन्नति में सहायक से।

भारत में आन्तरिक और विदेशी व्यापार भी प्रचुर मात्रा में होता था। भारत मे दूरस्थ प्रदेशो को जोड़ने वाली सड़कें पर्याप्त मात्रा मे थीं और विभिन्न नगर भिन्न-भिन्न वस्तुओ की व्यापारिक मण्डियाँ बने हुए थे। इब्नबतूता ने दिल्ली को ससार की सबसे बड़ी व्यापारिक मण्डी बताया था। दौलताबाद मोतियों के व्यापार के लिए प्रसिद्ध था। दभोल के बन्दरगाह पर ताँबा आता था और वहाँ से सम्पूर्ण भारत में भेजा जाता था। गुजरात मे रन्देर के बन्दरगाह पर चोन और मलाका से विभिन्न वस्तुएँ आती थी और सम्पूर्ण भारत में भेजी जाती थी। विजयनगर साम्राज्य व्यापार का एक बड़ा केन्द्र था। ड्यू, गोआ, चोल, कालीकट, कोचीन, क्यूलोन पश्चिमी तट के प्रसिद्ध बन्दरगाह थे। पूर्वी तट तथा बंगाल और उड़ीसा तट पर भी अनेक प्रसिद्ध बन्दरगाह थ। विदेशी व्यापार ईरान, अरब, यूरोप, अफ्रीका, चीन, मलाया, अफगानिस्तान, मध्य-एशिया आदि देशों से होता था। अन्न, सूती और रेशमी वस्त्र, अफीम, नील, जस्ता, समुद्री मोती, चन्दन, गोंद, केसर, अदरक आदि प्रचुर मात्रा मे विदेश भेजे जाते थे। विदेशों से मुख्यतया घोडे, नमक, गन्धक, सोना, गुलाब-जल आदि का आयात होता था। विदेशी व्यापार की एक प्रमुख विशेषता यह भी थी कि पुर्तगालियो के आने से पहले तक भारत का विदेशी व्यापार—मुख्यतया सामान को ले जाने और लाने का अधिकार—अरब अथवा ईरानी व्यापारियों के हाथो मे था। मलाबार तट के अतिरिक्त अन्य सभी स्थानों पर इन विदेशी व्यापारियों का एकाधिपत्य था। भारतीय व्यापारी उस समय ही इस व्यापार मे साझा करते थे जब ये वस्तुएँ समुद्र-तट तक पहुँचा दी जाती थी। इस प्रकार भारत का विदेशी व्यापार बहुत अधिक था और भारत ही इससे अधिक लाभ प्राप्त करता था। विदेशी व्यापार भारत की समृद्धि का एक बडा आधार था।

इस कारण कृषि-उत्पादन, उद्योगो की उपस्थिति और आन्तरिक तथा विदेशी

व्यापार ने भारत को एक समृद्धिशाली देश बनाया था। दिल्ली सुल्तानो तथा प्रान्तीय सूबेदारो और हिन्दू राजाओं के पारस्परिक युद्धो के होते हुए भी भारत अपने को सम्पन्न रख सका था। सुल्तानो और अधिकांश शासको की उदासीनता के बावजूद भी भारत की यह सम्पन्नता आश्चर्यजनक थी। परन्तु भारत की इस आर्थिक सम्पन्नता का मुख्य लाभ शासक और व्यापारी-वर्ग ने प्राप्त किया था। उन्होने वैभव और विलासिता के समस्त साधनों को अपने शौक को पूरा करने के लिए एकत्रित कर लिया था। जन-साधारण की स्थिति शोचनीय तो नही परन्तु बहुत अच्छी भी न थी। इसी कारण सूखा और अकाल पड़ने के अवसर पर लाखो व्यक्ति मर जाते थे और राज्य को दान-दक्षिणा अथवा तकावी-कर्जों को देने की आवश्यकता पड जाती थी। परन्तु मध्य-युग की परिस्थितियो मे इसके अलावा कोई चारा भी न था। ससार के सभी राज्यो मे जन-साधारण की यही स्थिति थी।

[3]
धार्मिक दशा

भारतीय संस्कृति की एक मुख्य विशेपता यह रही है कि इसने अपने प्राचीन तत्वो अथवा विशेपताओं को नष्ट किये बिना नवीन तत्वों और विशेपताओं को अपने मे सम्मिलित किया है। धार्मिक दृष्टि से यदि एक विचारधारा या एक सम्प्रदाय यहाँ विकसित हो गया तो चाहे उसका स्वरूप कितना ही बदल गया हो परन्तु उसे नष्ट करने का प्रयत्न नही किया गया। इस कारण, इस समय भी भारत मे प्राचीनतम धार्मिक सम्प्रदाय किसी न किसी रूप में विद्यमान थे। वैदिक धर्म, बौद्ध धर्म, जैन धर्म हिन्दू वैष्णव, शैव, शक्ति और तान्त्रिक सम्प्रदाय आदि सभी किसी न किसी रूप में भारत के विभिन्न भागो में फैले हुए थे। बौद्ध मतावलम्बी मुसलमानी आक्रमणो के अवसर पर काफी संख्या में थे परन्तु धीरे-धीरे उनकी संख्या भारत में नगण्य हो गयी। जैन धर्म पश्चिमी भारत मे और वह भी मुख्यतया राजस्थान और गुजरात तक सीमित रह गया। हिन्दू धर्म मे वैष्णव सम्प्रदाय प्रभावशाली हो गया और शैव सम्प्रदाय के अनुयायियो की संख्या में भी काफी वृद्धि हुई। मुसलमानों मे मुख्यतया सुन्नी और शिया तथा कुछ अन्य छोटे सम्प्रदाय थे। परन्तु इस समय की मुख्य विशेषता मुसलमानों मे सूफी सम्प्रदाय की प्रगति और हिन्दुओ में भक्ति-मार्ग पर बल अथवा भक्ति-आन्दोलन की प्रगति थी।

1. सूफी सम्प्रदाय

सूफी सम्प्रदाय बहुत प्राचीन है और भारत मे उसका प्रवेश दिल्ली सल्तनत की स्थापना से पहले ही हो गया था। परन्तु दिल्ली सल्तनत की स्थापना के पश्चात विभिन्न इस्लामी देशों से सूफी सन्त बहुत बडी संख्या में भारत आये और विभिन्न भागो में बस गये। भारत में आकर सूफी विचारधारा पर हिन्दुओं का प्रभाव भी आया। ईश्वर के प्रति प्रेम, अहिंसा, तप, सांसारिक वस्तुओं का त्याग आदि हिन्दू, जैन और बौद्ध धर्म की विशेपताएँ थी। उनका प्रभाव भारतीय सूफी सन्तों पर आया। इसके

अतिरिक्त, हिन्दुओं को भी सूफी सम्प्रदाय में सम्मिलित करने की इच्छा से उन्होंने यहाँ के जन-जीवन को प्रभावित करने वाले कई रीति-रिवाजों को स्वीकार कर लिया।

सूफी दर्शन केवल एक ईश्वर में विश्वास करता है तथा सभी पदार्थों और व्यक्तियों को उस ईश्वर में मानता है। उनके अनुसार, 'ईश्वर एक है', 'सभी कुछ ईश्वर में है', 'उसके बाहर कुछ नहीं' और 'सभी कुछ त्याग कर प्रेम के द्वारा ईश्वर को प्राप्त किया जा सकता है।' सूफी सन्त कुरान के बाह्य स्वरूप पर नहीं बल्कि उसके मूल आधार में विश्वास करते थे। उनका जीवन बहुत ही सादा होता था। वे सभी सांसारिक वस्तुओं का त्याग आवश्यक मानते थे। किसी भी प्रकार की मूर्ति-पूजा में उनका विश्वास न था। वे ईश्वर को दयावान और उदार मानते थे। ईश्वर से डरने के स्थान पर वे उससे प्रेम करके उसे पाना चाहते थे। इसी कारण, वे सभी जीवों से प्रेम करने पर बल देते थे और मांसाहार को वर्जित मानते थे। लालसा को मनुष्य का मुख्य शत्रु मानकर वे तप, साधना और निरन्तर ईश्वर का नाम लेने में विश्वास करते थे। संगीत और गान को वे ईश्वर का नाम लेने में सहायक मानते थे और भावना से प्रेरित होकर वे नाचते-गाते भी थे। उनका विश्वास गुरु (जिसे वे पीर पुकारते थे) में था। उनके अनुसार बिना गुरु की सहायता के ईश्वर-प्राप्ति सम्भव नहीं हो सकती थी। ईश्वर-प्राप्ति अथवा 'वस्ल' प्राप्त करने के लिए उन्हें तौबा (बुरे कर्मों के प्रति क्षोभ), वारा (अपरिग्रह), जुहद (करुणा), फकर (निर्धनता), सब्र (बर्दाश्त), शुकर (अहसानमन्द होना), खौफ (भय), राज (आशा), तवाखुल (सन्तोष) और रिजा (ईश्वर को आत्मसमर्पण) का पालन करना आवश्यक था। उनका नमाज, रोजा, हज-यात्रा आदि में विश्वास न था।

इस प्रकार, सूफी सन्त प्रायः हिन्दू योगियों की भाँति जीवन व्यतीत करते थे यद्यपि वे नगरों में या उनके निकट रहते थे। वे हिन्दू धर्म के भक्ति-मतावलम्बियों की भाँति ईश्वर-प्रेम पर बल देते थे। भारत में उनकी विभिन्न शाखाएँ थी परन्तु उनमें से सुरावर्दी और चिश्ती-सम्प्रदाय प्रमुख थे। सुरावर्दी सम्प्रदाय सिन्ध, पंजाब और मुल्तान तक ही सीमित रहा परन्तु चिश्ती-सम्प्रदाय पंजाब, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल, उड़ीसा और दक्षिण भारत तक फैला हुआ था। 17वीं और 18वीं सदी में उनका प्रभाव सबसे अधिक हुआ। हिन्दू और मुसलमानों के पारस्परिक सहयोग और उर्दू भाषा की उत्पत्ति एवं विकास में भी उन्होंने महत्वपूर्ण योगदान दिया। दिल्ली सल्तनत के समय में सूफी सन्तों में शेख मुईनुद्दीन चिश्ती, बाबा फरीदुद्दीन, नासिरुद्दीन महमूद, चिराग-ए-देहलवी, ख्वाजा शेख ताकिउद्दीन, मुहम्मद गौस ग्वालियरी और मलिक मुहम्मद जायसी प्रमुख हुए।

2. भक्ति-आन्दोलन

हिन्दू धर्म के अन्तर्गत उत्पन्न भक्ति-आन्दोलन मध्य-युग के धार्मिक जीवन की एक महान् विशेषता रही। कई सदियों तक यह धार्मिक आन्दोलन बहुत प्रभावपूर्ण रहा और आधुनिक हिन्दू धर्म पर उसकी गम्भीर छाप है। मध्य-युग के इस धार्मिक आन्दोलन को कहाँ से प्रेरणा प्राप्त हुई, इस प्रश्न पर विभिन्न विचार प्रकट किये गये है।

सर्वप्रथम, वेबर (Weber) और ग्रीअर्सन (Grierson) सदृश यूरोपियन विद्वानों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि निर्वाण-प्राप्ति के लिए भक्ति और ईश्वर की एकता का विचार हिन्दुओं ने ईसाई धर्म से प्राप्त किया; परन्तु आधुनिक समय में यूरोपियन विद्वानों के इस विचार को मानने के लिए कोई भी तैयार नहीं है। परन्तु इसमें भी अधिक शक्तिशाली विचार यह प्रस्तुत किया गया है कि प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष तरीके से इस्लाम धर्म ने हिन्दू धर्म को प्रभावित किया जिसका परिणाम मध्य-युग का भक्ति-आन्दोलन था। इसके पक्ष मे यह कहा गया है कि रामानन्द जिन्होंने इस आन्दोलन के आधार का निर्माण किया, किसी न किसी प्रकार इस्लाम के विचारों से परिचित हो गये थे। वे विचार उनके लिए प्रेरणादायक बने। यही नही बल्कि कुछ व्यक्तियों ने यहाँ तक कहा है कि शंकराचार्य का अद्वैत-सिद्धान्त (एक ईश्वर मे विश्वास) भी इस्लाम के एक ईश्वर के विचार से प्रभावित हुआ था। परन्तु शंकराचार्य और रामानुज पर नवीन स्थापित इस्लाम धर्म का प्रभाव स्वीकार किया जाना तर्क-सगत नहीं है। शकराचार्य ने अपने अद्वैतवाद का समर्थन भारतीय वेदान्त-दर्शन के आधार पर किया और रामानन्द व रामानुज वैष्णव धर्म के अनुयायी थे जो हिन्दू धर्म के भक्ति-मार्ग पर बल देते थे और जिन्होंने अपने विचारों का समर्थन उन प्राचीन हिन्दू धर्म-ग्रन्थों के आधार पर ही किया था जिनमे मूर्ति-पूजा का स्थान नहीं है और जो एकेश्वरवाद में विश्वास करते है। कुछ अन्य विद्वानों का यह कहना है कि इस्लाम की भ्रातृ-भाव और मानव-समानता की भावना ने हिन्दुओं और भक्ति-मार्ग के प्रचारकों को प्रभावित किया। परन्तु इस्लाम की यह भावना हिन्दुओं को उन परिस्थितियों मे किस प्रकार प्रभावित कर सकती थी जबकि इस्लाम अपने व्यावहारिक स्वरूप में हिन्दू और मुसलमानों मे गम्भीर अन्तर मानता था? यह भी कहना तर्कसगत नहीं है कि सूफी सम्प्रदाय ने भक्ति-आन्दोलन को प्रेरणा प्रदान की थी। दोनों आन्दोलनों में कुछ समता का होना ही इस निर्णय के लिए पर्याप्त नहीं है।

वास्तव मे, भक्ति-आन्दोलन हिन्दू धर्म के अन्तर्गत ही एक आन्दोलन था। हिन्दू धर्म मे निर्वाण (मोक्ष) प्राप्ति के तीन मार्ग बताये गये है—ज्ञान, कर्म तथा भक्ति। समय-समय पर धर्म-प्रचारकों ने इन्हीं में किसी न किसी एक मार्ग पर बल दिया। इस युग में हिन्दू धर्म-प्रचारकों ने भक्ति-मार्ग पर बल दिया और उसी के परिणामस्वरूप भक्ति-आन्दोलन का जन्म हुआ। इस कारण विचारों और दर्शन की दृष्टि से हिन्दुओं को ईसाई अथवा इस्लाम धर्म से कुछ ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं पड़ी। यह आन्दोलन पूर्णतया नवीन भी नहीं माना जा सकता। ईसा-पूर्व छठी सदी (6th Century B. C) मे बौद्ध और जैन धर्म के साथ-साथ भागवद्-आन्दोलन का भी प्रादुर्भाव हुआ था जो भक्ति-मार्ग पर बल देता था परन्तु उस अवसर पर वह प्रबल न बन सका। उस समय बौद्ध धर्म एक प्रभावशाली आन्दोलन के रूप मे सामने आया। गुप्त-काल में हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान होने पर भी बौद्ध धर्म का प्रभाव भारत में काफी प्रबल रहा तथा उसके पश्चात तो हिन्दू धर्म एक लम्बे समय तक बौद्धिक अथवा भावनात्मक नवचेतना से वंचित रहा। 8वी सदी मे शंकराचार्य ने

तर्क और बुद्धि के आधार पर हिन्दू अद्वैतवाद की श्रेष्ठता स्थापित करने मे सफलता प्राप्त की जिसके कारण सम्पूर्ण राजपूत-युग में हिन्दू धर्म प्रधान रहा। राजपूतो की शौर्य और युद्ध की प्रवृत्ति भी बौद्ध धर्म के विरुद्ध और हिन्दू धर्म के अनुकूल थी। परन्तु राजपूतों की शौर्य और प्रेम-प्रसगों की भावना और जागीरदारी-प्रथा (Feudalism) पर आधारित उनकी राजनीतिक व्यवस्था धर्म में बौद्धिक क्रान्ति के अनुकूल न थी। इस कारण शंकराचार्य का ज्ञान-मार्ग जन-साधारण के लिए न तो आकर्षक रहा और न समझने के लिए सरल। इन्ही परिस्थितियों में भारत मुसलमानी आक्रमणों से पदाक्रान्त हो गया और इस्लाम ने हिन्दू जनजीवन, समाज और मुख्यतया धर्म को चुनौती दी। उस स्थिति मे राजनीतिक सत्ता और आर्थिक व सामाजिक सुविधाओ से वंचित हिन्दुओं ने धर्म का सहारा लिया और उसमे सबसे आकर्षक मार्ग 'भक्ति-मार्ग' को चुना। ईसाई धर्म के आक्रमण से आक्रान्त भारत मे 19वी सदी में हुए 'भारतीय पुनरुत्थान आन्दोलन' से तो इसकी समता नही की जा सकती क्योंकि राजा राममोहनराय, स्वामी दयानन्द और स्वामी विवेकानन्द जैसे धर्म-प्रचारकों का आधार ज्ञान और तर्क था जो सम्भवतया पश्चिमी सभ्यता की जनतन्त्र, समानता और स्वतन्त्रता की विचार-धारा मे पनप सका था। परन्तु मध्य-युग की निरंकुश प्रवृत्तियो में इस्लाम धर्म से आक्रान्त हिन्दुओ ने धर्म की रक्षा के लिए प्रायः उसी प्रकार की सुरक्षा की भावना से प्रेरित होकर भक्ति-मार्ग को चुन लिया और उसी का परिणाम भक्ति-आन्दोलन हुआ। सम्भवतया इसी कारण इस आन्दोलन के प्रवर्तकों ने जाति-प्रथा का विरोध किया और मूर्ति-पूजा को आवश्यक नही बताया तथा बाद के कुछ उग्रवादी प्रवर्तकों ने इस्लाम और हिन्दू धर्म को एक ही ईश्वर को प्राप्त करने के दो मार्ग बताया।

भक्ति-आन्दोलन और उसके प्रवर्तक सन्तों ने उन विशेष बातों पर बल दिया जो इस आन्दोलन का आधार थे। इन सभी सन्तों ने किसी विशेष सामाजिक अथवा धार्मिक सम्प्रदाय से अपने को नही बांधा और इनमे से कोई भी किसी नवीन धर्म को आरम्भ नही करना चाहता था। इनमें से अधिकांश को किसी भी धार्मिक ग्रन्थ मे अन्धविश्वास न था। वे किसी भी धार्मिक कर्मकाण्ड मे विश्वास नही करते थे, वे बहुदेववाद का विरोध करते थे, और एक ही ईश्वर के विभिन्न नाम है (जैसे राम, कृष्ण, शिव, अल्लाह आदि) यह उनका विश्वास था। वे मूर्ति-पूजा और जाति-प्रथा का विरोध करते थे तथा केवल भक्ति के द्वारा ही व्यक्तियों को मोक्ष-प्राप्ति का मार्ग बताते थे। उनका कहना था कि जिस प्रकार एक व्यक्ति अपने किसी निकट के सम्बन्धी से प्रेम करता है उसी प्रकार धीरे-धीरे एक विस्तृत दृष्टि से प्रेरित होकर वह एकमात्र ब्रह्मन अथवा ईश्वर से प्रेम कर सकता है जिसे राम, कृष्ण, शिव आदि किसी भी नाम से पुकारा जा सकता है। अपनी अन्तिम अवस्था मे एक भक्त का ईश्वर के प्रति प्रेम एक प्रेमिका का अपने प्रेमी के प्रति अथवा एक प्रेमी का अपनी प्रेमिका के प्रति तीव्र प्रेम की भाँति होता है जिसमे किसी भी अन्य व्यक्ति अथवा पदार्थ के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता। उनके अनुसार ईश्वर मन्दिर में नही बल्कि व्यक्ति के हृदय में निवास करता है और सभी सत्य मनुष्य-शरीर में निवास करते है। ईश्वर

से केवल भक्ति द्वारा सम्पर्क स्थापित करना भक्ति-सन्तों का मुख्य आधार था। परन्तु भक्ति-मार्ग पर चलने के लिए व्यक्ति को अपने शरीर और मस्तिष्क को सभी विकारो से मुक्त करना आवश्यक था तथा इसके लिए एक गुरु भी आवश्यक था। उनका कहना था कि गुरु शिष्य को इस कार्य मे सहायता प्रदान करता है परन्तु मोक्ष-प्राप्ति केवल ईश्वर की कृपा के द्वारा सम्भव है और ईश्वर की कृपा प्राप्त करना व्यक्ति का स्वयं का कर्तव्य और कार्य है . विभिन्न सन्तों ने इन सभी विचारों को भजन, दोहा, कविता और सरल उपदेशों के द्वारा जन-साधारण को समझाया। परन्तु सबसे प्रमुख माध्यम उनका स्वयं का भक्तिपूर्ण जीवन था। इन सन्तों ने अपने विचारो को संस्कृत में नही वल्कि विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं में बताया। मन्दिर, सार्वजनिक स्थान और गाँवो की चौपालें उनके प्रचार के स्थान थे तथा भजन और कीर्तन उनके मुख्य साधन। इन सभी ने मिलकर भक्ति-आन्दोलन को मध्य-युग में अत्यन्त लोकप्रिय बना दिया।

सम्पूर्ण मध्य-युग में भारत के विभिन्न भागों में भक्ति-मार्ग के विभिन्न प्रवर्तक हुए। उनमे से एक **रामानुज** थे जो 12वी सदी के आरम्भ मे हुए। आन्ध्र प्रदेश मे त्रिपुती नामक स्थान पर उनका जन्म हुआ था। वह सगुण ईश्वर में विश्वास करते थे और भक्ति-मार्ग को ईश्वर-प्राप्ति का श्रेष्ठ मार्ग बताते थे। उनके अनुसार कर्म-मार्ग व्यक्ति को 'माया' मे बाँधता है जिससे मोक्ष सम्भव नही है और केवल ज्ञान-मार्ग व्यक्ति को 'माया' (सासारिक सुख और लालसाएँ) से मुक्ति दिला सकता है इस कारण अपूर्ण है। इस प्रकार, केवल भक्ति-मार्ग द्वारा ही व्यक्ति वैकुण्ठ को प्राप्त कर सकता है और सच्चिदानन्द (ईश्वर) मे लीन हो सकता है। उन्होंने शूद्रों को वर्ष के कुछ दिनों मे मन्दिरों में जाने की आज्ञा प्रदान की और उन्हें बताया कि गुरु-भक्ति और ईश्वर को पूर्णतया आत्म-समर्पित करने के पश्चात वे भी मोक्ष की प्राप्ति कर सकते थे। एक अन्य सन्त **निम्बकार** थे जो 12वी सदी में ही हुए। वे राधा-कृष्ण के उपासक थे। वे उन्हे ईश्वर का अवतार मानते थे। 13वी सदी मे **माधवाचार्य** हुए। माधवाचार्य का विश्वास द्वैतवाद मे था और वे आत्मा व परमात्मा को पृथक-पृथक मानते थे। वे लक्ष्मी-नारायण के उपासक थे। उनका कहना था कि एक व्यक्ति को केवल ईश्वर से प्रेम करना चाहिए और फिर गुरु की सहायता से एकमात्र ईश्वर-भक्ति से वह निर्वाण (मोक्ष) प्राप्त कर सकता है।

उपर्युक्त सभी सन्त वैष्णव-सम्प्रदाय के थे और उन्होंने भक्ति-मार्ग को प्रेरणा प्रदान की थी। परन्तु अभी तक यह मार्ग बहुत लोकप्रिय न बन सका था। इस कार्य की पूर्ति 14वी सदी मे हुए **रामानन्द** ने की। वह ब्राह्मण थे और इलाहाबाद मे उनका जन्म हुआ था। उन्होंने राघवानन्द नामक गुरु से धर्म की शिक्षा प्राप्त की परन्तु अन्त मे स्वयं गुरु के पद को प्राप्त कर सके। उन्होंने अपने विचार रामानुज-सम्प्रदाय मे प्राप्त किये जिनको उन्होंने लोकप्रिय बना दिया। रामानन्द ने वैष्णव-सम्प्रदाय और भक्ति-आन्दोलन को तीन प्रकार से प्रभावित किया। प्रथम, उन्होंने राम-सीता की भक्ति पर बल दिया। द्वितीय, उन्होंने अपने उपदेश संस्कृत के स्थान पर हिन्दी में दिये

जिससे यह आन्दोलन लोकप्रिय हुआ और हिन्दी साहित्य का निर्माण आरम्भ हुआ। तृतीय, उन्होंने व्यावहारिक दृष्टि से सभी जातियों और स्त्री-पुरुषों को समान स्थान दिया। वे ब्राह्मण थे परन्तु उनके समुदाय में सभी जाति के व्यक्ति सम्मिलित हो सकते थे और वे सभी जाति के व्यक्तियों के साथ बैठकर भोजन कर लेते थे। उसी प्रकार उन्होंने स्त्रियों को भी अपने सम्प्रदाय में सम्मिलित होने का समान अधिकार दिया। यद्यपि रामानन्द ने सिद्धान्त के आधार पर जाति-प्रथा का कोई विरोध नहीं किया परन्तु उनका व्यावहारिक जीवन जाति-समानता में विश्वास करने का था। उनके 12 शिष्यों में से धन्ना जाट था, सेना नाई था, रवीदास (रैदास) चमार था, और कबीर जुलाहा था। उनके प्रयत्नों से भक्ति-आन्दोलन और वैष्णव-सम्प्रदाय लोकप्रिय बना, निम्न जातियों का स्तर बढ़ा और स्त्रियों के सम्मान में वृद्धि हुई। वास्तव में, मध्य-युग का धार्मिक आन्दोलन रामानन्द से आरम्भ हुआ।

रामानन्द के एक मुख्य शिष्य **कबीर** हुए। वे सिकन्दर लोदी के समकालीन थे और किंवदन्तियों के अनुसार यह विश्वास किया जाता है कि सिकन्दर लोदी ने उन्हें मारने के लिए कई प्रयत्न किये परन्तु असफल रहा। किंवदन्तियों के अनुसार एक विधवा ब्राह्मणी ने इनको जन्म दिया था और वह उन्हें एक तालाब के किनारे छोड़ गयी थी जहाँ से नीरू नामक एक मुसलमान जुलाहे की पत्नी उन्हें उठा लायी तथा उसने उनका पुत्रवत् पालन किया। कबीर रामानन्द के शिष्य बने। वे अधिकांशतया बनारस में रहते थे। उनकी पत्नी, एक पुत्र तथा एक पुत्री थी। वे जीवन-पर्यन्त जुलाहे का कार्य करते रहे। इस प्रकार, वह एक पारिवारिक सन्त थे और गृह-त्याग में उनका विश्वास न था। उनके विचारों से प्रकट होता है कि उन्हें हिन्दू-दर्शन का ज्ञान था और वे राम-भक्ति में विश्वास करते थे। परन्तु कबीर का विश्वास बाहरी आडम्बर, कर्मकाण्ड, जाति-प्रथा, आश्रम-व्यवस्था और धर्म के अन्तरों में न था। उन्होंने हिन्दू और मुसलमानों को निकट लाने का प्रयत्न किया। उनका कहना था कि "कबीर अल्लाह और राम का पुत्र है।"[1] उन्होंने यह भी कहा था कि "आरम्भ में न कोई तुर्क था, न कोई हिन्दू, न कोई नस्ल और न कोई जाति।"[2] कबीर ने भक्ति को ही मोक्ष-प्राप्ति का मार्ग बताया। उन्होंने अपने उपदेश दोहे अथवा छोटी-छोटी कविताओं के रूप में दिये। बाद में एक पुस्तक 'बीजक' में उनका संकलन किया गया। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही उनके अनुयायी थे जो कबीरपन्थी कहलाये। कबीर के मुख्य उपदेश निम्न प्रकार थे :

1. संस्कृत एक कुएँ के जल की भाँति है जबकि जन-भाषा एक बहते हुए झरने के समान है।

2. यदि पत्थर की पूजा करने से ईश्वर प्राप्त हो सकता है तो मैं एक पहाड़ को पूजूँगा।

---

1 "Kabir is the child of Allah and Ram." —Kabir

2 "In the beginning, there was not Turk nor Hindu,—no race, no caste." —Kabir.

3. यदि जल में स्नान करने से निर्वाण-प्राप्ति सम्भव होती तो सबसे पहले यह मेढको को प्राप्त होती।

4 यदि नग्न घूमने मे 'हरी' (ईश्वर) प्राप्त हो जाता तो सबसे पहले इसे हरिण प्राप्त करते।

5. ओ काजी ! पुस्तको को पढ़ने वाले मार दिये जाते हैं, पुस्तक को छोडो, राम की भक्ति करो।

6. अनेक पुस्तकें पढ़कर भी एक व्यक्ति पण्डित नही हो सकता। पण्डित वह है जो 2½ अक्षर के शब्द 'प्रेम' को समझता है।

7 सत्य रहो, स्वाभाविक रहो। स्वाभाविक रहना सत्य है। सत्य हृदय मे है और प्रेम से पहचाना जाता है।

8 विभिन्न धर्मों और ईश्वर मे केवल नाम का अन्तर है। सोना एक-समान होता है। उसके जेवर बन जाने के पश्चात नाम अलग-अलग हो जाते हैं।

9 धर्म के कारण झगडा करने वाले अज्ञानी होते हैं।

10 नामो के विवाद को छोडकर भक्ति और प्रेम से ईश्वर को याद करो। वही सत्य है और वही निर्वाण-प्राप्ति का मार्ग है।

कबीर ने कोई नवीन धर्म नही चलाया और उनके पुत्र ने भी इस कार्य को करने से इन्कार कर दिया। परन्तु उनके अनुयायियों ने कबीरपन्थी सम्प्रदाय को जन्म दिया जिसके समर्थक हिन्दू और मुसलमान दोनों ही रहे। यह कहा जाता है कि उनकी मृत्यु हो जाने पर हिन्दू और मुसलमानों में झगडा हुआ। हिन्दू उनके शरीर को जलाना चाहते थे और मुसलमान उसको गाढना चाहते थे। परन्तु जब उनके शरीर से कपडा हटाया गया तो वहाँ केवल फूल मिले जिसे हिन्दू और मुसलमानों ने आपस मे बाँट लिया।

कबीर की भाँति हिन्दू और मुसलमानो की एकता में विश्वास करने वाले व पारिवारिक जीवन बिताने वाले एक अन्य सन्त नानक (1469-1538) थे। लाहौर से 35 मील दूर दक्षिण-पश्चिम मे तालवण्डी (आधुनिक ननकाना) नामक स्थान पर नानक का जन्म एक खत्री परिवार में हुआ। अल्पायु मे ही उनका विवाह कर दिया गया और उनके दो पुत्र हुए। परन्तु नानक किसी व्यवसाय या खेती आदि मे रुचि न रख सके और एक लम्बे समय तक भ्रमण करते रहे। कहा जाता है कि वे श्रीलंका और मक्का व मदीना तक गये थे। नानक ने भी अपने उपदेश छोटी-छोटी कविताओ के रूप मे दिये जिनको 'आदि-ग्रन्थ' में संकलित किया गया। नानक ने कर्मकाण्ड, धार्मिक ग्रन्थ, वाह्य आडम्बर, क्रिया-कर्म, जाति-प्रथा और धर्म-विभेदों का विरोध किया। वह भी ईश्वर की एकता में विश्वास करते थे तथा हिन्दू और मुसलमानो को धार्मिक मतभेदो को भुलाना सिखाना चाहते थे। वह ईश्वर की एकता, भक्ति और सत्कर्मों मे विश्वास करते थे। गुरु-आस्था मे उनका विश्वास था। नानक स्वयं किसी सम्प्रदाय को आरम्भ करना नहीं चाहते थे। उन्होंने तो केवल शिष्य बनाये थे जो बाद में 'सिख' कहलाने लगे। उसके राजनीतिक कारणो ने उन्हें बाद मे एक पृथक

सम्प्रदाय का रूप दे दिया। नानक मूर्ति-पूजा के विरोधी थे। उनका विश्वास 'जीव के आवागमन' और 'कर्म' के सिद्धान्तों में था। नैतिक जीवन, सज्जनता, करुणा, दान, सत्यता, उदारता आदि में उनका विश्वास था। निरन्तर ईश्वर का नाम जपना और गुरु की आज्ञा का पालन करना वे मोक्ष-प्राप्ति के लिए आवश्यक मानते थे।

कृष्ण की भक्ति में विश्वास करने वाले एक महान् सन्त वल्लभाचार्य (1479-1531) हुए। उनके पिता लक्ष्मणभट्ट तैलंगाना के ब्राह्मण थे और जब वे काशी की यात्रा पर गये हुए थे तभी वल्लभाचार्य का जन्म हुआ। 11 वर्ष की आयु में उनके पिता की और 12 वर्ष की अवस्था मे उनकी माता की मृत्यु हो गयी। परन्तु वे इतने योग्य थे कि उन्होंने बाल्यावस्था मे ही चारो वेद, छः शास्त्र और 18 पुराणों का अध्ययन कर लिया था। काशी (बनारस) में अपनी शिक्षा पूर्ण करने के पश्चात वे अपने गृह-राज्य विजयनगर चले गये और कृष्णदेवराय के समय में उन्होंने वहाँ वैष्णव सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा स्थापित की। वे भी एक पारिवारिक सन्त थे। उनकी पत्नी का नाम महालक्ष्मी था और उनके अनेक पुत्र हुए। वे द्वैतवाद मे विश्वास करते थे और श्रीनाथजी के रूप में उन्होंने कृष्ण-भक्ति पर बल दिया। उन्होने अनेक धार्मिक ग्रन्थ लिखे जिनमें से 'सुबोधिनी' और 'सिद्धान्त रहस्य' बहुत विख्यात हुए। उनका बाद का समय अधिकाशतया वृन्दावन और काशी में व्यतीत हुआ। वे कृष्ण को ब्रह्म, पुरुषोत्तम और परमानन्द का स्वरूप मानते थे। उनके प्रति पूर्ण प्रेम और भक्ति को ही निर्वाण-प्राप्ति का वे एकमात्र मार्ग बताते थे। भक्ति और प्रेम के प्रति वल्लभाचार्य का दृष्टिकोण अत्यन्त भावुक था जिसके कारण उन्होंने कविता, गान, नृत्य, चित्रकला आदि को प्रोत्साहन दिया। कृष्ण की गोप-गोपियों के बीच राम-लीलाओं मे भी उनका विश्वास था और उन्होंने उन्हें बहुत लोकप्रिय बनाया। वल्लभाचार्य के पुत्र विट्ठलनाथ ने कृष्ण-भक्ति को और भी अधिक लोकप्रिय बनाया। अकबर ने उन्हें गोकुल और जैतपुरा की जागीरें प्रदान की। औरंगजेब के समय में श्रीनाथजी की मूर्ति को उदयपुर पहुँचा दिया गया जहाँ वह नाथद्वारा के नाम से विख्यात हुई। 18वी और 19वी सदी मे उनके कुछ समर्थको ने राधा-कृष्ण की रास-लीलाओं की विकृत स्वरूप प्रदान किया जिसके कारण इस सम्प्रदाय मे कुछ दोष आ गये अन्यथा यह सम्प्रदाय कृष्ण-भक्ति को लोकप्रिय बनाने में काफी सफल रहा।

भक्ति-मार्ग के एक अन्य महान् सन्त चैतन्य हुए। बंगाल के नदिया नामक स्थान पर एक ब्राह्मण परिवार मे उनका जन्म हुआ। उनकी पहली पत्नी की मृत्यु हो जाने के कारण उन्होने दूसरा विवाह किया। 22 वर्ष की आयु मे गया मे ईश्वरपुरी नामक एक साधु ने उन्हें कृष्ण-मन्त्र दिया और 24 वर्ष की आयु मे वे साधु हो गये। उन्होने सम्पूर्ण भारत का भ्रमण किया परन्तु उनका अधिकाश समय पुरी (उड़ीसा) में व्यतीत हुआ। चैतन्य का ईश्वर-प्रेम अद्भुत था। वे कृष्ण का नाम लेते हुए हँसते थे, रोते थे, नाचते थे, गाते थे और अक्सर मूर्छित हो जाते थे। उन्होने भक्ति मे कीर्तन करने को मुख्य स्थान दिया जिसमे व्यक्ति सामूहिक रूप से मिलकर गाते-बजाते हुए कृष्ण

का नाम लेते और भजन गाते थे। वृन्दावन की एक तीर्थ-स्थान के रूप में पुन स्थापना करना उनके शिष्यों का कार्य रहा। वे और उनके शिष्य सड़कों पर भजन-कीर्तन करते हुए नाचते गाते थे और इतने मस्त हो जाते थे कि उनमे से अनेक मूर्छित अथवा अर्ध-पागल की स्थिति में पहुँच जाते थे। सम्भवतया चैतन्य चण्डीदास और जयदेव की राधा-कृष्ण के प्रेम की कविताओ से बहुत प्रभावित हुए थे। चैतन्य ने ज्ञान के स्थान पर प्रेम और भक्ति को मुख्य बताया। प्रेम उनके लिए एक आध्यात्मिक भावना थी। परन्तु राधा-कृष्ण के प्रेम का दुरुपयोग न हो सके, इसके लिए उन्होंने स्त्रियों को पुरुषो से पृथक रहने का आदेश दिया था। वे मूर्ति-पूजा और धर्म-ग्रन्थों का विरोध नही करते थे परन्तु कर्मकाण्ड और आडम्बरो से उन्हे घृणा थी। जाति-प्रथा के प्रति उनका दृष्टिकोण मध्यमार्गी था। वे सभी को कृष्ण-भक्ति के योग्य मानते थे परन्तु मन्दिरों मे मुसलमानों और निम्न जातियो के प्रवेश को उचित नही मानते थे। परन्तु यह उनके लिए अधिक महत्वपूर्ण न था। सभी के प्रति प्रेम और उदारता उनके लिए प्रमुख थी और सभी वर्गों एवं सम्प्रदायो के व्यक्ति उनके साथ भजन-कीर्तन मे सम्मिलित हो सकते थे। चैतन्य समाज-सुधारक न थे, इस कारण उन्होंने उसकी कुप्रथाओ की ओर ध्यान नही दिया। परन्तु धर्म और ईश्वर की दृष्टि मे वे सभी व्यक्तियों को समान मानते थे। चैतन्य ने भक्ति-मार्ग को प्रेम और आध्यात्मिक प्रगति दोनों ही दृष्टियों से लोकप्रिय बनाया।

15वी सदी में महाराष्ट्र में नामदेव ने भक्ति-मार्ग को बहुत लोकप्रिय बनाया। वह जाति-भेद में विश्वास नही करते थे और मुसलमान भी उनके शिष्य थे। वे मूर्ति-पूजा और कर्मकाण्ड के विरोधी थे। उपर्युक्त सन्तो के अतिरिक्त अन्य अनेक सन्त इस समय मे हुए जिन्होने भक्ति-मार्ग पर बल दिया। भक्ति-मार्ग की यह विचारधारा मुगल-काल मे भी लोकप्रिय हुई और उस समय मे भी अनेक महान् सन्त हुए। जनेश्वर, तुकाराम, जयतीर्थ, विद्याधिराज, रविदास, मलूकदास, चण्डीदास, विद्यापति, मीराबाई, सूरदास, तुलसीदास आदि विभिन्न महान् सन्त समय-समय पर हुए जिसके कारण भक्ति-मार्ग की धारा सम्पूर्ण मध्य-युग में अविरल गति से बहतीर ही। भक्ति-मार्ग कई सदियों तक प्रभावपूर्ण रहा। साथ ही साथ सम्पूर्ण भारत इस भावना से प्रभावित हुआ था। पंजाब से लेकर बंगाल तक और हिमालय से लेकर कुमारी अन्तरीप तक भारत का कोई भी भाग ऐसा न था जहाँ यह आन्दोलन लोकप्रिय न हुआ हो। इतना अधिक लोकप्रिय और विस्तृत धार्मिक आन्दोलन भारत मे बौद्ध-धर्म के प्रसार के पश्चात से नही हुआ था और उसके बाद तो कोई भी नही हुआ। 19वीं सदी के धार्मिक पुनरुद्धार-आन्दोलन का क्षेत्र और समय भी उसकी तुलना में बहुत सीमित रहा। इसी से इस आन्दोलन का प्रभाव स्पष्ट होता है। भक्ति-आन्दोलन के दो प्रमुख कारण थे—इस्लाम के आक्रमणों से सुरक्षा तथा हिन्दू समाज और धर्म मे सुधार की आवश्यकता अथवा एक ही कारण ने दूसरी आवश्यकता को जन्म दिया था। परन्तु सम्भवतया एक अन्य महत्वपूर्ण कारण तत्कालीन परिस्थितियो में सार्वजनिक पीड़ा से उत्पन्न ईश्वर-प्राप्ति के लिए एक सरल मार्ग तलाश करने की आवश्यकता भी रहा

होगा। आरम्भ मे हिन्दुओं मे मूर्ति-पूजा न थी। इसे उन्होने बौद्धों से प्राप्त किया और जब मुसलमानी आक्रमणो ने इसे दुष्कर बना दिया तो मध्य-युग के धर्म-प्रचारको ने मूर्ति-पूजा को अनावश्यक बताया। इस्लाम हिन्दुओं की जाति-प्रथा से लाभ प्राप्त कर रहा था, इस कारण धर्म-प्रचारको ने जाति-प्रथा के बन्धनो को समाप्त करने का प्रयत्न किया। इसके अतिरिक्त, सस्कृत विद्या के अध्ययन की सुविधा न होने और हिन्दू शिक्षालयो के अभाव मे हिन्दुओ के बौद्धिक स्तर का ज्ञान-मार्ग को समझने के अनुकूल न होने से भक्ति-मार्ग उनके सम्मुख सबसे सरल और जन-साधारण के समझने योग्य मार्ग रह गया। इस कारण उन्होने उसी का प्रचार किया। यह सभी कुछ अनुमान पर आधारित है परन्तु असम्भव नही है। इस अनुमान का आधार भक्ति-आन्दोलन में छिपी हुई ईश्वर के प्रति आश्रित होने की भावना है। राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक दृष्टि से पदाक्रान्त हिन्दुओ के पास सम्भवतया ईश्वर पर आश्रित रहने के अतिरिक्त कोई मार्ग नही रह गया था। भक्ति-मार्ग और भक्ति-आन्दोलन मे सघर्ष की भावना का अभाव इस अनुमान का आधार है। 19वी सदी का भारतीय पुनरुद्धार-आन्दोलन तर्क और बुद्धि पर आधारित होकर संघर्ष की भावना से प्रेरित था क्योकि 19वी सदी में हिन्दू राजनीतिक दासता के बावजूद भी राजनीति, शासन और बौद्धिक दृष्टि से असहाय न थे बल्कि प्रगति के मार्ग पर अग्रसर हो रहे थे, अतएव 19वी सदी के धार्मिक आन्दोलनो ने आत्म-समर्पण के स्थान पर बुद्धि, तर्क और संगठन के द्वारा सघर्ष करके धर्म और समाज की प्रगति करने का प्रयत्न किया। इस कारण **यह अनुमान किया जा सकता है कि मध्य-युग में हिन्दुओं के आत्म-पीड़न और असहायता के कारण भी भक्ति-मार्ग पर बल दिया गया था।**

व्यावहारिक दृष्टि से इस आन्दोलन के मुख्य उद्देश्य दो थे। प्रथम, इसने हिन्दू धर्म मे सुधार का प्रयत्न किया। मूर्ति-पूजा और जाति-प्रथा का विरोध इस प्रयत्न *के मुख्य आधार थे। तत्कालीन युग मे इस आन्दोलन ने अपने इस उद्देश्य की पूर्ति मे* कुछ सफलता प्राप्त की। परन्तु यह सफलता न तो स्थायी थी और न सर्वव्यापी। हिन्दू धर्म की सुदृढ प्राचीरो को (चाहे वह लाभ के लिए हैं अथवा हानि के लिए) यह आन्दोलन न तोड़ सका। विभिन्न धर्म-प्रचारको के न चाहते हुए भी उनकी मृत्यु के पश्चात उनके शिष्यों ने छोटे-छोटे धार्मिक सम्प्रदायों का निर्माण करके अपने लक्ष्य और कार्यक्षमता को सीमित कर लिया जिसके कारण न तो वे हिन्दू धर्म में कोई स्थायी सुधार कर सके और न हिन्दुओं के जन-जीवन में सम्मिलित ही रह सके तथा हिन्दू धर्म जिस अवस्था मे था, उसी प्रकार रहा। इन नवीन सम्प्रदायो में सर्वाधिक शक्ति-शाली सम्प्रदाय गुरु नानक के समर्थको (सिखो) का बना परन्तु उसकी शक्ति का मुख्य आधार वास्तविकता मे गुरु नानक की धार्मिक प्रवृत्ति और आध्यात्मवाद की भावना नही है। उसके कुछ अन्य कारण हैं जिनमें एक मुख्य कारण राजनीतिक रहा है। इसके अतिरिक्त, हिन्दू धर्म मे सुधार करने वाला और उसकी रक्षा के लिए हथियार उठाने वाला सिख-सम्प्रदाय एक पृथक धर्म और सम्प्रदाय की भावना को भी जन्म दे सकता है, यह आश्चर्यजनक है। इस कारण हिन्दू धर्म के सुधार करने मे इस

आन्दोलन की क्षमता सीमित और अस्थायी सिद्ध हुई। परन्तु तब भी यह आन्दोलन बहुत महत्वपूर्ण था। मध्य-युग मे हिन्दू-आत्मा को जीवित रखने और उसे शक्ति प्रदान करने में उसका योगदान अमूल्य रहा। इस आन्दोलन का द्वितीय लक्ष्य हिन्दू-मुस्लिम एकता था। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति मे यह आन्दोलन पूर्णतया असफल रहा। तत्कालीन समय में भी उसका प्रभाव बहुत सीमित रहा और स्थायी प्रभाव तो उसका हुआ ही नही। परन्तु एक अन्य दृष्टि से यह आन्दोलन बहुत महत्वपूर्ण रहा। विभिन्न सन्तों ने अपनी-अपनी प्रादेशिक भाषाओं में अपने उपदेश दिये तथा कविताओं, दोहो आदि की रचना की। इससे प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य के निर्माण मे सहायता प्राप्त हुई। हिन्दी, बगाली, मराठी, मैथिल आदि सभी भाषाओ के साहित्य का निर्माण उसके द्वारा सम्भव हुआ। इस प्रकार, मध्य-युग का यह भक्ति-आन्दोलन काफी महत्व-पूर्ण तथा अपने युग की एक महान् विशेषता माना गया है।

[4]
साहित्य

कुछ विद्वानों ने दिल्ली सल्तनत को साहित्यिक प्रगति से शून्य बताया है और कुछ अन्य विद्वानो ने उस समय की साहित्यिक प्रगति की बहुत प्रशंसा की है। परन्तु अधिकाशतया यह स्वीकार किया जाता है कि यह समय साहित्यिक दृष्टि से मध्यम था। इस समय मे फारसी और संस्कृत भाषा के अतिरिक्त हिन्दी, उर्दू और प्राय सभी प्रान्तीय भाषाओ में ग्रन्थ लिखे गये। विभिन्न दिल्ली सुल्तानो और स्वतन्त्र प्रान्तीय राजाओ ने विद्वानों को आश्रय दिया जिसके फलस्वरूप धार्मिक और ऐतिहासिक ग्रन्थो के अतिरिक्त अन्य विषयो पर भी ग्रन्थो की रचना हुई। काव्य, गद्य, पद्य, नाटक आदि सभी प्रकार की पुस्तकों की रचना हुई। अतएव यह नही माना जा सकता कि इस समय में साहित्यिक प्रगति नहीं हुई। परन्तु फारसी साहित्य का मुख्य दोष यह था कि उस पर धार्मिक कट्टरता का प्रभाव आया था और संस्कृत साहित्य मे यह दोष रहा कि उसमें मूल ग्रन्थ नही लिखे गये बल्कि अधिकाश पुस्तकें प्राचीन ग्रन्थो की पुनरावृत्ति, टीकाएँ अथवा प्राचीन गाथाओं का आधार लेकर लिखी गयीं। इस कारण इस युग की मुख्य विशेषता विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं के निर्माण का आधार तैयार करने में थी। हिन्दी, उर्दू, राजस्थानी, गुजराती, पंजाबी आदि सभी प्रादेशिक भाषाओं को साहित्यिक भाषा का स्थान ग्रहण करने में समय तो बहुत लगा परन्तु इस समय मे वे किसी न किसी रूप में आरम्भ हो गयी। इसमें मुख्य योगदान भक्ति-मार्ग के समर्थक सन्तों का रहा।

फारसी साहित्य

तुर्की सुल्तान फारसी साहित्य मे रुचि रखते थे। महमूद गजनवी के समय मे अल-बरूनी भारत आया था। वह एक महान् विद्वान था जिसने संस्कृत का भी अध्ययन किया। हमें 11वीं सदी के भारत के बारे में जानने की मूल्यवान सामग्री उसके विवरण से प्राप्त होती है। दिल्ली सल्तनत के सुल्तानो ने भी विभिन्न विद्वानों को राजाश्रय प्रदान करके फारसी साहित्य की प्रगति मे योग दिया। इल्तुतमिश के

समय में नासिरी, अबू-बक्र बिन मुहम्मद रुहानी, ताजुद्दीन दबीर और नूरुद्दीन मुहम्मद मुख्य विद्वान थे। नूरुद्दीन ने 'लुबाब-उल-अत्बाब' को लिखा था। सुल्तान बलबन और अलाउद्दीन खलजी के समय मे मंगोलों के आक्रमण से भयभीत अनेक विदेशी मुसलमान विद्वान भारत भागकर आये जिसके कारण दिल्ली फारसी साहित्य का एक मुख्य केन्द्र बन गया। बलबन का पुत्र मुहम्मद विद्वानों का संरक्षक था और अपने समय के महान् विद्वान अमीर खुसरव तथा मीरहसन देहलवी को उसने संरक्षण प्रदान किया था। अमीर खुसरव ने अपनी कविताओं मे हिन्दी शब्दो का प्रयोग आरम्भ किया और फारसी कवियों मे उसे श्रेष्ठतम स्थान प्रदान किया गया है। उसके मुख्य ग्रन्थ 'खजाये-नुल-फुतूह', 'तुगलकनामा' और 'तारीखे अलाई' माने गये। मुहम्मद तुगलक के समय मे बदरुद्दीन मुहम्मद फारसी का श्रेष्ठ कवि था। इतिहासकार इसामी भी उसका समकालीन विद्वान था। फीरोज तुगलक ने स्वय की आत्मकथा लिखी थी तथा इतिहासकार बरनी और अफीफ उसके सरक्षण में थे। लोदी शासकों ने भी विद्वानो को संरक्षण दिया और सिकन्दर लोदी स्वयं कविता लिखता था। रफीउद्दीन शिराजी, शेख अब्दुल्ला, शेख अजीजउल्ला और शेख जमालुद्दीन इस समय के मुख्य विद्वान थे। विभिन्न प्रान्तीय राज्यो मे भी विभिन्न विद्वान हुए, जैसे सिन्ध मे सैयद मुईन-उल-हक, बिहार में इब्राहीम फारुखी, गुजरात के फजलुल्ला-जैनुल अब्दीन आदि। बहमनी शासको में से ताजुद्दीन फीरोजशाह और वहाँ के मन्त्रियो मे से महमूद गवाँ का नाम भी विद्वानो मे माना गया है।

इतिहासकारों मे अल-बरूनी, 'ताजुल मासिर' का लेखक हसन निजामी, 'तबकाते नासिरी' का लेखक मिनहाजुद्दीन सिराज, 'तारीखे-फीरोजशाही' और 'फतवा-ए-जहाँदारी' का लेखक जियाउद्दीन बरनी, 'तारीख-ए-फीरोजशाही' का लेखक शम्स-ए-सिराज अफीफ, 'तारीख-ए-मुबारकशाही' का लेखक याहिया बिन अहमद सरहिन्दी और 'फुतुह-उस-सलातीन' का लेखक इसामी मुख्य माने गये हैं।

इस युग में कुछ संस्कृत के ग्रन्थो का भी फारसी मे अनुवाद किया गया था।

संस्कृत साहित्य

संस्कृत साहित्य को हिन्दू शासकों से सरक्षण प्राप्त हुआ; मुख्यतया विजयनगर, वारंगल और गुजरात के शासकों से। संस्कृत मे काव्य, नाटक, दर्शन, टीकाएँ आदि सभी कुछ लिखा गया। रचनाओ की दृष्टि से संस्कृत साहित्य मे अभाव न रहा परन्तु इस युग के ग्रन्थो मे मौलिकता का अभाव रहा। हम्मीरदेव, कुम्भकर्ण, प्रतापरुद्रदेव, वसन्तराज, वेमभूपाल, कामदेव, विरुपाक्ष, नरसिंह, कृष्णदेवराय, भूपाल आदि ऐसे अनेक शासक हुए जिन्होंने संस्कृत साहित्य का पोषण किया। प्रतापरुद्रदेव के दरबार के विद्वान अगस्त्य ने 'प्रतापरुद्रदेव यशोभूषण', 'कृष्ण चरित' आदि ग्रन्थों की रचना की। विद्याचक्रवर्तिन तृतीय ने वीर बल्लाल तृतीय के संरक्षण मे 'रुक्मिणी-कल्याण' लिखा और माधव ने विजयनगर के शासक विरूपाक्ष के संरक्षण में 'नरकासुर-विजय' की रचना की। वामनभट्ट बान ने काव्य, नाटक, चरित, सन्देश आदि विभिन्न प्रकार की रचनाएँ की और वह एक महान् विद्वान माना गया। एक अन्य विद्वान विद्यापति ने

अफगान शासक अपनी इमारतों को मध्य-एशिया अथवा ईरान की इमारतों का स्वरूप प्रदान करना चाहते थे। परन्तु भारत में आकर उन्होंने यहीं के कलाकारों से अपनी इमारतें बनवायी, विभिन्न हिन्दू इमारतों को नष्ट करके उनके अवशेषों का प्रयोग अपनी इमारतों में किया और खुले आँगनों वाले अनेक मन्दिरों को मस्जिदों के लिए उपयुक्त समझकर उनमें साधारण परिवर्तन के पश्चात उन्हें मस्जिदों में बदल दिया। इसके अतिरिक्त, सजावट जिस प्रकार हिन्दुओं के लिए प्रमुख थी, उसी प्रकार मुसलमानों के लिए भी आवश्यक थी यद्यपि उसका तरीका भिन्न था। हिन्दुओं ने अपनी इमारतों को विभिन्न देवी-देवताओं की मूर्तियों से अलंकृत करने का प्रयत्न किया जबकि मुसलमानों ने रेखाओं को समानान्तर, वर्ग, त्रिकोण, विपक्ष आदि में काटकर अथवा कुरान की आयतों को लिखकर या चमकदार और विभिन्न रंगों के पत्थरों का प्रयोग करके अलकृत करने का प्रयत्न किया। परन्तु दोनों ही वर्गों की भावना सजावट की थी। उपर्युक्त विभिन्न कारणों से हिन्दू कला ने इस युग की कला को बड़ी मात्रा में प्रभावित किया और उस मिश्रित कला का जन्म हुआ जिसे भारतीय-इस्लामी स्थापत्य-कला पुकारा गया।

1 दिल्ली अथवा शाही स्थापत्य-कला

कुतुबुद्दीन ऐबक ने दिल्ली में राय-पिथौरा के किले के निकट 'कुवत-उल-इस्लाम' नाम की मस्जिद तथा अजमेर में 'ढाई दिन का झोपड़ा' नामक मस्जिद को बनवाया और दिल्ली की 'कुतुब-मीनार' को बनवाना आरम्भ किया था। कुतुबुद्दीन के द्वारा बनवायी हुई मस्जिदों में से प्रथम एक मन्दिर के स्थान पर और द्वितीय एक संस्कृत विद्यालय के स्थान पर बनवायी गयी थी। इनकी रूपरेखा में परिवर्तन करके इन्हें मस्जिदों का स्वरूप दिया गया था। इस कारण इनमें हिन्दू और मुस्लिम कला का सामंजस्य है। बाद में विभिन्न सुल्तानों ने इनमें परिवर्तन किये। इल्तुतमिश और अलाउद्दीन खलजी ने 'कुवत-उल-इस्लाम' को बहुत बड़ा किया। कुतुब-मीनार की मूल योजना इस्लामी है। आरम्भ में इसका प्रयोग 'अजान' (नमाज के लिए बुलाना) के लिए किया जाता था परन्तु बाद में इसे कीर्ति-स्तम्भ के रूप में माना गया। कुतुबुद्दीन के समय में इसकी केवल एक मन्जिल बन सकी थी। इल्तुतमिश ने इसे 225 फीट ऊँची चार मन्जिलों का कर दिया। फीरोज तुगलक के समय में बिजली गिर जाने के कारण इसकी चौथी मन्जिल नष्ट हो गयी जिसके कारण फीरोज ने इसमें दो छोटी मन्जिलें बनवा दीं। इस कारण इसमें पाँच मन्जिलें हो गयी और इसकी ऊँचाई 234 फीट हो गयी। इसकी एक के ऊपर एक खड़ी हुई पाँच मन्जिलें नीचे से ऊपर की ओर पतली होती गयी हैं और इसकी ऊँचाई भव्य है। इल्तुतमिश ने कुतुब-मीनार को पूरा कराया। इसके अतिरिक्त उसने कुतुब-मीनार से तीन मील दूर मलकपुर गाँव में अपने सबसे बड़े पुत्र नासिरुद्दीन मुहम्मद का मकबरा 'सुल्तानगढ़ी', कुतुब-मीनार के निकट एक कमरा जो सम्भवतया स्वयं का मकबरा था, हौज-ए-शम्सी, शम्सी-ईदगाह, बदायूँ की जामा मस्जिद और नागौर (आधुनिक जोधपुर) का 'अतरकीन का दरवाजा' बनवाया। उसने 'अढ़ाई दिन का झोंपड़ा' और 'कुवत-उल-इस्लाम' मस्जिदों

का भी विस्तार किया। बलबन ने राय-पिथौरा के किले के निकट अपना स्वय का मकबरा और 'लाल-महल' बनवाया था। उसका स्वय का मकबरा जो अब ध्वस्त स्थिति में है, इस्लामी कला का एक श्रेष्ठ नमूना है। अलाउद्दीन खलजी एक महान् निर्माता था और उसके पास आर्थिक साधन भी थे। उसकी इमारते पूर्णतया इस्लामी विचारधारा के अनुकूल बनायी गयी थी और कला की दृष्टि से श्रेष्ठतम मानी गयी है। यद्यपि उसका विचार कुतुब के निकट ही एक बडी मीनार और एक बड़ी मस्जिद बनवाने का था परन्तु वह उस कार्य को न कर सका। उसने सीरी का नगर बसाया, उसमे हजार स्तम्भो वाला महल बनवाया, निजामुद्दीन औलिया के दरगाह के अन्तर्गत जमैयतखाना मस्जिद और कुतुब-मीनार के निकट 'अलाई-दरवाजा' बनवाया। उसका महल और शहर तो बरबाद हो गया परन्तु जमैयतखाना मस्जिद और अलाई-दरवाजा अब भी हैं जो इस्लामी कला के सुन्दरतम नमूने माने गये है। मार्शल ने लिखा है कि "अलाई-दरवाजा इस्लामी स्थापत्य-कला के खजाने का सबसे सुन्दर हीरा है।"[1] सीरी के शहर (दिल्ली का नवीन नगर) के निकट अलाउद्दीन ने प्राय: 70 एकड़ के क्षेत्रफल का एक तालाब 'हौज-ए-अलाई' अथवा 'हौज-ए-खास' भी बनवाया था। तुगलक शासकों की इमारतें इतनी भव्य और सुन्दर न बन सकी। सम्भवतया इसका कारण उनकी आर्थिक कठिनाइयाँ रही। गियासुद्दीन तुगलक ने कुतुब के पूर्व मे एक नवीन नगर तुगलकाबाद, उसमे अपना स्वय का मकबरा और अपना महल बनवाया था। उसका नगर और महल नष्ट हो गया है परन्तु उसके महल के बारे में कहा जाता था कि वह सूर्य की रोशनी में इतना चमकता था कि कोई भी व्यक्ति उसे टकटकी लगाकर नही देख सकता था। परन्तु उसका महल और नगर बहुत दुर्बल बनाये गये थे और वे शीघ्र नष्ट हो गये। उसका मकबरा एक लाल पत्थर के बने छोटे गढ़ का आभास देता है जो दृढ़ तो है परन्तु शानदार नहीं। मुहम्मद तुगलक ने 'जहाँन-पनाह' नाम का नवीन नगर दिल्ली के निकट बनवाया, तुगलकाबाद के निकट आदिलाबाद का किला बनवाया और दौलताबाद मे भी कुछ इमारते अवश्य बनायी होगी। परन्तु ये सभी नष्ट हो गयी हैं। उनमें से केवल 'सयपलाह-बांध' और बिजाई-मण्डल' नामक दो इमारतों के अवशेष प्राप्त होते हैं। फीरोज तुगलक ने बहुत इमारते बनवायी परन्तु वे अत्यन्त साधारण और दुर्बल थी। उसने विभिन्न इमारतों के अतिरिक्त दिल्ली के निकट फीरोजाबाद, उसमें फीरोजशाह कोटला का नगर और किला, हौज खास के निकट एक विद्यालय और अपना स्वयं का मकबरा बनवाया। उसके पुत्र खाने-जहाँन जूनाशाह ने 'खाने-जहाँन-तिलगानी' का मकबरा, उसके निकट 'काली-मस्जिद', जहाँनपनाह मे 'खिरकी-मस्जिद' और 'कलन-मस्जिद' बनवायी थी। नासिरुद्दीन मुहम्मद तुगलकशाह के समय में बनी हुई एक भव्य इमारत कबीरुद्दीन औलिया की कब्र पर बना हुआ मकबरा 'लाल-गुम्बद' भी है। सैय्यद और लोदी शासकों के

---

1 "Alai Darwaza is one of the most treasured gems of Islamic architecture." —Marshall.

समय मे वनी हुई मुख्य इमारतो में से मुवारकशाह सैय्यद, मुहम्मदशाह सैय्यद और सुल्तान सिकन्दर लोदी के मकबरे तथा सिकन्दर लोदी के प्रधान मन्त्री द्वारा वनवायी गयी दिल्ली की 'मोठ की मस्जिद' हैं।

उपर्युक्त इमारतो मे से अधिकाश इमारते मुख्यतया नगर, किले और महल नष्ट हो गये हैं परन्तु मकबरे, मस्जिदें तथा मीनारें अब भी है। ये कला के अद्वितीय तो नही परन्तु काफी अच्छे नमूने माने जा सकते हैं। कला की दृष्टि से इनमें कुतुब-मीनार और अलाई दरवाजा का प्रमुख स्थान है।

विभिन्न प्रान्तो मे विभिन्न मुसलमान शासको ने भी महल, किलो, मस्जिदो और मकवरों का निर्माण कराया। मूल आधार पर उनकी इमारते भी दिल्ली अथवा शाही स्थापत्य-कला की भाँति थी। परन्तु क्योंकि उनके साधन सीमित थे अतएव वे दिल्ली सुल्तानो की समता मे इमारते न बनवा सके। इसके अतिरिक्त, उनकी स्थानीय परिस्थितियों ने भी उनकी इमारतो को दिल्ली सुल्तानों द्वारा वनवायी गयी इमारतो से कुछ भिन्न स्वरूप प्रदान किया।

2 प्रान्तीय स्थापत्य-कला

मुल्तान—मुल्तान मे बनवायी गयी इमारतो मे शाह यूसुफ-उल-गर्दिजी, बहौल-हक, शमसुद्दीन और रुक्ने-आलम के मकवरे है। इनमें रुक्ने-आलम के मकबरे को सबसे शानदार माना गया है।

बंगाल—बगाल मे बनी हुई इमारतें बहुत श्रेष्ठ नही बन सकी और उनमे अधिकाशतया ईटों का प्रयोग किया गया। इनमें सुल्तान सिकन्दरशाह द्वारा बनवायी गयी 'अदीना-मस्जिद', गौड का 'दरसवारी का मकबरा' पाडुआ का 'एकलाखी-मकबरा', गौड की 'लोटन' मस्जिद, देवीकोट का रुक्नखाँ का मकबरा, गौड की सोना मस्जिद, खुलना जिले की 'साठ गुम्बद मस्जिद', नसरतशाह का वनवाया गया गौड का कदम-रसूल का मकबरा, गौड का 'दाखिल दरवाजा' और पाडुआ मे बना जलालुद्दीन मुहम्मद का मकवरा मुख्य है। खम्भो पर नुकीली महराबो का प्रयोग, हिन्दू प्रतीकों का प्रयोग और हिन्दू वक्र-रेखाओ को इस्लामी स्वरूप प्रदान करना बगाल की स्थापत्य-कला की मुख्य विशेषताएं रही।

जौनपुर—शर्की शासको ने स्थापत्य-कला को बहुत प्रोत्साहन दिया। उनकी कला मे हिन्दू तथा इस्लामी शैलियो का अच्छा समन्वय है। चौकोर स्तम्भ, छोटी दह-लीजें होना और मीनारो का अभाव इस कला की मुख्य विशेषताएँ रही। जब जौनपुर दिल्ली सल्तनत के अधीन था तब की बनी हुई इमारतो मे 'इब्राहीम नाइब बारवक' का महल और किला मुख्य हैं। इसके अतिरिक्त, बाद मे इब्राहीमशाह शर्की ने 'अटाला मस्जिद' को पूर्ण किया, उसी ने झाझेरी मस्जिद को वनवाया, हुसैनशाह ने 'जामी मस्जिद' को वनवाया और एक अन्य इमारत 'लाल दरवाजा मस्जिद' बनवायी गयी।

मालवा—यहाँ बनी हुई आरम्भ की इमारतो मे 'कमाल मौलों मस्जिद', 'लाट मस्जिद', 'दिलवारखाँ मस्जिद' और माँडू का 'मलिक मुगीस का मकवरा' है। परन्तु यहाँ की श्रेष्ठतम इमारतो मे माँडू का किला और उसके अन्दर बनी हुई विभिन्न

इमारतें हैं। जामी मस्जिद, हिण्डोला महल, अशर्फी महल, सात मंजिल का महमूद खलजी द्वारा बनवाया गया विजय-स्तम्भ, महमूद खलजी द्वारा बनवाया गया सुल्तान हूसंगशाह का मकबरा, जहाज-महल और बाजबहादुर तथा रानी रूपमती के महल मालवा की श्रेष्ठतम इमारतें हैं। कला की दृष्टि से ये दिल्ली सुल्तानों द्वारा बनवायी गयी इमारतों के काफी निकट हैं तथा अत्यन्त सुन्दर और मजबूत बनी हुई है। इसी कारण मांडू को किले से सुरक्षित नगरो मे सबसे सुन्दर नगर माना गया है।

गुजरात—गुजरात मे हिन्दू तथा मुस्लिम कला का सबसे अधिक अच्छा समन्वय हुआ और यहाँ बहुत सुन्दर इमारतो का निर्माण हुआ। डॉ० सरस्वती ने लिखा है कि "उसकी (स्थापत्य-कला को) मुख्य विशेषता का कारण यह था कि वह अत्यन्त श्रेष्ठ स्थानीय कला और उससे भिन्न इस्लाम के सरक्षण का परिणाम थी।"[1] काम्बे की जामा मस्जिद, ढोलका का हिलालखाँ काजी का मकबरा, अहमदाबाद की जामा मस्जिद, उसी मे बना हुआ अहमदशाह का मकबरा, हैबतखाँ और सैयद आलम के मकबरे, अहमदाबाद की जामा मस्जिद, वही का तीन-दर्वाजा, रानी का हुजरा, दरियाखाँ और अलिफखाँ के मकवरे, ढोलका मस्जिद और अहमदाबाद से छः मील दूर शेख अहमद खत्री का मकबरा प्रमुख है। अहमदाबाद की जामा मस्जिद को फर्गूसन ने "पूर्व की बनी हुई सुन्दरतम मस्जिदों मे से एक"[2] माना है। इसके अतिरिक्त, महमूद बेगडा ने अपने समय मे तीन नवीन नगर बसाये और चम्पानेर के नगर में अनेक सुन्दर इमारतें बनवायी। चम्पानेर मे उसके द्वारा बनवायी गयी जामा मस्जिद को फर्गूसन ने "स्थापत्य-कला की दृष्टि से गुजरात में सर्वश्रेष्ठ"[3] बताया। महमूद बेगडा के समय मे स्थापत्य-कला में कुछ नवीन तत्व सम्मिलित हुए। उसके और उसके पश्चात की बनी हुई इमारतों मे कुतुब-उल-आलम, मुबारक सैय्यद और सैयद उस्मान के मकबरे प्रमुख हैं।

कश्मीर—कश्मीर मे भी हिन्दू और मुसलमान स्थापत्य-कला का समन्वय हुआ। मन्दनी का मकबरा, श्रीनगर की जामी मस्जिद और शाह हमदान की मस्जिद इस समय की मुख्य इमारतें हैं।

बहमनी राज्य—बहमनी अथवा उसके खण्डो से बने हुए मुसलमान राज्य के शासकों ने दक्षिण भारत मे विभिन्न इमारतें बनवायी जिनमे हिन्दू और मुस्लिम स्थापत्य-कला का अच्छा मिश्रण है। इनमे से गुलबर्गा और बीदर की मस्जिदे, मुहम्मद आदिलशाह का मकबरा, गोल-गुम्बद, दौलताबाद की चार मीनार और बीदर का महमूद गवाँ का विद्यालय प्रमुख माने गये है।

हिन्दू स्थापत्य-कला के नमूने की इमारतें हमे मुख्यतया राजस्थान मे प्राप्त

---

1 "Its unique character may best be explained as the product as much of a highly specialised local style as of a different kind of Islamic patronge."
—Dr Saraswati

2 "One of the most beautiful mosques in the East." —Fergusson.

3 "Architecturally the finest in Gujrat" —Fergusson.

होती हैं जहाँ हिन्दू अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता की रक्षा करने में समर्थ रहे थे।

3. हिन्दू स्थापत्य-कला

इसके अतिरिक्त, विजयनगर मे भी विभिन्न इमारतों और महलो का निर्माण हुआ था परन्तु तालीकोटा के युद्ध के पश्चात मुसलमान आक्रमणकारियों ने उस नगर को पूर्णतया नष्ट कर दिया। इस कारण वहाँ की इमारतो में से कोई भी इमारत सुर-क्षित न रही। हिन्दुओ ने निर्माण-शैली मे तो मुसलमानो से कुछ सीखा परन्तु कला की दृष्टि से उन्होने अपनी कला को मुस्लिम कला के प्रभाव से मुक्त रखा जिसके कारण उनकी इमारतें मुस्लिम शासकों की इमारतों से भिन्न रही। मेवाड के राणा कुम्भा ने अनेक किले, महल और मन्दिर बनवाये थे। उनमें से प्रमुख कुम्भलगढ का किला और चित्तौड़ का कीर्ति अथवा जय-स्तम्भ है। जय-स्तम्भ का कुछ भाग लाल पत्थर से और कुछ भाग सफेद संगमरमर से बना हुआ है। यह बहुत सुन्दर स्तम्भ माना गया है। चित्तौड़ में ही एक अन्य स्तम्भ जैन-स्तम्भ भी है जिसमे नक्काशी का बहुत सुन्दर कार्य है। राजस्थान के अन्य भागों मे भी किले और महल बनवाये गये थे परन्तु उनमें से महल नष्ट हो गये है। दक्षिण में 'गोपुरम' बनाने की प्राचीन कला को विजयनगर सम्राटो ने और अधिक विस्तृत किया तथा मन्दिरों के 'गोपुरम' (मन्दिर के प्रवेश-द्वार के ऊपर बनाया गया गुम्बद) पहले की तुलना मे अधिक बड़े बनाये गये। सम्राट कृष्णदेवराय द्वारा बनवाया गया विट्ठलस्वामी का मन्दिर दक्षिण भारत की इमारतों में श्रेष्ठ माना गया है। अन्य स्थानों पर भी अच्छे मन्दिरो का निर्माण किया गया था। विभिन्न मन्दिरों पर विभिन्न सम्राटो ने नवीन 'मण्डप' (छत्र) भी बनवाये; जैसे—वैलोर के किले के पार्वती मन्दिर पर, कान्चीपुरम के वरदराजस्वामी और एकाम्बरनाथ के मन्दिर पर और त्रिचिनापली के जम्बुकेश्वर के मन्दिर पर।

इस युग मे मुसलमान शासको द्वारा बनवायी गयी इमारतो की विशेषता गुम्बद, मीनारे, महराब और तहखाने रहे। अधिकाश इमारतें मकबरे, मस्जिद, महल तथा किले थी। हिन्दू इमारतो की विशेषता स्तम्भ, नुकीली महरावे और उनकी अलकारिता थी। हिन्दुओ ने अधिकाश मन्दिर, किले, गोपुरम और मण्डप बनवाये। भारत में प्रवेश करके मुस्लिम कला बहुत कुछ परिवर्तित हो गयी और बिना प्रयत्न किये हुए ही एक ऐसी स्थापत्य-कला का निर्माण हुआ जो भारतीय इस्लामी कला कहलायी और जिसने भविष्य की स्थापत्य-कला के निर्माण में सहयोग दिया।

परिशिष्ट 1

मुख्य समकालीन स्रोत-ग्रन्थ

1. मुहम्मद अली कूफी : 'चचनामा'

मूल ग्रन्थ अरबी में लिखा गया था। मुहम्मद अली कूफी ने इसका फारसी में अनुवाद किया। मुहम्मद बिन कासिम से कुछ पहले का, उसके समय का और उसके पश्चात का सिन्ध का इतिहास इसमें दिया गया है।

2. मीर मुहम्मद मासूम : 'तारीख-उस सिन्ध'

इसमें मुहम्मद बिन कासिम के आक्रमण से लेकर अकबर के समय तक का सिन्ध का इतिहास दिया गया है।

3. अल-उतबी : 'तारीख-ए-यामिनी'

इसमें सुबुक्तगीन और महमूद गजनवी के शासन-काल का इतिहास दिया गया है।

4. अलबरूनी : 'तारीख-उल-हिन्द'

मूल ग्रन्थ अरबी भाषा मे लिखा गया था। बाद मे फारसी मे इसका अनुवाद किया गया। इसमे महमूद गजनवी के आक्रमण के समय की भारत की स्थिति का विशद् वर्णन किया गया है।

5. हसन-उन-निजामी : 'ताज-उल-मासिर'

यह मुहम्मद गोरी के आक्रमण के समय मे भारत की स्थिति तथा कुतुबुद्दीन ऐबक और इल्तुतमिश के प्रारम्भिक वर्षों के इतिहास को जानने के लिए एक उपयोगी ग्रन्थ है।

6. मिनहाजुद्दीन बिन सिराजुद्दीन : 'तबकात-ए-नासिरी'

इसमें गोरी के आक्रमण से नासिरुद्दीन महमूद के 1260 ई० तक के इतिहास का उल्लेख किया गया है।

7. गुलाम हुसैन सलीम : 'रियाज-उस-सलातीन'

इसमे मुहम्मद गोरी के आक्रमण से लेकर गुलाम-वश के शासको के समय तक का इतिहास दिया गया है।

8. अमीर खुसरव : 'मिफ्ताह-उल-फुतूह', 'तुगलकनामा', 'तारीख-ए-अलाई', 'नुह सिपिहर', 'आशिक'

इनमें जलालुद्दीन खलजी के समय से लेकर गियासुद्दीन तुगलक के सिहासन पर बैठने तक की विभिन्न सभी महत्वपूर्ण घटनाओं का वर्णन किया गया है।

9. जियाउद्दीन बरनी : 'तारीख-ए-फीरोजशाही'

इसमें बलबन के समय से लेकर फीरोज तुगलक के प्रारम्भिक छः वर्षों की ऐतिहासिक घटनाओ और पात्रों का विवरण दिया गया है।

10 जियाउद्दीन बरनी : 'फतवा-ए-जहांदारी'

इसमें बरनी ने शासन और राज्य की नीति के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये हैं।

11. शम्स-ए-सिराज-अफीफ : 'तारीख-ए-फीरोजशाही'

इसमें फीरोज तुगलक के समय की परिस्थितियों और घटनाओं का वर्णन किया गया है।

12. सुल्तान फीरोज तुगलक : 'फुतूहात-ए-फीरोजशाही'

यह एक बहुत छोटा ग्रन्थ है जिसे स्वय फीरोज ने अपने कार्यों, विचारों और आदेशो के सम्बन्ध मे लिखा था।

13. 'सीरत-ए-फीरोजशाही'

इसका लेखक अज्ञात है परन्तु इसकी रचना फीरोज के आदेश पर की गयी और इसमे फीरोज के शासन के सम्बन्ध मे लिखा गया था।

14. ख्वाजा अबू बक्र इसामी : 'फुतुह-उस-सलातीन'

इसमे गजनवी-वश से लेकर मुहम्मद बिन तुगलक तक के समय का इतिहास दिया गया है।

15. इब्नबतूता : 'किताब-उल-रहला' (तुहुफत-उन-नुजार)

इसमें इब्नबतूता ने अपनी विदेश-यात्रा का वर्णन दिया है। वह मुहम्मद तुगलक के समय मे आठ वर्ष भारत मे रहा था। इस कारण उसके समय का वर्णन भी उसने इसमे किया है।

16. तिमूर : 'मलफूजात-ए-तिमूरी'

यह तुर्की मे लिखी गयी तिमूर की आत्मकथा है जिसमे उसने अपने भारत-आक्रमण का वर्णन किया है। बाद मे अबू तालिब हुसैनी ने इसका फारसी मे अनुवाद किया था।

17. यहिया बिन अहमद : 'तारीख-ए-मुबारकशाही'

इसमे मुहम्मद गोरी के शासन-काल से लेकर सैय्यद-वश के तृतीय सुल्तान मुहम्मद तक के शासन-काल का वर्णन दिया गया है। सैय्यद-वश के इतिहास के बारे मे जानने का एकमात्र समकालीन ग्रन्थ यही है। बाद के निजामुद्दीन अहमद, बदायूंनी और फरिश्ता जैसे इतिहासकारो ने भी सैय्यद-वश के इतिहास के लिए इसी ग्रन्थ को अपना आधार बनाया।

18. शेख रिजकुल्ला (उसे मुश्ताकी अथवा राजन भी पुकारा गया) : 'वाकियात-ए-मुश्ताकी' और 'तारीख-ए-मुश्ताकी'

इनमे लोदी शासको के समय का वर्णन किया गया है। ये काव्य अधिक और

इतिहास की पुस्तकें कम मात्रा में हैं परन्तु तब भी लोदी शासकों के समय के इतिहास को जानने में सहायक है।

19. अहमद यादगार : 'तारीख-ए-शाही' अथवा 'तारीख-ए-सलातीन-ए-अफगाना'

यह 17वीं सदी में लिखा गया और इसमें सुल्तान बहलोल लोदी के समय से लेकर हेमू तक के समय का इतिहास दिया गया है।

20. नियामतउल्ला : 'मखजन-ए-अफगाना'

यह भी 17वीं सदी में लिखा गया और इसमे सुल्तान बहलोल लोदी के समय से लेकर सुल्तान इब्राहीम लोदी तक के समय का इतिहास दिया गया है।

21. अब्दुल्ला : 'तारीख-ए-दाऊदी'

यह भी 17वीं सदी मे लिखा गया और इसमें सुल्तान बहलोल लोदी के समय से लेकर दाऊदशाह (1575 A. D.) तक के समय के इतिहास का वर्णन किया गया है।

उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त इस समय के इतिहास पर **फरिश्ता, निजामुद्दीन और बदायूँनी** जैसे बाद के इतिहासकारों ने भी प्रकाश डाला। कुछ अन्य रचनाएँ भी इस समय के इतिहास को जानने मे सहायता प्रदान करती है, जैसे **बदरुद्दीन** (ताशकन्द का निवासी जो कुछ समय मुहम्मद तुगलक के दरबार मे रहा) **की कविताएँ** और शिहाबुद्दीन-अल-उमरी (दमिश्क का निवासी जो भारत कभी नहीं आया) की पुस्तक **'मुसालिक उल-अबसार'**। **'तारीख-ए-बहादुरशाही'** और मीर ताहिर द्वारा रचित **'तारीख-ए-ताहिरी'** सिन्ध के इतिहास को जानने के लिए, मिर्जा हैदर द्वारा रचित **'तारीख-ए-रशीदी'** और हैदर मलिक द्वारा रचित **'तारीख-ए-कश्मीर'** कश्मीर का इतिहास जानने के लिए, गुलाम हुसैन सलीम द्वारा रचित **'रियाज-उस-सलातीन'** बंगाल का इतिहास जानने के लिए, सिकन्दर बिन मुहम्मद द्वारा रचित **'मिरात-ए-सिकन्दरी'**, मीर आबू तुराब वली द्वारा रचित **'तारीख-ए-गुजरात'**, अली मुहम्मदखाँ द्वारा रचित **'मिरात-ए-अहमदी'** और अब्दुल्ला मुहम्मद-बिन-उमर-अल बक्की द्वारा अरबी भाषा मे लिखी गयी **'जफर-उल-वालिह-बी-मुजफ्फर'** गुजरात के इतिहास को जानने के लिए, सैयद अली तबातबा द्वारा रचित **'बुरहान-ए-मासीर'** और रफीउद्दीन शिराजी द्वारा रचित **'तजकीरात-उल मुलूक'** गुलबर्गा, बीदर, अहमदनगर और बीजापुर राज्यो के इतिहास को जानने के लिए मुख्य ग्रन्थ है। संस्कृत मे लिखे गये विभिन्न ग्रन्थ तथा प्रादेशिक भाषाओ में लिखे गये गीत, कविताएँ, लोक-गाथाएँ आदि भी इस कार्य में सहायता दे सकते हैं।

इसके अतिरिक्त, **इब्नबतूता, मार्कोपोलो, अब्दुर रज्जाक, निकोलो कोण्टी, डोमिंगोज पेइज और एडोर्डो बारबोसा के यात्रा-विवरण** भी इस समय के बारे मे जानकारी प्राप्त करने के अच्छे साधन है।

परिशिष्ट 2

SUGGESTED READINGS

1. Srivastava, A. L. : दिल्ली सल्तनत
2. Pandey, A. B. : पूर्व-मध्यकालीन भारत
3. Wolseley Haig (Ed.) : *The Cambridge History of India*, Vol III.
4. Mazumdar, R. C. (Ed) : *The Struggle for Empire* (Bhartiya Vidya Bhawan: *The Histroy and Culture of the Indian People*, Vol. V)
5. Mazumdar, R C (Ed) : *The Delhi Sultanate* (Bhartiya Vidya Bhawan: *The History and Culture of the Indian People*, Vol VI)
6. Mohammad Habib and Khaliq Ahmad Nizami (Ed) : *The Delhi Sultanat* (The Indian History Congress: *A Comprehensive History of India*, Vol V)
7. Habibullah, A. B M : *The Foundation of Muslim Rule in India*
8. Ishwari Prasad . *Qarauna Turks.*
9. Lal, K S : *History of the Khaljis.*
10. Lal, K S. : *Twilight of the Sultanate*
11. Tripathi, R. P. : *Some Aspects of Muslim Administ·ation*
12. Srivastava, A L. : *Medieval Indian Culture.*
13. Tara Chard : *Influence of Islam on Indian Culture*
14. Dashrath Sharma : *Rajasthan through the Ages*